छान्दोग्योपनिषदि
विशिष्टाद्वैतपरकम्
श्रीराघवकृपाभाष्यम्
(संस्कृत-हिन्दी भाष्य सहितम्)
भाष्यकाराः – जगद्गुरुरामानन्दाचार्याः
स्वामिरामभद्राचार्यमहाराजाः चित्रकूटीयाः

।। श्रीमद्राघवो विजयतेतराम् ।।
।। श्रीरामानन्दाचार्याय नमः ।।

छान्दोग्योपनिषदि
(विशिष्टाद्वैतपरकम्)

श्रीराघवकृपाभाष्यम्
(संस्कृत-हिन्दी भाष्य सहितम्)

भाष्यकाराः-
जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्याः
स्वामिरामभद्राचार्यजीमहाराजाः
चित्रकूटीयाः

प्रकाशकः
श्रीतुलसीपीठसेवान्यासः
तुलसीपीठः, आमोदवनम्
श्रीचित्रकूटधाम, जनपदं-सतना (म० प्र०)

प्रकाशकः

श्रीतुलसीपीठसेवान्यासः

तुलसीपीठः, आमोदवनम्,
श्रीचित्रकूटधाम, जनपदं-सतना (म० प्र०)
दूरभाष : ०७६७०-६५४७८

✪

प्रथमसंस्करणम् : ११०० प्रतयः

✪

✪

मूल्यम् : २००.०० रुपया

✪

प्राप्तिस्थानम् :
तुलसीपीठः, आमोदवनम्, चित्रकूटं जनपदं-सतना (म० प्र०)
वसिष्ठायनम्, (रानीगली) जगद्गुरु रामानन्दाचार्य मार्ग, भोपतवाला, हरिद्वार (उ० प्र०)
श्रीगीताज्ञानमन्दिर, भक्तिनगर सर्कल, राजकोट (गुजरात) पिन– ३६०००२

✪

मुद्रक :
राघव ऑफसेट
बैजनत्था, वाराणसी– १०
फोन : ३२००३९

।। श्रीराघवो विजयतेतराम् ।।

प्रकाशकीयम्

नीलनीरदसंकाशकान्तये श्रितशान्तये ।
रामाय पूर्णकामाय जानकीजानये नमः ।।

साम्प्रतिकबुद्धिजीविवर्गे पण्डितसमाजे च श्रीवैष्णवसत्समाजे को नाम नाभिनन्दति ? पदवाक्यप्रमाणपारावारीणकवितार्किकचूडामणिसारस्वत-सार्वभौमपण्डितप्रकाण्डपरमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीवैष्णवकुलतिलकत्रिदण्डीश्वर-श्रीचित्रकूटतुलसीपीठाधीश्वरजगद्गुरुरामानन्दाचार्यवाचस्पतिमहामहनीयस्वामिरामभद्राचार्य-महाराजराजिष्णुप्रतिभाधनम् । आचार्यचरणैः श्रीसम्प्रदायश्रीरामानन्दीय-श्रीवैष्णवानुमोदितविशिष्टाद्वैतवादाम्नायमनुसृत्य ईशावास्यादि बृहदारण्यकान्तानामेका-दशोपनिषदां श्रीराघवकृपाभाष्यं प्रणीय भारतीयसंस्कृतवाङ्मयसनातनधर्मावलम्बिनां कियान् महान् उपकारो व्यधायीति तु निर्णेष्यतीतिहासः सोल्लासः । अस्य ग्रन्थरत्नस्य प्रकाशनदायित्वं श्रीतुलसीपीठसेवान्यासाय प्रदाय ऋणिनः कृता वयं श्रीमज्जगद्गुरुभिः वयं तेषां सततमाघमर्ण्यभाजः । अहं धन्यवादं दित्सामि साधुवादं च, वाराणसीस्थाय राघव ऑफसेट मुद्रणालयाध्यक्षाय चन्दनेशाय श्रीविपिनशंकरपाण्ड्यामहाभागाय, येन महता परिश्रमेण निष्ठया च गुरुगौरवेण जनताजनार्दनकरकमलं समुपस्थापितं ग्रन्थरत्नमेतत् । अहमाभारं बिभर्मि सकल-शास्त्रनिष्णातानां पण्डितप्रवराणां मुद्रणदोषनिराकरणचञ्चुनां जगद्गुरुवात्सल्यभाजनानां परमकुशलकर्मणां पं० प्रवर श्रीशिवरामशर्मणाम् पं० कृपासिन्धुशर्मणाम् च ।

अन्ततः साग्रहं निवेदयामि सर्वान् विद्वत्प्रवरान्, यत्—

ग्रन्थरत्नमिदं मत्वा सीताभर्तुरनुग्रहम् ।
निराग्रहाः समर्चन्तु रामभद्रार्यभारतीम् ।।

इति निवेदयते
राघवीया
कु० गीता देवी
प्रबन्धन्यासी, श्रीतुलसीपीठसेवान्यासस्य

श्रीराघवाष्टकम्

निशल्या कौसल्या सुखसुरलतातान्तिहृतये ।
यशोवारां राशेरुदयमभिकाङ्‌क्षन्निव शशी ।
समञ्चन् भूभागं प्रथयितुमरागं पदरतिम् ।
तमालश्यामो मे मनसि शिशुरामो विजयते ।।१।।

क्वचित् क्रीडन् व्रीडाविनतविहगैर्वृन्दविरुदो ।
विराजन् राजीवैरिव परिवृतस्तिग्मकिरणः ।
रजोवृन्दं वृन्दाविमलदलमालामलमलम् ।
स्वलङ्‌कुर्वन् बालः स इह रघुचन्द्रो विजयते ।।२।।

क्वचिन् माद्यन् माद्यन् मधुनवमिलिन्दार्यचरणा- ।
म्बुजद्वन्द्वो द्वन्द्वापनयविधिवैदग्ध्यविदितः ।
समाकुञ्चत् केशैरिव शिशुघनैः संवृतमिव ।
विधुं वक्त्रं विभ्रन् नरपतितनूजो विजयते ।।३।।

क्वचित् खेलन् खेलन् मृदुमरुदमन्दाञ्चलचल- ।
च्छिरः पुष्पैः पुञ्जैर्विवुधललनानामभिचितः ।
चिदान्दो नन्दन् नवनलिननेत्रो मृदुहसन् ।
लसन् धूलीपुञ्जैर्जगति शिशुरेको विजयते ।।४।।

क्वचिन् मातुः क्रोडे चिकुरनिकरैरंजितमुखः ।
सुखासीनो मीनोपमदृशिलसत्कज्जलकलः ।
कलातीतो मन्दस्मितविजितराकापतिरुचिः ।
पिबन् स्तन्यं रामो जगति शिशुहंसो विजयते ।।५।।

क्वचिद् बालो लालालसितललिताम्भोजवदनो ।
वहन् वासः पीतं विशदनवनीतौदनकणान् ।

विलुण्ठन् भूभागे रजसि विरजा सम्भृत इव ।
तृषा ताम्यत्कामो भवभयविरामो विजयते ।।६।।

क्वचिद् राज्ञो हर्षं प्रगुणयितुकामः कलगिरा ।
निसिञ्चन् पीयूषं श्रवणपुटके सम्मतसताम् ।
विरिंगन् पणिभ्यां वनरुहपदाभ्यां कलदृशा ।
निरत्यन् नैराश्यं नवशशिकरास्यो विजयते ।।७।।

क्वचिन् नृत्यन् छायाछपितभवभीतिर्भवभवो ।
दधानोऽलंकारं विगलितविकारं शिशुवरः ।
पुरारातेः पूज्यः पुरुषतिलकः कन्दकमनः ।
अयोध्यासौभाग्यं गुणितमिहरामो विजयते ।।८।।

जयत्यसौ नीलघनावदातो ।
विभा विभातो जनपारिजातः ।
शोभा समुद्रो नरलोकचन्द्रः ।
श्रीरामचन्द्रो रघुचारुचन्द्रः ।।९।।

ईशावास्यसमारब्धाः बृहदारण्यकान्तिमाः ।
ऐकादशोपनिषदो विशदाः श्रुतिसम्मताः ।।१०।।

श्रीराघवकृपाभाष्यनाम्ना भक्तिसुगन्धिना ।
पुण्यपुष्पोत्करेणेड्याः मया भक्त्या प्रपूजिताः ।।११।।

क्वचित्क्वचित् पदच्छेदः क्वचिदन्वययोजना ।
क्वचिच्छास्त्रार्थपद्धत्या पदार्थाः विशदीकृताः ।।१२।।

खण्डनं परपक्षाणां विशिष्टाद्वैतमण्डनम् ।
चन्दनं वैष्णवसतां श्रीरामानन्दनन्दनम् ।।१३।।

श्रीराघवकृपाभाष्यं भूषितं सुरभाषया ।
भाषितं भव्यया भक्त्या वेदतात्पर्यभूषया ।।१४।।

प्रमाणानि पुराणानां स्मृतीनामागमस्य च।
तथा श्रीमानसस्यापि दर्शितानि स्वपुष्टये।।१५।।

प्रत्यक्षमनुमानं च शाब्दञ्चेति यथास्थलम्।
प्रमाणत्रितायं ह्यत्र तत्वत्रयविनिर्णयम्।।१६।।

विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तदर्पणं श्रुतितर्पणम्।
अर्पणं रामभद्रस्य रामभद्रसमर्पणम्।।१७।।

यदि स्युः त्रुटयः काश्चित्ताः ममैवाल्पमेधसः।
यदत्र किञ्चिद्वैशिष्ट्यं तच्छ्रीरामकृपाफलम्।।१८।।

रुद्रसंख्योपनिषदां मया भक्त्या प्रभाषितम्।
श्रीराघवकृपाभाष्यं शीलयन्तु विमत्सराः।।१९।।

इति मंगलमाशास्ते
श्रीवैष्णवविद्वत्प्रीतिवशंवदो राघवीयो जगद्गुरु रामानन्दाचार्यो स्वमिरामभद्राचार्यः
अधिचित्रकूटम्।

●

।। श्रीराघवो विजयतेतराम् ।।

उपोद्घात

वैदिक मन्त्र भाग का यदि मलभंग के लिये कर्मकाण्ड में उपयोग है तो वहीं परमात्मा की अपरोक्ष अनुभूति एवं भारत-भारती की अक्षय्य संवित के लिए उपनिषद् का भी प्रत्येक आध्यात्मिक व्यक्ति के लिये चिर संस्मरणीय विनियोग भी है। उपनिषद् हमारी भारतीय मनीषा का एक ऐसा अविरल और अनादि ज्ञान स्रोत है जिसका प्रवाह शाश्वत एवं पुरातन है। वेद के ज्ञानकाण्ड में तपःपूत महर्षियों द्वारा साक्षात्कार की हुई ये उपनिषदें आज भी लगभग एक सौ पचास की संख्या में उपलब्ध होती है जो सबकी सब पूर्वाचार्यों द्वारा स्वतः प्रमाण की कोटि में लाई गई हैं। उनमें छान्दोग्य उपनिषद् ब्रह्मजिज्ञासुओं के लिये बहुत ही उपयोगी निधि है।

छान्दोग्य उपनिषद् पर मैंने प्रस्थानत्रयी के भाष्य के क्रम में हिन्दी तथा संस्कृत भाषा में श्रीराघवकृपा भाष्य नामक दो व्याख्याओं का प्रणयन किया है। जिनमें श्रुतियों का अक्षरार्थ, अन्वयार्थ, भावार्थ तथा गंभीरतम पदार्थों को समझाने का यथा संभव एक लघुतम प्रयत्न मात्र किया गया है। मुझे विश्वास है कि श्रीराघव ऑफसेट प्रेस में मुद्रित तथा श्रीतुलसीपीठ सेवा न्यास आमोदवन श्रीचित्रकूट धाम से प्रकाशित छान्दोग्योपनिषदि श्रीराघवकृपाभाष्य निश्चित ही अपने अध्येताओं के मन मन्दिर में प्रभु श्री सीताराम के श्रीचरण कमल की प्रेम सुरभि बिखेरने में कृतकार्य हो सकेगा।

।। इति मंगलमाशास्ते धर्मचक्रवर्ती चित्रकूटस्थ श्रीतुलसीपीठाधीश्वर जगद्गुरु
रामानन्दाचार्यस्वामी रामभद्राचार्य महाराज ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

●

वाचस्पति, श्री तुलसी पीठाधीश्वर
जगद्गुरू रामानन्दाचार्य स्वामी रामभद्राचार्य जी महाराज
तुलसीपीठ, आमोदवन, चित्रकूट, जि. सतना (म.प्र.)

पदवाक्यप्रमाणपारावारीण, विद्यावारिधि, वाचस्पति परमहंस
परिव्राजिकाचार्य, आशुकवि यतिवर्य प्रस्थानत्रयी भाष्कार –

श्रीतुलसीपीठाधीश्वर जगद्‌गुरु रामानन्दाचार्य

पूज्यपाद

श्री श्री १००८ स्वामी रामभद्राचार्य जी महाराज

का

संक्षिप्त जीवन वृत्त

आर्विभाव

आपका अर्विभाव १४ जनवरी १९५० तद्‌नुसार मकर संक्राति की परम पावन सान्ध्य बेला में वशिष्ठ गौत्रीय उच्च धार्मिक शरयूपारीण ब्राह्मण मिश्र वंश में उत्तर-प्रदेश के जौनपुर जनपद के पवित्र ग्राम शाडीखुर्द की पावन धरती पर हुआ। सर्वत्र-आत्म-दर्शन करने वाले हरिभक्त, या मानवता की सेवा करने दानवीर, या अपनी मातृभूमि की रक्षा में प्राण बलिदान करने वाले शूर-वीर योद्धा देश भक्त, को जन्म का सौभाग्य तो प्रभुकृपा से किसी भी मां को मिल जाता है। परन्तु भक्त, दाता और निर्भीक तीनों गुणों की सम्पदा से युक्त बालक को जन्म देने का परम श्रेय अति विशिष्ठ भगवद् कृपा से किसी विरली मां को ही प्राप्त होता है। अति सुन्दर एवं दिव्य बालस्वरुप आचार्य-चरण को जन्म देने का परम सौभाग्य धर्मशीला माता श्रीमति शची देवी और पिताश्री का गौरव पं० श्री राजदेव मिश्रजी को प्राप्त हुआ।

आपने अपनी शैशव अवस्था में ही अपने रूप, लावण्य एवं मार्धुय से सभी परिवार एवं प्रियजनों को मोहित कर दिया। आप की बाल क्रीड़ाए अद्‌भुत थी। आपके श्वेतकमल समान सुन्दर मुख मंण्डल पर बिखरी मधुर मुस्कान, हर देखने वाले को सौम्यता का प्रसाद बांटती थी। आपका विस्तृत एवं तेजस्वी ललाट, आपके अपार शस्त्रीय ज्ञानी तथा त्रिकालदर्शी होने का पूर्व सकेंत देता था। आपका प्रथम दर्शन मन को शीतलता प्रदान करता था। आपके कमल समान नयन उन्मुक्त हास्यपूर्ण मधुर चितवन चंचल बाल क्रीड़ाओं की चर्चा शीघ्र ही किसी महापुरुष के प्राकट्य की शुभ सूचना की भान्ति दूर-दूर तक फैल गई, और यह धारणा बन गई की यह बालक असाधारण है। 'होनहार विरवान के होत चीकने पात' की कहावत को आपने चरितार्थ किया।

भगवत् इच्छा

अपने प्रिय भक्त को सांसारिक प्रपन्चों से दूर रखने के लिए विधाता ने आचार्यवर

के लिए कोई और ही रचना कर रखी थी। जन्म के दो महिने बाद ही नवजात शिशु की कोमल आखों को रोहुआ रोग रुपी राहू ने तिरोहित कर दिया। आचार्य प्रवर के चर्म-नेत्र बन्द हो गए। यह हृदय विदारक दुर्घटना प्रियजनों को अभिशाप लगी, परन्तु नवजात बालक के लिए यह वरदान सिद्ध हुई। अब तो इस नन्हे शिशु के मन-दर्पण पर परमात्मा के अतिरिक्त जगत के किसी भी अन्य प्रपञ्च के प्रतिबिम्बित होने का कोई अवसर ही नहीं था। आपको दिव्य प्रज्ञा-चक्षु प्राप्त हो गए। आचार्य प्रवर ने भगवद् प्रदत्त अपनी इस अन्तर्मुखता का भरपूर उचित उपयोग किया। अब तो दिन-रात परमात्मा ही आपके चिन्तन, मनन और ध्यान का विषय बन गए।

आरम्भिक शिक्षा

अन्तमुर्खता के परिणामस्वरूप आपमें दिव्य मेधा शक्ति और अद्भुत स्मृति का उदय हुआ, जिसके फलस्वरूप कठिन से कठिन श्लोक कवित्त, छन्द, सवैया आदि आपको एक बार सुनकर सहज कन्ठस्थ हो जाते थे। मात्र पांच वर्ष की आयु में आचार्य श्री ने सम्पूर्ण श्रीमद्भगवद्गीता तथा मात्र आठ वर्ष की शैशव अवस्था में पूज्य पितामह श्रीयुत सूर्यबली मिश्र जी के प्रयासों से गोस्वामी तुलसीदास जी रचित सम्पूर्ण रामचरितमानस क्रमवद्ध पक्ति, संख्या सहित कण्ठस्थ करली थी। आपके पूज्य पितामह आपको खेत की मेंढ़ पर बिठाकर आपको एक एक बार में श्रीमानस के पचास पचास दोहों की आवृतिकरा देते थे। हे महामनीषी, आप उन सम्पूर्ण पचास दोहों को उसी प्रकार पंक्ति क्रम संख्या सहित कण्ठथ कर लेते थे। अब आप अधिकृत रूप से श्रीरामचरितमानस-सरोवर के राजहंस बन कर श्री सीता-राम के नाम, रूप, गुण, लीला, धाम और ध्यान में तन्मय हो गए।

उपनयन एवं दीक्षा

आपका पूर्वाश्रम का नाम 'गिरिधर-मिश्र' था। इसलिए गिरिधर जैसा साहस, भावुकता, क्रान्तिकारी स्वभाव, रसिकता एवं भविष्य निश्चय की दृढ़ता तथा नि:सर्ग सिद्ध काव्य प्रतिभा इनके स्वभाविक गुण बन गये। बचपन में ही बालक गिरिधर लाल ने छोटी-छोटी कविताएँ करनी प्रारम्भ कर दी थीं। २४ जून १९६१ को निर्जला एकादशी के दिन 'अष्टवर्ष ब्राह्माणमुपनयीत' इस श्रुति-वचन के अनुसार आचार्य श्री को वैदिक परम्परापूर्वक उपनयन संस्कार सम्पन्न किया गया तथा उसी दिन गायत्री दीक्षा के साथ ही तत्कालीन मूर्धन्य विद्वान् सकलशास्त्र-मर्मज्ञ पं० श्री ईश्वरदास जी महाराज जो अवध-जानकीघाट के प्रवर्तक श्री श्री १०८ श्री रामवल्लभाशरण महाराज के परम कृपापात्र थे, इन्हें राम मन्त्र की दीक्षा भी दे दी।

उच्च अध्ययन

आपने श्री रामचरितमानस एवं गीताजी के कण्ठस्थीकरण के पश्चात् संस्कृत में उच्च अध्ययन की तीव्र लालसा जागृत हुई और स्थानीय आदर्श श्री गौरीशंकर संस्कृत महाविद्यालय

में पाँच वर्ष पर्यन्त पाणिनीय व्याकरण की शिक्षा सम्पन्न करके आप विशेष अध्ययन हेतु वाराणसी आ गये। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय की १९७३ शास्त्री परीक्षा में विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त कर एक स्वर्ण पदक प्राप्त किया एवं १९७६ की आचार्य की परीक्षा में समस्त विश्वविद्यालय में छात्रों में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त कर पाँच स्वर्ण पदक तथा एक रजत पदक प्राप्त किया। वाक्पटुता एवं शास्त्री प्रतिभा के धनी होने के कारण आचार्यश्री ने अखिल भारतीय संस्कृत अधिवेशन में सांख्य, न्याय, व्याकरण, श्लोकान्त्याक्षरी तथा समस्यापूर्ति इन पाँच प्रथम पुरस्कार प्राप्त किये, एवं उत्तर प्रदेश को १९७४ की 'चलवैजयन्ती' प्रथम पुरस्कार दिलवाया। १९७५ में अखिल भारतीय संस्कृत वाद-विवाद प्रतियोगिता में प्रथम स्थान प्राप्त कर तत्कालीन राज्यपाल डॉ० एम० चेन्ना रेड्डी से कुलाधिपति 'स्वर्ण पदक' प्राप्त किया। **इसी प्रकार आचार्यचरणों ने शास्त्रार्थों एवं भिन्न-भिन्न शैक्षणिक प्रतियोगिताओं में अनेक शील्ड, कप एवं महत्वपूर्ण शैक्षणिक पुरस्कार प्राप्त किए।** १९७६ वाराणसी साधुबेला संस्कृत महाविद्यालय में समायोजित शास्त्रार्थ आचार्यचरण प्रतिभा का एक रोमांचक परीक्षण सिद्ध हुआ। इसमें आचार्य अन्तिम वर्ष के छात्र, प्रत्युत्पन्न मूर्ति, शास्त्रार्थ-कुशल, श्री गिरिधर मिश्र ने 'अधातु: परिष्कार' पर पचास विद्यार्थियों एवं अध्यापकों को अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा एवं शास्त्रीय युक्तियों से अभिभूत करके निरुत्तर करते हुए सिंह—गर्जन पूर्वक तत्कालीन विद्वान मूर्धन्यों को परास्त किया था। पूज्य आचार्यश्री ने सं० सं० वि० वि० के व्याकरण विभागाध्यक्ष पं० श्री राम प्रसाद त्रिपाठी जी से भाष्यान्त व्याकरण की गहनतम शिक्षा प्राप्त की एवं उन्हीं की सन्निद्धि में बैठकर न्याय, वेदान्त, सांख्य आदि शास्त्रों में भी प्रतिभा ज्ञान प्राप्त कर लिया एवं 'अध्यात्मरामायणे— अपाणिनीय प्रयोगााणां विमर्श:' विषय पर अनुसन्धान करके १९८१ में विद्यावारीधि (Ph.D) की उपाधि प्राप्त की। **अनन्तर "अष्टाध्याय्या: प्रतिसूत्रं शाब्दबोध समीक्षा" इस विषय पर दो हजार पृष्ठों का दिव्य शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करके आचार्य चरणों ने शैक्षणिक जगत की सर्वोत्कृष्ट अलंकरण उपाधि वाचस्पत्ति" (Dlit) प्राप्त की।**

विरक्त दीक्षा

मानस की माधुरी एवं भागवतादि सद्गन्थों के अनुशीलन ने आचार्य—चरण को प्रथम से ही श्री सीताराम—चरणानुरागी बना ही दिया था। अब १९ नवम्बर १९८३ की कार्तिक पूर्णिमा के परम—पावन दिवस की श्रीरामानन्द सम्प्रदाय में विरक्त दीक्षा लेकर आयार्चश्री ने एक और स्वर्ण सौरभ-योग उपस्थित कर दिया। पूर्वाश्रम के डॉ० गिरिधर मिश्र अब श्री रामभद्रदास नाम से समलंकृत हो गये।

जगद्गुरु उपाधि

आपने १९८७ में श्रीचित्रकूट धाम में श्रीतुलसीपीठ की स्थापना की। उसी समय

वहाँ के सभी सन्त-महन्तों के द्वारा आपको श्रीतुलसीपीठाधीश्वर पद पर प्रतिष्ठित किया और ज्येष्ठ शुक्ल गंगा दशहरा के परम-पावन दिन वि० सम्वत् २०४५ तद्नुसार २४ जून १९८८ को वाराणसी में आचार्यश्री का काशी विद्वत् परिषद एवं अन्य सन्त-महन्त विद्वानों द्वारा चित्रकूट श्रीतुलसीपीठ के जगद्गुरु रामानन्दाचार्य पद पर विधिवत अभिषेक किया गया एवं ३ फरवरी १९८९ को प्रयाग महाकुम्भ पर्व पर समागत सभी श्री रामानन्द सम्प्रदाय के तीनों अखाड़ों के श्री महन्तों चतु: सम्प्रदाय एवं सभी खालसों तथा सन्तों द्वारा चित्रकूट सर्वाम्नाय श्रीतुलसीपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामभद्राचार्य महाराज को सर्वसम्मति से समर्थनपूर्वक अभिनन्दित किया।

विलक्षणता

आपके व्यक्तित्व में अद्भुत विलक्षणता है। जिसमें कुछ उल्लेखनीय हैं कोई भी विषय आपको एक ही बार सुन कर कण्ठस्थ हो जाता है और वह कभी विस्मृत नहीं होता। इसी विशेषता के परिणामवरूप जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य जी ने समस्त तुलसी साहित्य अर्थात् तुलसीदास जी के बारहों ग्रन्थ, सम्पूर्ण रामचरितमानस, द्वादश उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र नारद-भक्तिसूत्र, सम्पूर्ण भगवत्गीता, शाण्डिल्य सूत्र, बाल्मीकीयरामायण व समस्त आर्य ग्रन्थों के सभी उपयोगी प्रमुख अंश हस्ताकमलवत् कण्ठस्थ कर लिये। आचार्यश्री हिन्दी एवं संस्कृत के आशुकवि होने के कारण समर्थ रचनाएँ भी करते हैं। वशिष्ठ गोत्र में जन्म लेने के कारण आचार्यवर्य श्री राघवेन्द्र की वात्सल्य भाव से उपासना करते हैं। आज भी उनकी सेवा में शिशु रूप में श्री राघव अपने समस्त परिकर खिलौने के साथ विराजमान रहते हैं। आचार्यवर्य की मौलिक विशेषता यह है कि इतने बड़े पद पर आकर भी आपका स्वभाव निरन्तर निरहंकार, सरल तथा मधुर है। विनय, करूणा, श्रीराम प्रेम, सच्चरित्रता आदि अलौकिक गुण उनके सन्तत्त्व को ख्यापित करते हैं। कोई भी व्यक्ति एकबार ही उनके पास आकर उनका अपना बन जाता है। हे भारतीय संस्कृति के रक्षक। **आप अपनी विलक्षण कथा शैली से श्रोताओं को विभोर कर देते हैं।** माँ सरस्वती की आप पर असीम कृपा है। आप वेद-वेदान्त, उपनिषद्, दर्शन, काव्य शास्त्र व अन्य सभी धार्मिक ग्रन्थों पर जितना अधिकार पूर्ण प्रवचन करते हैं उतना ही दिव्य प्रवचन भगवान श्रीकृष्ण की वाङ्मय मूर्ति महापुराण **श्रीमद्भागवत पर भी करते हैं।** आप सरलता एवं त्याग की दिव्य मूर्ति है। राष्ट्र के प्रति आपकी सत्य निष्ठ स्पष्टवादिता एवं विचारों में निर्भीकता जन जन के लिए प्रेरणादायक है। आपके दिव्य प्रवचनों में ज्ञान, भक्ति और वैराग्य की त्रिवेणी तो प्रवाहित होती है, साथ ही राष्ट्र प्रेम का सागर भी उमड़ता है। जिसे आप अपनी सहज परन्तु सशक्त अभिव्यक्ति की गागर में भर कर अपने श्रृद्धालु श्रोतागणों को पान कराते रहते है।

आपका सामीप्य प्राप्त हो जाने के बाद जीव कृत्य-कृत्य हो जाता है। धन्य हैं

वे माता-पिता जिन्होंने ऐसे 'पुत्ररत्न' को जन्म दिया। धन्य हैं वे सद्गुरु जिन्होंने ऐसा भागवत् रत्नाकर समाज को दिया। हे श्रेष्ठ सन्त शिरोमणी! हम सब भक्तगण आपके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर गौरवान्वित है।

साहित्य सृजन

आपने अपनी बहुमुखी प्रतिभा से हिन्दी एवं संस्कृत के अनेक आयामों को महत्त्वपूर्ण साहित्यिक उपादान भेंट किये हैं। काव्य, लेख निबन्ध, प्रवचन संग्रह एवं दर्शन क्षेत्रो में आचार्य श्री की मौलिक रचनाएँ महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

इस प्रकार आचार्य श्री अपने व्यक्तित्व, कृतित्व, से श्री राम प्रेम एवं सनातन धर्म के चतुर्दिक प्रचार व प्रसार के द्वारा सहत्राधिक दिग्भ्रान्त नर-नारियों को सनातन धर्म-पीयूष से जीवनदान करते हुए अपनी यशः सुरभि से भारतीय इतिहास वाटिका को सौरभान्वित कर रहे है। तब कहना पड़ता है कि :—

शैले शैले न माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे गजे ।
साधवो नहि सर्वत्र, चन्दनं न वने वने ।।

संत सरल चित जगतहित, जानि सुभाउ सनेहु ।
बाल विनय सुनि करि कृपा, रामचरन रहि देहु ।।

धर्माचार्य परम्परा :-

भाष्यकार !

प्राचीन काल में धर्माचार्यों की यह परम्परा रही हैं कि वही व्यक्ति किसी भी सम्प्रदाय के आचार्यपद पर प्रतिष्ठित किया जाता था, जो उपनिषद् गीता तथा बह्मसूत्र पर अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तानुसार वैदुष्यपूर्ण वैदिक भाष्य प्रस्तुत करता था। जिसे हम 'प्रस्थानत्रयी' भाष्य कहते हैं, जैसे शंकराचार्य आदि। आचार्यप्रवर ने इसी परम्परा का पालन करते हुए सर्वप्रथम नारदभक्तिसूत्र पर "श्री राघव कृपा भाष्यम्" नामक भाष्य ग्रन्थ की रचना की। उसका लोकार्पण १७ मार्च १९९२ को तत्कालीन उप राष्ट्रपति डॉ० शंकरदयाल शर्मा द्वारा सम्पन्न हुआ।

पुज्य आचार्यचरण के द्वारा रचित 'अरुन्धती महाकाव्य' का समर्पण समारोह दिनांक ७ जुलाई ९४ को भारत के राष्ट्रपति महामहिम डॉ० शंकरदयाल शर्मा जी के कर कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ।

इसी प्रकार आचार्यचरणों ने एकादश उपनिषद् ब्रह्मसूत्र तथा श्रीमद्भगवद्गीता पर रामानन्दीय श्री वैष्णव सिद्धान्तानुसार भाष्य लेखन सम्पन्न करके विशिष्टाद्वैत अपनी श्रुतिसम्मत जगद्गुरुत्व को प्रमाणित करके इस शताब्दी का कीर्तिमान स्थापित किया है।

आप विदेशों में भी भारतीय संस्कृति का विश्वविश्रुत ध्वज फहराते हुए, सजगता एवं जागरूकता से भारतीयधर्माचार्यों का कुशल प्रतिनिधित्व करते हैं।

आचार्य श्री के प्रकाशित ग्रन्थ

१. मुकुन्दस्मरण् (संस्कृत स्तोत्र काव्य) भाग—१—२
२. भरत महिमा
३. मानस में तापस प्रसंग
४. परम बड़भागी जटायु
५. काका बिदुर (हिन्दी खण्ड काव्य)
६. माँ शबरी (हिन्दी खण्ड काव्य)
७. जानकी-कृपा कटाक्ष (संस्कृत स्तोत्र काव्य)
८. सुग्रीव की कुचाल और विभीषण की करतूत
९. अरुन्धती (हिन्दी महाकाव्य)
१०. राघव गीत-गुन्जन (गीत काव्य)
११. भाक्ति—गीता सुधा (गीत काव्य)
१२. श्री गीता तात्पर्य (दर्शन ग्रन्थ)
१३. तुलसी साहित्य में कृष्ण-कथा (समीक्षात्मक ग्रन्थ)
१४. सनातन धर्म विग्रह-स्वरूपा गौ माता
१५. मानस में सुमित्रा
१६. भक्ति गीत सुधा (गीत काव्य)
१७. श्री नारद भक्ति सूत्रेषु राघव कृपा भाष्यम् (हिन्दी अनुवाद सहित)
१८. श्री हनुमान चालीसा (महावीरी व्याख्या)
१९. गंगा महिम्न स्लोत्रम् (संस्कृत)
२० आजादचन्द्रशेखरचरितम् (खण्डकाव्य) संस्कृत
२१. प्रभुकरिकृपा पाँवरि दीन्ही
२२. राघवाभ्युदयम् (संसकृत नाटक)

आचार्यश्री के शीघ्र प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ :

१. हनुमत्कौतुक (हिन्दी खण्ड काव्य)
२. संस्कृत शतकावली (१) आर्याशतकम् (२) सीताशतकम् (३) राघवेन्द्र शतकम् (४) मन्मथारिशतकम् (५) चण्डिशतकम् (६) गणपतिशतकम् (७) चित्रकूटशतकम् (८) राघव चरणचिह्नशतकम्
३. गंगा महिम्न स्तोत्रम् (संस्कृत)
४. संस्कृत गीत कुसुमाञ्जलि
५. संस्कृत प्रार्थनाञ्जलि
६. श्लोकमौक्तिकम्
७. कवित भाण्डागारम् (हिन्दी)

।। श्री राघवो विजयतेतराम् ।।

आचार्यचरणानां बिरुदावली

नीलाम्बुज श्यामलकोमलाङ्गं सीतासमारोपितवामभागम् ।
पाणौ महासायकचारुचापं नमामि रामं रघुवंशनाथम् ।।
रामानन्दाचार्यं मन्दाकिनीविमलसलिलासिक्तम् ।
तुलसीपीठाधीश्वरदेवं जगद्गुरुं वन्दे ।।

श्रीमद् सीतारामपदपद्मपरागमकरन्दमधुव्रतश्रीसम्प्रदायप्रवर्तकसकलशास्त्रार्थ-महार्णवमन्दरमतिश्रीमदाद्यजगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यचरणारविन्दचञ्चरीक: समस्तवैशण-वालंकारभूता: आर्षवाङ्गमयनिगमागमपुराणेतिहाससन्निहित गम्भीरतत्वान्वेषणतत्परा: पदवाक्यप्रमाण पारावारपारीणा: सांख्ययोगन्यायवैशेषिपूर्वमीमांसावेदान्तनारदशा ण्डिल्यभक्तिसूत्रगीतावाल्मीकीयरामायण: भागवतादिसिद्धान्तबोधपुर:सरसमधिकृता-शेषतुलसीदाससाहित्य सौहित्यस्वाद्यायप्रवचनव्याख्यानपरमप्रवीणा: सनातन-धर्मसंरक्षणधुरीणा: चतुराश्रमचातुर्वर्ण्यमर्यादासंरक्षण विचक्षणा: अनाद्यविच्छिन्न-सद्गुरुपरम्पराप्राप्तश्रीमद्सीतारामभक्ति भागीरथीविगाहनविमलीकृतमानसा: श्रीमद्-रामचरितमानसराजमराला: सततं शिशुरूपराघवलालनतत्परा: समस्तप्राच्यप्रतीच्य-विद्याविनोदित विपश्चित: राष्ट्रभाषागिर्वाणगिरामहाकवय: विद्धन्मूर्धन्या: श्रीमद्रामप्रेम साधनधनधन्या: शास्त्रार्थरसिकशिरोमणय: विशिष्टाद्वैतवादानुवर्तिन: परमहंस-परिव्राजकाचार्यत्रिदण्डी वर्या:श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठा: प्रस्थानत्रयीभाष्यकारा: श्रीचित्रकूटस्थ मन्दाकिनीविमलपुलिननिवासिन: श्रीतुलसीपीठाधीश्वरा: श्रीमद्जगद्गुरु स्वामी रामानन्दाचार्या: अनन्तश्रीसमलंकृतश्रीश्रीरामभद्राचार्य महाराजा: विजयन्तेतराम्।

।। श्रीराघव: शन्तनोतु ।।

।। श्रीमद्राघवो विजयतेतराम् ।।

।। श्रीमते रामानन्दाचार्याय नमः ।।

छान्दोग्योपनिषदि

श्रीराघवकृपाभाष्य

श्रीछान्दोग्योपनिषद् का
पदवाक्यप्रमाणपारावारीण-
कवितार्किकचूडामणि वाचस्पति-
श्रीजगद्गुरुरामानन्दाचार्य स्वामि रामभद्राचार्य-
प्रणीत श्रीमज्जगद्गुरुरामानन्दाचार्यसम्प्रदायानुसारि
विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त-प्रतिपादक श्रीराघवकृपाभाष्य ।।

॥ श्री राघवोविजयतेतराम् ॥

॥ श्री रामानन्दाचार्यायनमः ॥

छान्दोग्योपनिषदि

श्रीराघवकृपाभाष्यम्

मंगलाचरणम्

नवीनघनसौभगो भगवता स्मरध्वंसिना,
सदैव परिपूजितो भवभयापहः श्रीहरिः ।
शिशुप्रणतरञ्जनकुशलकोसलामण्डनो,
मदीय हृदयाजिरे विहरतु सदा राघवः ॥१॥

बिभ्रन्मारकतीं विभां विधुमुखो विद्योतमानो नमन्,
नाकाधीशशतार्चिताङ्घ्रि कमलो लोलल्लसद्बालकः ।
कौसल्यासुरवल्लिका प्रसवभूर्भूनन्दिनीवल्लभो,
भास्वदभासुर-भाल-भाल-विभवः श्रीराघवश्चित्यते ॥२॥

यच्चानिर्वचनीयमद्वयमजं वेदान्तवेद्यं शिवं,
शान्तं शात्वतसाधितं शुचिसतां यत् स्वानुभूत्यास्पदम् ।
भावातीतमगोचरं किल गिरां वर्धिष्णु तत्त्वं परम्,
सीताराममयं चलाघनमहस्तद्ब्रह्म नित्यं नुमः ॥३॥

केचिन्नरं केऽपि परं तथान्ये तत्वं परे धर्ममयं भजन्ते ।
वयं त्वयोध्यापतिभाग्यसिन्धुनवोडुपं राघवमामनामः ॥४॥

वन्दारुवृन्दास्पदपारिजातं वृन्दारकाकीर्तितकप्रकीर्तिम् ।
तं जातरूपाचलचारुलक्ष्मीं वन्दामहे वानरवारणेन्द्रम् ॥५॥

अनालस्या वश्या निजनिगमबाणे सुमनसा,
समर्चन्त्यो भक्त्या निजपतिमलं ब्रह्मपरमम् ।
विधुन्वन्त्यो नृणां निविडतिमिराज्ञानरजनीं,
जयन्तीड्या दिव्याः श्रुतयइदमा मादृशसुखाः ।।६।।

नमामि परया भक्त्या देशिकं पौण्यसादनिम् ।
यत्करुणाकटाक्षेण मूढोऽहं वस्तुतांगतः ।।७।।

नत्वाथ वल्मीकिनवावतारं,
गोस्वामिनं वैष्णवपुङ्गवांश्च ।
छान्दोग्यमन्त्रेषु च रामभद्रा-
चार्योविपश्चिद् प्रगृणामि भाष्यम् ।।८।।

अथेदानीं सामवेदीयतलवकारशाखान्तर्गता ओमित्येतदक्षरमित्यादिरष्टाध्यायी ब्रह्मविचार विशदा निखिलब्रह्मजिज्ञासुसुखदा श्रीसीतारामपदपद्मभक्तिप्रदा सकलवैष्णवजन-परमार्थजिज्ञासासमाधित्सुना श्रीचित्रकूटविहारिहारिचरणपंकजपरागरसं प्रपित्सुना मया छान्दोग्योपनिषदियं श्रीराघवकृपाभाष्यनाम्ना संकलितश्रीरामानन्दाचार्यसिद्धान्तसारसर्वस्व समलङ्करणेन विवरणेन समलंक्रियते। चन्दयन्ती आह्लादयन्ती समध्येतृणां मनांसि यानि तानि छन्दांसि, अथवा छादयन्ति भार्या इव निजाञ्चलपटैः परमात्मानं समावृण्वन्ति यानि तानि छन्दांसि, प्रथमव्युत्पत्तौ **'पृषोदरादित्वात्'** निपातनाच्चकारश्चकार:। द्वितीयपक्षे छकारस्य ह्रस्वः मध्येनुमागमः अस्प्रत्यश्च उभयत्र, तानि छन्दांसि अर्थद्वयमभिदधते वृत्ताख्यं मन्त्राख्यञ्च, प्रकृते वृत्तात्मकस्यानुपयोगात्, न खलु गायत्रीप्रमुखानि वैदिकानि अनुष्टुप् प्रमुखानि च लौकिकानि पिंगलशास्त्रीयाणि वृत्तानि प्रकृतब्रह्मविचारणोपयोगीनि। तस्मादिह मन्त्रार्थानि छन्दांसि तानि च पौरुषेयाणि परमेश्वरनिःस्वासभूतानि **तान्योसामनाम**छन्दांसि गायन्ति इति छन्दोगाः तेषां इयम् इति छान्दोग्या सा चैवोपनिषद् सम्बन्धश्च **ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः ज्ञानादेव हि कैवल्यम्'** इत्यादि श्रुतेः। **नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते** । (गीता ४/३८) इत्यादि स्मृतेः। भगवद्भक्त्यै तन्महात्मज्ञानस्य सुतरामावश्यकत्वात् ज्ञानस्यश्च च भगवदुपासनाप्राप्यत्वात् उपासनाज्ञानयोः समन्वयभूतेयमुपनिषदारभ्यते। ननु ज्ञानमुपासनाप्राप्यमित्यत्र किम् मनमिति चेच्छृणु **भक्त्या मामभिजनाति** । (गीता १८/५५) इति गीतावचनमेव प्रमाणम्। वस्तुतस्तु परामार्थे उपासनमेव ज्ञानफलम्। ननु वेदेषूपासनाकाण्डस्य मध्यवर्तित्वाज्ज्ञानस्य

चरमकाण्डत्वात् ज्ञानमेवोपासनाफलमिति चेन्न उभयोरपि भिन्नविषयत्वात्। यत्र काण्डत्वेनोपासना निर्दिष्टा, सा खलु ज्ञानफलका, परन्तु ज्ञानकाण्डस्था सा ज्ञानस्यापि फलमिति हि विवेक:। ननूभयोरुपासनयो: किं वैलक्षयम्? श्रूयतां कण्डस्वरूपोपासना-फलाभिसन्धिपूर्विका तत्तन्मन्त्रनिर्दिष्ट तत्तदैव संतुष्टिफला, किन्तु ज्ञानकाण्डान्तर्गता प्रेमप्रवणचेतसा भगवते समर्पितस्वत्वा, तन्मयीभावनामयी भगवन्ममत्वातिशयसर्वस्वा भगवन्नामरूपलीलाधामसमनुशीलव्यापारामनोद्रवाकारा निरस्तसेव्यसेवकविप्रकृष्टत्वप्रकारा सर्वेश्वरे परमानुरक्तिरेव इयम् ज्ञानस्यापि फलम्। यत्तु ज्ञानमुपासना फलमितिप्राहु: तन्न परमार्थेतूपासनाज्ञानयोरेकत्वप्रायत्वात्। तथा च तैत्तरेया: पठन्ति। **आकाशशरीरं ब्रह्म प्राणारामं प्राचीनयोग्योपाशस्व** (तै.उ.शि. ६) अत्र पूर्वार्धेन ब्रह्मलक्षणमुक्त्वा उत्तरार्धेन 'उपास्य' इति क्रियापदं विधेयत्वेनाभिधाय श्रुति:स्वयमेव ज्ञानोपासना-वैलक्षण्यं निराचकार। यत्तु नान्यत्राद्वैतज्ञानादात्यन्तिकी गति: तदप्यशात्रीयं, स्वरूपतो द्वैतज्ञानस्य सर्ववेदान्तसम्मत्वाभावात् । न ह्यद्वैतशब्दस्य तावद् भाववाचकत्वं दृष्टमुपनिषत्सु। **शैवमद्वैतम् चतुर्थं मन्यन्ते** (मा. उ. ७) इत्यत्र श्रुतौ ब्रह्मविशेषणस्यैवाद्वैतशब्दस्य श्रवणात्। ननु **'अथ येऽन्यथातो विदुरन्य राजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति'**। (छ. उ. ७।२५।२) इत्यत्र श्रुतौ सुस्पष्टमद्वैतज्ञानं प्रतिपादितं, नैवेत्थं, तत्रत्यं प्रसंगमनालोच्यैव शङ्कत एवं भवान्। तत्रत्योऽयमर्थ:– अथ अनन्तरं ये साधका: अत: अस्मात् **भगवान् स्वामी अहं सेवक:** इत्याकारकाद् भावात् अन्यथा अन्यप्रकारेण अहं ब्रह्मास्मीत्यादिरूपेण, ये विदु: ये जानन्ति, ते अन्यराजान: अन्य: परमात्मातिरिक्त: मोहनामा राजा शासक: एषां तेऽन्यराजन: क्षय्य: विनाशशील: लोक: एषां तथाभूता भवन्ति। स्वयमेव परमेश्वरं मन्यमाना: नरकगामिनो भवन्तीति तात्पर्यम्। इत्यनेन अहं ब्रह्मवादिन: परास्ता:। एवमेव **'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति'** (छा. उ. २।२३।१) इत्यत्रापि ब्रह्मणि परमेश्वरे संस्था अस्य स ब्रह्मसंस्था इति बहुव्रीहिणा ब्रह्म-विषयकशरणागतपर्यायसंस्थावान् अमृतत्वमयं गच्छतीत्यर्थेन पूर्वोक्तशङ्कापरिहारसम्भव: **'आत्मैवेदं सर्वम्'** (छा. उ. ७।२।२५) इत्यत्र आत्मन: एव इदं सर्वम् इति विग्रहे **'सुपांसुलुक्'** इत्यनेन षष्ठीलुकिवृद्धौ गुणे च आत्मैवेदं इति सिद्धम्। आत्मन: परमात्मन: एव सम्बन्धिभूतमिदं सर्वं दृश्यमानञ्जगदित्यर्थकम्। नन्वात्मपदं परमात्मार्थक-मित्यत्र किं मानम् **आत्माशरीरे जीवे च जीविते परमात्मनि** इति कोश एव प्रमाणम्।

अथ **'तरति शोकमात्मवित्'** इत्यादि श्रुतयस्तु आत्मज्ञस्यैव शोकसागरतरण-सामर्थ्यं निश्चिन्वन्तीति चेन्न, आत्मशब्दस्य परमात्मार्थकत्वेन व्याख्यातपूर्वत्वात्।

ननु **'तरति शोकमात्मवित्'** इत्यत्र शोकतरणमात्मविदः प्रतिपादितं अपरत्र **'न च तस्यास्ति वेत्ता'** (श्वे. उ. ४।१९) इत्यात्मवेतृत्वनिषेधः असामञ्जस्यमिदं सत्यम्। इदमसामञ्जस्यमेवास्माकमिष्टं विशिष्टाद्वैतवादबीजभूतम्। **'तरति शोकमात्मवित्'** इति श्रुत्या आत्मवेतृत्वं यत्किञ्चित्तया प्रतिपादयति, **न च तस्यास्ति वेत्ता** इत्यनया पूर्णतया वेतृत्वं निषेधयति इदमेवानिर्वचनीयत्वं तच्च यत्किंचत् वक्तुमर्हत्वे सति निःशेषेण वक्तुमर्नहत्त्वम्।

ननु अस्मिन् दर्शने किं बीजम्? श्रुतय एवेति ब्रूमः तद्यथा **'यन्मनसा न मनुते'** (केन. उ. खण्ड २, ४ से ९) न खलु ब्रह्म निःशेषेण वक्तुं शक्यम्। अतएव **'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'** (तै. उ. ब्र. १) ब्रह्म खलु इन्द्रियमनोवचनागोचरं, वाणी कर्मेन्द्रियं तेन जडप्रायेण विशुद्धं चेतनघनं कथमभिधातुं शक्यम्। अतएव **'नेति-नेति'** श्रुतयः प्राहुः। अथ दर्शनेऽस्मिन् किं वैशिष्ट्यमद्वैततो, यतो हि तदपि निर्वचनानर्हम् ? इति चेन्मैवम्, विषयभेदः खलु द्वयोः। अस्मद्दर्शने ब्रह्मविशेषणमद्वैतं विशिष्टं च तद् विशेषणं, व्युपसर्गस्य विशेषोऽर्थः निरुपसर्गस्य निःशेषोऽर्थः। अत्रहि प्रमेयत्वेन श्रीसीताराममयं ब्रह्मतत्त्वं, प्रमातृत्वेन जीवाः, प्रत्यक्षं वेदानुवचनमनुमानं चेति प्रमाणत्रयम्। यथा मदुक्तम्—

प्रमेयः श्रीरामः सगुणमगुणं ब्रह्म विमलम्।
प्रमातारो जीवा भजनरसिका मैथिलिपतौ ।।

प्रमाणं प्रत्यक्षं श्रुतिवचनमेवानुमितिकम् ।
गुरू रामानन्दः प्रणिगदति वेदान्तनिगमे ।।

(श्रीरामानन्दसिद्धान्तचन्द्रिका मं. ९)

यद्यपि जीवब्रह्मणोर्वैलक्षण्यप्रमाणभूताः शताधिकाः श्रुतयः। यथा **'द्वासुपर्णा सयुजासखाया'** (मु. उ. नि. ३।१)। **'छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति'** (क. उ. १।३।१) इत्यादयः। यत्र च क्वचिद्भेदपराः श्रुतयः तत्र सम्बन्धाद्वैवभावनया। यत्तु श्रुतिषु बाध्यबाधकत्वं कल्पयन्ति तदनुचितं, श्रुतिषु उत्सर्गापवादकल्पनं सर्वथा पापावहं न हि नित्या श्रुतिः काचित् कयाचित् बाध्यते तथा सति तदप्रामाण्यं स्यात्। पाणिन्यादि-पौरुषेयसूत्रेषु समुचितमिदं कल्पनं, तस्मात् स्वरूपतस्तु द्वैतं सम्बन्धतोऽद्वैतं इति समन्वयोऽस्मद्विशिष्टाद्वैतदर्शने। इममेव सिद्धान्तमाश्रित्य छान्दोग्योपनिषदमिमां व्याख्यातु-मीहे। तथा हि चिज्जीवः अचित् प्रकृतिः ते शरीरशरीरिभावेन ब्रह्मणि विशेषणे, तच्च

चिदचिद्भ्यां विशिष्टं सदद्वैतम्, अत एव **'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा'** इत्यादयः श्रुतयः संगच्छन्ते। भावपरके व्याख्याने कार्यकारणभेदेन ब्रह्म द्विधा, तच्च प्रत्येकं चिदचिद्विशिष्टम्। तथा हि विशिष्टं च विशिष्टं च विशिष्टे कार्यकारणब्रह्मणी तयोः विशिष्टयोः कार्यकारणब्रह्मणोः अद्वैतम् इति विशिष्टाद्वैतम्। प्रकृतिजीवब्रह्माणीति तत्वत्रयं प्रत्यक्षमनुमानं शब्द इति प्रमाणत्रितयं, परब्रह्मैव सकलजगदभिन्ननिमित्तोपादानं, जीवाः प्रमातारः ज्ञातव्यं च स्वपरोपायविरोधिफलस्वरूपपञ्चकमिति, ब्रह्मजीवयोः स्वरूपतो भेदः सम्बन्धतश्चाभेदः, सत्कार्यवादः जीवानां नित्यत्वं बहुत्वं च साकेताधिपति श्रीसीतारामाभिधं विशिष्टाद्वैतात्मकं ध्येयं श्रीसीतामाराख्यं ब्रह्म। मन्त्रश्च षडक्षरो राममन्त्रः द्वादशाक्षरो वा युगलमन्त्रः इति संक्षेपः।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमयो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरण-मस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु।।

ॐ शान्तिः। शान्तिः।। शान्तिः।।।

ॐ इति परमात्मनोऽभिधानं मम अध्येतुः अङ्गानि शरीरावयवा आप्यायन्तु शक्त्या पूर्णानि भवन्तु, वाक्वाणी तद्दैवतञ्च, प्राणः पञ्चविधः शरीरान्तश्चारीवायुः चक्षुः नेत्रम्, तद्दैवतं श्रोत्रं श्रवणेन्द्रियं एवं सर्वाणि इन्द्रियाणि ज्ञानकर्माख्यानि अथोऽन्तरं बलं शारीरम् आध्यात्मिकं च प्राणरूपं इमानि सर्वाणि भजनोपकरणानि आप्यायन्तु भगवद्भक्तिसुधया सम्पुष्टानि भूत्वा परमेश्वरभजनरसे क्षमाणि वर्तन्तामितिभावः। औपनिषदमुपनिषत्सु दृष्टं सर्वं निखिलं पदार्थजातं ब्रह्म मा निराकुर्याम् रावणादिवत् सम्मुखमागतमपि मा तिरस्कुर्यां, तद् ब्रह्म परमकृपालुतया मां साधकं मा निराकरोत्। ''नमाङ्योगे'' इति सूत्रेण अडभावः ''व्यत्ययात्'' लोडर्थे लङ्लकारः, निजचरणारविन्दच्छायातः ब्रह्म मां मा दूरीकरोत्विति भावः।

तत् आत्मनि अत्र विषये सप्तमी परमात्मविषयकभक्तौ निरते तत्परे मयि, ब्रह्मणः अनिराकरणमस्तु मे मम च ब्रह्मणः अनिराकरणमस्तु, उपनिषत्सु उक्तः ये धर्माः ब्रह्मविषयाः ते मयि सन्तु तिष्ठन्तु आदरार्थवीप्सा। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्ति त्रिरुक्तिरेषा तापत्रयोपशमनाय।।इति।

।। श्री राघवोविजयतेतराम् ।।

।। श्री रामानन्दाचार्यायनमः ।।

।। अथ प्रथमोऽध्यायः ।।

प्रथमः खण्डः

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत। ओमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम् ।।१।।

अवति सर्वान् रक्षति इति ॐ, इति शब्दोऽत्र प्रकारवाची, एतत् इदं श्रुतिप्रसिद्धम्। ॐ प्रणवमक्षरमकारं वासुदेवं क्षरति साधकेभ्यः समर्पयति यत् तदक्षरं तदेव उद्गीथं सामवेदगानविशेषम्। उत् उत्कर्षेण गीयते तदुद्गीथं औणादिकः कर्मणि थच् प्रत्ययः, अस्यां व्युत्पत्तौ किं मूलमिति? श्रुतिरेव प्राह— इदमेव उपासीत् उपासनाविषयं कुर्यात् हि यतोहि ॐ इति उद्गायति उद्गाता यज्ञे ओमित्युच्चार्य उच्चैः गायति तस्य ओंकारस्यैव उपव्याख्यानं संकीर्तनभूतं उद्गीथम्।।श्रीः।।

अथोद्गीतस्य सर्वातिशयत्त्वमाह—

एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रसः । अपामोषधयो रस ओषधीनां पुरुषो रसः पुरुषस्य वाग्रसो, वाच ऋग्रस ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथो रसः ।।२।।

अत्र रसशब्दः सारवाची, एषां भूतानां भवन्तीति भूतानि, तेषां पृथिवी रसः सारः आधाररूपः, भूतानि खलु पृथिव्यामेवाध्रियन्ते, पृथिव्याः भूमेः आपः जलमेव रसः स्थापकः। अपां जलानां ओषधयः सारः उपयुक्ततत्वविशेषः, ओषधीनां रसः साररूपः पुरुषः। तस्यापि रसः उपयोगविशेषः वाक्वाणी यत्र पुरुषो न ब्रूयात् तदा लोके तस्य कावश्यकता वाण्यपि ऋचं वैदिकवाङ्मयभूतां विना नीरसा, ऋचोऽपि रसः सामानि सामवेदः, तेषामपि रसः मुख्यं वस्तु उद्गीथम्। तदपि प्रणवाभिन्नं, तस्मात् उद्गीथ-रूपप्रणवमुपासीत् इति पूर्वान्वयतो वाक्यार्थः।।श्रीः।।

एवं तस्य रसतभतां साधयति—

स एष रसाना ँ रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः ।।३।।

स एषः पूर्वं व्याख्यातः, रसानां पृथिवीजलौषधपुरुषवागृक्सामौद्गीथानामष्टाना रसानां मध्ये यत् व्यत्ययान्नपुंसकम्, उद्गीथः गानविशेषः परमःपूजनीयः परार्ध्यः श्रेष्ठः,

रसः सारभूतः तस्मत् तदभिन्नतया प्रणवमुपासीत इति पूर्वान्वयी।।श्रीः।।

विषयं स्पष्टयितुं प्रश्नाकारमाह—

कतमा कतमर्क्कतमत्कतमत्साम कतमः कतम उद्गीथ इति विमृष्टं भवति ।।४।।

एषु ऋक्सामोद्गीथानां किं किं स्वरूपं भविष्यतीति विचारणायां प्रश्नः— कतमा कतमा किं किं स्वरूपा ऋग्भवति? साम कतमत् किं स्वरूपं भवति? द्विरुक्तिरादरार्था, इदं त्रयं विमृष्टं विचारास्पदं भवति।।श्रीः।।

उत्तरमाध्यमेन विषयं स्पष्टयति—

वागेवर्क् प्राणः सामोमित्येतदक्षरमुद्गीथः ।
यद्वा एतन्मिथुनं यद्वाक्च प्राणश्चर्क् च साम च ।।५।।

वाक्वाणी एव ऋक् ऋग्रूपा, एवं प्राणः अशुः, साम सामाकारः ॐ प्रणवः उद्गीथः, इतिशब्दः द्वयोर्भेदसूचकः। विषयं स्पष्टयितुं मिथुनरूपकं रूपयति— वाक् प्राणः ऋक्साम च मिथुनं युग्मम्। यथा लोके स्त्रीपुरुषमिथुनेन प्रजननं जायते तथैव वाग्ऋचोः प्राणसाम्नोः रूपकतया निर्दिष्टयोः ऋक्साममिथुनं वाक्प्राणमिथुनञ्च सत्संस्कारान् उत्पादयति।।श्रीः।।

तमेवार्थं प्रपंचयति—

तदेतन्मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे सꣳसृज्यते यदा वै ।
मिथुनौ समागच्छत आपयतो वै तावन्योन्यस्य कामम् ।।६।।

तत् तस्मात् एतत् इदं ऋक्सामरूपं वाक्प्राणरूपञ्च मिथुनं युगलम्, ॐ इति ये तस्मिन्नक्षरे अविनाशिवर्णे संसृज्यते सम्पृक्तं भवति, यथा मिथुनौ दम्पती समागच्छतः समागमं कुरुतः तदा तौ जायापति अन्योन्यस्य कामम् अभिलाषम् आपयतः पूरयतः तथैवेदमपि कामं पूरयित्वा लक्ष्यान्नावचलति।।श्रीः।।

रोचनार्थं फलश्रुतिं वर्णयति—

आपयिता ह वै कामानां भवति ।
य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ।।७।।

ह वै इति प्रसिद्धार्थौ निपात्तौ, यः साधकविशेषः एतत् ऋक्सामवाक्प्राणमिथुने ओंकाररूपमुद्गीथं च एवं मिथुनपरम्परया जानाति, विद्वान् जानन् स कामानां मनोरथाना-मापिता पूरयिता भवति।।श्रीः।।

साम्प्रतं भूयोऽपि प्रणवमहिमानं महीयते।

तद्वा एतदनुज्ञाक्षरं यद्धि किं चानुजानात्योमित्येव तदाह एषा एव समृद्धिर्यदनुज्ञा। समर्धयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुदगीथमुपास्ते।।८।।

वा इति निश्चयार्थोऽव्ययः, तत् श्रुतिप्रसिद्धं एतत् इदमक्षरमोंकाररूपमनुज्ञा अनुज्ञानमनुमतिरित्यर्थः, कथमित्यत् आह— हि यतो हि यत्किं च यत् किमपि अनुजानाति अनुमन्यते, तत्ॐ इत्यनुमतिसूचकं शब्दमाह कथयति। यथा कोऽपि लोके प्रार्थयते मां व्याकरणं पाठयत्वाचार्यः तदा आचार्यः प्राह ॐ एवमेव एषा ओमित्युक्तिः समृद्धिः सम्पत्सूचिका। यः साधकः एतत् ओंकारमेवमनुज्ञारूपं समृद्धिरूपञ्च विद्वान् जानन् उद्गीथम् ओंकाररूपेण उपासते भजते सकामानां मनोरथानां समर्थयिता समृद्धिकर्त्ता भवति।।श्रीः।।

भूयश्च प्रवणसार्वभौमतां वर्णयति—

तेनेयं त्रयी विद्या वर्तते ओमित्याश्रावयत्योमिति श ँ।
सत्योमित्युद्गायत्येतस्यैवाक्षरस्यापचितयै महिम्ना रसेन ।।९।।

तेन प्रणवेन इयं प्रसिद्धा त्रयी कर्मोपासना ज्ञानरूपा काण्डत्रयी ऋक्सामययूरूपा वेदत्रयी च वर्तते। विद्यते ओंकारमन्तरा न तिष्ठेदिति भावः। तदेव प्रपंचयति ॐ इति प्रणवमुच्चार्य आश्रावयति श्रावकः वेदमन्त्रान् निशामयति, एवं ॐ इति निगदन् शंसति मंत्रशंसकः ओमिति उच्चारणं कृत्वा उद्गायति उद्गाता। एतस्येव वर्णितस्य अक्षरस्य ओंकारस्य महिम्ना महत्वेन रसेन साररूपेण त्रय्यां श्रावकब्राह्मणाच्छंशी उद्गाता च स्वे-स्वे कर्मणि प्रवर्तन्ते।।श्रीः।।

अधुना ज्ञानाज्ञानयोरन्तरं वर्णयति—

तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद,
नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव
विद्या करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं,
भवतीति खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति।।१०।।

तेन प्रणवमेव माध्यमं विधाय उभौ ज्ञानाज्ञानिनौ कुरुतः उपासाते, कौ तौ? अत आह— एतद् वेद जानाति यश्च न वेद न जानाति। किन्तूभयोरन्तरं भवति, किं तत्? अत आह— विद्येत्यादि विद्यानाम ज्ञानम् अविद्या अज्ञनमियं नाना विभिन्नफला। यश्च विद्यया ज्ञानेन करोति उद्गीयोपासनं तत् एव श्रद्धया आस्तिकबुद्ध्या उपनिषदा श्रुतिविहितमार्गेण कृतं वीर्यवत्तरमत्यन्तप्रभावशालि भवति। तस्यैव अक्षरस्य उद्गीथरूपस्य

प्रणवस्य इदं सर्वमुपव्याख्यानं संकीर्तनं जायते। इत्थं खण्डेऽस्मिन् प्रणव एव उद्गीथानुज्ञासमृद्धिरूपः उपास्यः इति प्रकरणार्थः। तात्पर्यन्तु यदेव विद्यया करोति श्रद्धैवोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरमिति श्रुत्यनुसारं ज्ञानोत्तरमुपासनं तच्च शरणागतिरेव परमेश्वरस्य॥श्रीः॥

इति छान्दोग्योपनिषदि प्रथमाऽध्याये प्रथमखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यम् सम्पूर्णम्।

॥ श्रीराघवः शन्तनोतु ॥

द्वितीयः खण्डः

इदानीं प्राणस्य उद्गीथोपासनायामाख्यायिकामेकां प्रस्तौति। यस्यां प्राणस्य सर्वश्रेष्ठता समर्थिता। अत्र प्राणशब्देन परब्रह्मैवाभिधीयते तथा च बादरायणः **'अतएव प्राणः'** (ब्र. सू. १।१।२३। श्रुतावऽपि **'स प्राणस्य प्राणः'** (के. उ. १।३)।

देवासुरा ह वै यत्र संयेतिर उभये प्राजापत्यास्तद्ध
देवा उद्गीथमाजह्रुरनेनैनानभिभविष्याम इति ॥१॥

ह वै इति प्रसिद्धिद्योतकौ निपातौ, देवाश्चासुराश्च इति देवासुराः देवाः नामः द्योतनशक्तिप्रधानाः इन्द्रादयः तेहि दैवीं सम्पदमुपासीनाः सात्विकाः ते हि अभयादि गीतोक्तषड्विंशतिं गुणयुक्ताः। गीता अध्याय १६।१।२।३।

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानं योगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

यद्वा दीव्यन्ति स्तुवन्ति पुष्कलाभिः स्तुतिभिः परब्रह्मपरमात्मानं ये ते देवाः सुराःनिरन्तरं परमात्मानं स्तुवन्ति। यथोक्तं भागवते 'यं ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैःस्तवैः। तथापि गीतायां पार्थः प्राह—

रुद्रादित्यावसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंङ्घा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ।।

(गीता ११।२२)

इमे हि भागवता: अतोऽमीषां हितं चिकीर्षन् भगवानवातरति। असव: प्राणा: तदुपलक्षितशरीराणि च तेषु रमन्ते इत्यसुरा:। इमे दितिनन्दना: आसुरवृत्तय: दम्भादि षड्दुर्गुणसम्पन्ना:। यथोक्तं गीतायाम्—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोध: पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ।।

(गीता १६।४)

इमे देवान् देवाधिपतिञ्च द्विषन्ति। अतो नरके क्षिप्यन्ते एषां शाश्वतिको विरोध:। तस्मात् **'एषाञ्च विरोध: शाश्वतिक:'** इत्यनेन द्वन्द्वसमास:। अहिनकुलमिव। नन्वत्रापि अहिंनकुलादिवत् कथं नैकवद्भावो नपुंसकलिङ्गञ्च? समुचितं पृष्टम्, एकवद्भाव: क्लीबता च द्वावपि समाहारानिबन्धिनौ, देवा: सुरा: इत्यत्र **'एषाञ्च विरोध: शाश्वतिक:'** इत्यनेन द्वन्द्वसमासे समाहारे एकवद्भावे नपुंसके देवासुरं 'व्यत्यो बहुलम्' इति पाणिनीयसूत्रेण व्यत्यात् पुंस्त्वम् बहुवचनं च देवासुरा:। यत्तु केचन देवासुरप्रसंगं प्रतीकवादमनुश्रुत्य आध्यात्मिकतया व्याचक्षते, तदनुचितम्। तथा सति सर्वेषां पौराणिकप्रसंगानामालङ्कारिकतया मिथ्यात्वापत्ते:। यद्यपि देवा: चक्षुरादीन्द्रियाधिष्ठिाता:, असुरा: आसुरभावसम्पन्ना: स्वभावा: तेषामेव परस्परवैषम्यात् नैसर्गिकस्य सङ्ग्राम: इत्यपि व्याख्यातुं शक्यते। परन्तु श्रुतितात्पर्यविरुद्धत्वात् उपेक्ष्यते। अथ कथमस्मिन् व्याख्याने श्रुतिविरोध:? तदुपजीवकपुराणेषु तथात्वेनानुपलब्धत्वात्। अथ किं पुराणोपलब्धत्वरूपश्रुतितात्पर्यमूलं श्रुतेरेव पुराणानां उपबृंह्मणत्वात्। तथोक्तम् **'इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्'**। **विभेत्यल्पश्रुताद्वेदोमय्यसौ प्रहरिष्यति**।। इति न वेदोपबृंहणरूपपुराणोलङ्घने साहसिका:। उभये समुदायद्वयोक्ता:, प्राजापत्या: प्रजापति:कश्यप: तस्य अपत्यानि प्राजापत्या: **'दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्य:'** इत्यनेन 'ण्य' प्रत्यय:, अत्र संयति: सङ्ग्राम: तदा देवा: उद्गीथं पूर्वव्याख्यातमाजह्रु:। किं हेतो इत्यत् आह— अनेन उद्गीथोपासना कर्मणा एनान् असुरान् अभिभविष्याम: पराभविष्याम:। उपासनया हि दैवीशक्तय: आसुरीशक्ती: परिभवन्ति। इत्येव इति शब्दार्थ:।।श्री:।।

अथ यथाक्रमं प्राणोपासनामेव प्रपञ्चयति—

ते ह नासिक्यं प्राणमुद्गीथमुपासांचक्रिरे । त ँ् हासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं जिघ्रति सुरभि च दुर्गन्धि च पाप्मना ह्येष विद्धः ।।२।।

अथ ते देवाः नासिक्यं नासिका घ्राणः तस्यां नासिकायां भवमिति नासिक्यं **'शरीरावयवाद्यत्'** इत्यनेन यत् प्रत्ययः। नासिकासम्बन्धिनमित्यर्थः। प्राणं घ्राणछिद्र-निर्गमनशीलवायुं, उद्गीथम् उद्गीथात्मकम्, उपासां चक्रीरे, उपासितवन्तः। ह निश्चयेन असुराः आसुरभावापन्नाः देवविरोधिनो देहाभिमाननिरता विरोचनादयः तं निजपराविभूषया सुरैरुपास्यमानं तं प्राणं पाप्मना भगवद्भजनप्रतिबन्धकप्रत्यवायविशेषेण विविधुः विद्धं चक्रुः। ते हि खलु पापाः पापमेव तेषां निजायुधं तेनैव विवुधुः अर्थात् भजनपरम्परामेव व्यवच्छिन्नवन्तः। तस्मात् घ्राणस्य पापविद्धत्वात् देवास्तु भजनविमुखा बभूवुः, सार्धं लोकस्यापि हानिर्जाता पाप्मना विद्धः सः घ्राणस्थः प्राणः सुरभिसुगन्धिं दुर्गन्धं च जिघ्रति घ्राणविषयीकरोति। ननु सुरभिगन्धस्तु सर्वथा समनुकूलः तर्हि तदघ्राणवेलायां कथमुपासनाहानिरिति चेन्न, उपासनायां खलु द्वे अपि शुभाशुभे बाधके आनुकूल्ये सति तदासक्तौ भजनबाधा, प्रातिकूल्ये च तन्निराचिकीर्षा व्यस्ततया भजनबाधा इति चेत् घ्राणोऽयं भजनप्रतिबन्धकप्रत्यूहरूपपाप्मना विद्धो न स्यात्, तदा तेन प्रतिकूल्यानुकूल्ये समतीत्य सुखदुःखात्मकद्वन्द्वत उपरम्य लोकाभिरामे श्रीराम एव रम्येत्। अतएव भगवद्भजनरसं विहाय शरीरानुकूल्यानुभवोऽपि पापपरिणामेव। यथोक्तं मानसकृता—

सानुज सखा समेत मगन मन ।
बिसरे हरष शोक सुख दुख गन ।।

(मानस २।२४०।१)

कथमसौ सुगन्धदुर्गन्धघ्राणेन उभे अनुभवति? इत्यत आह— यतो हि एषः असुरैः पाप्मनाविद्धः सम्पूर्णलोको हि द्वयोरेतयोरनुभवेन नैवानन्दमधिगच्छति, एवं घ्राणोद्गीथोपासनानिरस्ता।

एवमन्यामुपसनां निरसयति—

अथ ह वाचमुद्गीथमुपासांचक्रिरे
त ँ् हासुराः पाप्मना
विविधुस्तस्मात्तयोभयं वदति सत्यं
चानृतं च पाप्मना ह्येषा विद्धा ।।३।।

अथ निराशा:देवा: वाचं वाणीमपि उद्गीथरूपेण उपासांचक्रिरे। तामपि असुरा: भजनरसविस्मारकपाप्मना विद्धांचक्रु:। अतएव लोक: भगवद्गुणगणानां चर्चां परिहृत्य स्वर्गकाम: सत्यं नरककाम: अनृतमसत्यं वदति तेन भजनरसो विहन्यते। इतोऽपि निराशा: सुरा: चक्षुरुपासनां चक्रु:—

अथ ह चक्षुरुद्गीथमुपासांचक्रिरे। तद्धासुराः
पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं
पश्यति दर्शनीयं चादर्शनीयं
च पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ।।४।।

उपास्यमानस्य चक्षुष: असुरै: पाप्मना विद्धत्वात्। ततो भगवत: सकलभुवनाभिराम कोटिकन्दर्पकमनीयसमधिकसौन्दर्यमाधुर्यमयरूपपीयूषपिपासा व्यवगता तेन जगति शोभनाशोभनदर्शनजनितहर्षविषादलोललोचनो लोको राजीवलोचनमनालोक्यविषीदतीति तात्पर्यम्।।श्री:।।

अथ श्रोत्रमुद्गीथरूपेण समुपासनाञ्चक्रिरे तत्परिणाममाह—

अथ ह श्रोत्रमुद्गीथमुपासांचक्रिरे
तद्धासुराः पाप्मना विवुधुस्तस्मात्ते-
नोभय ँ श्रृणोति श्रवणीयं
चाश्रवणीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ।।५।।

श्रोत्रं श्रवणेन्द्रियं शेषं पूर्ववत्। अत्र तात्पर्यमेतत् यदि सुरै: पापविहरत्वादेव श्रवणेन्द्रियमेतत् विरम्य भगवत्कथासुधात: शुभमशुभं श्रृणोति तस्मादुपासनानन्यता व्यवच्छिद्यते। अथ तात्पर्यं ब्रवीमि मन्त्रस्य यद् वैष्णवा: कर्णेन्द्रियविशेषा: क्षणमपि भगवत्कथासुधातो न विरमन्ति। तदतिरिक्तस्य शुभस्याशुभस्य वा श्रवणं पापावहम्। अतएव पृथु: भगवत्कथाश्रवणार्थं दशसहस्रंकर्णान् ययाचे जनार्दनम्। तद्यथा—

न कामये नाथ तदप्यहं क्वचिन्
न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः ।
महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो
विधत्स्वकर्णायुतमेष मे वरः ।।श्रीः।।

(भागवत ४।२०।२४)

अथ निराशा: मनस उपासनां चक्रुः तत्फलमाह—

अथ ह मन उद्गीथमुपासांच्चक्रिरे
तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्ते-
नोभय॑ँ संकल्पयते संकल्पनीयं
चासंकल्पनीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ।।६।।

सर्वं पूर्ववत्। भावोऽयं यत् मनसैव भगवदीयभावनं चिन्तनं भवति। आसुरपाप्मभिर्यदि मनो विद्धं चेत् तदा भगवत्पदपद्मप्रेमपरागरससङ्कल्पं विहाय जागतिकपदार्थानां सदसत्ता सङ्कल्पेन मानसीपूजा विहन्यते भगवत:, तस्मान्मनोऽपि नोपास्यम्।।श्री:।।

एवं नासिकाचक्षुश्रोत्रमनउपासनात: विरम्य देवा: कस्योपासनां चक्रुः? इत्यत आह—

अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे। त॑ँ हासुरा ऋत्त्वा विदध्वंसुर्यथाश्मानमाखणमृत्वा विध्व॑ँ सेत् ।।७।।

अथानन्तरं ह निश्चयेन य: अयं एष: मुख्य: सर्वेषां प्रमुख: प्राण: परमात्मविभूतिरूप: तमेवोपासांचक्रिरे। अन्ये नासिक्यांदयस्तु असुरैः यथा पापविद्धा: तथैवेममपि बेधितुमागता: तदनन्तरं किं जातम्? अत उपमानविधया प्राह— यथा येन प्रकारेण अस्माकं विशालपाषाणशिलां प्राप्य ऋत्वा गत्यर्थक ऋङ् धातो: 'त्वा' प्रत्यय:। आखण: आखन्यते कुद्दालैः विदार्यते इत्याखण: लोष्ठ: विध्वंसेत लडर्थे लिङ्। विद्ध्वस्तो भवतीत्यर्थ:। तथैव तं भगवद्स्वरूपप्राणोपासकं प्राणं च ऋत्वा प्राप्य विदद्ध्वंसू राक्षसाविध्वस्ता: बभूवु:। न तं पापैः विनाशयितुं शेकुरिति भाव:। तस्यापहतपाप्मत्वात् **'अपहत पाप्मा'** (छा. उ. १।२।९) इत्यादि श्रुते:।।श्री:।। इममेवार्थं दृष्टान्तयति—

एवं यथाश्मानमाखणमृत्वा विध्व॑ँ सत एव॑ँ हैव स विद्ध॑ँ सते। य एवंविदि पापं कामयते यश्चैनमभिदासति स एषोऽश्माखणः ।।८।।

प्रकरणमुपसंहरति। एवमित्थं यथा आखणं लोष्ठमस्मानं पाषाणं ऋत्वा अभिहन्तुं गत्वा विद्ध्वंसते, तथैव एवं विधिप्राणोपासनारहस्यज्ञातरि य: पापमहितं कामयते स एव ह निश्चयेन विद्ध्वंसते। यतो हि एष: उपासके कृतपाप: अस्माखण: अश्मभि: अभिभूताखणमिव। यथोक्तं मानसे—

जो अपराध भगत कर करई। रामरोष पावक सो जरई ।।श्री:।।
(मानस २।२१८।५)

इतरवैलक्षण्यस्योपपत्तिमाह—

नैवैतेन सुरभि न दुर्गन्धि विजानात्यप-
हतपाप्मा ह्येष तेन यदश्नाति
यत्पिबति तेनेतरान् प्राणानवति एतमु
एवान्ततोऽवित्त्वोत्क्रामति व्याददात्येवान्तत इति ।।९।।

एतेन भगवद्विभूतिरूपेण सुगन्धिदुर्गन्धिं न विजानाति, नैव विविच्य बुध्यते कथमित्यत आह— हि यतो हि एष: प्राण: अपहतपाप्मा अपहतं विनाशितम् असुरकृतं पापम् येन अपहता वा पाप्मानो येन स, असुराणां पापानि तत्र गत्वापि तेन हन्यन्ते। अतएव अयं यत् अश्नाति भोजनं करोति यत्पिबति उपलक्षणत्तया सकलेन्द्रियाणां धर्मान् निरस्य केवलं भजनरसिको भवति। तेनेतरानपि संधारयति एतं विदित्वा जीव: विक्रामयति उपरि गच्छति अन्ततश्च गोपनीयभावानपि व्याददाति।।श्री:।।

प्राणस्याङ्गिरोनाम हेतुमाह—

त ँ् हाङ्गिरा उद्गीथमुपासांचक्र एतमु
एवाङ्गिरसं मन्यन्तेऽङ्गानां यद्रसः ।।१०।।

ह, निश्चयेन तं, प्राणं उद्गीथं, उद्गीथरूपम् उपासांचक्रे आनर्च। क:? इत्यत आह— अङ्गिरा ब्रह्मणस्तार्तीयकस्सुत: अतएव इमम् आङ्गिरसम् अङ्गिरस: अयम् आङ्गिरस: तं अङ्गिर: सम्बन्धिभूतमुपास्यं मन्यन्ते स्वीकुर्वन्ति। अथवा एतस्य अङ्गेषु रस: तथा हि अङ्गिरस: यस्य स अङ्गिरा अङ्गिरा एव आङ्गिरस: तम् आङ्गिरसम्।।श्री:।।

अथ बृहस्पतिनाम हेतु माह—

तेन त ँ् ह बृहस्पतिरुद्गीथमुपासांचक्र एतमु
एव बृहस्पतिं मन्यन्ते वाग्घि बृहती तस्या एष पतिः ।।११।।

तेन कारणेनैव तं उद्गीथात्मकं प्राणमुपासांचक्रे। अतएव बृहस्पते: उपास्यत्वात् इमं बृहस्पत्तिं कथयन्ति। बृहस्पतिशब्दनिरुक्तिमाह। वाक् बृहती बृहत्या: पति: बृहस्पति:। 'पृषोदरादित्वात्' बृहती शब्दस्य बृहस् आदेश:।।श्री:।।

आयास्य नाम कारणमाह—

तेन त ँ् हायास्य उद्गीथमुपासांचक्र एतमु
एवायास्यं मन्यन्त आस्याद्यदयते ।।१२।।

तेन उद्गीथोपासनाविशेषेण तं प्राणमायास्य: एतन्नाममहर्षि: उपासांचक्रे। अतएव इमं प्राणमपि आयास्यं मन्यन्ते, अपरोपहेतु: अयं प्राण: आस्यात् मुखात् अयते गच्छति अतोऽप्यायास्य:।।श्री:।।

प्राणोद्गीथोपासनापरम्परामाह—

तेन त ँ ह बको दाल्भ्यो विदांचकार । सह नैमिषीयानामुद्गाता बभूव स ह स्मैभ्यः कामानागायति ।।१३।।

तेन उद्गीथोपासनापारम्पर्येण दाल्भ्य: दल्भ्यस्यापत्य: पुमान् दाल्भ्य:। बक: बं ब्रह्म कायति निरन्तरं चर्चाविषयं करोति इति बक:, तं प्राणं विदांचकार, अत्रोपासनावेदनयोरभेदाभिप्रायेण पूर्वमुपासनमुक्त्वा साम्प्रतं तत्पर्यायं वेदनमाह। विदांचकार माहात्म्यज्ञानपुर:सरं समानर्च। तत् पुण्येन नैमिषायानां नेमि:, ब्रह्मणश्चक्रं शीर्यते विलीयते यस्मिन् तन्नैमिषं तस्मिन् भवा: नैमिषीया: नैमिषीयानामुद्गाता यज्ञकर्मणि उद्गाता बभूव:। स एभ्य: नैमिषमहर्षिभ्य: कामान् उपासना फलानि आगायति आदरेण गायति।।श्री:।।

फलश्रुतिमाह—

आगाता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्त इत्यध्यात्मम् ।।१४।।

ह वै इति निश्चयार्थौ निपातौ। य: एतद् व्याख्यातरहस्यं विद्वान् जानन् एवं उक्तरीत्या अक्षरं अविनाशिनं प्रणवमुद्गीथमुपास्ते भजते स: कामानां मनोरथानां आगाता भवति। इतीत्थम् अध्यात्मौपनिषदं रहस्यम्।।श्री:।।

इति छान्दोग्योपनिषदि प्रथमाध्याये द्वितीयखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

तृतीयः खण्डः

इदानीं भूयोऽपि उद्गीथस्य प्रतीकोपासनाक्रमे तेषु तेषु प्रतीकेषु उद्गीथधारणया समुपासनविधित्वेन निर्देष्टुं सकलमिदं प्रारभ्यते। तत्र प्रथमं आदित्यप्रतीकोपासनोपक्रम:।

अथाधिदैवतं य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीतोद्यन्वा एष प्रजाभ्य उद्गायति उद्य ँ स्तमोभयमपहन्त्यपहन्ता ह वै भयस्य तमसो भवति य एवं वेद ।।१।।

अथ इदानीमधिदैवतम्, देवता एव दैवतं देवशब्दात् स्वार्थे तल् 'देवात् तल्' इति सूत्रेण। तथा च दीव्यतीति देवः देव एव देवता। भूयश्च देवतैव दैवतम् इति विग्रहे स्वार्थ एव प्रज्ञादित्वादण् प्रत्ययः। ननु एकस्मादेव देवशब्दात् स्वार्थिक प्रत्यय-द्वयविधानेन किं विवक्षितम् श्रुत्याः? श्रूयताम् अत्र स्वार्थोनाम आत्मपर्यायस्य स्व-भूतस्योपासकस्य अर्थः प्रयोजनम् तदधिकरणं वा तच्चोपास्यदेवरूपं यथाशास्त्रमुपासितो देवलोकं परलोकं चेति स्वार्थयुग्मं साधयतीति स्वार्थद्वयप्रतिपादकप्रत्यययुगलान्त-दैवतशब्देन सूचितम्। एवमधिकृतं दैवतमधिदैवतं यच्च निज निज वर्णाश्रमाधिकारप्राप्तं तथाभूतं दैवतमधिदैवतमिति भावः।

श्रौतोपासनायां खलु त्रेधाक्रमः। प्रतीकानि भूतदैवतात्मसम्बन्धीनि त्रेधा भवन्ति। भूतसम्बन्धीनि अधिभूतानि, दैवसम्बन्धीन्यधिदैवतानि, आत्मानुबन्धीन्याध्यात्म्यानि, इतः पूर्वयोः शकलयोः यथाक्रमं प्राणोद्गीथोपासनायां मन उपासनायाञ्च द्वे वर्णिते, इदानीमधिदैवतं वर्ण्यते। उपास्य दैवतेषु प्रमुखः प्रथमश्चादित्यः अतस्तमेव प्रतीकीकृत्य उद्गीथोपासनं विधत्ते। यः सर्वजनविदितः असौ सकलचक्षुष्मत् दृग्गोचरः एव, नान्यस्मात् तपति प्रकाशते तमादित्यं सूर्यनारायणमेव उद्गीथम् उद्गीथरूपमुपासीत। उपासनाविषयं कुर्वीत। सूर्यमण्डले नारायणस्थितिः पुराणेषु प्रसिद्धा तथाहि—

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती
नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः ।
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी
हारी हिरण्मयवपुर्धृतशंखचक्रः ।।

अतएव सूर्यनारायण इति सूर्यं व्याहरन्त्यास्तिकाः। वस्तु तस्तु, सूर्ये नारायणः सूर्यनारायणः इति सप्तमी योगविभागसमासः। नारायणत्वं च सामस्त्येन श्रीराममेवाधिश्रूयते, तथाहि न रमते संसारिकभोगेषु भगवतप्रेमभक्तिप्रवणचेतस्तया यः स नरः महाराजदशरथः। तथोक्तं श्रीमानसे—

बदऊँ अवध भुआल सत्यप्रेम जेहि रामपद ।
बिछुरत दीन दयाल प्रियतन तृन इव परिहरेउ ।।

(मानस १।१६)

अथवा नरति गच्छति शरण्यत्वेन भगवत्पादमूलं यस्तथाभूतः, अथवा, नारयति शत्रून् क्षयं गमयति यस्तथाविधो नरः दशरथः, अथवा न राति न ददाति याच्यमानोऽपि स्वेच्छया रामचन्द्रं कौशिकाय यः स नरः। यथा चाह प्राचेतसः—

ऊनशोडषवर्षो मे रामो राजीवलोचनः।
न युद्धयोग्यतामस्य पश्यामि सह राक्षसैः ।।

(वा. रा. बालकाण्ड १९।७)

तस्य नरस्य नरपतेः दशरथस्य अयनं निवासस्थाने नरायणं, श्रीअयोध्या तस्मिन् नारायणे चक्रवर्तिदशरथसद्मनि श्रीमदयोध्यापुरीजातः कौसल्यायां यः स नारायणः साक्षात् ब्रह्ममय श्रीहरिः भगवान् रामः स एव सूर्यमण्डलस्थः। यथोक्तं श्रीसनत्कुमार-संहितायाम्—

सूर्यमण्डलमध्यस्थं रामं सीतासमन्वितम् ।
नमामि पुण्डरीकाक्षं अमेयं गुरुतत्परम् ।।

(श्रीयमस्तवराज ५०)

ननु तस्य सूर्यमण्डलस्थत्वे श्रुतौ किं मानमिति चेच्छ्रूयतां योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि (ईशावास्य १६) इति ईशावास्यश्रुतिरेव। किं बहुना समस्तवैदिकमन्त्र माता ब्रह्मगायत्र्यपि मम व्यख्याने परमं प्रमाणम् तथा च

ॐ भूर्भुवः स्वः तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो ।
देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।।

(शुक्ल यजु. ३ अ.।३५)।

एतदर्थः ओम् इति सर्वव्यापकपरमात्मनः प्रमुखं नाम। यद्वा अकारो वासुदेवः, उकारो ब्रह्मा, मकारो महेश्वरः इमे अकारोकारमकारवाच्याः देवास्त्रयः सन्तिष्ठन्ते यत्र स 'ओम्'। अस्मन्मते तु ओमति ब्रह्मजीवघटकीभूतसेव्यसेवकभावसम्बन्धस्मारक-परममंगलमयभगवन्नाम। तथा च अकारः लुप्तः चतुर्थीकः लुप्ततृतीयापंचमीषष्ठी सप्तमीको वा, उकारः निश्चय परः, मकारः जीववाचकः, एवं परमात्मने अत्र तादर्थ्ये चतुर्थी भगवदर्थभूतः इति यावत् निश्चयेन म जीवः इत्योम् स एवास्त्यस्मिन् इत्योम् अत्र तात्स्थे लक्षणा शक्यतावच्छेदकारोपो वा मञ्चाः क्रोशन्ति इतिवत्। जीवो हि निश्चयेन भगवदर्थभूतः तमुपश्लिष्य तस्मिन्नेव तिष्ठति, अत्र गुरौ वसति इतिवत् सामीप्ये सप्तमी। ननु सामीप्यसप्तम्यां किं मानमिति चेत् 'आधारोधिकरणम्' इति सूत्रे अधिकरणत्रितयव्याख्यावेलायां उपश्लेषस्य संयोगसामीप्यरूपेण वैयाकरणाचार्यैः व्याख्यतपूर्वत्वात् तद्वचनमेव प्रमाणम्। एवंभूतः प्रणवरूपो भगवान्, भूः चरमावच्छेदेन भूः रूपः एवं भुवः हृदयावच्छेदेन भुव आत्मा, स्वः शीर्षतया स्वराकारः भगवानेव हि भूर्भुवः स्वराकारः विश्वरूपः तथा च श्रुत्यन्तरं **'नाभ्या आसीदन्तरिक्ष ँ् शीर्ष्णो द्यौः समवर्त्तत पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकानकल्पयन्न'** (शु. यजु. अ.

३१।म.१३) एवं भूतस्य सवितुः सकलप्रेरकस्य सूर्यस्यापि सम्बन्धिनः देवस्य स्वभाषा द्योतमानस्य, अत्र सवितुर्देवस्य इति वाक्यखण्डे सवितृशब्दस्य देवशब्देन सह प्रकाश्यप्रकाशकभावरूपसम्बन्धः। तदर्थे सवितुरित्यत्र 'षष्ठी शेषे' इति सूत्रेण षष्ठी। न तु नीलस्य घटस्य इति वाक्यखण्डघटकभूतस्य घटविशेषणीभूतनीलशब्दस्येव समानाधिकरणविशेषणषष्ठी। यत्तु पूर्वैः सवितुः देवस्य इत्यत्र उभयत्रापि सामानाधिकरण्यं व्याख्यातम्। तथा च यः सविता देवः तस्य सवितुः देवस्य इति तन्न विचारसहः **'यस्य भाषासर्वमिदं विभाति'** (क. १।३।१३) इति श्रुतिविरोधात्। **'तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्'** (श्वे. उ. ६।८) इति श्रुतिस्वारस्यव्याकोपाच्च। **'सूर्यस्यापि भवेत्सूर्यः'** (बा. रा. अ. ४४।१५) इति स्मृतिहार्दविरुद्धत्वाच्च। एवं सवितृप्रतियोगिकद्योतनाधिकरणस्य परात्मनः, तत् तनोति व्याप्नोति चराचरं यत् तथाभूतं सर्वप्रसिद्धं वरेण्यं स्वामित्वेन वरणयोग्यं, भर्गः सकलदोषभर्जनशीलं तेजः धीमहि ध्यायेम, यः देवः सूर्यमण्डलस्थो भगवान् रामः नः अस्माकं धियः धिष्णाः प्रचोदयत् प्राकर्षेण प्रेरयेत्, अशुभकर्मतो व्यावर्त्य शुभकर्मसु नियोजयेदिति भावः। एवं उद्गीथप्रतीकेन सूर्यस्यापि सूर्यं श्रीरामं उपासीत भजेत। कथमत्रोद्गीथत्वम्? अत आह उदेति उद्गायति यः स उद्गीथः व्युत्पत्तिसमर्थने प्राह वा हेतुत्वानुवादकोऽयमव्ययः। एषः उद्यन् उदितो भवन् प्रजाभ्यः संसारप्राणिभ्यः हितकरः उद्गायति उत्कृष्टं गायति निजप्रणतभक्तनामगुणान् संकीर्तयति इति भावः। एतस्योद्यानं उद्गानञ्च प्रजाभ्यः प्रजानां हिताय भवति। यथोक्तं मानसे—

उदित उदय गिरिमंच पर रघुवर बालपतंग ।
बिकसे संत सरोज सब हरषे लोचन भृंग ।।

(मा. बा. २५३)

ननु उद्यन् उद्गायन् वा किं करोति? अत आह उद्यन् उदयं गच्छन् तमः ध्वान्तं अपहन्ति अपकृष्टतया हिनस्ति, उद्गायन् स्वभक्तगुणान् संकीर्तयन् भयं निजजनभीतिं निवारयति। यः आदित्यप्रतीकोद्गीथोपासकः एवं वेद उपासते, अत्र प्रकरणानुरोधेन वेदनं उपासनमेव सोऽपि तमसः अन्धकारस्य भयस्य संसाररूपस्य अपहन्ता भवति।।श्रीः।।

अथ प्राणादित्ययोः सादृश्यं शास्ति। समान इत्यादिना—

समान उ एवायं चासौ
चोष्णोऽसमुष्णोऽसौ स्वर इतीममाचक्षते
स्वर इति प्रत्यास्वर इत्यमुं
तस्माद्वा एतमिममुं चोद्गीथमुपासीत ।।२।।

उ निश्चयेन, अयं उद्गीथप्रतीकरूप: प्राण:, असौ तत्प्रतीक: सूर्य: समान:, अन्योऽन्येन कथं समानत्वमित्यत आह— उभयसाधारणं गुणत्रयमयं प्राण: असौ सूर्यश्च उष्ण: समानतया चोष्णत्वगुणावुभौ, अयं स्वर: स्वरति शरीराणि प्राप्य गच्छति तथैव सूर्योऽपि स्वरति गगनमण्डलं गच्छति प्रत्यास्वरति प्रत्यायाति च अत: प्रत्यास्वरत्वं अस्याधिकं तस्मात् एतं प्राणम् इमं सूर्यम् अमुं परमेश्वरञ्च उपासीत स प्रतीकं निष्प्रतीकं वा भजेत्।।श्रीः।।

इदानीं सूक्ष्मतया व्यानमेवोद्गीथप्रतीकं मत्वा प्राह—

अथ खलु व्यानमेवोद्गीथमुपासीत यद्वै
प्राणिति स प्राणो यदपानिति सोऽपानः ।
अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानो यो व्यानः
सा वाक् तस्माद्प्राणन्ननपानन्वाचमभिव्याहरति ।।३।।

अथ उद्गीथप्रतीकद्वयोपासनानन्तरं व्यानं प्राणापानविलक्षणं, वैलक्षण्यहेतुमाह— अप्राणनेत्यादिप्राणापानक्रियां निरपेक्षैव इति भाव:। शेषं सुगम्।।श्रीः।।

अथ व्यानवागृक्सामोद्गीथानामेकत्वमाह—

या वाक्सर्क्तस्मादप्राणन्ननपा-
नन्नृचमभिव्याहरति यर्क्तत्साम तस्माद
प्राणन्ननपानन्साम गायति यत्साम स
उद्गीथस्तस्मादप्राणन्ननपानन्नुद्गायति ।।४।।

वाग् ऋचो:, ऋक्साम्नो:, सामोद्गीथयोश्च तत्वं वागेव सा च प्राणापानक्रियानिरपेक्षा तस्माद् तत् सादृश्यतया सर्वपरिणामभूतं व्यानमेवोद्गीथरूपेणोपासनीयमिति मन्त्रार्थ:।।श्रीः।।

व्यानोपासनामेव उपसंहरति—

अतो यान्यन्यानि वीर्यवन्ति कर्माणि
यथाग्नेर्मन्थनमाजेः सरणं दृढस्य ।
धनुष आयमनमप्राणन्नपान ँ स्तानि
करोत्येतस्य हेतोर्व्यानमेवोद्गीथमुपासीत् ।।५।।

अत: अस्माद्धेतो: वीर्यवन्ति पराक्रमसाध्यानि आजि: युद्ध: (एवं निहासुर्नृसुर्नृपदेहमाजौ) (भागवत— ६।१२।१) इति शुकोक्ते:। यत्तु आजेर्मर्यादार्थो व्याख्यात: स तु चिन्त्य:,

अन्ने शरणं युद्धस्य कृते गमनमायमनं विकर्षणमग्निमन्थनसमरगमनचापकर्षणादिकर्माणि प्राणापानननिरपेक्षाणि, नहि कोऽपि प्राणन् अपानन् वा इमानि करोति तस्माद्-व्यानमेवोपासनीयमिति हार्दम्।।श्रीः।।

इदानीमुद्गीथाक्षराणामुपासनमाह—

अथ खलूद्गीथाक्षराण्युपासीतोद्गीथ इति
प्राण एवोत्प्राणेन ह्युत्तिष्ठति ।
वाग्गीर्वाचो ह गिर इत्या
चक्षतेऽन्नं थमन्नेहीद ँ् सर्व ँ् स्थितम् ।।६।।

शब्दार्थः सरलः। वाक्यार्थस्तु प्राणवागन्नरूपोपासनायां त्रयोऽप्यर्थाः। उद्गीथेति वर्णत्रितये निहिताः तथा च उत् शब्दस्य प्राणोऽर्थः उत्तिष्ठति येन स उत् प्राणेनापि सर्व उत्तिष्ठन्ति, गीशब्दस्य गिरार्थः, गिरति स्फोटरूपार्थं व्यनक्ति इति गीः थशब्दस्य अन्नमर्थः। तिष्ठति सम्पूर्णचराचरं यस्मिन् तत्थं, पृषोदरादित्वात् सकारलोपः क प्रत्ययः अनुघटकाकारलोपश्च।।श्रीः।।

भूयोऽप्युद्गीथाक्षरेषु तत्तत्प्रतीकाण्यारोपयति—

द्यौरेवोदन्तरिक्षं गीः पृथिवी यमादित्य
एवो द्वायुर्गीरग्निस्थ ँ् सामवेद एवोद्यजुर्वेदो गीः ऋग्वेदस्थं
दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति
य एतान्येवं विद्वानुद्गीथाक्षराण्युपास्त उद्गीथ इति ।।७।।

मन्त्रेऽस्मिन् उद्गीथाक्षरत्रये प्रतीकत्रिकं, द्यौः स्वर्गलोकः स एव उत तत्रैव साधकानामुत्थानात् अन्तरिक्षं गीः ततो पयआदेर्गिरणात् पृथिवीथं स्थानभूतत्वात् एवं आदित्यः उत् तस्योत्थानस्वभावात्, वायुःगीः गन्धगिरणात्। अग्निःथं तत्रैव समेषां भस्मस्थानात्, सामवेदः उत् उत्कर्षात्, यजुर्वेदः गीः कामनागिरणात्, ऋग्वेदः थं तत्र देवानां स्थितत्वात् अस्मै साधकार्थं दुग्धे कामान्ददाति इति भावः।।श्रीः।।

साम्प्रतं सकामोपासनां वर्णयति—

अथ खल्वाशीः समृद्धिरुपसरणानीत्युपासीत ।
येन साम्नास्तोष्यन्स्यात्तत्सामोपधावेत् ।।८।।

आशी: फलं, उपसरणानि उपसर्तव्यानि गन्तव्यानि सामानि: स्तोष्यन्स्तुति करिष्यन् उपधावे स्तुवीति।।श्री:।।

भूयस्तमेव प्रकारं प्रपञ्चयति—

यस्यामृचि तामृचं यदार्षेयं तमृषिं ।
यां देवतामभिष्टोष्यन्स्यात्तां देवतामुपधावेत् ।।९।।

स्तुतौ हि ऋग्, ऋषिदेवतोपधावनं नितरामपेक्षते। अतस्तदुद्देश्यतः स्तुतिं चिकीर्षन् तेषां चिन्तनं कुर्वीत, ऋषिणा दृष्टमार्षं तत्र भवम् आर्षेयं, उपधावेत्— चिन्तयेत्। नोचेत् वैदिकस्तुतेर्न लाभो भवति। मन्त्रेणानेन मन्त्रविनियोगेषु विधेयता पुरःसरं प्रामाणिकता प्रदर्शिता।।श्री:।।

भूय: तत्प्रकारशेषं विशिनष्टि—

येन च्छन्दसा स्तोष्यनस्यात्तच्छन्द उपधावेद्येन।
स्तोमेन स्तोष्यमाणः स्यात्त ँ स्तोममुपधावेत् ।।१०।।

स्तोमं स्तोत्रम्, एवं अनालोच्य मन्त्रर्षिदेवताछन्दस्तोमान् नाधिगच्छति श्रेय: तस्मात् तदनुबन्धिविनियोगान् नूनमेव विदधीतेति हार्दम्।।श्री:।।

पुनरपि स्तुतिप्रकारशेषं व्याहरति—

यां दिशमभिष्टोष्यन्स्यात्तां दिशमुपधावेत् ।।११।।

स्तुतिविषयभूतदेवताधिष्ठानरूपेण कल्पितां यन्नाम्नीं दिशमुद्दिश्य शेषं पूर्ववत्।।श्री:।।

उपासनोपसंहारमाह—

आत्मानमन्तत उपसृत्य स्तुवीत
कामं ध्यायन्नप्रमत्तोऽभ्याशो ह ।
यदस्मै स कामः समृद्ध्येत यत्कामः
स्तुवीतेति यत्कामः स्तुवीतेति ।।१२।।

एवं यथाक्रमं प्राणादित्यव्यानोद्गीथाक्षरमंत्रर्षिदेवताछन्दस्तोम दिगुपासनां विधाय अमूषां भगवदुपासना द्वारत्वेनोपयोगं कृत्वा, अन्त: सिद्धान्ततः सर्वोपासनानां सारभूतफलरूपतो वा, कामं निजाभीष्टं सांसारिकं पारलौकिकं भगवत्प्राप्तिरूपं वा,

ध्यायन् प्राप्यत्वेन चिन्तयन् अप्रमत्तः भगवत्प्रत्तिरूपोपासनातः प्रमादं न कुर्वन्। अत्र प्रमादो नाम परमेश्वरशरणागतिबेलायां तद्विरुद्धविषयचिन्तनम्। तदनाचरन् अभ्यासः अभितः अस्यति निक्षिपति भगवत् प्रतिकूलदुराचरणानि यस्तथाभूतः। अथवा अभ्यासः पौनःपुन्येन भगवदीयनामरूपलीलाधामनुबन्धिसुमधुरकथासुधारसास्वादन-निसर्गरूपोऽस्त्यस्मिन् इत्यभ्यासः, ततादृशः अन्ततः सिद्धान्तरूपां भगवच्छरणागतिमेव मत्वा आत्मानं आप्नोति सर्वं व्याप्नोति इत्यात्मा। अत्र प्रषोदरादित्वात् आप्तेः 'प' कारस्य तकारः, मनिन् प्रत्ययश्च। आदत्ते भक्तोपहृतानि पत्रपुष्पफलानि यस्तथाभूतः आत्मा अत्रापि 'दा' धातोः आकारलोपः दकारस्य च तकारः पृषोदरादिकृतः तादृशं सर्वव्यापकं भक्तभावानाददानं सादरं स्मृतं सन्तं भक्तमानसानि समञ्चन्तं परमेश्वरं श्रीरामाख्यमुपसृत्य तत्पादपद्मं प्रपद्य तमेव शरणागतो भूत्वा इति भावः। स्तुवीत—तमेव परमात्मानं निजस्तुतिविषयं कुर्वीत। अन्यैव श्रुत्या भगवत् स्तुतिकरणे प्रमाणमपि दर्शितम्। ननु परमात्मस्तुतौ को लाभः? इत्यत आह। यत्कामः यमेव काममुद्दिश्य स्तुवीत परमात्मानं स्तुतिविषयं करोति अस्मै भगवतः पतितपावनात्वादि गुणैः भगवन्तं स्तुवते। परमात्मनैव सकामः समृद्ध्येत् व्यत्ययाल्लडर्थे लिङ् समृद्धः क्रियत इति भावः। साधकेन स्तुतः सन् तत्तत् कामनिबन्धनस्तुतिद्वारा स्मारितभक्तकामनापूर्त्युपयोगिनिरस्त-सकलहेयप्रत्यनीकनिखिलनिरतिशयसममोघगुणगणकल्याणकल्लोलिनीवल्लभभक्तस्य तं कामं स्वयमेव भगवान् समर्धयतीति भावः।

यथोक्तं भागवते श्रीशुकाचार्येण—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ।।

(भाग. २।३।१०)

तथा च प्राहुरस्मन्मानसमधुकरपेपीयमानपदपाथोजपरागमकरन्दरसाः श्रीहुलसीहृदयहर्षवर्धनाः। श्रीमानसे—

जो सम्पति शिव रावनहिं दीन्ह दिये दसमाथ ।
सोइ सम्पदा विभीषणहि सकुचि दीन्ह रघुनाथ ।।

(मानस ५।४९ ख)

इति छान्दग्योपनिषदि प्रथमाऽध्याये तृतीयखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।
।। श्रराघवं शन्तनोतु ।।

अथ चतुर्थखण्डः

एवं परम्परासम्बन्धेनानेकमुद्गीथोपासनमुक्त्वा पुनः सिद्धान्ततः प्रणवप्रतीक मुद्गीथोपासनं समभिधत्ते—

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति
ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम् ।।१।।

आदित्यप्राणादिप्रतीकोपासनावर्णनेन व्यवहितत्वात् मुख्योद्गीथोपासनायाः साधकमनोमूलतो मा दूरं ब्रजतु इति कृत्वा समादरेणाभ्यासाय भूयोऽपि ओमित्येतदक्षर-मन्त्रावृत्तिः शेषं पूर्ववत्।।श्रीः।।

प्रणवोद्गीथोपासनायाः परमोत्कर्षं सूचयितुं स्वयं श्रुतिरेवाख्यायिकामिमां श्रावयति—

देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशꣳ स्तेछन्दोभिरच्छादयन्यदेभिरच्छादयꣳस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् ।।२।।

देवाः द्योतवन्तः ब्रह्मादयःसुराः मृत्योः मरणात् बिभ्यतः त्रस्ता भवन्तः सन्तः इति पदोपादानेन श्रुतिरेव सुराणां जीवत्वं सुस्पष्टमाह। जीवान् खलु मृत्युर्मारयति न तु परमेश्वरं **'मृत्युर्धावति पञ्चमः'** (कठ. २।१।११) इति श्रुतेः। पीतामृतानपि सुरान् मृत्युस्त्रासयति तर्हि का कथा वराकाणामस्मादृक्षाणाम्, मृत्योर्भीताः सुराः किं कृतवन्तः? इत्यत आह— त्रयीं विद्यां प्राविशन् यथा कोऽपि लोके शत्रुभ्यो बिभ्यन् प्रविशति गिरिगुहां तथैवेमे त्रयीं ऋग्यजुः सामनाम्नीं विद्यां मन्त्रसंहतिं प्राविशन् प्रविष्टवन्तः, यथा मृत्युर्न पश्येत्। अतः छन्दोभिः मन्त्रैः आत्मानं आच्छादयन् देवानां छादनादेव मन्त्राः छन्दांसि छादयन्ति सुरान् इति छन्दांसि छादधातोः **'छन्दसिः पुनर्वस्वोरेकवचनम्'** (पाणि. अष्टा. १।२।६१) इतिसूत्रेण छन्दस् आदेशः, निपातनं छादनादेव अमीषां प्राविशन् इति कैश्चिद् व्याख्यातम् तदनुचितम् शास्त्रविरुद्धञ्च। ब्राह्मणग्रन्थेषु महाभारतादौ च प्रतिच्छन्दः संविधाने विनियोगस्य देवतादिस्मरणश्रवणात्।।श्रीः।।

तत्रापि ते मृत्योर्न निर्भयो इत्यत आह—

तानु तत्र मृत्युर्यथा मत्स्यमुदके
परिपश्येदेवं पर्यपश्यदृचि साम्नि यजुषि।
ते नु विदित्वोर्ध्वा ऋचः साम्नो
यजुषः स्वरमेव प्राविशन् ।।३।।

तत्र त्रयी विद्यायां प्रविष्टांस्तान् सुरान् तथैव पर्यपश्यत् हन्तुमन्विच्छन् [illegible]केतवान्। यथा कश्चनमात्सिकः उदके नातिगभीरेनीरे मत्स्यं निजत्राणाय निषण्ण [illegible] याति। एवं मृत्युरपि देवान् निजग्राससाध्यान् मत्वा ऋचि ऋग्वेदे साम्नि सामवेदे [illegible] यजुर्वेदे दृष्टवान्। समागतं विलोक्य तं देवाः, नु वितर्क्य ऋक्सामयजुर्भ्यः ऊर्ध्वा [illegible]गताः। स्वरं स्वेन राजमानं स्वं साधकानामात्मीयभूतं धनभूतश्च परमेस्वरं राति यः [illegible] स्वरः तथाभूतं स्वरं, यद्वा स्वरति गच्छति परमेश्वरः भक्तानां पार्श्वं स्मृतिकरणभूतेन [illegible] सस्वरः तं स्वरः, अथवा स्वस्मिन् प्रणतानामात्मीयभूते धनभूते च परमेश्वरे तान् [illegible]ति इति स्वरः तथाविधं, अथवा स्वेषु निजजनेषु परमात्मामेव रमयति स स्वरः तं, [illegible]वा स्वेषु निजज्ञातिषु वेदेषु स्वयमपि रमते यः स स्वरः, अथवा स्वरति सुदूरमाक्षिपति [illegible]तां पापपूगानि यः स स्वरः, तं स्वरं प्रणवं प्राविशन् ब्रह्मरूपत्वात् प्रणवस्य हि [illegible]च्छरणागतान् न प्रधर्षयितुमशकन् मृत्युरिति भावः।।श्रीः।।

तच्छरणागताः सुराः किं वैशिष्ट्यमलभन्तेत्युच्यते पूर्वं प्रणवस्य स्वरत्वं [illegible]म्यते—

यदा वा ऋचमाप्नोत्योमित्येवाति-
स्वरत्येव ँ् सामैवं यजुरेष उ स्वरो
यदेतदक्षरमेतदमृतमभयं तत्प्रविश्य
देवा अमृता अभया अभवन् ।।४।।

कथं प्रणवः स्वरः? इति सिद्धान्तमुपपादयति। यदा यस्मिन् काले वैदिकः ऋचम् आप्नोति आदत्ते अधीत्य कण्ठस्थीकरोति इति भावः, तदा ॐ इति अत्यादरेण स्वरति उच्चारयति। एवं यजूँसि सामान्यपि गृह्णन्। अतएव एष स्वरः ननु गत्याक्षेपार्थस्य स्वरधातोः उच्चारणार्थं कथं **'परौभूवोऽज्ञाने'** इति सूत्रे अज्ञानग्रहणज्ञापकेन समुद्भावितया "अनेकार्थाहि धातवः" इति परिभाषया धातूनां अनेकार्थत्वे भाषिते स्वरधातोरप्युच्चारणार्थस्वीकारेण् दोषपरिहारात्। ननु स्वरधतोरुच्चारणार्थे किं मानम्? [illegible]कृतश्रुतिरेव। एतत् ॐकारम् अक्षरम् सर्वव्यापकम् एतदेव अमृतं मरणभयरहितम्, अभयं भयवर्जितं तस्मादिदं प्रविश्य देवाः अमृताः, मरणरहिताः, अभयाः भवभयवर्जिताः अभवन् अत विश्वजनैरपि अभयममृतमक्षरमुद्गीथमोमित्युपाशितव्यम्।।श्रीः।।

फलश्रुतिमाह सकलपरिसमाप्तौ—

स य एतदेवं विद्वानक्षरं प्रणौत्येतदेवाक्षर ँ् स्वरममृतभयं
प्रविशति तत्प्रविश्य यदमृता देवास्तदमृतो भवति ।।५।।

एवं अक्षरत्वामृतत्वाभयत्वस्वरत्वविशिष्टं यः साधकः विद्वान् जानन् प्रणौति-पाउसते, विशेषणत्रयम् उक्तञ्च प्रणवं प्रविशति, मनसा तल्लीनो भवति, तत्प्रविश्य यत् येन प्रकारेण देशाः अमृताः तथैव अमृतः मरणवर्जितो भवति।।श्रीः।।

इति छान्दोग्यपनिषदि प्रथमाऽध्याये चतुर्थखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यम् सम्पूर्णम्।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

अथ पञ्चमः खण्डः

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो
यः प्रणवः स उद्गीथ इत्यसौ ।
वा आदित्य उद्गीथ एष
प्रणव ओमिति ह्येष स्वरन्नेति ।।१।।

अथ भेदोपासनावर्णनान्तरं खलु निश्चयेन अभेदोपासना वर्ण्यते। प्रणूयते प्रणामपुरःसरमुपास्यते दिवानिशं मजपाविधिना, स प्रणवः, स एव उद्गीथः सामवेद वर्णितोपासनाप्रकारविशेषः एवं उद्गीथ एव प्रणवः उभयत्र एवकारप्रयोगेण द्वयोर्भेदं निराकरोति। असौ प्रणव एव आदित्यः सूर्यः कथमित्यत आह— स ॐ इति स्वरन् वैखर्या निगदन् एति गगनं गच्छति।।श्रीः।।

इदानीं सूर्यरश्मिषु भेदोपासनां व्याचष्टे— नहि सकामाः उपास्याभेदं सहन्ते, उपासकोपास्याभेदं तु वयं अपि न सहामहे ऋतेऽद्वैतिभ्यः—

एतमु एवाहमभ्यागासिषं तस्मान्मम
त्वमेकोऽसीति ह कौषीतकिः
पुत्रमुवाच रश्मी्ँ स्त्वं पर्यावर्तयाद्बहवो
वै ते भविष्यन्तीत्यधिदैवतम् ।।२।।

कौषीतकिः एतन्नामा महर्षिः, ह वै प्रसिद्धिद्योतकौ निपातौ, पुत्रं निजतनयमुवाच वचनमाह— एतं प्रणवोद्गीथादित्याभेदं अहमेव नान्यः कश्चन 'उ' निश्चयेन ''निपात एकाजनाङ'' (पाणिनि अ. १-१-१४) इति सूत्रेण प्रगृह्यत्वात्। उ एव इत्यत्र न यण्। अभ्यगासिषं अभिमुखोभूत्वा गानविषयमकार्षम्। तस्मात् ततो हेतोः त्वं मम एकः एकमात्रसुतः असि अतस्त्वं भेदबुद्ध्या सूर्यस्य रश्मीन् नैकान् पर्यावर्तयात् व्यत्ययात् मध्यमपुरुषस्थाने प्रथमपुरुषः परिवर्तय उपास्व, ततस्ते बहवः अनेके सुताः भविष्यन्ति इति अधिदैवतं देवताविषयकमुपासनम्।।श्रीः।।

अथ मुख्यप्राणं प्रतीकं मत्वा उद्गीथोपासनं वर्णयति—

अथाध्यात्मं य एवायं मुख्यः ।
प्रणवस्तमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्येष स्वरन्नेति ।।३।।

अथ अनन्तरम्, अध्यात्म आत्मनि अधि इत्यध्यात्मम् 'अव्ययं विभक्ति' इत्यादि सूत्रेण विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। शरीरमध्ये उपासनं वर्ण्यते इति वाक्यार्थः। अथ यः मुख्यः प्राणः प्रथमखण्डवर्णितः तमेव उद्गीथदृष्ट्या उपासीत्। अस्यामुपासनायां प्रणवोपासनां व्याहरन्नाह—यतो हि प्राणोऽपि ॐइति उद्गीथस्य मुख्यं प्रतीकं स्वरन् उच्चारयन् एति मुखनाशिकाभ्याम् निगच्छति। किन्तूभयस्वरसूक्ष्मेक्षिकावन्त एव विदन्ति।।श्रीः।।

एतमु एवाहमभ्यगासिषं तस्मान्मम
त्वमेकोऽसीति ह कौषीतकिः
पुत्रमुवाच प्राणाँ्स्त्वं भूमानमभि-
गायताद्बहवो वै मे भविष्यन्तीति ।।४।।

एतम् मुख्यं प्राणमहम् अभ्यगासिषं, ततो हेतोः त्वं एकोऽसि इति कौषीतकिः पुत्रमुउवाच। किमुवाच? इत्युच्यते। त्वं मे गायकस्य बहवः भविष्यन्ति अनेकपुत्राः उत्पत्स्यन्ते इति संकल्प्य भूमानं सर्वशक्तिसम्पन्नं प्राणं उद्गीथदृष्ट्या अभिगायतात्। "बहुलं छन्दसि" इत्यनेन आशीरभावेऽपि तातङ् अभिगानं कुरुष्व इति भावः।।श्रीः।।

अथ प्रणोद्गीथयोः भेदाभावोपासनाफलमाह—

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इति।
होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीथमनुसमाहरतीत्यनु समाहरतीति ।।५।।

अभेक्षेपासनया न केवलं निवृत्तिः फलति प्रत्युत शब्दोचारणदोषोऽपि निराक्रियते। अथ अनन्तरम् उद्गीथं प्रणवं प्रणवञ्च उद्गीथं विभावयन् होता हैवापि ह एव अपि इति पदच्छेदः ह इति प्रसिद्धो एव इति अन्ययोगव्यवच्छेदकः अपि इति निश्चयार्थः एवं त्रयो निपाताः है वापीति। होतृषदनात् षीदति तिष्ठति होता मन्त्रसंशनाय यत्र तत्सदनम् अधिकरणे ल्युट् होतुः षदनं होतृषदनं, यत्र स्थित्वा होता संशति तद्यज्ञमण्डपनिर्दिष्टं विशिष्टं स्थानं तस्मात् होतृषदनात् अत्र त्यब्लोपपंचमीहोतृषदनमाश्रित्य द्वयोरभेदे चिन्तयन् दुरुद्गीतं प्रमादात् शब्दतः स्वरतो वा दुष्टं गीतं अशुद्धमुच्चारितमिति भावः। अनुसमाहरति अनुस्मृत्य दोषमार्जनदृष्ट्या प्रायश्चित्तं कुर्वन् समाहरति दार्ढ्यार्था द्विरुक्तिः।।श्रीः।।

इति छांदोग्योपनिषदि प्रथमाध्याये पंचमखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।
।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

अथ षष्ठः खण्डः

भूयोऽपि सामशब्दव्याख्यानग्रन्थारम्भः—

इयमेवर्गग्निः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूमूढ साम । तस्यादृच्यध्यूढ ँ साम गीयत इयमेव साग्निरमस्तत्साम ।।१।।

इयं दृश्यमाना पृथिवी ऋक् मन्त्रस्वरूपा अग्निः, सामरूपं यथापृथिव्यां अग्निः तथैव ऋचि साम अधिष्ठितं सामशब्देऽपि पृथिव्यग्न्योः समावेशः, स इति पृथिवीवाचकः अम् इति अग्निवाचकः अध्यूढं प्रतिष्ठितम् इति मन्त्रभावः।।श्रीः।।

भूयोऽपि अन्तरिक्षपवनयोः प्रतीककल्पनम्—

अन्तरिक्षमेवर्ग्वायुः साम तदेतदेतस्मामृच्यध्यूढ ँ साम । तस्मादृच्यध्यूढ ँ साम गीयतेऽन्तरिक्षमेव सा वायुरमस्तत्साम ।।२।।

यथान्तरिक्षे वायुः अध्यूढः तथैव ऋचि सामप्रतिष्ठितं, तस्मात् तस्यामेव ऋचि साम प्रतिष्ठितं तस्मात् तस्यामेव ऋचि प्रतिष्ठितं सामगीयते शेषं पूर्ववत्।।श्रीः।।

पुनरपि दिवादित्याभ्याम् सह ऋक्साम्नि प्रतीकयति—

द्यौरेवर्गादित्यः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढ ँ साम । तस्मादृच्यध्यूढ ँ साम गीयते द्यौरेव सादित्योऽमस्तत्साम ।।३।।

ऋग एव देवरूपा आदित्यः सूर्यः तन्मयञ्च साम शेषं पूर्ववत्।।श्रीः।।

पुनर्नक्षत्रचन्द्रमसोः प्रतीकतामाश्रित्य ऋक्साम्नोः आधाराधेयभावं प्रकाश्यप्रकाशक-भावं च सामशब्दघटकीभूतसमुदायद्वयस्य च परस्परसम्बन्धं व्यनक्ति—

नक्षत्राण्येवर्क्चन्द्रमाः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढ ँ साम । तस्मादृच्यध्यूढ ँ साम गीयते नक्षत्राण्येव सा चन्द्रमा अमस्तत्साम ।।४।।

नक्षत्राणां अधिपतिः चन्द्रमा तथैवर्चां अधिनायकः साम।।श्रीः।।

अथ ऋक्साम्नो परस्परभविना भावसम्बन्धं समभिधातुं भूयोऽपि सूर्यान्तरगत प्रतीकद्वयमुपस्थापयति—

अथ यदेवैतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः । कृष्णं तत्साम तदेतदेस्यामृच्यध्यूढ ँ साम तस्माच्यध्यूढ ँ साम गीयते।।५।।

अथ अनन्तरं यत् एतत् योगिजनध्यानगोचरमादित्यस्य शुक्लं सूर्यमण्डलस्य श्वेतं भा: ज्योति: सैव ऋक् अनन्तरं पर: "व्यत्ययात् पुंस्त्वं" परमिति भाव:। श्रेष्ठं नीलं नीलवर्णं कृष्णं श्यामरूपं तदेव साम। इदं खलु न सर्वसामान्यदृष्टिगोचरं भगवत् कृपा-समाप्तदिव्यदृष्टिभिरेव महापुरुषै: समवलोक्यते, तत् एतस्याम् ऋचि अध्यूढं साम तस्मादिदम् ऋक्स्थं गीयते। वस्तुतस्तु श्रुत्या आदित्यमण्डले यच्छुक्लं भा: प्राभाषि तदेव शुक्लं वर्णं सीताया:। यन्नीलं कृष्णं तदेव कन्दकोटिकमनीयस्य भगवत: श्रीरामभद्रस्य श्यामस्वरूपम्। ननु नीलं वर्णं तु तमसोऽपि भवति तर्हि कथं तदेव न कल्प्यते? इति चेदुच्यते। तमसि तथात्ववारणाव आदित्यस्य इति षष्ठी तस्याश्च सम्बन्धोऽर्थ:, स च आधाराधेयभावरूप:। नहि खलु निसर्गसिद्धशत्रु: तमस आदित्य: भवितुमर्हत्याधार:, तथाच तत्र परमेश्वरद्योतनायैव पर: इति पुंल्लिंगत्वावच्छिन्नशब्दप्रयोग:। तम: नीलं तदपि न परं, न्यायनये तु तस्य पदार्थत्वमेव न तर्हि यस्य स्वयमेव स्थिति: संदिग्धा तत्कथं समेषामपरायणम्। ननु नीलं पर इति कथनमेव पर्याप्तं तत् समानार्थक-कृष्णमिति निरर्थकं पदम्? इति चेन्न कृष्णमिति परमात्मन: नाम तथा चाहोपनिषद् **कृषिर्भूवाचव: शब्दो णस्तु निवृतिवाचक: तयोरैक्यं परब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते**। अथ वासुदेवपरोऽयं कृष्णशब्द: कथं परमेश्वरत्वसामान्यवाची इति चेत् भ्रान्तोऽसित्वम्। कृष्णशब्दोऽयं परमेश्वरत्वावच्छिन्नमभिधत्ते, इत्यनुपदमेवावोचाम। अतएव भागवते प्रह्लादप्रसंगे—

कृष्णग्रहगृहीतात्मा न वेद जगदीदृशम् ।

(भागवत ४।३७)

यद्वा कृष्णं कृषति दर्शनमात्रेण भक्तानां दु:खं यत् तथाभूतम्। अथवा कर्षति मुनिमनोमधुकरानपि स्ववशीकरोति इति कृष्णम्। इदं शुक्ल नीला एवं परस्परसम्पृक्तं महोद्वयम् आदित्यमण्डलसंस्थम् इदमेव च साम्निप्रतिष्ठितं स अम इति सकलद्वये इति श्रुतेर्हार्दम्।।श्री:।।

ननु सूर्यमण्डले सीताराममहसो: संस्थाने किं मानम्? इति चेत् सनत्कुमार-संहितैव। तथोक्तम्— **सूर्यमण्डलमध्यस्थं रामं सीतासमन्वितम्**। एवं पृथिव्यग्न्यन्तरिक्ष-वायुदिवादित्यनक्षत्रचन्द्रमो भास्करमण्डलस्थशुक्लनीलमहो नामभि: पञ्चभिर्प्रतीकयुगलै: ऋक्साम्नो: आधाराधेयभावाऽविनाभूतसम्बन्धमीमांसा चक्रे श्रुत्यां तत्रैव पञ्चमस्य प्रतीकयुग्मस्य उपसंहारमाह—

अथ यदेवैतदादित्यस्य शुक्लं भा: सैव साथ
यन्नीलं पर: कृष्णं तदमस्तत्सामाथ
य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मय: पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रु-
र्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्ण: ।।६।।

अथ अनन्तरं सामशब्दस्य स अम इति द्वयोः समुदाययोः श्रीसीतारामगौरश्याम महसी ध्यातव्ये तदर्थं मन्त्रारम्भः। अथ शब्दोऽत्र प्रस्तावार्थकः।

अदितिः देवमाता, न दीर्यते न केनापि प्रत्यवायेन खण्डयितुं शक्यते इत्यदितिः। अखण्ड ब्रह्मस्मृतिः, अखण्डा ब्राह्मणि स्थितिः अतएव **'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्'** इति मन्त्रवर्णे तस्या अपत्यं पुमान् आदित्यः। स्मृतिस्थितिपक्षे अदितेरयं आदित्यः, भक्तिपक्षे अदितिरखण्डभक्तिर्देवता यस्य स आदित्यः "दित्यादित्य पत्युत्तरपदाण्यः" इत्यनेन ण्य प्रत्ययः, स एव आदित्यः सूर्यः भगवद्भक्तो वा। तस्य सूर्यस्य मण्डले, भक्तपक्षे भक्तिसर्वस्वभूतस्य आदित्यवत् प्रकाशमानस्य भक्तस्य हृदये, यत् एव श्रुति-प्रसिद्धम्। श्वेतं रसमानाधिकरणनिरासकम् एतत् अति सन्निकृष्टम्, भक्तानामिति यावत्। शुक्लं— व्यत्ययान्नपुंसकलिंगः 'भा' विशेषणत्वात् शुक्ला इति वक्तव्यम्। सैव श्वेता भाः दीप्तिः जनकनन्दिनीरूपा सैव सा सामशब्दघटक सा इत्याकारकः समुदायः। अथ अनन्तरं यन्नीलं, श्यामवर्णं कृष्णं भक्तविपद्विनाशकं मुनिमन आकर्षकञ्च परः प्राकृतेन्द्रियागोचरं भगवतस्तेजः तदेव अमः। सामशब्दस्य अम इत्युत्तरसमुदायः। एवं शुक्लनीलमहोमिलितरूपं सा अम इति मिलितं साम। इत्थं साममीमांसां विधाय कस्येदं नीलं परः कृष्णं महः? इति जिज्ञासायां तत्प्रतियोगिभूतं तदाधारं पुरुषं वर्णयति मन्त्रोत्तरखण्डे।

यः जिज्ञासाविषयभूतः एषः अयं प्रणतनयनगोचरः आदित्ये भगवति सूर्ये आदित्यमण्डले वा आदित्यस्य इदं आदित्यमिति व्युत्पत्तौ अदितेवादित्यशब्दादपि **दित्यदित्यादित्य** इति सूत्रेण ण्य प्रत्ययविधानशासनात् अनुबन्धकार्ये **हलोयमां यमि लोपः** इति सूत्रेण 'य'कार लोपे। आदित्यमादित्यमण्डलम् तस्मिन् आदित्ये सूर्यमण्डले, **अन्तरा** मध्ये पुरुषः पुरि शेते इति पुरुषः। पुरः शरीराणि 'उ' निश्चयेन, सिनोति निजयोगमायया बध्नाति संसारबन्धने यस्तथाभूतः, **पिपर्ति** पूरयति कल्पतरुरिव भक्तवाञ्छाः सदैव यः स पुरुषः। पुरुः बहुरूपः स एव पुरुषः **हिरण्यमयः** ज्योतिर्मयः इति प्राञ्चः। न च विकारार्थेमयड विधानात् ब्रह्मणि विकारापत्तिरिति वाच्यं बाहुलकेन स्वरूपे मयट् विधाने ना दोषात्, हिरण्यशब्दस्य च ज्योतिरूपलक्षणत्वात्। नव्यास्तु हिरण्यविकाराः हिरण्मयानि स्वर्णरचितानि किरीटकुंडलकेयूरकटककिंकिणीनूपूरप्रभृति-भूषणादि हिरण्यमयानि तानि नित्यं सत्यस्मिन्निति **हिरण्मयः** भगवान् हि विविधमयहिरण्मयभूषणभूषितः, एवं **हिरण्यश्मश्रुः** ज्योतिर्मयकूर्च इति प्राञ्चः। वस्तुस्तु नीलश्मश्रुरेव भगवान् परन्तु स्वकपोलावलम्बि मकरकेतनकेतनकनककुण्डलयुग्मप्रमया हिरण्मय्या तत् श्मश्रूण्यपि हिरण्मयानीव दृश्यन्ते एवं हिरण्यभासाभाषितं श्मश्रु यस्य

= हिरण्यश्मश्रुः, एवं हिरण्येन कनकरचितकिरीटसुवर्णकान्त्या भाषिताः केशाः यस्य = हिरण्यकेशः। प्रमाणाञ्चास्यं मामकीनव्युत्पत्तौ कृष्णावतारप्रघट्टे श्रीभागवतम्। यथा—

महार्हवैदूर्यकिरीटकुण्डलत्विषापरिष्वक्तसहस्रकुन्तलम् ।
उद्दामकाञ्च्यांगदकैकणादिभिर्विरोचमानं वसुदेव ऐक्षत ।।

(भाग १०।३।१०)

प्रणखः श्रीचरणकमललाग्रभागः, तं मर्यादीकृत्य इति आप्रणखात्। पदपद्म-नखमणिमारभ्येति भावः। सर्वः सर्वाङ्गवच्छेदसहितः नखमारभ्य शिरो यावत् सर्व एव सम्पूर्णाङ्गश्रीविग्रहः सुवर्णः सुवर्णालंकारयुक्तः, अथवा शोभनं वर्णं कोटिकन्द-र्पदर्पदलनपटीयसी श्रीविग्रहकान्तिः यस्य तथाभूतः। अथवा शोभनं नीलं, नयनसुखदं तरुणतमालनवीननीरधरयामुजलसौभगं वर्णं यस्य तथाभूतः। नीलं हि वर्णं स्निग्धं भवति अतएव हि लोके चक्षुसो रवितापतस्त्राण मिच्छन् नीलोपनयनं परिधत्ते, अतएव आह प्राचेतसः स्निग्धवर्णः प्रतापवान्' (वा. १।१।११)। दृश्यते— भक्तिप्रवणमानसैः विलोक्यते तस्यैवेदं नीलं भाः इति वाक्य- योजना।।श्रीः।।

अथ निसर्गसुन्दरस्य परमात्मनः निजप्राणवल्लभस्य श्रुतिः कमलनेत्रे वर्णयति दयिताया इव तत्र विशेषरसनिष्पत्तेः—

तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी
तस्योदितिनाम स एष सर्वेभ्य पाप्मभ्य
उदित उदेति ह वै सर्वेश्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद ।।७।।

तस्य सर्वांगसुन्दरस्य सूर्यमण्डलस्य देवस्य अक्षिणी नेत्रे कीदृशे? इत्यत् आह— पुण्डरीकं कमलं कीदृशं कमलेमित्यत आह कप्यासं पुण्डरीकं यथा कं जलं पिबति स्वरश्मिभिः शोषयति इति कपिः सूर्यः अतएव रघुकाव्ये **''सहस्रगुणमादातुं मादत्ते हिरसं रविः''** (रघुवंश १।१८)। तेन कपिना सूर्येण जलशोषकेणापि अस्यते रात्रिकालीनकोषसंकोचो निरस्यते यस्य तत् कप्यासम्। प्रभातोदितसूर्यरश्मिलब्धनिवासं पुण्डरीकं कमलं, यथा येन प्रकारेण, शोभते एवमेव प्रत्यूषनवविकसितकमलमिव भगवतः अक्षिणी नेत्रे, यत्तु कप्यासं मरकटगुदमिव यत् कमलं एवं नेत्रे भगवतः, इति व्याख्यातं गोविन्दपाददेशिकविधेयैर्भगवतपादैः तदसंगतमनुचितमाशास्त्रीयमश्लीलं च। नहि उपमितोपमानं हीनमुपमेयमुत्कर्षति सर्वज्ञशिरोमणिश्रुतिः स्वभर्त्तुर्नेत्रकमलोपमायै इदमत्यन्तमश्लीलमेवोपमानमन्विष्टवती भवेत्। नैवेत्थं इदं तु कदाप्यनास्वादित-

परमेश्वरपादपद्ममकरन्दरसानां भगवद्भक्तिविहीनमरुस्थलतुल्यशुष्कचेतसां महारौरवनरकावहं सन्निपातप्रलपितमिवोपेक्षम्।

आस शब्दो हि पायुपर्यायत्वेन कुत्रापि कोषे न दृष्टः। तस्मात् निक्षिप्यतामेषा पापीयसी कल्पना। यदि कपिशब्देन मर्कटस्यैव आग्रहः तदा कपीन् परमचंचलान् वानरानपि आसयति निजसुरभिणा मुग्धान् कृत्वा निश्चलयति इति कप्यासम्। तादृशं कमलं यस्य सौरमेण वशीकृतनाशिकाचित्तो वानरोऽपि घ्रातुं निश्चलो भवति इति भावः।

अथवा कपीन् निरतिशय चंचलान् मर्कटानपि प्रकृति चपलान् निजसौन्दर्येण आसयति उपवेशयति निश्चलयति तत्कप्यासम्। तादृशं यत्कमलं तद्वन्नेत्रे। कप्यासं यथा इत्युपमानेन भगवतो नेत्रोपमानस्य कमलस्य लोकोत्तरसौन्दर्यसौगन्ध्यादीनां प्रस्तुतीकरणम्।

तस्य परमात्मन् किन्नाम? अत आह उत इति नाम। उपपत्तिं वर्णयति यतोहि एषः परमात्मा सर्वेभ्यः चराचारेभ्यः पाप्मभ्यः पातकेभ्यः उदितः उत्कृष्टमुपरिगतः। अपहतपाप्मा इत्यादि वक्ष्यमाणत्वात्, य एवं वेद जानाति सोऽपि सर्वेभ्यः पाप्मेभ्यः उदेति उपरिगच्छति।।श्रीः।।

अथ चरमे मन्त्रे सिद्धान्ततः पूर्वश्रुतिद्वयवर्णितस्वरूपं परमात्मानमेव उद्गीथरूपं तन्महातात्पर्यञ्च श्रुतिरङ्गीकरोति—

तस्यर्क्य साम च गेष्णौ तस्मादुद्गीथस्तस्मात्त्वेवोद्गातैतस्य हि गाता स एष, ये चामुष्मात्परञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां चेत्यधिदैवतम्।।८।।

स परमात्मा पक्षीव "द्वासुपर्णा सयुजा सखाया" (मुण्डक ३।१।१) इति श्रुत्यन्तरात् तस्य पक्षीभूतस्य ऋक् साम च गेष्णौ पक्षौ, याभ्यां स उड्डीयमानः भक्तमपि गच्छति, तस्मात् ततो हेतोः अयं उद्गीथः स उद्गीथः इति व्युत्पत्तेः। तस्मादेव एतस्य उद्गाता गाता गायकः उत परमात्मा तं गायति इति उद्गाता एव विग्रहात् एषः परमात्मैव उत अमुष्मात् एतस्मात् साकेतविहारिणः श्रीरामपरब्रह्मणः पराञ्चः निम्नगामिनः ये लोकाः ब्रह्मलोकादयः तेषां देवकामानामिन्द्राद्यभीसितानां स एव ईष्टे शासनं करोति। इति इत्थमेव अधिदैवतम् देवतासम्बन्धि उद्गीथ उपासनम्।।श्रीः।।

इति छान्दोग्य उपनिषदि प्रथमाध्याये षष्ठखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यम् सम्पूर्णम्।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

अथ सप्तमः खण्डः

एवमधिदैवोद्गीथोपासनां वर्णयित्वा साम्प्रतम् अध्यात्मोद्गीथोपासनां वर्णयितमुपक्रमते। यत्र उपासनायां देवतानां सम्बन्धः तदधिदैवतं, यत्र च आत्मनि विषये उपासनमारभ्यते तदध्यात्मम् आत्मनि इत्यद्यात्म "अव्ययं विभक्तीत्यादिना" अव्ययीभावः समासः। आत्मशब्दोऽत्र शरीरपरः आत्माशरीरे इति कोशात्। उद्गीथं नाम भक्तिसंबलितसामगानं साम च ऋच्यधिष्ठितम् अतः ऋक्साम्नोरेव तत्प्रतीकमिथुनद्वारेण पौनःपुन्येन स्मरणं, साम्प्रतं शरीरावयवेषु उद्गीथधारणा निर्दिश्यते, तत्र प्रथमं चक्षुषि अथेत्यादिना—

अथाध्यात्मं वागेवर्क्प्राणः साम तदेतदेतस्यामृच्यमूढँ्साम । तस्मादृच्यध्यमूढँ्साम गीयते वागेव सा प्राणोऽमस्तत्साम ।।१।।

अथ इदानीम् अध्यात्मम् अध्यात्मविषया उद्गीथोपासना प्रस्तूयते। वाग् वाणी एव ऋक् तस्याः वाङ्मयत्वात्, प्राणः साम ऋचि साम अध्यूढं प्रतिष्ठितं तस्मात् तस्यां तद्गीयते, वाक्यखण्डपक्षे वागेव सा प्राण एव अमः।।श्रीः।।

भूयश्चक्षुरात्मनोः ऋक्सामप्रतीकत्वमुपस्थापयति आत्मा खलु प्रकाशरूपत्वात् चक्षुरधिवसति यथा ऋचं साम—

चक्षुरेवर्गात्मा साम तदेतदेतस्यामृच्य साम तस्मादृत्तयध्यूढँ्साम गीयते। चक्षुरेव सात्मामस्तत्साम ।।२।।

ऋक्साम्नोरिव चक्षुरात्मनोः सततसाहचर्यात्।

तयोः तत् प्रतीककल्पनमेवं चक्षुरात्मनोरेव सा अम् इति सामोपासनायाः प्रतीकता।।श्रीः।।

श्रोत्रमेवङ्र्मनः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढँ्साम । तस्मादृच्यध्यूढँ्साम गीयते श्रोत्रमेव सा मनोऽमस्तत्साम ।।३।।

श्रोत्रेऋचः, मनसि च साम्नः धारणा कार्येति फलितार्थः। श्रोत्रमनसो हि नित्यसाहचर्यं शेषं सुगमम्।

भूयः चक्षुषि वर्तमानयोः शुक्लनीलरोचिषोः ऋक्सामप्रतीकतामुपादयति—

अथ यदेतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढँ्साम तस्मादृच्यध्यूढँ्साम गीयते ।

अथ यदेवैतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैवसाऽथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्साम ।।४।।

चक्षुषि द्वे तेजसी शुक्लं नीलं चेति तत्र शुक्लम् ऋचि नीलं साम्नि प्रतीकायितं शेषं पूर्ववत्।।श्रीः।। अथ चाक्षुषादित्यवर्तिपुरुषयोरैक्यं दर्शयति—

अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते
सैवक्र्तत्साम तदुक्थं तद्यजुस्तद्ब्रह्म ।
तस्यैतस्य तदेवरूपं यदमुष्य रूपं
यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम ।।५।।

यः एषः सर्वजनदृश्यः आक्षिणि नेत्रे अन्तर्मध्ये पुरुषो दृश्यते स एव ऋक् तदेव च साम अत्र ऋक् साम्नोः न विशेषः। तदेव उक्थं स्तोत्रविशेषः तदेव ब्रह्म परमेश्वरः एवमेतस्य आदित्येन सह पुरुषेण पूर्णमैक्यं तदर्थमुत्तरार्धारम्भः।।श्रीः।।

तथा च आदित्यं मण्डलस्थपुरुषस्य यौ पक्षौ तावेवास्य यत्तस्य नाम तदेवास्य एतस्य कार्यं, वैशिष्ट्यमाह—

स एष ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां
चेष्टे मनुष्यकामानां चेति ।
तद्य इमे वीणायां गायन्त्येतं
ते गायन्ति तस्मात्ते धनसनयः ।।६।।

सः अक्षि वर्तमानः एषः आदित्यमण्डलस्थसदृश एव अक्ष्णोरादित्यमयत्वात्। एवमेषः स्वस्मात् अर्वाञ्चः निम्नाः ये लोकाः अन्तरिक्षादयः तेषाम् ईष्टे ईशनं करोति। मनुष्यकामानाञ्च अत्र मातुः स्मरति इति वत् कर्मणः सम्बन्धविवक्षायां षष्ठी। "विवक्षाधीनानि कारणाणि भवन्ति" इति वैयाकरणनियमात्। एवमेतं पुरुषं ये वीणायां स्तुतिवाद्यविशेषे तन्त्रीनामके ये गायन्ति ते धनसनयः धनं हिरण्यादिकं सनिः लाभः येषां ते धनसनयः।।श्रीः।।

एतद्धारणया सामगानफलमाह—

अथ य एतदेवं विद्वान्साम गायत्युभौ स गायति ।
सोऽमुनैव स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्ताँश्चाप्नोति देवकामाँश्च।।७।।

अथ अनन्तरं यः जिज्ञासुः एतत् अक्षिपुरुषादित्यपुरुषयोरभेदं विद्वान् जानन् कथमित्यतत् आह— एवं पूर्वदर्शितरीत्या जानन् सामगायति सामगानं करोति। सः

...स्थत्वादनयोः उभौ आक्ष्यादित्यवर्तिनौ पुरुषौ गायति सः अमुना आदित्येन ...दिलोकान्नीयते। यतो हि स एष अक्षि पुरुष एव आदित्यपुरुषः। एवं गायकः ...त् परान् लोकान् देवकामाँश्च देवदुर्लभान् भोगान् आप्नोति लभते।।श्रीः।।

पूर्वशेषं स्पष्टयति—

अथानेनैव ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्ताँश्चाप्नोति ।
मनुष्यकामाँश्च तस्मादु हैवंविदुद्गाता ब्रूयात् ।।८।।

अथ अनेनैव आदित्यमण्डलस्थेन पुरुषेण अमुष्मात् आदित्यलोकात् अर्वाञ्चः ...वरे ये लोकाः तान् आप्नोति, देवकामांश्च लभते, तस्मात् ततो हेतोः एवंवित् ...वंवेत्ति जानाति यस्तथाभूतः उद्गाता ब्रूयात् संशेत विधिरयम्।।श्रीः।।

इति छांदोग्योपनिषदि प्रथमाऽध्ये सप्तमे खण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यम् सम्पूर्णम्।।
।।श्रीराघवः शन्तनोन्तु।।

।। अथ अष्टमः खण्डः ।।

उद्गीथोपासनायामनेके प्रकाराः प्रदर्श्यन्तेऽस्मिन् खण्डे। व्यापकत्वात् तस्याः सिद्धान्तः ससुखमध्येतृणां हृदयंगमा भवन्तु इति कृत्वा उत्तमश्लोकशिखामणीनां त्रयाणां महर्षीणां ज्ञातोद्गीथानाम् आख्यायिकां श्रुतिः प्रस्तौति। पुण्यवतां हि संकीर्तनं महते श्रेयसे भजन— प्रतिबन्धकप्रत्यवायनिराशाय च कल्पते।

त्रयो होद्गीथे कुशला बभूवुः शिलकः
शालावत्यश्चैकितायनो दाल्भ्यः प्रवाहणो
जैवलिरिति ते होचुरुद्गीथे वै कुशलाः
स्मो हन्तोद्गीथे कथां वदाम इति ।।१।।

सुप्रसिद्धमेतदैतिह्यिकं यत् कस्मिंश्चित्काले शालावतस्य पुत्रः शालावत्यः शीलकः एतन्नामा ऋषिपुत्रः शिलानि लूनशस्यतः पतितान्यन्नानि अन्विच्छति तथाभूतगुणविशिष्टः अन्वर्थाभिधोमुनिः चेकितायनस्य पुत्रः चैकितायनः, दाल्भ्यः दल्भगोत्रोत्पन्नः जेवलस्य ऋषेः पुत्रः जैविलिः, **प्रवाहणः** प्रवाहयति दिव्यज्ञानगंगा यस्तथागुणः एते त्रय उद्गीथे उद्गीतरहस्यज्ञाने कुशलाः निपुणाः पारोक्षेण भूताः। अथ ते पारिषद्यान् ह निश्चयेन उचुः कथयामासु उद्गीथे एतदुपासनाज्ञाने कुशलाः विदग्धाःस्मः। हन्त हर्षार्थोऽयं निपातः प्रश्नार्थो वा। यदि भवताम् अनुमतिश्चेत् कथां

उद्गीथसम्बन्धिनीं विचारणां वदाम कथयाम सम्प्रश्ने लोट्। एवम् ऋषिकुमाराणां स्वकीयानुभवप्रस्तावचिकीर्षां समीक्ष्य ऋषयोऽनुजज्ञुः।।श्रीः।।

इत्थं परस्परं संमत्र्य किं चक्रुः? इत्यग्रिममन्त्रमाह—

तथेति ह समुपविविशुः स ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच । भगवन्तावग्रे वदतां ब्राह्मणयोर्वदतोर्वाचँ श्रोष्यामीति ।।२।।

तथा स्वीकारार्थोऽयमव्ययः, तथा पूर्वोक्तप्रस्तावं स्वीकृत्य इति उद्गीथकथा निश्चयं कृत्वा समुपविविशुः सम्यक्त्वेन नातिदूरे त्रयः उपविष्टवन्तः उपवेशने सम्यक्त्वं च उद्गीथरूपब्रह्मविचारोद्देश्यकं 'ह' निश्चयेन जैवलस्य प्राग्यः पुत्रः प्रवाहणः राजन्यः ह निश्चयेन उवाच निवेदयामास तौ शिलकचैकितायनौ भगवन्तौ सम्मानवाचकमिदं सम्बोधनं भगवत् स्वरूपौ भगवन्तौ ब्राह्मणौ अग्रे पूर्वं वदताम् उद्गीथविचारणां प्रस्तुतां, वदतामिति प्रार्थने लोट्। यतो हि ब्राह्मणत्वेन जन्मना गुरुत्वात् भवद्भ्यां पूर्वं किमपि कथयन् न प्रत्यवायभाक् बुभूषामि। ब्राह्मणयोः तपश्शास्त्रयो निसम्पन्नयोः विशुद्धयोः वदतो उद्गीथं कथयतोः सतोः, अथवा वदतोरिति नादरार्था षष्ठी "षष्ठी चानादरे" इत्यनेन एवं ब्राह्मणौ वदन्तौ आद्रियमाणः वाचं वाणीं श्रोष्यामः समाकर्णयिष्यामि इति शब्दः वचनप्रकारसंकेतकः।।श्रीः।।

अथ प्रश्नप्रकारं निरूपयति शिलकस्य—

स ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाच । हन्त त्वा पृच्छानीति पृच्छेति होवाच ।।३।।

एवमुक्तवति जैविलौ प्रवाहणे शालावतस्य पुत्रः शिलकः चिकीतायनपुत्रं दाल्भ्यं उवाच अकथयत्। **हन्त** स्नेहेन त्वां पृच्छामि इति शब्दः, अनुमति याच्ञाप्रकारपरः दाल्भ्यः उवाच पृच्छ प्रश्नं कुरु आज्ञार्थेलोट्।।श्रीः।।

प्रश्नमनुवदति—

का साम्नो गतिरिति स्वर इति होवाच स्वरस्य का गतिरिति प्राण इति होवाच । प्राणस्य का गतिरित्यन्नमिति होवाचान्नस्य का गतिरित्याप इति होवाच ।।४।।

अत्र चत्वारः प्रश्नाश्चत्वार्येव उत्तराणि। साम्नः सामवेदस्तोत्रस्य का गतिः कः आश्रयः। इति पृच्छति, दाल्भ्यः उवाच, स्वरः प्रणवः पुनः स्वरस्य प्रणवस्य का गतिः? क आधारः? इति प्रष्टवति शिल्के, दाल्भ्य उवाच, निश्चयेन प्राणः तमेव स्वरोऽधितिष्ठति। भूयः प्राणस्य का गतिः? किमधिकरणम्? इति प्रश्ने दाल्भ्यः ह,

उवाच अन्नम् अदनीयं वस्तु नैतदन्तरेण प्राण: स्थातुं शक्य:। पुनरन्नस्य ? का प्रतिष्ठा? इति जिज्ञासमाने शिलके दाल्भ्य: निश्चयेन उवाच आप: इति शब्दोऽत्र अष्टकृत्व: प्रयुक्त: यथाक्रमं चतुर्णां प्रश्नानाम् उत्तराणां च निर्दिशति।।श्री:।।

अथ साम्न: चरमस्थितिं वर्णयितुं प्रश्नोत्तरविराममाह—

अपां का गतिरित्यसौ लोक इति होवाचामुष्य
लोकस्य का गतिरिति न स्वर्गं
लोकमतिनयेदिति होवाच स्वर्गं वयं लोक ँ्
सामाभिसंस्थापयामः स्वर्ग स ँ्तावत ँ् हि सामेति।।५।।

अपां जलानां का गति: क आश्रय:? इति शिलके पृच्छति दाल्भ्य उवाच असौ निर्देशेनाह अग्रे वर्तमानोऽन्तरिक्षलोक: अमुष्मादेव जलं वर्षति, पुन: अमुष्य का गति:? इति पृष्टवति स्वर्गम् इति उत्तरं दत्त्वा, पुन: पिपृच्छिसन्तं समीक्ष्य निवारयति अग्रे न पृष्टव्यम्। यतो हि स्वर्गलोक: भगवत: परमं व्योम-भिधान: अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या इत्याथर्वणोक्ते:। अत: त्वेन समादिशति स्वर्गं स्व: स्वर्गेऽपि गीयते इति स्वर्ग: साकेतलोक:, क्रम्य कमपि लोकान्तरं न नयेत् अत्र शक्यार्थे 'शकि लिङ् च' इति सूत्रात्। हि स्वर्गं लोकं अतिक्रम्य कोऽपि कमपि नैव लोकान्तरं नेतुं शक्नोति इति भाव:। रिक्तलोकाभावात्। अत: वयं स्वर्गं लोकं साकेताख्यं लब्ध्वा तत्रैव स्तुतिपरकवेदं संस्थापयाम: संस्थं जानीय संस्थं कुर्मो वा। तत्रैव साकेते जमानस्य सीतापते: मंगलमयस्तवनाय सामवेदस्य पूर्णतयोपयोगात् अतस्तेन व स्थातव्यमिति भाव:। स्वर्गो लोको वै सामवेद: इति श्रुत्यन्तरमानाच्च, एवं यतो हि साम सामवेद: स्वर्ग- संस्तावम् स्वर्गे साकेते भगवत: सीताभिरामस्य स्य संस्ताव: संस्तव एव संस्ताव:, (स्वार्थे अण्) सम्यक्स्तुति: येन तादृशम् इत्थं निगद्य दाल्भ्य: शिलकं स्वर्गस्य का गतिरिति प्रश्नकरणान्निषेधति।।श्री:।।

उत्तरादसन्तुष्यन् शिलक: दाल्भ्यं प्रति करोति। तमित्यादिना—

त ँ् ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं
दाल्भ्यमुवाचाप्रतिष्ठितं वै किल ते
दाल्भ्य साम यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा ते
विपतिष्यतीति मूर्धा ते विपतेदिति ।।६।।

असन्तुष्यन् शिलक: आह चेकितायनसुतं दाल्भ्यं यद्दाल्भ्य ते साम मवेदज्ञानमप्रतिष्ठितं प्रतिष्ठारहितं निराधारमित्यर्थ:। एवं ज्ञानशून्यं त्वां यदि

कश्चिद् ब्रूयात् शपेत् यत्ते ज्ञानशून्यस्य मूर्धा शिर: निपतिष्यति कबन्धत: पृथकभविष्यति। तेन शापेन मूर्धा मस्तकं तव निपतेदेव। नहि अल्पज्ञानस्य मूर्धधारणाधिकारो बुद्धिमत्सु।।श्री:।।

शिलकेन समधिक्षिप्तो दाल्भ्य: जिज्ञासते—

हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानीति विद्धीति होवाचामुष्य लोकस्य का गतिरित्ययं लोक इति होवाचास्य लोकस्य का गतिरिति न प्रतिष्ठां लोकमतिनयेदिति होवाच प्रतिष्ठा वयं लोकँ् सामाभिसँ्स्थापयामासः प्रतिष्ठासँ्स्तावँ्हि सामेति ।।७।।

हन्त इति विषादेऽपि भगवत: श्रीमत: एतत् किं प्रतिष्ठं साम इति वेदानि ज्ञातुमिच्छामि इच्छार्थे लोट्। विद्धि जानीहि इति शिलकेन अनुज्ञात: दाल्भ्य: ब्रूहि अमुष्य लोकस्य का गति क आश्रय:? अयं लोक: मर्त्याख्य: अस्मिन्नेव निहितकर्मणां फलानुसारं तल्लोकप्राप्यत्ते तस्मात् इममेव लोकं प्रतिष्ठात्वेन स्वीकुर्म:। इमं लोकं प्रतिष्ठा नातिनयेत् न कोऽपि साम अतीत्य नयेत् अत्रैव होमदानादिकर्मसु अस्मिन् लोके वा धृतावतारस्य भगवत: अयोध्यायां गोकुले च लीलया क्रीडत: स्तुतये तस्य परमोपयोगात्। तस्मात् इयमेव लोक साम अभिसंस्थापयाम:। प्रतिष्ठा संस्तावं प्रतिष्ठायामेव संस्ताव: स्तुति: यस्य तथाभूतमिति शिलकेन भगवदवतारभूमावेव सामवेदस्य परमोपयोगो निश्चित:। न हि स्वर्गादौ भगवतोऽवतार: तस्मादयमेव श्रेष्ठ:।।श्री:।।

शिलकस्य उत्तरेण असन्तुष्यन् जेवलपुत्र: प्रावाहण: समाक्षिपति—

तँ्ह प्रवाहणो जैवलिरुवाचान्तवद्वै किल ते
शालावत्य साम यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा ।
ते विपतिष्यतीति मूर्धा ते विपतेदिति हन्ताहमेतद्
भगवतो वेदानीति विद्धीति होवाच ।।८।।

अथ तं जेवलपुत्र: प्रावाहण: आक्षिपत्, शालावत्य शलावतपुत्र ते साम, तव सामवेदज्ञानं वै निश्चयेन अन्तवत् विनाशशीलं, एवमज्ञानं त्वां कश्चित् एतर्हि अस्मिन्समये ब्रूयात् आक्रोशेत् यत्ते मूर्धानिपतिष्यति च्युतो भविष्यति। तदा ते मूर्धा निपतेत् इत्याक्षिप्त: शिलक: प्राह हन्त! विस्मये अहं एतत् सामप्रतिष्ठाविषयं भगवत: श्रीमत: प्रवाहणात् वेदानि वेदितुम् इच्छामि प्रावाहण: उवाच विद्धि जानीहि।।श्री:।।

इति छान्दोग्योपनिषदि प्रथमाध्यायेऽष्टमे खण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यम् सम्पूर्णम्।।
।। श्रीराघव: शन्तनोतु ।।

।। अथ नवमः खण्डः ।।

एवमष्टसु खण्डेषु उद्गीथोपासनायाः विविधप्रतीकानि वर्णयित्वा समेषां [illegible]नां सिद्धान्ततः परमव्योमभूते नितान्तपूते अपहतपाप्मनि निरस्तसकलहेयगुण-[illegible]के निखिलकल्याणगुणगणसागरे शततदत्तप्रपन्नजनमनोवांछावकाशे चिदाकाशे [illegible]काशे आकाशे ब्रह्मणि परमतात्पर्यमध्यवसीय सिद्धान्ततः तमेवोदगीथमध्यवस्यन्ती [illegible]: प्रवाहणमुखेन सिद्धान्तपीयूषं प्रवाहयन्ती नवमखण्डं उपक्रमते।

प्रतीकोपासनायाः अवास्तविकत्वात् **'न प्रतीके नहि सः'** (ब्रह्मसूत्र १-४-४) [illegible] बादरायणोक्त्यापि प्रतीकोपासनायाः अयथात्वबुबोधयिषया ग्रन्थारम्भः। ननु [illegible] प्रतीकोपासनायाः वैयर्थ्यं तर्हि तत्प्रतिपादनपराः अष्टौ खण्डाः छांदोग्योपनिषदः [illegible]रम्भाः? इति चेन्न। सत्यं बोधयितुं तत्सहकारित्वेन असत्यारम्भस्यापि सफल[illegible]दर्शनात्। नहीतरतारकदर्शमन्तेरण सहसा कोऽपि ध्रुवं दुष्टुमर्हति। यथोक्तं [illegible]रिणा—

उपायाः शिक्षमाणानां बालानां उपलालनाः ।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ।।

(वाक्यपदीय पदखण्ड १०)

तस्मात् सिद्धान्तद्रढीकरणाय तेषामुपोयगात् सफलारम्भास्ते।

अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश
इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि
भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं
यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम् ।।१।।

पूर्वस्मिन् खण्डे शिलकस्योत्तरेण संतोषमलभमानेन अन्तवत्तेषामिति समधिक्षिप्तः शिलकः तद्रहस्यं तस्मादेव प्रावाहणात् ज्ञातुं तेनानुज्ञातः पृच्छति। अस्य दृश्यमानस्य लोकस्य जगतः का गतिः, कः आश्रयः? इति इत्थं पृच्छन्तं शिलकं ह निश्चयेन जैवलिः आकाशः इत्याकारकम् उत्तरम् उवाच प्राह। अत्राकाशशब्दः परमात्मवाची न तु नभोवाची नभोवाचिन आकाशस्य महाभूतत्वेऽपि अष्टाष्वपराषु प्रकृतिषु अन्यतमत्वात् जडप्रायत्वाच्च तत्र लोकस्य गत्यसंभवात्। **आकाशस्तल्लिंगात्** (ब्रह्मसूत्र १।१।२२) इति बादरायणनिर्देशात् श्रुतावपि आकाश इति पुंल्लिगं निर्देशात् नभोवाचिनश्च क्लीववृत्तित्वप्रसिद्धेः आकाशोऽत्र परमेश्वरवाची, सैव सर्वेषां गतिः, 'सा निष्ठा सा परागतिः' (कठ. १।३।९) इति श्रुतेः। **'गतिर्भर्त्ताप्रभुःसाक्षी'** (गीता ९।१८) इति स्मृतेश्च। उपपत्तिमाह— ह वा इति प्रसिद्धिद्योतको निपातौ

भवन्ति इति भूतानि प्राणवन्ति सत्वानि सर्वाणि इमानि दृग्गोचराणि आकाशादेव परब्रह्मण: सकाशात् एव समुत्पद्यन्ते प्रादुर्भवन्ति, प्रलये आकाशं प्रति अस्तम्यन्ति तिरोभवन्ति। तस्मात् एभ्य: प्राणभृद्भ्य: आकाश: एव निर्लेपस्वभावपरमात्मा ज्यायान् प्रशस्यतर:। अत: एषामाकाश: परायणम् परं प्राप्तिस्थानम् तस्मात् आकाशवत् सवलावकाश: अकाशवच्च नील: तद्वत् च कृपावारिधरधाराधर: परायणम् परमं गन्तव्यमिति हार्दम्।।श्री:।।

अथ तमेवाकाशं परोवरीयोद्गीथत्वेन निश्चाययति। एष इत्यादिना—

स एष परोवरीयानुद्गीथ:
स एषोऽनन्त: परोवरीयो हास्य ।
भवति परोवरीयसो ह लोकाञ्जयति य
एतदेवं विद्वान्परोवरीयाँ्समुद्गीथमुपास्ते ।।२।।

स एष: **'आकाशो वै नाम'** बृहदारण्यक (८।१४।१) इति श्रुत्यन्तरेण दत्ताकाशानामा एष: अनुभवगम्य: परमात्मा परोवरीयान् पर: सर्वत: श्रेष्ठ: अवरीयान् अवरतोऽपि श्रेष्ठ: परश्च अवरीयांश्च इति परोवरीयान्। इति प्राञ्च:। वयं तु परो हिरण्यगर्भतोऽपि श्रेष्ठ: वरीयान् इति निर्गुण-सगुणमध्ये निर्गुणापेक्षया सगुणत्वेन वरीयान्। यदि च परश्चासौ अवरीयानिति तदा कर्मधारये सति पर शब्दघटकाकारणे सह अवर इति आकारस्य दीर्घे परावरीयान् छान्दसे ओकारे परोवरीयान्, परस्मादपि परतर:, उद्गीथ: स एष: अन्त: अन्तर्हित: देशकालाभ्या अपरिच्छिन्नत्वात्। एतत् ज्ञानफलमाह, अस्य तज्ज्ञातु: जीवनं परोवरीय: श्रेष्ठतरं भवति। य: एवं विद्वान् उद्गीथं आकाशरूपम् उपास्ते स: परोवरीय: स: श्रेष्ठतरान् लोकान् आब्रह्मभुवनानि जयति अधिकरोति।।श्री:।।

पुनरुद्गीथोपासनाया: फलश्रुतिप्रमाणं प्रत्यायितु शाण्डिल्यवचनमुद्धरति—

तँ्हैतमतिधन्वा शौनक उदरशाण्डिल्या-
योक्त्वोवाच यावत्त एनं प्रजायामुद्गीथं
वेदिष्यन्ते परोवरीयो हैभ्यस्ता-
वदस्मिंल्लोके जीवनं भविष्यति ।।३।।

तं श्रुतिप्रसिद्धं एतम् इमम् आकाशनामानमुद्गीथं ह निश्चयेन अतिधन्वा अतीतं प्रणवाख्यं धनु: येन अथवा अतसज्जं प्रणवाख्यं धनु: येन स अतिधन्वा **प्रणवोधनु:**

…ह्यात्मा (वा. १।९।४) इति श्रुतेः, आत्तप्रणवचाप इति भावः। शौनकः शुनकपुत्रः …शाण्डिल्याय, उदरे जठरे शाण्डिल्यः, शाण्डिल्यगोत्रपावकः, विज्ञानरूपः यस्य …भूतः उदरशाण्डिल्यः अस्मै अन्वर्थनाम्ने ऋषये उक्त्वा विधिवत् पाठयित्वा …च, फलश्रुतिं वर्णयामास। काम इत्याह— वत्स ते तव प्रजायामत्र …ख्यायामेकवचनं, संततिपरम्परायां येन उद्‌गीथं वेदिष्यन्ते यथा रहस्यमुपाशिष्यन्ते। …वन् एभ्यः तव वंशेभ्यः परोवरीयः अति श्रेष्ठतरं जीवनं भविष्यति। …स्यते।।श्रीः।।

भूयोऽपि फलश्रुतेरेतस्याः व्यापकत्वमाह— न केवल उदरशाण्डिल्यस्यैव …देवं विदामन्यषामपि—

तथामुष्मिँल्लोके लोक स य
एतदेवं विद्वानुपास्ते परोवरीय एव ।
हास्यास्मिंल्लोके जीवनं भवति तथा-
मुष्मिंल्लोके लोक इति लोके लोक इति ।।४।।

एवं यथोक्तरीत्या विद्वान् जानन् एतमुद्‌गीथमुपास्ते तस्य अमुष्मिंल्लोके स्वर्गे …वरीयः भगवत् सान्निध्यमूलकं जीवनं भवति। तथा अमुस्मिन्स्वर्गे लोके साकेते …कः भगवदवलोकनञ्च जायते। लोके लोके इति आदरार्थे द्विरुक्तिः।।श्रीः।।

इति छांदोग्यमुपनिषदि प्रथमाध्याये नवमखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यम् सम्पूर्णम्।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। अथ दशमः खण्डः ।।

पूर्वेषु सकलेष्वनेकैः प्रकारैरुद्गीथोपासना सविस्तरं वर्णिता, तत्र तस्यैव महत्वं प्रस्तोतुमुद्गीथस्य प्रतिहारप्रस्तावोऽपि अवश्यं वर्णनीय इति कृत्वा शकलचतुष्टयं आरभ्यते। जानन्नेव खलु प्रतिहारः प्रस्तुतवन्नुद्गीथं यजमानश्रेयसे प्रभवति। अतस्तद्विज्ञानविजृम्भणेयमाख्यायिका प्रतिपाद्यं स्पष्टयितुं सुखावबोधाय समारभ्यते। यत्र धर्मपरायणस्योशस्त्यस्य तत्पत्न्याश्च काचिदपूर्वाचारसंहिता संश्राव्यते। स्वयमेव श्रुत्या—

मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या सह जाययोषस्तिर्ह ।
चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास ।।१।।

ह निश्चयेन प्रसिद्धो वा, श्रुत्युक्तत्वात् प्रसिद्धमिदमाख्यानमिति भावः। कुरुषु, उत्तराकुरुषु एतन्नामकेषु देशेषु मटचीः वज्रं, 'मटचीः कुलिषं वज्रं पविरशनिः सुरायुधः'

इति वैष्णवकोषः। व्युत्पत्तिश्चात्र मथति विनाशयति पर्वतादिपार्थिवानि वस्तूनि या सा मटची। अत्र विनाशनार्थक मथ् धातोः औणादिकश्चिष्प्रत्ययः **''षः प्रत्ययस्य''** (पा. सूत्र १।३।६) इत्यनेन षकारलोपे परिषोदरादित्वात् थकारस्य टकारे मटचीः। **वज्रं तया** मट्च्या वज्रपातेन हतेषु कार्त्स्न्येन नाशंगतेषु यदा वज्रपातेन सम्पूर्णकुरुजाङ्गलं शस्यावच्छेदेन नष्टं जातं तस्मिन्समये मटचीहतेषु कुरुषु इत्यत्र भावलक्षणसप्तमी। चाक्रायणं, चक्रनामकमहर्षेः अपत्यं पुमान् स च किं भूत? इत्यत आह प्रद्राणकः द्रा कुत्सितगत्यर्थकः कुत्सितगतिश्च दुर्गतिः सा च धनाभावजन्यदरिद्रता प्रकृष्टा, द्रा इति प्रद्रा प्राकर्षञ्च तत्र ज्ञानाभावमूलकम्। यथोक्तं गोस्वामिपादैः, **'जलसंकोच विकल भये मीना। अबुधकुटुम्बी जिमि धनहीना'**। ननूषस्तेः ज्ञानाभावजन्यदारिद्रमवोचः तदनुचितम्, सति ज्ञानाभावे तेन राजसभे समस्तयाज्ञिकानां समक्षं कृतो ज्ञानोपदेशो नोपपद्येत? नैष दोषः तस्योद्गीथविषयकज्ञाने सत्यपि ब्रह्मज्ञानं स्यादेवेति नोपपद्यत। तज्ज्ञानं हि यज्ञविषयं यश्च द्रव्यमयः तस्मिन् सत्यपि विषयासक्तिर्न समाप्यते। अन्यथोषस्तिः स्वजीवनत्राणार्थं कथमुच्छिष्टान् कुल्भमाषान् भिक्षेत? नहि ब्रह्मज्ञानिनो जिजीविषोपपद्यते। तस्मात् सत्यपि द्रव्यज्ञवैदग्ध्ये उषस्तौ नितान्तविषयविरक्तिसाध्यस्य बाधितसकलभवप्रपञ्चस्य ज्ञानयज्ञस्य नितरामभावः कल्पनीयः। न च द्रव्ययज्ञेन सह ज्ञानयज्ञसमन्वयस्यादितिवाच्यम्? तस्य त्रिकालमप्यसम्भवात्। न खलु कोऽपि सुधीः पृथ्वीस्वर्गयोः सामञ्जस्यं कर्तुमीष्टे यथोक्तं गीतायाम्—

'श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज् ज्ञानयज्ञः परन्तप' (गीता ४।३३)।

तस्मात् तत्र प्राकर्ष्यं ब्रह्मज्ञानशून्यत्वमूलकमेवेति विरम्यते। एवं प्रकृष्टा या द्रा सा प्रद्रा तामाश्रित्यैव आनिति कथञ्चित् श्वसिति स प्रद्राणकः तादृशः उषस्ति, उषसि प्रातः जातः इति उषस्तिः। अत्र भवार्थे औणादिक तिच् प्रत्ययः। यद्यप्यसौ कर्मकाण्डासक्तचित्तस्तथापि विवेकरूपिण्यामुषसि प्रभूतः सः नैव विरक्तः वस्तुतस्तु अतितरां विषयासक्तः अतएव आटिक्या आटकी नाम **'अलब्धयौवना नारी आटिक्य व्यञ्जनस्तनी'** इति स्मरणात् तथैव जायया पत्न्या सह इभ्य ग्रामे इभाः हस्तिनः तान् अर्हन्तीतीभ्याः हस्तिपाः तेषां ग्रामे उवास निवासं चक्रे। दृश्यः ग्राम इति शब्दोऽपि तस्मिन्नुषस्तावध्यात्मविद्याशून्यत्वं सूचयति, न खलु ज्ञानिनः ग्रामवासो घटते। तथोक्तं नीतौ—

यदि वांच्छसि मूर्खत्वं वसग्रामे दिनत्रयम् ।
अन्यस्य ह्यागमो नास्ति आगतस्यापि संशयः ।।

अथ दरिद्रः सन्नुषस्तिः किमकरोदित्यत् आह—

स हेभ्यं कुल्माषान् खादन्तं बिभिक्षे तँ होवाच।
नेतोऽन्ये विद्यन्ते यच्च ये म इम उपनिहिता इति ।।२।।

प्रसिद्धमेतद्, यदेकदा बुभुक्षावशंवदचेतन उषस्तिः भिक्षितुमटन् कुत्राप्यन्नमलभमानो [illegible] इव तस्मिन् परिभ्रमन् माषान् खादन्तं हस्तिपकमेकं ददर्श। तत्र सः उषस्तिः [illegible]न् कुत्सितान् माषान् खादन्तं क्षुत्क्षान्तये भुञ्जानमिभ्यं इभः कुंजरः तमर्हतीति [illegible] अर्हार्थे यत् तथाभूतमम्बष्ठं तानेव कुल्माषान् आत्मनः क्षुत्शमनाय बिभिक्षे [illegible] विधिना ययाचे। एवं भिक्षमानमुषस्तिं प्रति हस्तिचालक उवाच, अवदत्, यत् [illegible] भोजनार्थं गृहीतेभ्यः एभ्यः अन्ये अनुच्छिष्टः कुल्माषाः न सन्ति। यत् यतो [illegible] यावत् प्रमाणकाः मे मम स्वामित्वे आसन् ते इमे तत् प्रमाणका एते उपनिहिताः [illegible]र्थमशनपात्रे निक्षिप्ता, इति भावः।।श्रीः।।

अथ बुभुक्षातुरः किमकरोत्? इत्यत आह—

एतेषां मे देहीति होवाच तानस्मै प्रददौ ।
हन्तानुपानमित्युच्छिष्टं वै मे पीतँ स्यादिति होवाच ।।३।।

अथ भवन्तु नामेमे त्वदुच्छिष्टाः परन्तु एतेषां कुल्माषाणां मे मह्यं देहि। ननु [illegible]तोः कर्मत्वे माषाणां तत्र कर्मणि द्वितीया कथं न एवमेतेषामित्यस्य स्थाने एतानि देहीति कथं न प्रावोचच्छ्रुतिः सत्यम् अत्र मातुः स्मरतीतिवत् कर्मणः सम्बन्धः विवक्षायां षष्ठी विवक्षाधीनानि कारकाणि भवन्तीति वैय्याकरणधौरेयाणां राद्धान्तितत्वात्। अथ किं मूलिकेयं विवक्षा, निजजीवनधारकत्वेन उषस्ते माषेषु सम्बन्धपरिकल्पनात्। इमे मां जीवयेयुरिति समुचितमेव षष्ठीद्योत्यं सम्बन्धोपस्थापनमिति इत्थम् उक्तवत्युषस्तौ सः उवाच हस्तिपकः अथ तानुच्छिष्टानेव तस्मै याचमानायोषस्तये प्रददौ प्राकर्षेण ममत्वशून्यत्वरूपेण समधिसृष्टवानिति भावः। दत्वा पुनः प्रसन्नतया आह हन्त। अनुपानं भोजनमनु अशनस्य पश्चात् यत् पीयते तदनुपानं जलमपि गृह्यताम् इत्युक्तवतीभ्ये ह निश्चयेन उवाच उदतीतरत्। उत्तराकारमाह— त्वया जलमिदमुच्छिष्टं कृतम्। अतः तदुच्छिष्टमनुपानं पिबेयम्। चेत् मे ममेत्यर्थः उच्छिष्टमेव पीतं स्यात् कृतपानं स्यात् इति एष उत्तराकारः।

ऋषेर्वाक्यं श्रुत्वा स्वाभाविकतया संशयालुः जिज्ञासते हस्तिपकः यत् किमुक्तमार्येण एकत्रमदुच्छिष्टान् कुल्माषान् भुङ्क्ते स एवापस्त्र मत्पीतमनुपानमुच्छिष्टं मन्यते अथ तर्हि किं वैशिष्ट्यं समानतया मदुच्छिष्टयोः कुल्याषानुपानयोरिति जिज्ञासाकारमाह—

न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टाम इति न वा अजीविष्यमिमां न खादन्निति
होवाच कामो म उदकपानमिति ।।४।।

इभ्य: पृच्छति एते अनुपानविशेषा अपि कुल्माषा इव न उच्छिष्टा स्विदिति प्रश्नसूचकोऽव्यय:। उपस्तिरुवाच उच्छिष्टास्तु परन्तु इमान् कुल्माषान् अखादन् न भुञ्जान: अहं न अजीविष्यं न जीवनमधारयिष्यम्। अत्र हेतुहेतुमद्भावमूलक-क्रियातिपत्तिद्योतनो लिङ्लकार:, अतो जीवनधारणाय उच्छिष्टभोजनमपि न प्रत्यवायावहम्। परन्तु एषामभ्यवहरणमन्तरेणापि कथंचिदपि शरीरयात्रा चलति त अच्छिष्टापदार्था न भोजनीया इति शिष्टाचारसंहितां ध्वनयितुं प्रस्तावोऽयम्। उदकपानं तु मे मम काम: इच्छाविशेष: तं निरोध्धुमहं शक्नोमि, तस्मात् उच्छिष्टतोयं पीत्वा धर्मं नातिचरिष्यामिति भाव:।।श्री:।।

अग्रिमां चेष्टामाह—

स ह खादित्वातिशेषाञ्जायाया आजहार साग्र।
एव सुभिक्षा बभुव तान्प्रतिगृह्य निदधौ ।।५।।

अथ स उषस्ति: कुल्माषान् खादित्वा बुभुक्षा शान्तौ अतिशेषान् अतिसृष्टशेषान् जायायै पत्न्यै आजहार आनीतवान् सा आटकी तदानयनादग्र एव सुभिक्षा लब्धसुष्ठु भोजना बभूव। अत: आगामी दिनस्य कृते पत्यु प्राणपरीप्सया तान् प्रतिगृह्य निर्दधौ कुत्रचित् सुरक्षितान् कृतवती।।श्री:।।

अथ तस्याग्र्यं व्यापारं कथयति—

स ह प्रात: संजिहान उवाच यद्बतान्नस्य लभेमहि
लभेमहि धनमात्राँ् राजासौ यक्ष्यते स मा सर्वैरार्त्विज्यैर्वृणीतेति ।।६।।

स: उपस्ति: प्रात: ब्राह्ममुहूर्त एव सञ्जिहान शय्यां निद्रां च त्यजन् तत्समकालमेव भार्यामुवाच, वत यत् चेत् अन्नस्य लभेमहि स्वजीवनधारकतया सम्बन्धीभूतमन्नम अदनीयं लभेमहि, लब्ध्वाभ्यवहरेम तदा धनमात्रां पुष्कलधनं लभेमहि, एतदन्नमशित्वा लब्धादूरगवनमन्त्रोच्चारणबलोऽहं सर्वामुद्रात्रीन् परिभूय राजानां प्रभावयेमिति भाव:। तत्परिणाममाह असौ राजा यक्ष्यते नाति दूरस्थो नृपति: यज्ञं विधास्यति, मद्वेदे कौशलप्रभावित:, सर्वै: आर्त्विज्यै: ऋत्विक् सम्बन्धकर्मभि: मां वृणीत मुख्याचारत्वेन वृतं विदधीत।।श्री:।।

अथ तत् पत्नी तं प्रत्युत्तयामास—

तं जयोवाच हन्त पत इम एव ।
कुल्माषा इति तान्खादित्वामुं यज्ञं विततमेयाय ।।७।।

तं जाया आटकी उवाच, पते हे प्राणवल्लभ हन्त। प्रसन्नताया: विषयोऽयं यत् भवद्दत्ता कुल्माषा मया न खादिता:, अतस्ते इमे अंगुल्या निर्दिष्टा: साम्प्रतमपि

इत्युक्त्वार्पयति, स तान् द्विरुच्छिष्टान् कुल्माषान् खादित्वा विततं व्याप्तं विस्तृतं वा, अथवा वि विप्राः तैः ततम् अथवा वि विष्णुः तस्मै ततम् अमुम् यज्ञं इयाय जगाम।।श्रीः।।

अनन्तरक्रियामाह—

तत्रोद्गातृनास्तावे स्तोष्यमाणानुपोपविवेश स ह प्रस्तोतारमुवाच ।।८।।

तत्र यज्ञे स्तावे स्तुवन्ति यत्रोद्गातारः तस्मिन् यज्ञमण्डपस्य निर्धारिते स्तुति ने निविष्टान् स्तोष्यमाणान् अत्र यजमानक्रिया व्यतिहारेण कर्त्रात्मनेपदमूलकसत् विषयान् सुरान् करिष्यमाणान् उद्गात्रीन् उपसमीपमुपलक्ष्य वा उपविवेश इति स्म।।श्रीः।।

अनन्तरं प्रस्तोतारमपृच्छत्।

उषस्तिप्रश्नाकारमाह—

प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां ।
चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति ।।९।।

हे प्रस्तोतः तव प्रस्तावं या देवता अन्वायत्ता समनुस्थिता ताम् अविद्वान् तस्या देवताः विषये सामग्रेणाजानन् यदि चेत् प्रस्तोष्यसि प्रस्तोतृबुद्ध्या मन्त्राणां प्रस्तुतिं करिष्यति चेत् ते प्रस्तोतः मूर्धा मस्तकं निपतिष्यति नीचैः पतितं भविष्यतीति यजमानो जानातु न वा जानातु वा किन्तु प्रस्तोत्रा तु सामग्रेण प्रस्तावानुगतदेवता विधानं ज्ञात्वैव प्रस्तोतव्यमिति भावः।।श्रीः।।

अग्रिमप्रश्नप्रकारमाह—

एवमेवोद्गातारमुवाचोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता तां
चेदविद्वानुद्गास्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति ।।१०।।

एवं समानमेव प्रश्नाकारमनुश्रुत्य उद्गातारमुवाच अतिक्षिप्य कथितवान्। उद्गातः सम्बोधनमिदं त्वमुद्गीथेसमधिकृतः, परन्तु उद्गीथं अन्वायतता आनुकूल्येनाधिश्रिता या देवता तामविद्वान् अजानन् यदि चेत् उद्‌गास्यसि तदा तवापि मूर्धा पतिष्यतीति।।श्रीः।।

अन्तरभाविनीं क्रियामाह—

एवमेव प्रतिहर्तारमुवाच प्रतिहर्तर्या देवता
प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान् ।

प्रतिहरिष्यसि मूर्धा ते वितिष्यतीति
ते ह समारतरास्तूष्णीमासांचक्रिरे ।।११।।

एवमेव प्रतिहारमपृच्छत्, प्रतिहर्तः! प्रतिहारं या देवता अन्वायत्ता समधिश्रित्य विराजते तामविद्वान् तद्विषये किमप्यजानंश्चेत् प्रतिहरिष्यसि तदा ते मूर्धा विपतिष्यति, अज्ञानदोषेन त्वमपि भग्नशिरा भविष्यसि। एवं त्रिष्वपि ऋषिणा निरुत्तरेषु कृतेषु प्रस्तोता उद्गाता प्रतिहर्ता इति त्रयोऽपि स्व स्व देवताविषये कलयन्तोऽज्ञानं निजनिजमूर्धपतनभीत्या त्रस्तमानसाः ते सर्वे तस्य समीपं समागताः तूष्णीं क्रियाविशेषणमिदमव्ययं, मौनीभूता इति भावः। जिज्ञासवः आसांचक्रिरे तमेवोषस्तिं समुपतस्थुरिति भावः।।श्रीः।।

इति छन्दोग्योपनिषदि प्रथमाध्याये दशमखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यम् सम्पूर्णम्।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

अथ एकादशः खण्डः

इदानीमुषस्तिकृतप्रश्नानां तस्मादेवोत्तरं सुश्रूषमाणो यजमानो राजा तमेव तत्परिचयं पृच्छति पश्चात् च तेनानुनीयमानो द्विजवरः समस्तप्रश्नानामुत्तराणि दातुमुपक्रमते। अत उषस्तिराजसंवादपरम्परया खण्डस्यैतस्य प्रारम्भः—

अथ हैनं यजमान उवाच भगवन्तं वा अहं
विविदिषाणीत्युषस्तिरस्मि चाक्रायण इति होवाच ।।१।।

अथ उषस्तेः प्रतिभापूर्णान् प्रश्नान् आकर्ण्य आश्चर्यचकितः यष्टा राजा महीपतिः एनमुषस्तिमुवाच पप्रच्छ भगवन्तं विद्याधिकत्वात् गौणतयालेशेन च षडैश्वर्याणां वर्तमानत्वात् भगवन्तमिति प्रयोगः। अथवा नैष पारिभाषिको भगवच्छब्दः? किं तर्हि तत्र भवानिव सम्मानवाची। भगवन्तं तत्र भवन्तं वा वै विविदिषाणि ज्ञातुमिच्छानि शक्यार्थे लोट्। किं ज्ञातुं शक्नोमिति भावः। विप्रः पितृनामपुरःसरमात्मनः परिचयं ददाति अहं चाक्रायणः चक्रस्य पुत्रः उषस्तिः एतन्नामास्मि इति उत्तराकारं निर्धारयति शब्दोऽयम् उवाच उषस्तिः प्रत्युत्तरायामास।।श्रीः।।

अथ राजा स्वाभिप्रायं प्रकाशयति—

स होवाच भगवन्तं वा अहमेभिः सर्वैरार्त्विज्यैः।
पर्यैशिषं भगवतो वा अहमवित्त्यान्यानवृषि ।।२।।

अनन्तरमुषस्तिनामवंशं च श्रुत्वा दृष्ट्वा च तदीयां निर्भीकतां विद्याविनयसम्पन्नतां तस्मिन् श्रद्धधानो राजा स्वमनोभावं निवेदयाञ्कार। निवेदनाकारमुच्यते ह निश्चयेन

तद्वंशवृत्तमवधार्य स यजमानः उवाच निवेदयाम्बभूवः, यथार्थमाह। तत्र भवान् अहमपि प्रख्यातमहोच्यकुलनामानं सर्वविद्याव्रतस्नातम् यज्ञकर्मणि च भवन्तं एभिः पुरो वर्तमानैः सर्वैः आर्त्विज्यैः ऋत्विज्यामिमानि आर्त्विज्यानि ऋत्विक् शब्दात् 'कर्मणि शञ्' तैः आर्त्विज्यैः ऋत्विक्सम्बन्धिकर्मभिरिति भावः। अत्र "हेतौ" इति सूत्रेण हेत्वर्थे तृतीया। तथा च आर्त्विज्यैः इत्यस्य ऋत्विक्सम्बन्धकर्मसम्पादनहेतव इत्यर्थः। भवन्तं उद्गीथविद्याविशारदमुषस्तिं पर्यैशिषं 'इषु' धातोः पर्युपसृष्टस्य लुङ् लकारे उत्तम-पुरुषैकवचनरूपमिदम्। पर्येषणविषयमकार्षमित्यर्थः। परन्तु दुर्भाग्येन भगवतः तत्र भवत उषस्तेः अवित्या लाभार्थक 'विद् लृ' धातोः भावे क्तिन् वित्तिः लाभः न वित्तिः अवित्तिः तथा अवित्या अनुपलब्ध्या अत्रापि कारणे तृतीया। भवतोऽनुपलब्धिकारणेन बहुपर्येषणेणाऽपि अज्ञातग्रामगतत्वात् यदा भवान् नोपलब्धस्तदेति भावः, अहं ऋत्विक्कर्मार्थम् इमानज्ञातोद्गीथरहस्यानपि विवशतया अवृषि, अर्थात् उपलब्धे भवति इमे पुनर्निरस्ताः करिष्यन्ते इति हार्दम्।।श्रीः।।

अथ यजमानः पुनः स्वाभिप्रायं स्पष्टं करोति—

भगवाँस्त्वेव मे सर्वैरार्त्विज्यैरिति तथेत्यथ
तर्ह्येत एव समतिसृष्टाः स्तुवतां ।
यावत्त्वेभ्यो धनं दद्यास्तावन्मम दद्या
इति तथेति ह यजमान उवाच ।।३।।

भगवान् तत्र भवानुषस्तिः तु एव इत्यवधारणार्थौ निपातौ, मे मम सर्वैः आर्त्विज्यै तत्कर्मसम्पादनार्थं भवतु इत्यध्याहार्यम्। अथ शब्दोऽयं स्वीकारार्थं, तर्हि एते प्रस्तात्र्युद्गत् प्रतिहर्तारः मया अध्यक्षेण समतिसृष्टाः उद्गीथरहस्यं पाठयित्वा निर्दिष्टाः स्तुवतां स्तुतिं कुर्वतामत्र प्रयुक्तात्मनेपदाभि प्रायोऽयं यत् न केवलं त्वत्फलार्थां प्रत्युत् शुद्धवेदपाठेन जनितपुण्यजनकतया अमीषामपि परलोकः सुगमःस्यादिति निजकल्याणायापि पाठकर्तृगामित्यभिसंन्धिना फलेन स्तुतिं कुर्वन्तीत्यर्थः। परन्तु एभ्योऽधिका धनमात्रा मह्यं नहि यावदेभ्यः धनं दद्या अर्पये तावत् तत्प्रमाणमेव मम उषस्तेरपि अत्र **'स्वमेव ब्राह्मणो भुक्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च'** इति स्मार्तवचनानुरोधेन स्मृतब्राह्मणत्वगौरवतया स्वस्मिन् सम्प्रदानत्वनिरासेन ममेति षष्ठ्यन्तं भावोऽयं, यदहं ब्राह्मणः नान्यस्य भुंजे नान्यस्य वसे सम्पूर्णजगत्त्रयं ममेव अस्मत् कृपया यूयं धनभुजो जाताः। तस्मात् ममैव सम्बन्धीभूतं यद् धनं युष्मासु न्यासभूतं तत एव नास्ति विपुलमहमिच्छामि। **यावद् मीयते जठरं तावद् स्वत्वं हि देहिनम्।** इति स्मार्त वचनात्। तथा तथैव करिष्यामि, यथा श्रीमान् निर्दिषति इति ह निश्चयेन उवाच स्वीचकार।।श्रीः।।

अथ वृत उषस्तो **समतिसृष्टाःस्तुवताम्** इत्युषस्तेर्वाक्यानुसारं पूर्वं प्रस्तोतैव प्रस्तावमन्वायत्तां देवतां जिज्ञासते—

अथ हैनं प्रस्तोतोपससाद प्रस्तोतर्या
देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेद- ।
विद्वान्प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतितष्यतीति
मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ।।४।।

अथ अनन्तरं ह ज्ञाननिश्चयेन कृत्वा एनमुषस्तिं प्रस्तोता प्रस्तावकर्मनिरतो ब्राह्मणः एनमुषस्तिमुपससाद जिज्ञासया समीपं गत्वा प्रणम्य तस्थाविति भावः। प्रस्तोतरि या देवता इत्यारभ्य निपतिष्यति इति यावत् वाक्यखण्डम् उषस्ति वाक्यानुवादरूपं व्याख्यातचरम् तर्हि कतम देवता अत्र देवत्वजातौ निर्धारणे डतमच् किन्नाम्नी सा।।श्रीः।।

उषस्ते उत्तराकारमाह—

प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि
प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणभ्युज्जिहते सैषा
देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्
प्रास्तोष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति ।।५।।

उत्तरमाह प्रस्तावमन्वायत्तादेवता **'प्राण एव उपपत्तिमाह'** ह यतोहि वा शब्दोऽत्र निश्चयर्थः निश्चयेन सर्वाणि भूतानि चराचराणि प्राणमेव आधारीकृत्य संविशन्ति समधिशेरते, प्राणमेव अनुश्रित्य सर्गकाले समुज्जिहते उदीयमानानि गच्छन्ति, अत्रेदमवधेयं यत् प्राणशब्दोऽत्र परब्रह्मवाची न खलु नासाग्रामिनं प्राणं भूतानि संवेष्टुं शक्यानि। न खलु तमुपश्रुत्य गतिमन्तिभवितुं शक्यानि। अतो **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'** इति तैत्तरीपोनिषदः शिक्षाध्याये सप्तमानुवाके वर्णितस्य ब्रह्मलक्षणस्य संघटनात्। प्राण शब्दोऽत्र ब्रह्मतात्पर्य एव निश्चीयते। नन्वत्र निश्चये किमपि प्राचीनमपिमानम्? इति चेत् अस्त्येवेति ब्रूमहे। किं तर्हि वेदान्तदर्शनसूत्रकृतां पाराशरकल्पतरुमहाफलभूतानां बादरायणाचार्यपरनामधेयानां वेदव्यासमहाराजानां सूत्रमेवात्र प्रमाणम् **'अतएव प्राणः'** (ब्रह्म सू. १।१।२३)।

तां प्राणनाम्नीं देवता अविद्वान् चेत् प्रास्तोष्यः स्तुतिमकरिष्यः तदा मयोक्तस्य ते प्रस्तोतुः मूर्धान्यपतिष्यत्, प्रस्तोष्यः न्यपतिष्यत् इत्युभयत्र हेतुहेतुमद्भावव्यंजको क्रियातिपत्तिमूलको लृङ् लकारः। प्राणशब्दस्य च परब्रह्मवाचित्वे व्युत्पत्तिरपि प्रकर्षेण

अनन्ति जीवन्ति भूतानि येन स प्राण: 'करणे घञ्' उपदेशशब्दवत् परमात्मैव जीवनदाता जगतां 'स उ प्राणस्य प्राण:' (केन. उ. १।३)

यथोक्तं मानसे—

पूत परमप्रिय तुम सब हीके ।
प्राण प्राण के जीवन जीके ।।

(मानस अयो. ५६।६)

एवं प्रस्तोतुर्जिज्ञासा समाप्ति:।।श्री:।।

अथोद्गातृप्रश्नं प्रस्तौति—

अथ हैनमुद्गातोपससादोद्गातर्या देवतोद्गीथ-
मन्वायत्ता तां चेदविद्वानुद्गास्यसि मूर्धा
ते विपतिष्यतीति मा भगवान-
वोचकत्तमा सा देवतेति ।।६।।

अथ अनन्तरमुद्गाता जज्ञासार्थमुषस्तिमुपसन्न: पप्रच्छ प्रश्नाकारा: पूर्ववत्। उद्गीथ: सामवेदे भगवद्भक्तिपर: स्तोत्रविशेष: इत्यनेन चतुर्वेदे एवानुपलब्ध: **'भक्तिशास्त्रं भगवान् शाण्डिल्यउपलेभे'** इति शारीरिकभाष्ये शंकराचार्योक्तं खण्डितम्। अत्रैव भाष्ये उद्गीथशब्दस्य तैरेव भक्तिपरकत्वेन व्याख्यातत्वात्। उपनिषदियञ्च सामवेदीय तलवकारब्राह्मणस्य आतृतीयाध्यायात् दशमाध्यायपर्यन्तेति तैरेव स्वीकृतत्वात्। तद्यथा अत्रत्यं शांकरभाष्यम् **'उद्गीथभक्तिमनुगन्तान्वायत्ता देवा?'** यदि चेद भक्तिर्वेदनाभविष्यत् तर्हि किमाधारमेतत् उदाहरति व्याख्यानम् इति तयैवविदां कुर्वन्तु। कतमा किं प्रकारिका उद्गीथं भक्तिपरकस्तोत्रम् अन्वायत्ता अनुश्रिता देवता इति शब्दोऽत्र जिज्ञासाप्रकारसूचव:।।श्री:।।

उत्तरं ददाति—

आदित्य इति होवाच सर्वाणि ह वा
इमानि भूतान्यादित्यमुच्चै: सन्तं गायन्ति ।
सैषा देवतोद्गीथमन्वायत्ता तां चेदविद्वानुदगास्यो
मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति ।।७।।

उषस्ति: उवाच उद्गीथं भगवद्भक्तिव्यंजकस्तोत्रम्। अनुगता देवता आदित्य: आदित्यशब्दोऽपि परमात्मपर: **अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्** (शुक्ल यजु. भदरसूक्त

१०) इति मन्त्रे आदितिशब्दः दिवान्तरिक्षमातापितृपुत्रविश्वेदेवपञ्चजनपरकतया अदिति-शब्दस्य व्याख्यातत्त्वात्। नास्ति दितिः खण्डः यस्यां सादितिः **दोऽवखण्डने** इति धातुना क्तिन् प्रत्ययान्तेन दितिशब्दस्य निष्पन्नत्त्वात्। अदितिः अखण्डो ब्रह्मसर्गः तस्मिन् तस्यां वा अदितौ अखण्डब्रह्मसृष्टौ जातः श्रीरामकृष्णरूपेण धृतावतारः आदित्यः सूर्यप्रतीकगम्यः परमेश्वरः स एव देवता रूपः उद्गीथं सामप्रतिपाद्य भगवद्भक्तिं अनुगतः उपपत्तमाह। यतो हि उद्गीथमित्यत्र उच्चैः सर्वोपरि सन्तं विराजमानं गायति यत् तत् उद्गीथम्। इमामेव व्युत्पत्तिः श्रुतिः स्वयं कथयति उच्चैः सन्तमित्यादिना शेषं पूर्ववत्।

प्रतिहर्तृप्रश्नं स्पष्टयति—

अथ हैनं प्रतिहर्तोपससाद प्रतिहर्तर्या देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रतिहरिष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति।।८।।

अथ प्रतिहर्ता पप्रच्छ शेषं पूर्ववत्।।श्रीः।।

अन्नमिति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि
भूतान्यन्नमेव प्रतिहरमाणानि जीवन्ति सैषा
देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रत्यहरिष्यो
मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति तथोक्तस्य मयेति।।९।।

उषस्तिरुवाच 'अन्नम्' अद्यते इत्यन्नम् अत्ति वा सम्पूर्णं संसारम् इत्यन्नम्

'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपषेचनम्। क इत्था वेद यत्र सः।

(कठ. उपर. १।२।२५)

समर्थितं च श्रीवेदव्यासेन ब्रह्मसूत्रे **'अन्ता चराचरग्रहणात्'** (ब्रह्मसूत्र १-२-९) गीतं च मानस कृता—-

जाके डर अति काल डराई ।
जो सुर असुर चराचर खाई ।।

(मानस सुन्दर २२।९)

अथ अन्नं ब्रह्म इत्यत्र किं मानम्? श्रुतिरेव **'अन्नं ब्रह्म'** (तैत्त. ब्रह्मानंद वल्ली ५।१)।

उपपत्तिमाह अन्नेनैव ब्रह्मणा प्रतिहारमाणानि तेन हेतुना गतिशीलानि भूतान्युपजीवन्ति तामजानश्चेत् प्रत्यहरिष्य: प्रतिहारं व्यधास्य: तदा ते मूर्धान्यपतिष्यत्। भूमौऽच्युतो भविष्यत् मयोक्तस्य द्विरुक्ति: खण्डसमाप्तिसूचिका॥श्री:॥

इति छान्दोग्योपनिषदि प्रथमाध्याये: एकादशखण्ड: श्रीराघवकृपाभाष्यम् सम्पूर्णम्।।
।। श्रीराघव: शन्तनोतु ।।

।। अथ द्वादशखण्ड: ।।

अतीतयोर्द्वयो:खण्डयो: अन्नाभावजनितदारिद्रदुर्विपाकजनिता दुर्व्यस्थोषस्तेरुक्ता, यत्र बुभुक्षितेन तेन उच्छिष्टपर्युषितं भुक्तम् अनाहुतेनापि राजसभां गत्वा सर्वान् ऋत्विज: परिभूय राजानं च प्रभाव्य स्वयमेव प्रसह्य यज्ञाध्यक्षस्थानं समधिष्ठितमयमन्नाभावमाभूदिति तदुपलब्धिसाधनरूपेण शौवोद्गीथोपदेश: प्रारभ्यते—

अथात: शौव उद्गीथस्तद्ध बको दाल्भ्यो ।
ग्लावो वा मैत्रेय: स्वाध्यायमुद्वव्राज ।।१।।

अथान्तरं साधिकृतं वा अत अस्माद्हेतो: यतो ह्यन्नाभाव: क्लेशयति, अत: अस्मात् कारणात्, यद्वा अत: एतस्मात् खण्डादनन्तरं शौवोद्गीथ: स्वभिर्दृष्ट: **'शौव: शेषे'** इत्यनेन अण् प्रत्यय: नकारलोपश्च वृद्धि: अयादेश: शौवश्चासावुद्गीथश्चेति शौवोद्‌गीथ:, हि प्रसिद्धो तत् अधिगन्तुं दल्भ्यस्य पुत्र: दाल्भ्य: बक: एतन्नामा मैत्रेय: मित्राया: अपत्यं पुमान् मैत्रेय: ग्लाव: महर्षि:, अत्र एकस्यैव महर्षेर्द्वेनाम्नी बको ग्लावश्चेति तस्य पितृप्राशस्तुं कथयितुं दाल्भेति मातृप्राशस्त्यं ध्वनयितुं मैत्रेयेति विशेषणद्वयं न खल्वशुद्ध: मातापितृक: वैदिकाध्ययनाय प्रभवति एकस्या एव व्यक्ते: जननीजनकप्राशस्त्यद्योतनाय अन्यत्रापि इत्थमुदाहरणम्। तद्यथा—

रामो दाशरथि: शूरो लक्ष्मणानुचरो बली ।
काकुत्स्थ: पुरुष: पूर्णे कौसल्येयो रघूत्तम: ।।
(रामरक्षास्तोत्र-२२)

स्वाध्यायं स्वस्य स्वाधिकृतवेदस्य स्वस्या: वा वैदिकशाखाया: अध्याय: अभ्यासेयस्मिन् स्थले तत्स्वाध्यायम् उद्वव्राज उदकाशयाभ्यासं जगाम॥श्री:॥

अथाग्र्यघटनां सूचयति—

तस्मै श्वा श्वेतः प्रादुर्बभूव तमन्ये श्वान ।
उपसमेत्योचुरन्नं नो भगवानागायत्वशनायाम वा इति ।।२।।

तस्मै मैत्रेयाय अत्र तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या इति वार्तिकानुरोधेन तथा च तस्मै इत्यस्य मैत्रेयकल्याणार्थमिति शब्दार्थः। श्वेतः शुक्लशरीरः श्वा कुक्कुर एकः प्रादुर्बभूव प्रकटयांबभूव, मैत्रेयकल्याणचिकीर्षया स्वयं भगवानेव परमेश्वरस्वीकृतश्वतनुः स्वं प्रकटयाञ्चकारेति मन्त्रशकलार्थः। भगवतः शुक्लशरीरं पुराणेषु प्रसिद्धम्। तथोक्तं श्रीभागवते गर्गाचार्येण।

आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनुः ।
शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः ।।

(भागवत १०।८।१३)

अथ प्रादुर्भूतं तं श्वानम् अन्ये श्वानः देवभूताः उपसमेत्य उपश्रयेण समीपं गत्वा ऊचुः अवदन् भगवान् तत्र भवान् षडैश्वर्यसम्पन्नः वाराहाद्यवतार इव लीलया गृहीतसारमेय तनुः नः अस्माकं दैवतात्मनां शुनामन्नमन्नप्राप्तिनिमित्तम् आगायतु उद्गीथगानमाध्यमेन अन्नं सुलभयतु अश्नायाम अशनपीडया समाकुला बुभुक्षामहे।।श्रीः।।

अथ श्वेतश्वा उत्तरथां बभूव—

तान्होवाचेहैव मा प्रातरुपसमीयातेति तद्ध बको ।
दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः प्रतिपालयाञ्चकार ।।३।।

ह निश्चयेन तान् शुनः युष्माकं कृते अन्नमागाष्यामि, परन्तु नाद्य यूयं श्वभूते प्रातः उषसि समीयात संयता आगच्छत, तेऽपि स्वीकृतवन्तः। तत् तादृशं श्वसङ्केतं दाल्भमित्रापुत्रः ग्लावः प्रतिपालयाञ्चकार प्रतीक्षाञ्चक्रे सोऽपि तत्रैव प्रातर्गत इति भावः।।श्रीः।।

अग्रिमघटना आलङ्कारिकतया प्रस्तौति—

ते ह यथैवेह बहिष्पवमानेन स्तोष्यमाणाः सँरब्धाः ।
सर्पन्तीत्येव मा ससृपुस्ते ह समुपविश्य हिंचक्रुः ।।४।।

ह निश्चयेन ते श्वभूते प्रातः कथं श्वेतश्वकं समुपसृता इत्युमानभङ्ग्या निदर्शयति, बहिष्पवमानो नाम वैदिकः स्तोत्रविषेशः यमुद्गातारः सम्भूय गायन्ति पवते पुनीते वा बहिः बाह्यवस्तूनि यस्तथाभूतोऽसौ बहिः पवमाने इति पदच्छेदे कस्कादित्वात् भ्रातुष्पुत्रः इत्यादिवत्। विसर्गस्य सकारे 'इगुपधत्वात्' शकारः। तेन बहिष्पवमाने स्तोत्रेण करणभूतेन स्तोष्यमाणः तत्तत् देवतां स्तुतिविषयं करिष्यमाणाः इहैव अत्रैव

कर्मकाण्डे संरब्धाः समुत्साहवन्तः प्रायशः लोके संरब्धशब्दः क्रोधपरः किन्तु नात्र तादृक् प्रकरणाभावात् अस्या एव श्रुतेरनुरोधेन समुपसृष्टस्य रभेः क्रोधातिरिक्तार्थवाचकत्व-सम्भवात्। तथैवेमे इमं निजान्नदातारं श्वेतमुपसृत्य सहैव तत्रोपविश्य हिंचक्रुः हिङ्कारेण निजोपस्थितिं विज्ञापयामासुः॥श्रीः॥

कां स्तुतिं चक्रुरिति स्तोत्राकारं प्रस्तौति—

ओ३ मदा३ मों३ पिबा३
मों३ देवो वरुणः प्रजापतिः ।
सविता२ न्नमिहा२ हरदन्नपते३
न्नमिहा २ हरा २ हरो ३ मिति ।।५।।

ॐ परमेश्वरस्मरणं हे भूतानां अवितः ॐ भवतः स्मरणेन अदामः गणकार्यस्या-नित्यात्वाच्छप् अद्म इति भावः, भवत्स्मरणेनैव लब्धान्नाभुञ्जमहे। एवमेव ॐ भवत् स्मरणेन पिबामः पानं कुर्मः, अस्मदशनपाने भवदधीन इति भावः एवं ॐ अन्नं ॐङ्कारेणैव भवता ब्रह्मणा प्रजनितं भवतीति तात्पर्यम्। अतएव देवः स भवान् चराचरप्रकाशनशीलं वरुणः वर्षाधिष्ठातृदेवता वरुणलोकपालोऽस्ति, भवानेव प्रजापतिः प्रजानां जन्मदाता ब्रह्मा रजोगुणावच्छिन्नो ब्रह्माभूत्वा भवानेव प्रजा जनयेतीति तात्पर्यम्। भवानेव सविता सूर्यरूपः इह अन्नम् आहरत अत्र बाहुलकाल्लकारव्यत्ययेन लोडर्थे लङ्। एवमेव ॐ हे रक्षितः बुभूक्षितेभ्योऽस्मभ्यं श्वभ्यः अन्नम् अदनीयवस्तु आह उपस्थापय आदरार्थे नित्यत्वे वा द्विरुक्तिः ओमिति परमात्मस्मरणसूचकम् आदावन्ते मध्ये च प्रणवसम्पुटेन मन्त्रेणानेन आदिमध्यावसानेषु सततमेव श्रीरामाभिधानो हरिः स्मरणीय एवेति सूच्यते॥श्रीः॥

इति छान्दोग्यपनिषदि प्रथमाध्याये द्वादशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यम् सम्पूर्णम्।।
।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। त्रयोदशखण्डः ।।

पूर्वस्मिन् खण्डे शौवोद्गीथोपासनाव्याजेन अन्नमुद्गीथाधीनं वर्णितम्। अथागामिनि शकले उद्गीथोपासनायां तत्तदक्षरेषु तत्तत् देवतानां निवासस्थानानि वर्ण्यन्ते—

अयं वाव लोको हाउकारो वायुहाईकारश्चन्द्रमा ।
अथकारः। आत्मेहाकरोऽग्निरीकारः ।।१।।

देवेषु लोकवाय्वग्निचन्द्रमात्मनामुपासनं मुख्यं तत्र रथन्तरवामदेवप्रभृतीनां सामाक्षराणां निर्दिष्टदेवताधारणयोपासनं विधेयमिति श्रुतेर्हार्दम्। सामानाधिकरण्यञ्च

निर्दिष्टदेवानां स्तोभाक्षरेषु भेदाभावप्रतिपत्तये वा निश्चयेन अयं पुरो वर्तमानः लोकः विलोकनार्हः संसारः हाउकारः एतदभिन्नः वायुः हाईकारः। अथकाररूपः चन्द्रमा आत्मा, इहकाररूपः अग्निश्च इकार व्यपदेशः एवं हाउ हाई अथ इह ई इति रथन्तरवामदेव्य स्तोभाः लोकवायुचन्द्रमाग्निप्रतीकेषूपासनीयाः श्रुतेरेष भावः।।श्रीः।।

एवमेव अन्यस्तोभेष्वपि आदित्यादीनां धारणा व्यपदिष्यन्ते—

आदित्य ऊकारो निहव एकारो विश्वेदेवा औहोइकारः ।
प्रजापतिर्हिंकारः प्राणः स्वरोऽन्नं या वाग्विराट् ।।२।।

ऊकारः एकारः औहोयिकारः हिंकारः स्वरः या वाग् इति सप्त स्तो भेषु आदित्यनिहवविश्वेदेवाप्रजापतिप्राणान्नविराजां धारणाः निहवः वैदिक आह्वानदेवता विराट् परमात्मा।।श्रीः।।

एवं पूर्वयोर्मन्त्रयोर्द्वादशस्तोभा वर्णिता तेषां तत्तत् प्रतीकेषु तादृश्य एव निरुक्तयः त्रयोदशस्तोभसम्बन्धः आह—

अनिरुक्तस्त्रयोदशः स्तोभः संचरो हुंकारः ।।३।।

अनिरुक्तः ब्रह्मस्वरूपत्वात् सर्वज्ञया श्रुत्यापि न व्युत्पादितः इत्यनेन ब्रह्मणोऽनिर्वचनीयता। सञ्चरः सर्वत्र सम्यग् चरणशीलः हुंकारः त्रयोदशः स्तोभः।।श्रीः।।

अध्यायान्ते फलश्रुतिमाह—

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति ।
य एतामेवँ साम्नामुपनिषदं वेदोपनिषदं वेद ।।४।।

अस्मै जनाय वाक् श्रुतिः स्वमेव दोहं वाचः सन् दोहं दुग्धे दुग्धमिवार्पयति, कस्मै? इत्यत आह यस्तावत् वाचः दोहः स्वयमेव सन्दोहवान् प्राप्तानन्दः सः आनन्दः अशनशीलश्चेत् अन्नवान् भवति। कः? इत्य आह यः साम्नम् पूर्ववर्णिता। उपनिषदं उपनिषद्रहस्यं वेद जानाति। द्विरुक्तिरादरार्था निश्चयदार्ढ्यार्था अध्यायसमाप्तिसूचनार्था च।।श्रीः।।

इति श्रीचित्रकूटनिवासिसर्वाम्नायश्रीतुलसीपीठाधीश्वरंश्रीमज्जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामभद्राचार्यकृतौ छान्दोग्योपनिषदि श्रीराघवकृपाभाष्ये प्रथमोऽध्यायःसम्पूर्णः।।१।।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

।।श्रीमद्राघवो विजयतेतराम्।।

।। श्रीरामानन्दाचार्याय नमः ।।

।। अथ द्वितीयोऽध्यायः ।।

प्रथमः खण्डः

पूर्णस्मिन्नध्याये व्यस्ततया सामावयवानां विशेषतश्चोद्गीथोपासना सविस्तरं वर्णिता, साम्प्रतमध्यायेऽस्मिन् सामस्त्येन सामोपासनांवर्णयितुं पूर्वप्रसङ्गं स्मारयन्ती श्रुति उपक्रम्यते।

ॐ समस्तस्य खलु साम्न उपसनँ् साधु ।
यत्खलु साधु तत्सामेत्याचक्षते यदसाधु तदसामेति ।।१।।

ॐ इति परमात्मस्मरणं खुल इति निश्चयार्थो निपातः। समस्तस्य सर्वावयवसम्पन्नस्य साम्नः सामवेदमयस्य श्रीहरेः उपासनं भजनसरणिं समुपदेक्ष्यामि इति शेषः। उपासना नाम परमेश्वरसमीपमासनम् उपोपसर्गः सामीप्यद्योतनशीलः आसनम्, समवस्थितिः। ननु **'आस उपवेशने'** इति पाणिनीयधातुपाठानुसारम् आस् धात्वर्थान्तर्भूतैव समीपस्थितिः तर्हि किमनेनोपसर्गेण? उच्यते— उपवेशने आस् धात्वर्थेऽपि सति समधिकसामीप्यद्योतनायोप उपसर्गः। ब्राह्मणवसिष्ठन्यायवत्। अथवा उपस्थातुं परमेश्वरं समाराधयितुमुपवेशनक्रिया आसना सैवोपासनेति व्युत्पत्तिप्रकारः। इत्यनेन व्याख्यानेन परमात्मनः प्रातिकूलवर्जितज्ञानकर्णाद्यपावृत-भगवत्प्राप्त्यतरिक्तसमीप्साशून्यत्वविशिष्टनिष्किञ्चनत्वोपलक्षितविशुद्धानन्यभगवत्प्रेमैकरूप-परमात्मनामरूपलीलाधामसमास्वादनैकव्यापारनिरन्तरश्रीरामचरणारविन्दपरमव्याकुली-भावपुरःसरपौनः पुण्यसमुपलक्षितसंस्मरणमेव उपासनापदार्थः इति ध्वनितम् तामेव वक्तुं प्रतिजानीते, साधु शोभनं साधु साम्नोः समानार्थकत्वं वर्णयति। यत्साधु सुभगं तदेव साम, यत् असाधु अशोभनं तदेव असाम, लोकानुभवमपि निजकथनं द्रढीकरमाय प्रस्तौति "नहि लोकात् भिद्यते शास्त्रम्" इति पातञ्जलोक्तेः। यथा लोके प्रयुज्यते इदं त्वया साम कृतं कृतं इदं च असामकृतम्। तदेवोद्धरति इति एवं प्रकारकाणि वाक्यानि अचक्षते व्याहरन्ति लोका इति शेषः।।श्रीः।।

इममेव सिद्धान्तं द्रढयितुं साध्वसाधुसमानार्थकप्रयोगान् निर्दिशति—

तदुताप्याहुः साम्नैनमुपागादिति साधुनैनमुपागादित्येव ।
तदाहुरसाम्नैनमुपागादित्यसाधुनैनमुपागादित्येव तदाहुः ।।२।।

उत निश्चयेन अपि यतोहि तत्तस्मादेव हेतोः लोका आहुः येनं राजानं साम्ना उपागात् उंपगतोभूत् एतत् समभिप्रायेण पुनरपि आहुः एनं साधुना साधुव्यवहारेण उपागात् इत्थं सामसाधुशब्दौ तुल्यार्थकाविति फलितम्। अतएव राजनीतावपि साधुनीतिरेव सामनीतिरिति कथ्यते। तथोक्तं भारविणा **'निरत्ययं सामान दानवर्जितं'** किरातार्जुनीयम् (१।१२) 'साम सान्त्वम् इति मल्लिनाथः' 'साम शान्तमुभेसमे' इत्यमरः, एवम् असाम शब्दोऽपि असाधु पर्यायः। एत एव एनम असाम्ना असाधुना वा उपागात् इत्यादि लोकाः आहुः।।श्रीः।।

भूयस्तमेवार्थं द्रढयितुं लोकव्यवहारवाक्ये उदाहरति—

अथोताप्याहुः साम नो बतेति यत्साधु भवति साधु बतेत्येव ।
तदाहुरसाम नो बतेति यदसाधु भवत्यसाधु बतेत्येव तदाहुः ।।३।।

अथ उत इति निपातद्वयं पक्षान्तरसूचकम् लोके आहुः कथयन्ति अपि निश्चयार्थः कथनाकारमाह, यत् किमपि साधु भवति तत् शुभघटितम् अन्येषां समक्षमाहु वत अहो इदम् अद्य नः अस्माकं साम केचन इदं शुभं साधुं साधु एतदपि आहुः। एवमेव यदा किमपि असाधु भवति अशुभं घटते तदपि असाम असाधु इत्यपि आहुः एवं मन्त्रयुगलेन सामशब्दस्य साधु शुभरूपद्वयं असामशब्दस्य च असाध्वशुभार्थद्वयं समसूचि।।श्रीः।।

फलश्रुतिमाह—

स य एतदेवं विद्वान्साधु सामेत्युपास्तेऽभ्याशो ह ।
यदेनँ साधवो धर्मा आ च गच्छेयुरुप च नमेयुः ।।४।।

यः स योऽपि पुरुषविशेषः एतत् सामरहस्य एवमुक्तरीत्यैव सामसाधुशुभम् इति एवं धारणां कृत्वा उपास्ते भजते, उपासनं नाम किम्? इत्यत आह—

उपासनं नाम अभ्यासः अभ्यासो नाम तस्य पौनःपुन्येन मनसि समनुशीलनं तत्फलमाह– अथ उपासनान्तरम् एनं सामोपासकं साधवः धर्माः शोभना शुभाश्च अपूर्व विशेषाः। अथवा अत्र धर्मो शब्दः भागवतधर्मपरः साधुत्वं च तत्र भगवदनन्यतामयं परमेश्वरप्रेमधर्माः आ च गच्छेयुः अत्र चकारव्यवधानेऽपि **'व्यवहिताश्च वासु'** अष्टाध्यायी (१-१-८२) इत्यनेन आङ् उपसर्गः, एवं आगच्छेयुः आदरेण प्राप्ता भवितुं शक्यन्ते, आगच्छेयुरिति शकिलिङ् इत्येनेन शक्यार्थे लिङ् लकारः। उप च नमेयुः अत्रापि पूर्वरीत्यैव चकारव्यवधानेऽप्युपोपसर्ग उपश्रिता नमेयुः उपनन्तुं शक्यैव इति भावः।।श्रीः।।

इति छान्दग्योपषिदि द्वितीयाध्याये प्रथमखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।
।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। द्वितीयः खण्डः ।।

साम्प्रतं साम्नां पञ्चविधाः सप्तविधाश्च उपासनाः वर्णयितुं खण्डस्यास्य प्रारम्भः—

लोकेषु पञ्चविधँ सामोपासीत पृथिवी हिंकारः अग्निः प्रस्तवोऽन्तरिक्षमुद्गीथ आदित्यः प्रतिहारो द्यौर्निधनमित्यूर्ध्वेषु ।।१।।

उर्ध्वेषु **उपरितनेषु** भूः प्रवृत्तेषु लोकेषु पञ्चविधं पश्चप्रकारकं साम उपासीत वेदनमिहोपासनं **सामान्यतः** सामानि पञ्चविधानि हिंकारः प्रस्तारः। उद्गीथप्रतिहार-निधनमिति **अमीषामेव पृथिव्यग्न्यन्तरिक्षादित्यद्युषु** समवधारणा तत्र पृथिवी एव हिंकारः **झंकृतत्वात्। अग्निरेव** प्रस्तावः प्रस्तूयते देवेभ्यो हविः येन तादृशः प्रस्तुतिकरण**मुभयसमं,** एवमन्तरिक्षमुद्गीथमुद्गच्छन्ति सूर्यचन्द्रप्रभृतयो ज्योतिराशयो यस्मात् तदु**द्गीथम्। एव मुद्गमनरूपधर्मः** स एव धर्मः आदित्यप्रतिहारः यथा प्रतिहारः प्रतिहरति **यजमानाय पुण्यं** तथैवादित्योऽपि प्रतिहरति प्रकाशं लोकेः, एवं द्यौः स्वर्गं निधनं **निधनेन स्थाप्यन्ते** देवाः यत्र तन्निधनं सामन्यपि समानमेव निधनत्वम्। इति इत्थमुपासीत्।।**श्रीः**।।

अथाधोलोकेषु पुनर्हिंकारादीनां बुद्धिर्व्यवस्थाप्यते—

अथावृत्तेषु द्यौः हिंकार आदित्यः । प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथोऽग्निः प्रतिहारः पृथिवी निधनम् ।।२।।

अथ **अवृत्तेषु उपरितन**मारभ्याधोलोकेषु हिंकारादीनां धारणा तत्र द्यौः हिंकारः द्वयोशब्दसामान्यात्। आदित्यः प्रस्तावः किरणप्रस्तुतीकरणात् उद्गीथ अन्तरिक्षं पूर्ववत्। अग्निः प्रतिहारः हव्यकव्यादीनां प्रतिहरणात्। पृथिवी निधनम् सर्वेषामाधारभूतत्वात् निदधति वस्तूनि यत्र इति व्युत्पत्तेश्च।।श्रीः।।

अथोपासनाफलमाह—

कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च य एतदेवं विद्वाँल्लोकेषु पञ्चविध सामोपास्ते।।३।।

यः कश्चित् साधकः एतद् सामोपासनमेवं विद्वान् ऊर्ध्वेषु चाधस्तनेषु लोकेषु हिंकारादीन् संभावयन् सामोपास्ते अस्मै उपासीनाय ऊर्ध्वा पृथिव्यादयः आवृत्ताः स्वर्गादयः लोकाः कल्पन्ते भोग्यरूपेण स्वयमेव सम्पद्यन्ते, ह निश्चयात्मको निपातः।।श्रीः।।

इति च्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये द्वितीयखण्डे श्रीराघवकृपाभ्याष्यम् सम्पूर्णम्।।
।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। तृतीयः खण्डः ।।

पूर्वस्मिन् खण्डे लोकदृष्ट्या सामोपासना वर्णिता। साम्प्रतं वृष्टिदृष्ट्या सैव पञ्चविधा वर्ण्यते—

वृष्टौ पञ्चविधँ सामोपासीत
पुरो वातो हिंकारो मेघो जायते ।
स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो
विद्योतते स्तनयति स प्रतिहारः ।।१।।

एवमेव वृष्टौ जलवर्षणविषयेऽपि पञ्चानांधारणा तत्र पुरोवातः वर्षातः पूर्वं वहन् वायुः हिंकारः तादृक् शब्दवत्वात् मेघो पर्जन्यः जायते उत्पद्यते स एव प्रस्तावः। यतो हि तेन वारिधारा प्रस्तूयते, यन्मेघः जलं वर्षति स एव उद्गीथः मेघेनोद्गीर्यमाणत्वात्। यच्च विद्योतते चपला चमत्कुरुते स्तनयति नीरदो गर्जति स एव प्रतिहारः, यतो हि स गगनात् पृथिवीं प्रतिहरति जलम्।।श्रीः।।

पारिशेष्यकीर्तनेन सह फलं निर्दिशति—

उद्गृह्णाति तन्निधनं वर्षति हास्मै वर्षयति ।
ह य एतदेवं विद्वान्वृष्टौ पञ्चविधँ सामोपास्ते ।।२।।

यत् पृथिवी पतमानं जलमुद्गृह्णाति उपरितः धारयति। तदेव निधनं निधीयमाना श्रेयस्त्वात्। एवं यः एतद् विद्वान् रहस्यमेतद् जानन् सामोपास्ते निश्चयेनास्मै मेघः वर्षति सर्वसुखं मेघरूपः परमात्मा वर्षयति अन्यानपि देवान् वर्षतः प्रेरयति इति भावः।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये तृतीयखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यम् सम्पूर्णम्।।
।। श्रीराघवः शन्तेनोतु ।।

।। चतुर्थः खण्डः ।।

इदानीं तुर्ये खण्डे जलदृष्ट्या सामोपासना वर्णयति—

सर्वास्वप्सु पञ्चविधँ सामोपासीत् मेघो
यत्संप्लवते स हिंकारो यद्वर्षति स प्रस्तावो ।
याः प्राच्यः स्यन्दन्ते स उद्गीथो याः प्रतीच्यः
स प्रतिहारः समुद्रो निधनम् ।।१।।

एवं विधं पञ्चोपासनं साम्नां जलेऽपि सर्वासु सागरनदीसरःस्रोतोवहासु अप्सु जलेष्वपि एवमेव धारणाकरणीया मेघमन्तरा जलं न लब्धुं शक्यम्। अतः प्रथमः स्तोभविशेषः हिंकारः स एव मेहति जलं वर्षति इति मेघः। कथम्? इत्यत आह— यत् यस्मात् कारणात् संप्लवते अन्तर्भावित ण्यर्थोऽयं सम्प्लावयतात्यर्थः, यद्वर्षति वर्षणक्रियां करोति, स एव प्रस्तावः प्रस्तवना जलस्य यच्छद्वोऽत्र क्रिया विशेषणं 'वृष्' धातोरकर्मकत्वात् नैव कर्म, याः प्राच्यः पूर्वाभिमुखाः स्पन्दन्ते हिमालयात् स्पन्दमानाः प्रवहन्ति गङ्गायमुनासरयूप्रभृतयः पुण्यनद्य ता एव श्रेष्ठत्वात् उद्गीथसंज्ञाः याश्च प्रतीच्य पश्चिमवहाः स एव प्रतिहारः उभयत्र प्रतिशब्दसामान्यात् समुद्र एव निधनं तत्रैव सर्वासामपां प्रपतनात्।।श्रीः।।

फलश्रुतिमाह—

न हाप्सु प्रैत्यप्सुमान्भवति य एतदेवं ।
विद्वान् सर्वास्वप्सु प्रञ्चविधँ सामोपास्ते ।।२।।

एतदेव विद्वान् सर्वास्वप्सु समस्तजले यः पूर्वोक्तं सामोपास्ते, सः कदापि अप्सु जले पतित्वा न प्रैति न प्रेतो भवति, सामोपासनं कुर्वन् जलेषु तत्र मृतः भगवल्लोकमेव यातीति भावः। अप्सुमान् जलवान् भवति। अथवा जलविषयकसम्मानमान् भवति व्युत्पत्तिश्चात्र मानयति इति मान्। अप्सु इत्यत्र विषये सप्तमी।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये चतुर्थखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। पञ्चमः खण्डः ।।

इदानीम् ऋतुषु पञ्चविधसामोपसना निरूप्यते—

ऋतुषु पञ्चविधँ सामोपासीत् वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः
प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शारत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनम् ।।१।।

यथा पूर्वं तथैवात्रापि ऋतुषु पञ्चविधं साम—

उपासीत तत्र हिंकारो वसन्तः प्रारम्भिकत्वात् ग्रीष्मो हि प्रस्तावः अनेनैव प्रस्तूयते रसालादीनां फलसमूहः वृक्षेषु च पुराणपत्रापगमापदनन्तरं नवकिसलयचयः वर्षैवोद्गीथः श्रेष्ठत्वात् उद्गीथो हि परमेश्वराधनमाध्यमत्वात् भक्तिरेव अतएव मानसकारोऽप्याह—

वर्षाऋतु रघुपति भगति, तुलसी सालि सुदास ।
राम नाम बर बरन जुग, सावन भादौ मास ।।

(मानस बाल. १९)

एवं शरदेव प्रतिहारः तयैव वार्षिकं जलं सूर्याय प्रतिह्रियते, हेमन्त एव निधनं तत्रैव शैत्याधिक्यात् समेषां प्राणिनां तत्रैवान्तर्पटम् अन्तरा वा गृहस्य निधीयमानत्वात् हेमन्तशिशिरयोः शैत्यप्रधानत्वात् एकत्वभावनयैव हेमन्ते शिशिरान्तर्भावात् तस्य न पृथगुक्तिः।।श्रीः।।

साम्प्रतं चतुर्णां निष्पत्तिः श्रुत्या स्वयमेव क्रियते—

यतो हि हिंकारप्रस्तावयोः नैकत्वमपेक्षते व्याख्यानं सुस्पष्टम्—

यदुरिति स उद्गीथो यत्प्रतीति स प्रतिहारो ।
यदुपेति स उपद्रवो यन्नीति तन्निधनम् ।।

अनेकासु व्युत्पत्तिषु सतीष्वपि केवलमुपसर्गमाश्रित्य उद्गीथप्रत्याहारोपद्रवनिधनानां विदधाति व्याख्यानं श्रुति, तत्तत्यधात्वर्थत्यागानुरोधेन किमनेन द्रविडप्राणायामेन आशयोऽयं यत्धात्वर्थमोषेणाप्यमीषां तत्तदुपसर्गव्युत्पादनेनापीष्टलाभसौलभ्यं धात्वर्थस्तु वर्तत एव वैशिष्ट्यार्थमेषामुपसर्गानुरोधिनी व्युत्पत्तिः प्रदर्शिता हिंकारो नोपसृष्टः प्रस्ताव उपसृष्टोऽपि सुस्पष्टार्थः। उदुपसर्गस्योदयोऽर्थः अत आह—

यदुदेति अभ्युदितो भवति स उद्गीथः। एवं यत्प्रतीति प्रत्युपसर्गघटितः स एव प्रतिहारः यत् उपइत्युपसर्गेण प्रारभ्यते स एवोपद्रव उपद्रवति यन्नीति नी उपसर्गात्प्राभ्यते तदेव निधनम्, लोके निधनशब्दस्य मरणार्थप्रसिद्धेः वैदिकनिधनशब्दे तमर्थं निरस्तुं व्युत्पत्तिरेषा।।श्रीः।।

ऋतूपासनयाः फलं कथयति—

कल्पन्ते हस्मा ऋतव ऋतुमान्भवति ।
य एतदेवं विद्वानृतुषु पञ्चविधँ सामोपास्ते ।।३।।

अस्मै साधकाय ऋतवः कल्पन्ते सुखं दातुं स्वयमुपतिष्ठन्ते स एव ऋतुमान् प्रशस्तर्तुसुखयुक्तो भवति॥श्रीः॥

इति छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये पञ्चमखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।५।।
।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। अथ षष्ठः खण्डः ।।

इदानीं पशुदृष्ट्या सामोपासनं वर्ण्यते—

पशुषु पञ्चविधँ् सामोपासीताजा हिंकारोऽवयः ।
प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाः प्रतिहारः पुरुषो निधनम् ।।१।।

तत्र अजा हिंकारः समानशब्दत्वात्, अवयः मेषाः प्रस्तावः ता खलु स्वशावकान् प्रस्तूयैव गच्छन्ति। सर्वश्रेष्ठत्वात् गावः उद्गीथः उद्गीयते सुरैरपि इति व्युत्पत्ते, अतएव श्रुतिः प्राह— **माता रुद्राणां दुहिता वसूनां श्वसादित्यानां अमृतस्य नाभिः प्रनुवोचम् विचिकितुषे जनाया मा गामनागामदितिं वधिष्ट**। अमृतस्य अतो हेतोः गारिरक्षयिषुः—

भगवान् रामः प्रादुर्बभूव प्राह मानसकारोऽपि।

विप्र धेनु सुर संतहित लीन्ह मनुज अवतार ।।

गाः पिपालयिषु स्वयमेव गोपालः भगवान् श्रीकृष्णः गाश्चारयन् श्रीवृन्दावनवीथीषु मन्त्रमिममहरहो जपति—

गावो मे पुरतः सन्तु गावो मे सन्तु पृष्ठतः ।
गावो मे मध्यतः सन्तु गवां मध्ये वसाम्यहम् ।।

(पद्मपुराणकाशीखण्डे)

श्रीभागवतेऽपि सकलसुरशिखामणिप्रभुः गोरजः शिरसा बिभर्ति यथा—

तं गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्हवन्यप्रसूनरुचिरेक्षणचारुहासम् ।
वेणुं क्वणन्तमनुगैरनुगीतकीर्तिं गोप्यो दिदृक्षितदृशोऽभ्यागमन् समेताः ।।

(भागवत १०-१५-४२)

एवम् अश्वः प्रतिहारः तेनैव वस्तुनि प्रतिह्रियन्ते पुरुषो निधनं सर्वासां उत्कृष्टापकृष्टपशुप्रवृत्तीनां तत्रैव निदर्शनात्, यथा अत्यन्तमभीकत्वात् स अजाप्रवृत्तिः कोऽपि बहु प्रजावत्वात् विद्रोहाधिक्याच्च कोऽपि मेषप्रवृत्तिः कोऽपि च विशुद्धस्वभावः

वात्सल्यवान् पूतात्मा गोप्रवृत्तिः कोऽपि च विद्याविनयविहीनः भारधारणात् विषयरसिकत्वाच्च अश्वप्रवृत्तिः।।श्रीः।।

फलश्रुतिं वर्णयति—

भवन्ति हास्य पशवः पशुमान्भवति ।
य एतदेवं विद्वान्पशुषु पञ्चविधँ् सामोपास्ते ।।२।।

व्याख्यानं पूर्ववत्।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये षष्ठखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यम् सम्पूर्णम्।।६।।
।। श्रीवाघवः शन्तनोतु ।।

।। अथ सप्तम खण्डः ।।

अथ प्राणोपासनां वर्णयति—

प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः
सामोपासीत प्राणो हिंकारो ।
वाक्प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहारो
मनो निधनं परोवरीयाँ्सि वा एतानि ।।१।।

एवमेव प्राणेषु पञ्चविधसामोपासना, अत्र प्राणशब्दः नैव पञ्चप्राणपरः, अन्यथा वागादीनां प्राणशब्दवाच्यत्वं नोपपद्येत झंकारप्रधानत्वात्, प्राणः हिंकारः अर्थानां प्रस्तावनात्, वाक् प्रस्तावः सर्वाङ्गेषु श्रेष्ठत्वात्, चक्षुरुद्गीथः शब्दानां प्रतिहरणात् श्रोत्रं प्रतिहारः सर्वेषां सङ्कल्पानां मनसि निधीयमानत्वात्, इन्द्रियाणाञ्च मनः संयोगेनैव च सक्रियत्वात् मनो निधनम्। एतानि पराणि वरीयांसि च सन्ति परोवरीयशब्दे ओंकारो पृषोदरादित्वात् निपात्यते।।श्रीः।।

फलश्रुतिं वर्णयति—

परोवरीयो हास्य भवति परोवरीयसो
ह लोकाञ्जयति य एतदेवं ।
विद्वान्प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः
सामोपास्त, इति तु पञ्चविधस्य ।।२।।

ह निश्चयेन यः विद्वान् एवं पञ्चविधं सामोपास्ते अस्य परोवरीयः परं श्रेष्ठं वरीयः उत्कृष्टं च फलं भवति परं वरीय इति वक्तव्ये "सुपां सुलुक्" इत्यनेन स्वादेशे तस्य

च अमभावे बाहुलकात् व्यत्यये रोरुकारदेशे गुणे परोवरीय:, स यो परोवरीयस: श्रेष्ठतमान् ब्रह्मादिलोकान् जयति। इति इत्थं तु निश्चयेन पञ्चविधस्य हिंकारप्रस्तावोद्गीथ प्रतिहारनिधननामकस्य साम्न: उपासनं वर्णितम्।।श्री:।।

इति छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये सप्तमखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यम् सम्पूर्णम्।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। अथ अष्टमखण्डः ।।

हिंकारप्रस्तावाद्युद्गीथप्रतीहारोपद्रवनिधनानां सप्तानां साम्नामुपासनं वाच्यो कल्पते—

अथ सप्तविधस्य वाचि सप्तविधँ॒
सामोपासीत यत्किंच वाचो ।
हुमिति स हिंकारो यत्प्रेति
स प्रस्तावो यदेति स आदिः।।१।।

अथ इदानीं सप्तविधस्य हिंकारादे: साम्न: उपासनमारभ्यते इति शेष:। व्याख्यानमिदं वस्तुतस्तु प्राचामनुरोधेन, नव्यास्तु सप्तविधा: रसरक्तमांसास्थि-मज्जाभेद:शुक्राख्या: सप्तधातवो यस्मिन् ता एव सप्तविधा: सन्ति यत्र स: सप्तिविध: प्राणिवर्ग: तस्य वाचि वाण्यां सप्तविधं सामोपासीत प्राचीनानां व्याख्याने साम्न: उपासनं आरभ्यते इति त्रयाणां पदानां अध्याहार: अस्मद् पक्षे च पुरुषस्य इत्येकपदस्य इत्थं कल्पना लाघवमस्मन्मते। शेषं सुधिय: जानस्ति। वाण्यां य: हुं इति ध्वनि: स एव हिंकार: यत्र प्र इति स्वरूपं स प्रस्ताव यत्र वाचि आ इति श्रूयते स आदि:।।श्री:।।

यदुदिति सः उद्गीथो यत्प्रतीति स प्रतिहारो ।
यदुपेति स उपद्रवो यन्नीति तन्निधनम् ।।२।।

फलश्रुतिं वर्णयति—

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति ।
य एतदेवं विद्वान् वाचि सप्तविधँ॒ सामोपास्ते ।।३।।

वाच: वाण्या: दोह: सार: यस्मिन् स वाचो दोह: अत्र बाहुलकेन षष्ठी लुगभाव: शेषं व्याख्यातपूर्वम् (छा. उ. १-३-७) इत्यत्र।

इति छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयध्यायेऽष्टमखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।८।।
।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। नवमः खण्डः ।।

एवं पूर्वेषु खण्डेषु भिन्नभिन्नोपासनाक्रमेण तत्प्रतीकानि वर्णितानि अथ सूर्य एव सप्तसाम्नां परिकल्पनं विधीयते—

अथ खल्वमुमादित्यँ सप्तविधँ सामोपासीत सर्वदा ।
समस्तेन साम मां प्रति मां प्रतीति सर्वेण समस्तेन साम।।१।।

अथ वाग् उपासनानन्तरमुम पुरोवर्तमानमादित्यं सूर्यमेव सप्तविधं साम सामानाधिकरण्यात् तद्रूपं मत्वा उपासीत कथं इत्यत आह—

साम शब्दो हि समपर्यायः समस्तु सदृशवाचि यतोहि तेन सूर्येण सह समः अथवा यतोहि आदित्यः सर्वदा सर्वेषु कालेषु सम समानरूपेण रङ्केषु धनकेषु च किरणान् विकरति तेन समत्वलक्षणेन हेतुना आदित्यः साम। दृढीकर्तुमनुभवं करोति यतोहि प्रायशः लोका कथयन्ति सूर्यो मांप्रतिप्रकाशते अपरः कथयति माम् प्रति प्रकाशते एवं सर्वेण लोकेन समः तेन हेतुना साम सम एव समः इति साम इति व्युत्पत्तेः अत्र तद्धितत्त्वात् वृद्धिः परन्तु उभय संज्ञानि इति वक्तव्यं इति वार्तिकानुरोधेन ऐसमतादि पठितत्वात् आकृतिगणत्वात् पदसंज्ञया गत्वबाधात् न हि लोपः।

अथ क्रमेणादित्यस्यैकैकस्मिन्रूपे एकैकं साम साधयितमुपक्रमते

तस्मिन्निमानि सर्वाणि भूतान्यन्वायत्तानीति
विद्यात्तस्य यत्पुरोदयात्स हिंकारस्तदस्य
पशवोऽन्वायत्तास्तस्मात्ते हिं कुर्वन्ति
हिंकार भाजनी ह्येदस्य साम्नः ।।२।।

तस्मिन् सूर्ये प्रकाशमाने सति इमानि सर्वाणि भूतानि जीवन्ति इति विद्यात् जानीयात् तस्य सूर्यस्य उदयात् पुरा प्रथमं यद्रूपं जपाकुसुममिवारूणं सैव हिंकारः प्राथम्यात् तस्य हिंकारस्य साम्नः इषवः गवादयः अन्वायत्ताः आनुकूल्येनाधीनाः अतएव ते हिंकुर्वन्ति हिंकारेण शब्दायन्ते यतोहि एते अस्य साम्नः हिंकारभाजिनः हिंकारभजनशीलाः।

अथ द्वितीयसाम्नः प्राहोपपत्तिम्—

अथ यत्प्रथमोदिते स प्रस्तावस्तदस्य
मनुष्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते ।

प्रस्तुतिकामाः प्रश ँ्साकामाः
प्रस्तावभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ।।३।।

अथ अनन्तरं सूर्यस्य प्रथममुदितमिति प्रथमोदितं तस्मिन् प्रथमोदिते उदितशब्दोऽत्रोदयपर्यायः अथवा कर्तरि क्त प्रत्ययात् उदेति इत्युदितः प्रथममुदितः प्रथमोदितः तस्मिन् प्रथमोदिते सूर्य इति सप्तम्यन्तं विशेष्यं अथवा प्रथम इत्यस्य नपुंसकलिङ्गेऽपि सुपां इत्यादिना पूर्वसवर्णात् प्रथमा एवमुदिते सूर्ये यत्प्रथमारूपम् इति श्रुत्यन्वयः स एव सूर्यस्य प्रथममुहूर्ताकारः स एव प्रस्तावः तस्य साम्नः मनुष्या अन्वायत्ताः अन्वधीनः हि यतोहि एते मनुष्या एतस्य प्रस्तावभाजिनः भाजिनः इति वक्तव्ये भाजिन इति प्रयोगस्तु बाहुलकेन सत्यपि वणित्वे कुत्वाभावात् इमे प्रस्तावं भजन्ते अतएव प्रस्तुतिकामाः श्रुत्यैव प्रस्तावशब्दस्य अर्थद्वयं कृतं प्रस्तावो हि कस्यचित् वस्तुनः प्रस्तुतिकरणं तथा च प्रस्तावो नाम प्रशंसा प्रकृष्टः स्तवः प्रस्तव प्रस्तवः एव प्रस्तावः इति व्युत्पत्तयः अतएव मानवाः कर्मणा प्रस्तुतिकरणं प्रशंसा च कामयन्ते।

अथ तृतीयं साम विवृणोति—

अथ यत्सङ्गवेलाया ँ्स आदिस्तदस्य ।
वया ँ्स्यन्वायत्तानि तस्मात्तन्यन्तरिक्षेऽ-
नारम्भणान्यादायात्मानं परिपतन्त्यादि-
भाजीनि ह्येतस्य साम्नः ।।४।।

अथ सङ्गवेलायां सङ्गवः गवां समवेति भवनं तस्य सङ्गवस्य वेला सङ्गववेला यस्मिन् काले गावः वनचाराय समवयन्ति तादृक् वेलायां सूर्योदयदूर्ध्वं यावत् त्रिमुहूर्तिकालमिति भावः स आदिः आददते स्वात्मानं यत्र तथाभूतः तस्मिन् वयांसि पक्षिणः अन्वायत्तानि अतएव ते तान्यम्वरे अनारम्बणानि आलम्बनम् एव आरम्बणम् अभेदाल्लोरकारः नास्ति आरम्बणम् आलम्बणम् आधारो येषां तथाभूतानि अन्तरिक्षे निराधाराणि चरन्ति आत्मानम् आरायैव परिपतन्ति परितः भूमौ पतन्ति यतोहि तानि आदिभाजीनि आदिनामकसामभक्तिमन्ति।

चतुर्थं सामव्याचष्टे—

अथ यत्सम्प्रति मध्यन्दिने
स उद्गीथस्तदस्य देवा
अन्वायत्तास्तस्मात्ते सप्तमाः प्राजापत्याना-
मुद्गीथभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ।।५।।

अथ आद्यनन्तरं सम्प्रति अस्मिन्नेव समये मध्यन्दिने मध्याह्ने सूर्यस्य यद्रूपं स एव उद्गीथ: सर्वश्रेष्ठत्वात् तुरीयब्रह्मरूप: अयं कालोऽपि पावन: भवति तस्यैव देवा: अन्वायत्ता: अनुकूलतयाधीना: अत एव उद्गीथोपासनाहेतो ते प्राजापत्यानाम् प्रजापते: कस्य-यस्य ब्रह्मणो वा अपत्यानि पुमांस: प्रजापत्या: तेषां समेषाम् प्रजापतिसंतीनां मध्ये इमे सत्तमा: श्रेष्ठा अत्र निर्धारणे सप्तमी अतिशयेन सन्त: इति सत्तमा हि यतोहि इमे देवा: उद्गीथभाजिन: उद्गीथभक्ता: अस्य साम्न: मध्याह्नस्योद्गीथमयत्वात् भगवान् रामचन्द्रोऽपि तस्मिन्नेव भुवनपावने भूतभावने काले समाविर्बभूव यथोक्तं मानसे—

मध्य दिवस अति शीत न घामा ।
पावन काल लोक विश्रामा ।।

(मानस १-१९१-२)

अथ प्रतिहारं व्याकरोति—

अथ यदूर्ध्वं मध्यदिनात्प्रागपराह्णात्स प्रतिहारस्तदस्य गर्भा अन्वायत्तास्तस्मात्ते प्रतिहृता नावपद्यन्ते प्रतिहार-भाजिनो ह्येतस्य साम्नः ।।६।।

अथ उद्गीथानन्तरमस्य मध्यन्दिनात् मध्याह्नात् ऊर्ध्वमपराह्णात् पूर्वं यद्रूपं भवति स एव प्रतिहार: तस्य गर्भा: अन्वायत्ता: भवन्ति यतस्ते प्रतिहारभाजिन: अतएव उपरिकृष्टा: नावपद्यन्ते नाधोनीयन्ते।

अथोपद्रवं निरूपयति—

अथ यदूर्ध्वमपराह्णात्प्रागस्तमयात्स उपद्रवस्त स्यारण्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते पुरुषं दृष्ट्वा कक्षँ् श्वभ्रामित्युपद्रवन्त्युपद्रवभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ।।७।।

अत यत् अपराह्णात् अनन्तरं असतमेवास्तमयम् स्वार्थेमियत् तस्मात् स्तिमितात् पूर्वं भाष्करस्य यद्रूपं स एव उपद्रव: षष्टं साम तस्य आरण्या: अरण्ये भव: पशव: अन्वायत्ता यतोहि इमे उपद्रवसामभाजिन: तस्मात् उपद्रव्यणं तेषां स्वभाव: अतएवैते पुरुषं आखेटकं मनुष्यं दृष्ट्वा कक्षं गहनगह्वरं शुभं पर्वतकन्दरा वा उपद्रवन्ति द्रुत्वा लीयन्ते।

अथ सप्तमं साम स्पष्टयति—

अथ यत्प्रथमास्तमिते तन्निधनं

तदस्य पितरोऽन्वायत्तास्तस्मात्तान्निदधति ।

निधनभाजिनो ह्येतस्य साम्न

एवं खल्वमुमादित्यँ्सप्तविधँ्सामोपास्ते ।।८।।

अथ उपद्रवानन्तरम् अस्तमिते अत्र आदि कर्मणि निष्ठा एवमस्तंगच्छति इति भाव: अस्य यत् प्रथमा व्युत्पत्ति: पूर्ववत् प्रथममिति भाव: संक्षिप्तमण्डलं स्थाल्याकारं यद् रूपं भगवतो भानो: तदेव निधनं निधीयन्ते समूह्यन्ते किरणा यस्मिन् तन्निधनं तस्य पितर: अर्यमादिपितृदैवतानि अन्वायत्ता समधिश्रिता: तस्माज्जना: इमान् पितृन् दर्भेषु निदधति स्थापयन्ति तस्मात् एवमादित्यरूपेषु सप्तषु हुंकारप्रस्तावाद्युद्गीथप्रतिहारोपद्रव निधनान्नीति सप्तसामान उपासते उपासीत इति भाव:।

इति छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये नवमखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यम् सम्पूर्णम्।।९।।

।। श्रीराघव: शन्तनोतु ।।

।। दशम: खण्ड: ।।

आदित्यो वै अहोरात्राणां प्रविभागकरणात् कालक्षपणहेतुत्वाच्च समस्तप्राणिभृतां मृत्युरूप:। ब्रह्मणा हि यत्कालपरिमाणायुर्निश्चीयते स कालस्तु दिनरात्रिविभागद्वारेणादित्ये नैव क्षप्यते अत एव श्रीभारते वनपर्वणि यक्षप्रश्नमुत्तरयता श्रीधर्मसुनुना युधिष्ठिरेण कटाहरूपकच्छलेन भूतप्रलयप्रस्तावे मोहकटाहाङ्कित्वेन पावकरूपोऽसावादित्य: प्रावर्णि दिवारात्रौ चेन्धनं तत्र मासाश्चदर्व्य: यासां परिघट्टनेन कुशलपाचक: कृतान्त: सततं भूतानि पचति सूर्याग्निसहाय: तथा च श्लोक:—

अस्मिन्महामोहमये कटाहे सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन ।

मासश्चदर्वीपरिघट्टनेन भूतानि काल: पचतीति वार्ता ।।

(भट्टाभारत वनपर्व यक्षयुधिष्ठिरे संवाद-१)

तमेव जगन्मृत्युमादित्यं कथमतीयात् सार्थक: इति कृत्वा खण्डोऽयं प्रस्तूयते—

अथ खल्वात्मसंमितमतिमृत्यु सप्तविधँ्सामोपासीत हिङ्कार ।

इति त्र्यक्षरं प्रस्ताव इति त्र्यक्षरं तत्समम् ।।१।।

अथानन्तरं मृत्युरूपमादित्यमतिवर्तितुम् अतिमृत्युम् मृत्युमतीतम् अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया इति वार्तिकेन तत्पुरुषसमासः जगज्जायमानो न कोऽपि जन्तुर्मृत्युमत्येति ऋते सीतापतेः परमात्मनः श्रीरामात्। ननु श्रीरामस्यातिमृत्युत्वे किम्मानमिति चेत् **'नावज्ञेयश्च भूतानां न च कालवशानुगः'** (वा. रा. २-१-२९) इति प्राचेतस् वचनप्रमाणमेव गृह्यताम् स एव सूर्यस्यापि सूर्यश्चन्द्रमसोऽपि चन्द्रमाः **'सूर्यस्यापि भवेत्सूर्यः'**। (वा. रा. २-४४-१५) इति ऋषिवचनात् सूर्यान्तर्कान्तिकोपासनाद् भगवतो रामस्य श्रुतौ अथ इति आनन्तर्यवाची खलु शब्दो निश्चयार्थः- आत्मना परमात्मना श्रीरामेण, जीविते परमात्मनीति कोषात्, सम्मितं तुल्यं सप्तविधं हिंकारप्रस्तावाद्युद्गीथप्रत्यहारोपद्रवनिधननामकम् साम उपसीत श्रीरामधारणयैव विज्ञाय भजेत उपासीत इति विधिलिङ्प्रयोगात् विधेयवचनम् मृत्युः खलु द्व्यक्षरः यथा च तन्त्रेऽपि द्वेऽक्षरे च भवेन्मृत्यु त्र्यक्षरे मृतमश्नुते तस्मात् द्व्यक्षरमतिशयितुं त्र्यक्षरमीश्वरमुपासीत इति श्रुत्यर्थः। रामशब्देऽपि रेफमकारौ तु व्यञ्जनौ किन्तु रकारोत्तरर्ती दीर्घाकारतु स्वरः तस्मात् त्र्यक्षरो राम उपासनीय इति श्रुतेर्दम्। प्रस्तुतस्योपपत्यमाह— हिङ्कारः प्रस्ताव इति सामद्वयं त्र्यक्षरं अत ईश्वरेण त्र्यक्षरं समं तस्मात् उभयत्र साम्यम्।

अथ आदिप्रतिहारयोः प्रत्येकं त्र्यक्षरयोः प्राहोपपत्तिम्।

आदिरिति द्व्यक्षरं प्रतिहार इति चतुरक्षरं तत इहैकं तत्समम् ।।२।।

आदीति द्व्यक्षरं वर्णद्वयं प्रतिहार इति चतुरक्षरं चतुर्वर्णात्मकम् एवं द्वयोः सङ्कलनेन षट्संख्यावर्णानां ततः तस्मात् चतुरक्षरात् प्रतिहारशब्दात् एकमक्षरम् आदीति शब्दे सम्मेल्य द्वावपि त्र्यक्षरौ एवमुभाभ्यां त्र्यक्षरमीश्वरोपासनीयः इत्यत् आह तत्समम् ताभ्यां सामाभ्यां सदृशम्।

अथोद्गीथोपद्रवयोः उपपत्तिमाहोपासनायाः—

उद्गीथ इति त्र्यक्षरमुपद्रव इति चतुरक्षरं त्रिभिस्त्रिभिः समं भवत्यक्षरमतिशिष्यते त्र्यक्षरं तत्समम् ।।३।।

एवमुद्गीथ इति त्रिर्वणात्मकः शब्दः उपद्रव इति चतुर्वर्णः त्रिभिश्चतुर्णां संकलने वर्णानां सप्तसंख्या तथा चात्र षण्णां समं विभागद्वयं विधाय वर्णमेकमतिरिच्य प्रत्येकं त्र्यक्षरं तदेव परमेश्वरबुद्ध्योपासनीयमिति हार्दम् अत आह मूले अतिशिष्यते उभयोः वर्णानां संख्या सप्त उपासनीययोः द्वयोः प्रत्येकमपेक्षितं त्रयक्षरम् अतएकमसरमतिशिष्टं यस्याग्रिम उपयोगो निरूपयिष्यत इति भावः।

अथान्तिमं निरूपयति—

निधनमिति त्र्यक्षरं तत्सममेव भवति तानि ।
ह वा एतानि द्वावि्ँशतिरक्षराणि ।।४।।

निधनमिति सप्तमं साम त्र्यक्षरं तत्समं तेन त्र्यक्षरेण ईश्वरेण समं तुल्यं एवमेतानि हिंकारप्रस्तावादिप्रतिहारोद्गीथोपद्रवनिधनानि सप्तसामानि द्वाविंशतिः अक्षराणि तथा च हिंकारस्य त्र्यक्षरं प्रस्तावस्य त्र्यक्षरं आदेर्द्व्यक्षरं प्रतिहारस्य चतुरक्षरं उद्गीथस्य त्र्यक्षरं उपद्रवस्य चतुरक्षरं निधनस्य त्र्यक्षरमिति सप्तानां वर्णसंख्या द्वाविंशतिरिति भावः। अत्र सप्तधा विभक्तेषु तेषु प्रतिविभागं त्र्यक्षरं अविशिष्टस्यैकाक्षरस्य परिणाम उच्यते तदेवाखण्डं ज्ञानगिरा गवामगोचरं सीतेश्वरं परमेश्वरं मन्यामहे।

अथैकविंशति वर्णात्मकसामोपास्तिफलमाह—

एकविंशत्यादित्यमाप्नोत्येकवि्ँशो वा इतोऽसावादित्यो ।
द्वावि्ँशेन परमादित्याजयति तन्नाकं तद्विशोकम्।।५।।

एकविंशत्या वर्णानामिति शेषः एवं सप्तसाम्नां परिगणितवर्णानाम् एकविंशत्या अत्र करणे तृतीया एकविंशतिसंख्यारूपसाधनेनेति भावः आदित्यं संसारो हि मृत्युः अत एव गीतायां **'मृत्युसंसारवर्त्मनि'** **'मृत्युसंसारसागरात्'** (९।३) (१२-७) श्रीमानसकारोऽपि मृत्युरूपं संसारं सूर्यपर्यायेण पतङ्गेनोपमिमीते **'ते संसारपतङ्गघोर-किरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः'** (मानस ७ अन्तिम)।

एवं भूत आदित्योऽपि एकविंशति वर्णसमानधर्मा तथा च द्वादशमासाः षड्ऋतवः पूर्वाह्णमध्यान्यापराह्णनामधेयाः त्रयोवस्थाभेदाः एतादृशं सूर्यमाप्नोति। यतो हि इतः अस्माँल्लोकात्परः एकविंशः एकविंशतिसंख्यापूरणः आदित्यः द्वाविंशेन वरणेन साधकतमेन आदित्यादिपरं तन्मण्डलस्थं नाकं कं सुखं तस्य अभावा अकं दुःखं तन्नास्ति यस्मिन् तन्नाकं 'नभ्राण्ण' इति सूत्रेण नञ् समासेऽपि नाकारलोपाभावः। एवं सर्वदासुखाभावमिति भावः अथवा नाकः सुखत्वावच्छिन्नाभावनान् साकेतलोकः सोऽस्ति समधिष्ठेयत्वेन अस्य इति नाकः श्रीरामः साकेतलोकाधीशः अत्र अर्श आदित्वादच् प्रत्ययः तं नाकं साकेताधिपतिं विशोकं विगतशोकं तदीयेष्टयोगासम्भवात् यद्वा विनाशितः प्रणतशोकः येन स विशोकः तं परमात्मानं रघुवरमाप्नोति।

फलश्रुतिं वर्णयति—

आप्नोति हादित्यस्य जयं
परो हास्यादित्यजयाज्जयो भवति य ।
एतदेवं विद्वानात्मसंमितमतिमृत्यु-
सप्तविध्ँसामोपास्ते सामोपास्ते ।।६।।

ह निश्चयेन यः एवं विद्वान् यथोक्तं पूर्वं जानन् अतिमृत्युभावनया सप्तविधसामोपास्ते सः आदित्यस्य जयं सूर्यमण्डलस्य भेदरूपं विजयं आप्नोति आदित्यस्य जयात् तदपेक्षयापि परः परमेश्वरः जयः विजयरूपः उत्कृष्टः भवति सामोपास्ते इति द्विरुक्तिस्त्वादरार्था निश्चयार्था च।

इति छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये दशमखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।१०।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। एकादशः खण्डः ।।

अथ गायत्रसामोपासनं प्रस्तौति। गायन्तं त्रायते इति गायत्री तस्याः इदं इति गायत्रं सम्बन्धे षष्ठी अनुयोगि अलम्।

मनो हिंकारो वाक् प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं
प्रतिहारः प्राणो निधनमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम् ।।१।।

गायत्र्यां हि मनोवाक्चक्षुश्श्रोत्रप्राणानां पञ्चानामुपभोगो भवति तेषु पञ्चानां हिंकारादीनां गुणसाम्यात् प्रतीकत्वमारोप्यते मनः प्राथम्यात् हिंकारः अनेनैव हि चिन्तनं गायत्री दैवतस्य भावप्रस्तुतिकरणात् वागेव प्रस्तावः गायत्रीदैवतस्य सवितुः चक्षुः स्थितत्वात् तदेवोद्गीथं श्रेष्ठत्वादङ्गानाम् अत्र चक्षुः पदं मानसे चक्षुष् समभिप्रेतं तेनैव सीतापतिसाक्षात्कारसम्भवात् यथोक्तं भगवता,

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ।।

(गीता ११।८)

श्रोत्रं शब्दानां प्रतिहरणात् प्रतिहारः प्राणः समेषां तत्र निधीयमानत्वात् तत्र निधनम् इदं प्राणेषु प्रोतं सन्निहितं फलश्रुतिमाह—

स य एवमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतं
वेद प्राणी भवति सर्वमायुरेति।
ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति
महान् कीर्त्या महामनाः स्यात्तद्व्रतम्।।२।।

यः कश्चन पूर्वोक्तरूपेण जानन् वेदगायत्रं सामोपास्ते वेदनमिहोपासनं तादृक् प्रसङ्गानुरोधात् पूर्वापरग्रन्थानुरोधाच्च प्राणी प्रशस्तप्राणवान् प्रजया सन्तत्या पशुभिः गवादिभिः उपलक्षितः तथाभूतहेतुभिर्वा महान् भवति महीयमानस्तिष्ठति कीर्त्या

यशसा महान् भवति सर्वम् आयुः शतवर्षात्मकं **जीवेम शरदः शतम्** इति श्रुतेः एति प्राप्नोति ज्योक् अनाविलं जीवनं जीवति।

इति छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये एकादशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।११।।
।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। द्वादशः खण्डः ।।

अथ रथन्तरसामोपासनं प्रस्तौति। रथन्तरनाम सुगमतया जीवानां भवसागरतारणात्मकं श्रौतं सविशेषं विधानं, रथेन भगवच्चरणकमलजलरथेन भगवच्चरणो हि जलरथः यथोक्तं श्रीविनये श्रीमद् हुलसीहर्षवर्धनेन **'भवसिन्धु दुरस्तरजलरथं'** (विनय पत्रिका १३६) तेन रथेन तरन्ति भवसागरं येन साम्ना तद्रथन्तरसाम।

अभिमन्थति स हिंकारो धूमो जायते
स प्रस्तावो ज्वलति स उद्गीथोऽङ्गारा भवन्ति ।
स प्रतिहार उपशाम्यति तन्निधनँ्
सँ्शाम्यति तन्निधनमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतम् ।।१।।

याज्ञिकः यत् अभिमन्थति अरणिघर्षणमाध्यमेन स एव हिंकारः प्राथम्यात् धूमो जायते स एव प्रस्तावः प्रस्तवनात् पावकस्य अनन्तरं ज्वलति दीप्यते स एव उद्गीथः श्रेष्ठत्वात् तत्रैवाहुतिसमर्पणयोग्यत्वात् अनन्तरं यदङ्गाराः जायन्ते इन्धनभस्मशब्देषु स एव प्रतिहारः प्रतिहरणात् अनन्तरं यद् उपशाम्यति निर्वाणोन्मुखो भवति तत् निधनं सामान्यं यच्च पूर्णतया शाम्यति तद्विशिष्टं निधनं स्फुल्लिङ्गानां रोचिषां च तत्रैव निधीयमानत्वात्। इदं रथन्तरसाम कथ्यते।

फलश्रुतिं व्रतं चाह—

स य एवमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतं वेद
ब्रह्मवर्चयन्नादो भवति सर्वमायुरेति ज्यग्जीवति
महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या
न प्रत्यङ्ङग्निमाचामेन्न निष्ठीवेत्तद्व्रतम् ।।२।।

वेद उपास्ते ब्रह्मवर्चसी ब्रह्मणः ब्राह्मणस्य वर्चः तेजः इति ब्रह्मवर्चसं ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः इति सूत्रेण समासान्तोच् प्रत्ययः तद् ब्रह्मवर्चसं प्रशस्त-तपःश्रुतयोनिसम्पन्नब्राह्मणतेजः अतिशयेनास्ति यस्मिन् स ब्रह्मवर्चसी इन् प्रत्ययः

अन्नादः दिव्यान्नभोक्ता शेषं पूर्ववत् अग्नेः प्रत्यङ् पावकसमक्षं न आचामेत् नैव मुखं हस्तचरणान् वा प्रक्षालेत् न निष्ठीवेत् न थूत्कुर्यात् तद्व्रत्।

एष रथन्तरसामोपासनानियमः।

इति छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये द्वादशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।१२।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। त्रयोदशखण्डः ।।

इदानीं वामदेव्यसामोपसना वर्ण्यते।

अस्य साम्नः वामदेव ऋषिः अत इदं वामदेव्यम्।

उपमन्त्रयते स हिंकारो ज्ञपयते स प्रस्तावः
स्त्रिया सह शेते स उद्गीथः प्रति स्त्रीं
सह शेते स प्रतिहारः कालं गच्छति तन्निधनं
पारं गच्छति तन्निधनमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतम् ।।१।।

उपमन्त्रयते पाणिगृहीतभार्यां धर्मतो विजिहीर्षुः स्वसमीपमाह्वयति इङ्गितादिचेष्टाभिः। स एव प्राथम्यात् हिङ्कारः, ज्ञपयते तामनुकूलयति स एव प्रस्तावः सङ्कल्पप्रस्तुतिकरणात् स्त्रिया स्वजायया सह शेते एकपर्यङ्के श्वपिति स एव उद्गीथः शास्त्राविरुद्धत्वेन श्रैष्ठ्यात् पृथक् शय्यायाः नारीदण्डरूपेण शास्त्रे सङ्कीर्तनात् **'स्त्रीणां दण्डे पृथक् शैय्या'** इति स्मृतेः। प्रति स्त्रीं शेते विहर्तुं भार्याम् अभिमुखीभूय शेते इति प्रतिहारः, कालं गच्छति व्यवाय क्रियया विश्रान्तिमेति इदमुपासनं मिथुने दम्पत्यो प्रोतम्। यद्यपि सामान्यतः कार्यमिदं वासनात्मकं परिकल्पयन्ते परन्तु श्रुतिविहितधर्मानुसारेण क्रियमाणं भगवदुपासनेति ज्ञेयम्—

फलश्रुतिं च तत्फलमाह—

स य एवमेतद्वामदेव्यं मिथुनं प्रोतं
वेदमिथुनां भवति मिथुनान्मिथुनात्प्रजायते ।
सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया
पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या न काञ्चन परिहरेत्तद्व्रतम् ।।२।।

पाणिगृहीतां स्वतल्पगतां काञ्चनकुरूपामपि न त्यजेत् पाणिगृहीतभार्यात्यागे महताप्रत्यवायस्य श्रुत्यैव सङ्कीर्तत्वात्। इदमेव व्रतम्।

इति छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये त्रयोदशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।१३।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। अथ चतुर्दशः खण्डः ।।

अथ बृहत् सामोपासनं प्रस्तौति तदाधार आदित्यः न दीयते केनापि, नैव खण्डयते इति अदितिः तैलधारावदविच्छिन्नप्रवाहा भगवदीया परमप्रेमैकरूपा भगवन्नामरूप- लीलाधाम-रसास्वादनापरपर्यायानिरपाया भगवदाशक्तिरूपाभक्तिः तस्याः भक्तेरदितेः अयं आदित्यः भगवद् भजनानन्दरूपः परमेश्वरानुग्रहस्वरूपो वा तस्मिन् आदित्ये सूर्ये इदं बृहत्साम संन्निहितं तच्च भगवत् विभूतिः यथोक्तं गीतासु **बृहत्साम तथासाम्नां**, (गीता १०-३५) तदेवास्मिच्छकले यथावस्थमादित्यस्य संकीर्त्यते उद्यन्नित्यादिना—

उद्यन्हिंकार उदितः प्रस्तावो मध्यन्दिन उद्गीथोऽपराह्णः ।
प्रतिहारोऽस्तं यन्निधनमेतद्बृहदादित्ये प्रोतम् ।।१।।

उद्यन् उदीयमानः सूर्यः हिंकारः उदितः उद्गतः सन् प्रस्तावकिरणानां प्रस्तुतीकरणात् मध्यंदिनम् अवस्थात्वेना स्त्यस्य इति मध्यन्दिनः मध्याह्नकालिकसूर्यः उद्गीथः उत्कृष्टतयागीयमानत्वात् अत एव श्रीराम जन्मनि मध्याह्नकालः तन्महोत्सवे च एकमासं मध्यन्दिनसूर्यो व्यराजत जगौ च मानसकारः—

मासदिवसकर दिव सभा मरम न जानै कोय ।
रथ समेत रबि थाकेउ निसा कवन बिधि होय ।।

(मा. बा. १९५)

एवमपराह्णः अपराह्णकालिकः सूर्यः प्रतिहारः अस्तोन्मुखत्वेन विकीर्णकिरणानां प्रतिहरणात् यत् तस्य अस्तं स्तिमितमण्डलरूपं तन्निधनं तस्मिन् किरणानां निधीयमानत्वात् एतद् बृहत्साम आदित्ये सूर्ये प्रोतं व्याप्तम्।

फलश्रुतिमाह—

स य एवमेतद्बृहदादित्ये प्रोतं
वेद तेजस्व्यन्नादो भवति सर्वमायुरेति ।
ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति
महान्कीर्त्या तपन्तं न निन्देत्तद्व्रतम् ।।२।।

वेद उपास्ते तेजस्वी प्रसस्ततेजोमयः ज्योग्जीवति उज्ज्वलं जीवनं वर्तयति तपन्तमादित्यम् उद्यन्तं भास्करं न निन्दते न गर्हेत तद्व्रतं अयमेव बृहत् सामोपासकानां नियमः।

इति छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये चतुर्दशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। अथ पञ्चदशः खण्डः ।।

अथ वैरूपसामोपासनं प्रस्तूयते तर्हि किं नाम वैरूपं यस्मिन् विविधानिरूपाणि भवन्ति पर्जन्ये हि अनेकानि रूपाणि विलोक्यन्ते तेष्वपि भगवद्बुद्ध्यैव सामदृष्ट्या सामोपासीत एतदर्थमयमारम्भः विविधानि रूपाणि यस्मिन् तद् विरूपं विरूपमेव वैरूपं प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण्प्रत्ययः।

अभ्राणि संप्लवन्ते स हिंकारो
मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति उद्गीथो
विद्योतते स्तनयति स प्रतिहार
उद्गृह्णाति तन्निधनमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतम्।।१।।

अभ्राणि अपः जलानि विभ्रतीति अभ्राणि नीरदाः सम्प्लवन्ते मरुता नभो मार्गेण वर्षणाभिमुखीक्रियन्ते स एव हिंकारः प्राथम्यात् मेघः मेहति धाराबद्धतया जलंमुञ्चति इति मेघः वर्षणशीलघनः जायते उत्पद्यते स एव प्रस्तावः वारिप्रस्तुतीकरणधर्मत्वात् वर्षति कूटते इति उद्गीथः कृषकैः मयूरैः सारंगैश्च उत्पुलकेन गीयमानत्वात् यद्विद्योतते चमत्करोति स्तनयति गर्जति स एव प्रतिहारः पयसां प्रतिहरणात् यद्उद्गृह्णाति वर्षणं विरमयति तदेव निधनं जलानां निधनभूतत्वात् एतत् पर्जन्ये वर्षणशीले मेघे।

फलश्रुतिमाह—

स य एवमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतं वेद
विरूपाँश्च सुरूपाँश्च पशूनवरुन्धे सर्वमायुरेति
ज्योग्जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति
महान्कीर्त्या वर्षन्तं न निन्देत्तद्व्रतम् ।।२।।

विरूपान् अनेकरूपान् सरूपान् समानाकारान् पशून् गवाश्वादीन् अवरुन्धे पशुशाले बध्नाति वर्षन्तं कटन्तं पर्जन्यं वारिदं न निन्देत नापवदेत तद्व्रतं एष एव वैरूपसामोपासकानां नियमः।

इति छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये पंचदशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। अथ षोडशः खण्डः ।।

अथ वैराजसामोपासनं प्रारभ्यते विविधतया राजते इति विराट् तस्य विराजः इदं इति वैराजं पंचैवर्तूनाश्रित्य भगवतो विराजःसृष्टिश्चलति प्रकृतिः विराड्रूपा विशिष्टा विविधा च विराजते—

वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्‌गीथः ।
शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतम् ।।१।।

तत्र वसन्तःहिंकारः तस्मिन्नेव नवसंवत्सरस्य नवीनकिसलयानां प्रकृतौ च नवलसौन्दर्यसमारम्भात् ग्रीष्मः प्रस्तावः तत्र फलशस्य विपाकप्रस्तुतीकरणात् वर्षा उद्‌गीथः उत्पुलकैः प्राणिभिः गीयमानत्वात् उद्‌गृणाच्च वारां शरत्प्रतिहारः चण्डकरकिरणैः पयसां प्रतिहरणात् हेमन्तः निधनं तस्मिन्च्छैत्याधिक्येन सर्वेऽपि जीवाः निज निजनिलयेषु निधीयन्ते एतत् पञ्चषु ऋतुषु प्रोतम् समाहितं शिशिरस्य हेमन्त एवान्तर्भावात् पृथङ्नोक्तिः।

फलश्रुतिमाह—

स य एवमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतं वेद
विराजति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन ।
सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया
पशुभिर्भवति महान्कीर्त्यर्तून्न निन्देत्तद्व्रतम् ।।२।।

विराजति विशिष्टः सन् शोभते ऋतून् वसन्तादीन् प्रतिकूलानपि न निन्देत तद्व्रतम् नियमः।

इति छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये षोडश खण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं संपूर्णम्।।
।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। अथ सप्तदशः खण्डः ।।

अथ शक्वरीसामोपासना प्रस्तूयते यया सामोपासनया प्राप्तुं शक्यन्ते पृथिवी अन्तरिक्षं द्योरिति त्रयो लोका उपासकेन सैव शक्वरी सामोपासना शक्यते प्राप्तुं यया सा शक्वरी इति व्युत्पतेः सामर्थ्यार्थक शक्लृ धातोः क्वरच् प्रत्ययः ईश्वारादिवत्—

पृथिवी हिंकारोऽन्तरिक्षं प्रस्तावो द्यौरुद्गीथो दिशः ।
प्रतिहारः समुद्रो निधनमेताः शक्वर्यो लोकेषु प्रोता ।।१।।

प्राथम्यात् पृथिवी भूर्लोकः हिंकारः प्रस्तुतिकरणात् परलोकाय जीवानाम् अन्तरिक्षं भुवर्लोकः प्रस्तावः अत्रैवान्तरिक्षे स्वर्गमहर्जनस्तपसां समावेशः द्यौः दीव्यतीति द्यौः साकेतलोकः उद्गीथः उत्कृष्टैरपि परमहंसविमलात्मभिः सनकादिमहात्मभिः गीयमानत्वात् दिशः पूर्वादयः प्रतिहारः आभिरेव निजनिजकर्मानुगाःप्राणिनः अधोअधोलोकानि अध्यधिलोकांश्च प्रतिह्रियन्ते समुद्रः सामान्यजीवानां कृते क्षारसागरः वैष्णवानां कृते क्षीरसागरः सामीप्यमुक्तिमिच्छताम् अनन्यगतिकानां श्रीरामोपसकानां कृते स्वयमेव श्रीनारायणाभिन्नः श्रीराम एव **'समुद्र इव गाम्भीर्ये'** वाल्मीकि १-१-१७ 'सर्वदाभिगतःसद्भिः' वाल्मीकि १-१-१६।

जो आनन्द सिन्धु सुख रासी ।
सीकर ते त्रोलोक सुपासी ।।

(मानस १-१-९७-५)

इत्यादि वचनात् स एव आनन्दसुधासागरः निधनं तत्र समेषाम् जीवानाम् प्रलयकाले सन्निहत्वात्— (**यत्प्रयन्तित्यभिसम्विसन्ति** इति श्रुतेः)

लोकेषु भूर्भुवःस्वराख्येषु प्रोताः व्याप्ताः जीवो हि यथाक्रमम् श्रौतस्मार्तकर्माणि यथावर्णाश्रममर्यादं विगलितविषादं कुर्वाणः मातृसेवया पृथवी पितृसेवया दिवं गुरु सेवया वैकुण्ठं क्रमशो लभत इति शक्वरीत्वम् तथा चाह मनुः मातृ शुश्रूषया पृथिवीं पितृ शुश्रूषया दिवम् गुरुसेवया तु वैकुण्ठं प्रेत्य मर्त्यो महीयते।

फलश्रुतिमाह—

स य एवमेताः शक्वर्यो लोकेषु
प्रोता वेद लोकी भवति सर्वमा-
युरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभि-
र्भवति महान्कीर्त्या लोकान्न निन्देत्तद्व्रतम् ।।२।।

लोकी भवति लब्धप्रशस्तलोको भवति इमे प्राशस्ते विधानात् लोकान् स्वर्गादीन् नास्ति बुद्ध्या न निन्दते तद्व्रतम् स एव शक्वरी सामोपासनया नियमः।

इति छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये श्रीराघवकृपाभाष्ये सप्तदशोऽध्यायः सम्पूर्णम्।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। अथ अष्टादशः खण्डः ।।

अथ रेवतीसामोपासनं वर्ण्यते रेवते प्लुतो गच्छति इति रेवती रेवृ धातोः प्लुत-गत्यर्थात् कर्तरि तिच् प्रत्ययः रेवती नाम पशुसंगति या प्लवमाना गच्छति तत्रापि सामधारणया करणीयमुपासनम् उपास्यत्वात् पशुनाम् न तेषु निष्कारणं दण्डंधारयेदिति शिक्षयन्ती श्रुति प्राह—

अजा हिंकारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाः ।
प्रतिहारः पुरुषो निधनमेता रेवत्यः पशुषु प्रोताः ।।१।।

शब्दधर्मतया प्लुतिबहुलतया प्राथम्येन अजा वर्करी हिंकारः अवयः मेषा अञ्जसा विपुलसंततिप्रस्तुतिकरणात् प्रस्तावः गावः धेनवः सुरनरमुनिभिः सर्वोत्कृष्टेन परमात्मनाऽपि गीयमानत्वात् स्वयमपि हुंकारमाध्यमेन प्रणवस्य उच्चैः गातृत्वात् उद्गिरणाच्च पीयूषपयसाम् पूजनतश्च समस्तपुण्यानां श्रेष्ठत्वात् आपरमेश्वर-पामरवन्द्यमानत्वात् उद्गीथः वस्तूनाम् प्रतिहरणात् अश्वाः हयाः प्रतिहारः तेषां पुरुष एव योगात् स एव निधनं अथवा अजाविगवाश्वानां मानसप्रवृत्तीनां पुरुष एव दर्शनात् तत्र निधनत्वम् पशुषु पशुप्रवृत्तिषु जीवेषु तथा च स्पृश्यन्ते बध्यन्ते त्रयाणां गुणानां बन्धनैः एते पशवः जीवो हि सत्वगुणो ज्ञानसुखसंगेन रजोगुणः कर्मसंगेन तमोगुणी प्रमादालस्यनिद्राइति त्रिगुणप्रसूतैः षड्भिः गुणैर्बध्यते तथा चाह भगवान्– तत्र सत्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम् सुखसंगेन वध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ। रजोरागात्मकंविद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् तन्निबधनाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् तमस्त्वज्ञानजमविद्धि मोहिनं सर्वदेहिनाम् प्रमादालस्य निद्राभिः तन्निबधनाति पाण्डव गीता १४-६-७-८।

फलश्रुतिमाह—

स य एवमेता रेवत्यः पशुषु
प्रोता वेद पशुमान् भवति सर्वमायुरेति ।
ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति
महान्कीर्त्या पशून्न निन्देत्तद्व्रतम् ।।२।।

पशुमान् प्रशस्तपशुयुक्तः परमार्थतस्तु पश्यति परमात्मानं यः स पशुः उणादित्वात् दृश् धातोरूश प्रत्यये शित्वात् पाघ्राध्मा इत्यादि ना पश्यादेशे पृषोदरादित्वात् यकारलोपे पशुरिति निष्पद्यते **'अबध्नन् पुरुषं पशुं'** शुक्ल यजु. ३१-१५ इति श्रुतेः।

प्राशत्यञ्चात्र समत्वेन सर्वत्र परमात्मदृष्टि: वाक्यार्थस्तु पशुमान् भवति परमात्मदर्शनक्षमात्माभवति पशून् घृणा दृष्ट्या न निन्देत तदेव रेवती सामोपासनाव्रतम्।।श्री:।।

इति छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये अष्टादशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। एकोनविंशः खण्डः ।।

इदानीं यज्ञायज्ञीयसामोपासना वर्ण्यते— इज्यते इति यज्ञ: 'यजयाचरुचयत रक्षप्रक्षोनङ' इति सूत्रेण कर्मणि नङ्प्रत्यय: एवं सर्वैरपीज्यमानत्वात् भगवान्परमेश्वर एव यज्ञ: यज्ञोवै विष्णुयज्ञेन यज्ञमयजन्ति इत्यादि श्रुतिवचनप्रामाण्यात्। अयज्ञ: जीव: यज्ञश्च अयज्ञश्च इति यज्ञायज्ञौ ब्रह्मजीवौ तयो: यज्ञायज्ञयो: ब्रह्मजीवयो: इदम् इति यज्ञायज्ञीयं वा नामधेयेषु वृद्धसंज्ञा वक्तव्या इत्यनेन परमेश्वरजीवनाम् ध्येयतया यज्ञायज्ञसमस्तशब्दस्य वृद्धसंज्ञकतया वृद्धाच्छ: इत्यनेन छ प्रत्येय ईयादेशे यज्ञायज्ञीयं नाम शारीरम् उपासनम् अस्मिन्नेव शरीरे यौगपद्येन यज्ञायज्ञौ ब्रह्मजीवौ **'तिष्ठतः ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके'** कठ. १-३-१, 'द्वासुपर्णासियुजासखाय मुण्डक ३-१-१ इत्यादि श्रुते: **'देही नित्यमवध्योयं सर्वदेहेषु भारत'** गीता २-३०।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे अर्जुन तिष्ठति इत्यादि स्मृतेश्च तदुपासन एव शरीरेषु घृणां निराचिकीर्षु वर्णयति—

लोम हिंकारस्त्वक्प्रस्तावो मासमुद्गीथोऽस्थि ।
प्रतिहारो मज्जा निधनमेतद्यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतम् ।।१।।

लोम रोमावलि हिंकार: प्राथम्यात् त्वक्चर्मप्रस्ताव: स्तूयमानत्वात् तस्मिन्नेव सौन्दर्यदृष्टे: परिकल्पनात् चर्मणि अयं सुन्दर: इयम् सुन्दरी इदं सुन्दरमिति सर्वानुभवसिद्धत्वात् उत्कृत्ये चर्मणि सर्वे समाना एव मांसं श्रेष्ठत्वात् उद्गीथ: अस्थि प्रतिहरणात् बलस्य प्रतिहार: मज्जा पूर्वधातूनां निधीयमानत्वात् निधनम्।।श्री:।।

फलश्रुतिमाह—

स य एवमेतद्यज्ञीयमङ्गेषु प्रोतं वेदाङ्गी भवति
नाङ्गेन विहूर्च्छति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति ।
महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या संवत्सरं
मज्ज्ञो नाश्नीयातद्व्रतं मज्ज्ञो नाश्नीयादिति वा ।।२।।

अंगी भवति निर्दुष्टावयववान् भवति अंगेन करादिना न विहूर्छति न कुटिलो भवति संवत्सरमेकवर्षं यावत् मज्ज्ञ विज्ञाय मज्जाम् नाश्नीयात् न भुञ्जीत तदेव यज्ञायज्ञीयसामोपासना व्रतम्।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये एकोनविंशे खण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यम् सम्पूर्णम्।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। अथ विंशः खण्डः ।।

साम्प्रतं राजनसामोपासनं प्रस्तूयते राजन्ते देवाः येन तद्राजनं राजृदीप्तौ इत्यस्माद्धातोः, करणाधिकरणयोश्च इत्यनेन करणे ल्युट् राजृ हि दीप्त्यर्थः दीप्तिश्च जयोतिष्मत्स्वायत्ता ज्योतींषि च अग्न्यादित्यनक्षत्रचन्द्रमोमयानि वायुश्च पावकसखित्वेन मन्त्रेऽस्मिन् संनिवेशितः अग्निदीपने वायोः सहायकत्वात्—

अग्निर्हिंकारो वायुः प्रस्ताव आदित्य उद्गीथो ।
नक्षत्राणि प्रतिहारश्चन्द्रमा निधनमेतद्राजनं देवतासु प्रोतम्।।१।।

अग्निः अंजति गच्छति सर्वत्र तथाभूतः अज्यते आज्येनाभिषिच्यते यस्तथाभूतः अच्यते पूज्यते सुरासुरैपि यस्तथाविधः देवानां पुरोहितत्वात् ऋक्त्विक्त्वात् होतृत्वात् च अत एव प्रथमा श्रुतिः **'अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजं होतारं रत्नधातवं'** (ऋग्वेद-१-१-१) अग्रे नीयते श्रेष्ठत्वात् सोप्यग्निः स एव हिंकारः प्राथमिकत्वात् वायुः वाति सूचयति सुरभिमसुरभिञ्च यः स वायुः वाति सर्वत्र गच्छति यस्तथाभूतः वापयति अग्निं समिद्धं गमयति इति वायुः स एव प्रस्तावप्रकर्षेण स्तूयमात्वात् नमस्ते वायो **'त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि'** (तै. उ. शि. अ. अ. १) गन्धस्य च प्रस्तुतीकरणादपि प्रस्तावः आदित्यस्य च ज्योतिषां पतित्वात् उद्गीथता सिद्धा न क्षरन्ति न क्षीयन्ते वा नक्षत्राणि प्रतिहारः प्रतिहरणात् ज्योतिषां चन्द्रमाः चन्दयति जीवानाह्लादयति यस्तथाभूतः स एव निधनं सुधा रश्मयः ज्योतींषि च तत्रैव निधीयते इदं राजनं साम देवतासु दीप्तिमत्सु सुरेषु प्रोतम् समानधर्मत्वात्।

फलश्रुतिमाह—

स य एवमेतद्राजनं देवता सु प्रोतं वेदैता-
सामेव देवतानाँ सलोकताँ सार्ष्टिताँ सायुज्यं गच्छति ।
सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान् प्रजया
पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या ब्राह्मणान्न निन्देत्तद्व्रतम्।।२।।

देवतासु द्योतनप्रधानविबुधेषु वेदैता ज्ञाता अत्र क्तिन्प्रत्ययान्तत्वात् कृतिप्राप्ताया: अपि षष्ठ्या: न लोकाव्ययनिष्ठा खलर्थतृनाम् इति निषेधात् सामिति द्वितीयान्तं सलोकतां समानलोकत्वं सलोकताशब्द: सामीप्यस्योपलक्षणं सार्ष्ट्यं सरूपता गच्छति प्राप्नोति ब्राह्मणान् तप: श्रुतयोनि संपन्नत्वे सति विहितवैदिककर्मानुष्ठानान् द्विजान् न निन्देत न गर्हेत। ननु तर्हि कथं रावणादेर्निन्दा तस्यापि ब्राह्मणकुलप्रसूततत्वस्य रामायणादौ ज्ञापितत्वात् इति चेन्न दत्तोत्तरत्वेऽपि सुस्पष्टयते ब्राह्मणत्वे हि तप: श्रुत-योनय: कारणं तप: श्रुतयोनि संम्पन्नो हि ब्रह्मवेदानधीते इति ब्राह्मण: वेदानधीयमानोऽपि पूर्वोक्तगुणवर्जितत्वे ब्राह्मो न तु ब्राह्मण: ब्राह्मोऽजातौ ब्रह्मजात्यतिरिक्तस्य वेदध्येतृत्वेऽपि ब्राह्मसंज्ञा यथाकश्चन क्षत्रियो वेदानधीते चेत् ब्राह्मणो युधिष्ठिर: यदि चेत् ब्राह्मणकुल प्रसूतोऽपि वेदविरुद्धाचरणस्तदाऽसौ ब्रह्मराक्षस: सैव दशा रावणादीनामिमे पुलस्त्यकुलप्रसूता अपि वेदविरुद्धाचरणतया ब्रह्मराक्षसा: यथोक्तं प्राचेतसेन—

षडङ्गवेदविदुषां क्रतुप्रवरयाजिनाम् ।
शुश्राव ब्रह्मघोषांश्च विरात्रे ब्रह्मरक्षसाम् ।।

(वा. सु.)

यो वै ब्राह्मणो भवन्नपि पञ्चमकारसेवी वृषलीगामी स नैव पूर्णतया ब्राह्मण: किं बहुना त्रिदिवससंध्याविहीन: शूद्रवदेव सर्वस्माद्द्विजकर्मणो बहिष्कार्य: तथाप्राह मनु:—

नानुतिष्ठति य: पूर्वां नानुतिष्ठति य: परां ।
स शूद्रवद्बहिष्कार्य: सर्वस्माद्द्विजकर्मण: ।।

(मनुस्मृति)

गुणत्रयसमायुक्तान् सदाचाररतान् बुधान् ।
ब्राह्मणान् भगवद्भक्तान् न निन्देदिति तद्व्रतम् ।।

(वैष्णव शिक्षा. १.२५)

इति छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये विंशे खण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।। श्रीराघव: शन्तनोतु ।।

।। अथ एकविंशः खण्डः ।।

अथ सर्वविषयकसामोपासनामाह,

त्रयी विद्या हिंकारस्त्रय इमे लोकाः
प्रस्तावोऽग्निर्वायुरादित्यः स उद्गीथो ।
नक्षत्राणि वायाँसि मरीचयः स प्रतिहारः सर्पा गन्धर्वाः
पितरस्तन्निधनमेतत् साम सर्वस्मिन् प्रोतम् ।।१।।

अस्मिन् साम्ने त्रयी विद्या तिसृणां ऋग्यजु:सामख्यानां विद्यानां समाहारः त्रिविद्या एव त्रयीविद्यां प्रसऽदित्वात् स्वार्थेण्प्रत्ययः अत्राणन्तत्वेऽपि अजातिगणपठितत्वान्ननीप् स एव हिंकारः इमे भूर्भुवः स्वराख्याः त्रयः लोकाः प्रस्तावः एभिरेव जीवः परलोकाय प्रस्तूयते अग्निः वायुः आदित्यः सूर्यः इमे त्रयोऽपि श्रेष्ठत्वेनोद्गीथ एवमेव नक्षत्राणि वयांसि पक्षिणः प्रसिद्धहरणात् प्रतिहा संज्ञा एवमेव मणीनां निधीयमानत्वात् सर्पाः गानविद्याया आधारतया गन्धर्वाचित्रसेनादयः पितरः पिण्डक्रियाया निलयभूतत्वात् अर्यमादयः तन्निधनं तस्य साम्नः निधनं सर्वलोकेषु चतुर्दशसु भुवनेषु। यत्तु सर्पादीनां धकारसामान्यान्निधनत्वम् इति कैश्चिदुक्तं तत् प्रहेलिका प्रलपितमिव। सर्पशब्दे धकराभावात् तत्पर्यायवाचि विषधरफणधरादिधकारघटितशब्दघटकधकारस्य निधनघटकधकारसाम्येन साम्यं बलादालपति तन्न युक्तियुक्तं, पर्यायवाचिशब्देषु गौरवलाघवचर्या नाद्रियते शास्त्रकारैः इति पर्यायवाचिनां प्रामाण्योपेक्षणात्। किञ्च सर्पेषु कथञ्चित् प्रहेलिकापद्धत्या तत्पर्यायवाचिघटितसाम्यधिया निधनत्वं कथञ्चित् संगमयन्तु परन्तु पितर इत्यत्र तु नहि कोऽपि तत् पर्यायवाचिधकारघटितः तस्मात् सर्पादीनामिति प्राचीनोक्तशब्दोऽपि खपुष्पमिवार्थहीनः।

अथ त्रिभिर्मन्त्रैः सर्वविषयकसामोपासनायाः फलानि निर्दिशति—

स य एवमेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोतं वेद सर्वँ ह भवति ।।२।।

यः सर्वविषयकसामोपासकः एतत् पूर्वोक्तं साम सर्वस्मिन् सकलजगति प्रोतं वेद उपासस्ते सः सर्वं भवति सः साधक सर्वं जगत् प्राप्तो भवति। अत्र प्राप्त इति शब्दोऽध्याहार्यः यत्तु सर्वमित्यस्य सर्वेश्वरः भवति इति प्राहुः तच्छ्रुतिविरुद्धं समधिकप्रलपितं नहि उपासक उपास्यो भवति कथञ्चित् ब्रह्मसाष्टर्यमेति यथा अत्रैव विंशे खण्डे **'देवतनाँ सलोकताँ सार्ष्टिताँ सायुज्यं गच्छति'** अत्र दर्शितासु चतुर्षु मुक्तिषु सामीप्यसालोक्यसायुज्यसार्ष्टियष्वपि नहि कुत्रचित् ब्रह्मीभावविधानम्। **जीवोऽपि नित्यः ब्रह्मापि नित्यं नित्यो नित्यानाम्** (कठ. १।३।१२) नहि नित्यः स्वसत्तां परिहर्तुं शक्नोति द्वावपि नित्यौ अविनाश्यसताकौ सत्ताविनाशमन्तरेण क्षुल्लको जीवः

कथं सर्वेश्वरो भविष्यति सरूपताप्राप्तौ नास्माकं विप्रतिपत्तिः परन्तु सरूपतानाम नाभिन्नता समानरूपतः सरूपता। समानता च भेदघटिता नाभेदसहिष्णुः तद्गतभूयो धर्मत्वे सति तदवच्छिन्नभेदवतिः समानता।

पुनः पूर्वकथितविषयवस्तु प्रशंसति,

तदेष श्लोको यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि ।
तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति ।।३।।

तत् तस्मादेव एषः श्लोकः अयं मन्त्रः वर्तते यत् यानि पुरा कथितानि त्रयो वेदाः त्रयो लोकाः अग्निवायुदिवाकराः तारकाविहगाश्च सर्पगन्धर्वपैतृकाः एभ्यः परम न किञ्चिद्वै प्रशस्यतरमीर्यते सर्वेषामत्र संकलनात् उपासीत हि पंच वै।

भूयः फलश्रुतिंप्रशंसति—

यस्तद्वेद स वेद सर्वं सर्वा दिशो बलिमस्मै ।
हरन्ति सर्वमस्मीत्युपासीत तद्व्रतं तद्व्रतम् ।।४।।

एवं रूपेण तत् साम वेद सः सर्वं वेद चराचरं जानाति। सर्वादिशः प्राच्यादि दिग्देवताः अस्मै सर्वज्ञाय बलिं भोग्यवस्तुजातं हरन्ति प्रापयन्ति सर्वं सर्वस्मै सर्वस्वरूपाय भगवते तदर्थभूतोऽहमस्मि इति इत्थं धारयन् उपासीत् निखिलजगन्नाथं रघुनाथं सेवेत तद्व्रतम्। सर्वविषयकसामोपासनाया इति शेषः।

इति छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये एकविंशे खण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।२१।।
।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। द्वाविंशः खण्डः ।।

एकविंशातिखण्डं यावत् तत्सामोपासनं सविस्तरंवर्णितम् अथम् तस्य विविधफलकस्य नैकदैवतस्य साम्नः पारम्परामुच्चारणस्य शिक्षयितुं सकलोऽयमारभ्यते। स्वरतो वर्णतश्च दुष्टः शब्दः नैव श्रेयसे प्रभवति वज्रीभूय हिनस्ति यजमानं तथोक्तम्—

मन्त्रो दुष्टः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग् वज्रं यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपराधात् ।।

प्रतिस्वरस्य तत् तत् देवता ह्यधिष्ठात्र्यः तासां तत् तदुच्चारणमनाश्रित्यैव सामोच्चारणपरम्परा कस्याः देवतायाः कीदृगुच्चारणम् इदं सर्वं स्पष्टयितुमाह—

विनर्दिसाम्नो वृणे पशव्यमित्यग्नेरुद्गीथोऽनिरुक्तः प्रजापतेर्निरुक्तः सोमस्य मृदुः श्लक्ष्णं वायोः श्लक्ष्णं बलवदिन्द्रस्य क्रौंचं बृहस्पतेरपध्वान्तं वरुणस्य तान्सर्वानेवोपसेवेत वारुणं त्वेव वर्जयेत्।।१।।

यजमानेनैवं वक्तव्यं यत् अहं साम्नः सामवेदस्तवनस्य समुच्चारणे विनर्दि विशिष्टं नर्दयितुं तच्छीलं सुस्पष्टध्वन्यक्षरं स्वरस्वरूपं वृणे परमेश्वरं याचे अथवा वृणे इत्यस्य वृणीतेत्यर्थः व्यत्ययेन तस्य स्थाने इट् उद्गाता साम्नः विशेषनर्दनशीलस्वर-स्वरूपं वृणीत परमेश्वरं याचेत विधिलिङ्लकारप्रत्ययात् विधिरत्र स चात्यन्ता-प्राप्तिमूलकः। कीदृशाः स्वरा किं किं दैवतका इत्यत आह अग्नेः अग्नि दैवतकमग्नि उच्चारणस्वरस्वरूपं वा पशव्यं पशुभ्यो हितम् उकारान्तत्वात् यत् प्रत्ययः अग्नेः स्वरः अनिरुक्तः न निःशेषेण वक्तुं शक्य इति भावः प्रजापतेः कश्यपस्य स्वरः निरुक्तः निःशेषेण वक्तुमर्हः सोमस्य चन्द्रस्वरस्वरूपं श्लक्ष्णं कोमलविस्पष्टाक्षरं वायूच्चारण-परम्पराकं स्वरस्वरूपं तु श्लक्ष्णं सुस्पष्टाक्षरं कर्णसुखमिति भावः। इन्द्रस्य देवराजस्य बलवत् प्रशस्तबलयुक्तं वृहस्पतेः देवगुरोराङ्गिरसस्य क्रौञ्चं क्रौञ्चपक्षि स्वरसदृशं स्वस्वरूपं वरुणस्य जलाधिनाथस्य अपध्वान्तं स्खलिताक्षरं स्फटितदुन्दुभिः स्वरसदृशं एवं तान् अग्निप्रजापतिसोमेन्द्रबृहस्पतिस्वरान् सेवेत लब्धुंवृणीत परन्तु वरुणस्य अपध्वान्तत्वात् वर्जयेत् परिहरेत तदुच्चारणे पुण्यजनकता हानिसंभवात्।

अमृतत्वं देवेभ्य आगायानीत्यागायेत्स्वधां पितृभ्य आशां मनुष्येभ्यस्तृणोदकं पशुभ्यः।स्वर्गं लोकं यजमानायान्नमात्मन आगायानीत्येतानि मनसा ध्यायन्नप्रमत्तः स्तुवीत।।२।।

स्तवनकाले उद्गाता किं कुर्यात् इति निर्दिशति श्रुतिः देवेभ्यः सुरेभ्यः अथवा दैवीं सम्पदमुपासीनेभ्यः सात्विकेभ्यः प्राणिभ्यः अमृतं सुधामथवामृतं मरणं तदभावोऽमृतं अथवा अमृतं भगवद्भक्तिं यद्वा अं परब्रह्म वासुदेवसंज्ञं ऋतं सत्यात्मकमागायानि आदरेण गायन् उत्पादयानि अत्रेच्छार्थे लोट् इति इत्थं धारयन् आगयेत पितृभ्यः अर्यमादिनिजपूर्वपुरुषपर्यन्तेभ्यः स्वधां तत्तुष्टिहेतुभूतकव्यं मनुष्येभ्यः मनुपारम्परी मनुसरद्भ्यः आशां मनोभिलषितपदार्थान् अथवा अशमेवाशा तां आशाम्। जीवनोपभोगसामग्री यद्वा आशां मङ्लमयीं दिशामथवा आशां भगवद्दर्शनमनोरथरूपां पशुभ्य चतुष्पदेभ्यः तृणोदकं तदभक्ष्यम् उपलक्षणतया अन्येभ्योऽपि पक्षिपतंगकीटसरीसृपप्रभृतिप्राणिभ्यः तत्तज्जीवनोपयोगिसामग्रीम् आगायानि सामोद्गीथानि समादरेण गायन् प्रस्तुतीकरवाणि इति प्रकारेणानेन ध्यायन् चिन्तयन् सामानिस्तुवीत स्तोत्रविषयीकुर्वीत।

इदानीं स्वरादिवर्णानां दैवात्ममाह—

सर्वे स्वरा इन्द्रस्यात्मानः सर्व ऊष्माणः प्रजापतेरात्मानः सर्वे स्पर्शा मृत्योरात्मानस्तं । यदि स्वरेषूपालभेतेन्द्रँ् शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रतिवक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात् ।।३।।

सर्वे स्वरा अकारादयः इन्द्रस्य देवपतेः आत्मानः स्वरूपाः शरीराणि वा एवम् ऊष्माणः शल् प्रत्याहारीयाः प्रजापतेः कश्यपस्य आत्मानः स्वरूपभूताः स्पर्शा कादयोमाऽवसानाः मृत्योः निरितेः आत्मानः स्वरूपाः यदि कोऽपि स्वरेषु स्वरोच्चारणविषये तं सामगायकमुपालभेत् आक्षिपत् तदा उद्गाता इत्थं ब्रूयात् यत् इन्द्रमेव स्वरात्मानं शरणं प्रपन्नः शरणागतः अभूवमासम् स एव त्वां प्रति वक्ष्यति प्रत्युत्वरयिष्यति इति शब्दः वाक्यानुवादरूपः।

परिशेषमाह—

अथ यद्येनमूष्मसूपालभेत प्रजापतिँ् शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रतिपेक्ष्यतीत्येनं ब्रूयादथ यद्येनस्पर्शेषूपालभेत मृत्युँ् शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रतिधक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात्।।४।।

अथ एनमुष्मषु उष्मविषयकोच्चारणे प्रजापतिं कश्यपं स्पर्शेषु वर्णपंचकोच्चारणे प्रतिधक्ष्यति निरपराधं यद्युपालभसे तदा मृत्युः त्वां भस्मासात् करिष्यतीति भावः।

स्वरोच्चारणे चिन्तनीयानिनि दिशति—

सर्वे स्वरा घोषवन्तो बलवन्तो वक्तव्याः इन्द्रे बलं ददानीति सर्वे उष्माणोऽग्रस्ता अनिरस्ता विवृताः । वक्तव्याः प्रजापतेरात्मानं परिददानीति सर्वे स्पर्शा लेशेनानभिनिहिता वक्तव्या मृत्योरात्मानं परिहराणीति ।।५।।

सर्वे स्वराः अकाराद्याः घोषवन्तः घोषः परश्रवणगोचरता नैव वैयाकरणसम्मताः प्रशस्तझंकारयुक्ता इत्यर्थः बलं प्राणनं तदवन्तः नैव शिथिलस्वासाः। इन्द्रे दवपतौ बलं आददानि निजबलं समर्पयाणि इति संकल्पयता वक्तव्या ऊष्माणः यकारादिहकार-पर्यन्ताः अग्रस्ताः नैव जिह्वया रुद्धाः इति भावः अनिरस्ताः नैव केनाप्यक्षरेणाभिभूताविरुताः विस्पष्टं रुतमुच्चारणध्वनिः येषां तथाभूताः आत्मानं स्वमेव प्रजापतेः कश्यपस्य स्वस्वत्वनिवर्तनाभावादत्र षष्ठी ददानि अर्पयाणि स्पर्शाकादयः लेशेन लेशः सम्बन्धे गन्धे च लेशेन वर्णान्तरसम्बन्धेन अनभिनिहिता असम्बद्धाः वक्तव्या आत्मानं स्वं मृत्योः परिहराणि मृत्योस्त्रायै इति चिन्तयन् सामस्वरोच्चारणं विदधीत इति हार्दम्।

इति छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये द्वाविंशे खण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

।। अथ त्रयोविंशः खण्डः ।।

अथ प्रथमाध्यायमारभ्य द्वितीयाध्यायस्य यावद्द्वाविंशखण्डं तत्तत् सामवायवेषु प्रतीकबुद्ध्या प्रणवोपासना निरूपिता। तत्रेयं विचिकित्सासम्भवा यत् किं सामावयवेष्वेव पारतन्त्रेण प्रणवोपासनं फलावहम् उतवा स्वातन्त्रेण फलं दातुं क्षमं किम्वैलक्षण्यमुभयोरिति चेत् ब्रूमहे। यदि सामावयवेषु प्रतीकतया प्रणवो विनियुज्येत तर्हि पतन्त्र्यस्ततया नैव तस्मिन्परमेश्वरता यदि च स्वातन्त्रेण तस्य परिकल्पना तदा किं रूपमुपासनमेतस्य इत्यत आह—

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसँ्स्थोऽमृतत्वमेति।।१।।

प्रणवोपासनायाः सार्वभौमतां वदन्ती श्रुतिः त्रीन् धर्मस्कन्धान् वर्णयति धर्मस्य वेदप्रणहितकर्मजनितापूर्वविशेषस्य त्रयः स्कन्धाः प्रविभागाः शाखाः। प्रथमं निरूपयति यज्ञः पञ्चविधः ब्रह्मयज्ञान्तः अथवा द्रव्यतपोयोगस्वाध्यायज्ञानाख्यः पञ्चविधः। अध्ययनं आर्षवाङ्मयाभ्यासः दानं निष्कामभावनया सततं दीनेभ्यः यथाशक्ति स्वातिसर्जनं इति एव प्रथमस्कन्धः प्रारम्भिकीशाखा प्रारम्भिकत्वं चास्य बुद्धिविशुद्धरूपं एभिरेव बुद्धौ शुद्धायाम् प्राणी द्वितीयतृतीयाभ्याम् क्रमशः साधनासोपानं निस्तीर्य परमात्मभावाय प्रभवति तपः श्रीगीतोक्तं शरीरवाङ्मयमानसभेदम् सात्विकं कृच्छ्रसाध्यम् अयमेव द्वितीयधर्मस्कन्धः अनेन कनक इव तप्ते मनसि मरकतमणेरिव परमात्मनःस्फूर्तिः तपसा किल्विषं हन्ति इति निगमात्।

आचार्यकुलवासी आचार्यस्य कुले आश्रमे वस्तुतं-तच्छीलः ब्रह्मचारी वसुमैथुनवर्जितः ऊर्ध्वरेता धर्मस्य तृतीयस्कन्धः अनेन नाचिरात् ब्रह्मलब्धुं शक्यते कीदृशाचार्यः सः इत्यत आह यः खलु आचार्यकुले गुरुकुले देहं शरीरमत्यन्तं प्रकाममअवसादयन् सकलभोगवर्जिततया ग्लपयन् तत्रैव तिष्ठति प्रतीक्षमाणो ब्रह्मज्ञानभगवतस्वरूपसाक्षात्कारो हनुमानिव। एते सर्वे धर्मस्य प्रथमद्वितीयतृतीय-स्कन्धानुवर्तिनः यज्ञाध्ययनदानशीलतापसब्रह्मचारिणः पुण्यलोका पुण्यश्लोक-शिखामणयः अथवा पुण्यः पुण्यप्रापकः लोकः समालोकनं दर्शनमेषां तथाविद्या अथवा पुण्यानां लोकः समूहः एषु ते पुण्यलोकाः भवन्ति किन्तु ब्रह्मसंस्थः ब्रह्मणि श्रीरामख्ये परब्रह्मणि **''इति रामपदेनासौ परब्रह्माभिधीयते''** पूर्व रामतापनीयोपनिषद् इति श्रुतेः सन्तिष्ठते शरणागतीभूत्वा तिष्ठति यः सः ब्रह्मसंस्थः अमृत्वं मरणाभावं ब्रह्मसुखं वा श्रीवत्सलाञ्छनादि विहाय ब्रह्मगुणान् वा एति सामीप्यसालोक्यसाष्ट्र्य-सारूप्यादीनि गच्छति आशयो यं यत् सर्वेऽपि धर्मस्कन्धत्रितयपरायणापुण्यलोकाः

भवन्ति परन्तु ब्रह्मसंस्थ: भवन्नपि ब्रह्मसंस्थो अमृतत्वं यातीति विशेष: ब्रह्मसंस्था **धर्मस्कन्धत्रितयवर्तिसमाना:** यदुक्तं त्रयो धर्मस्कन्धा: गृहस्थवानप्रस्थब्रह्मचारिषु तात्पर्यग्राहका: ब्रह्मसंस्थपदं तु आश्रमतृतय विलक्षणपरिव्राजितात्पर्यमर्पयतीति तत्सर्वथा निजकल्पितसम्प्रदायपोषणैकलक्ष्यपक्षपातसन्निपातवशम्वदमलीमसमान-समलजनितकल्पाजल्पनविलसितमेव। वस्तुतस्त्वत्र मन्त्रे आश्रमधर्मनिरूपणं न विवक्षितम्। अन्यथा प्राथम्यानुरोधेन ब्रह्मचार्यधर्ममेव प्रथममवक्ष्यत् यश्चात्र तृतीयधर्मस्कन्धरूपेणो स्त: यद्याश्रमधर्मस्यादि तर्हि कथं— तावत् चतुर्थ: त्यक्त: स्यात् यदि चतुर्थाश्रमिष्वेव कस्यचिद् राजाज्ञा ब्रह्मसंस्थ: सर्वथा सुरक्षित: स्यात् तर्हि प्रथमाश्रमे हनुमदादौ द्वितीयाश्रमे श्रीदशरथजनकदौ तृतीयाश्रमसेविने श्रीवसिष्ठ-स्वायम्भुवमनुप्रभृति परमभागवतनिचये ब्रह्मसंस्थाप्रतिपादकानि श्रौतस्मार्त-पौराणिकवचांसि विच्छिन्नप्रामाण्यमूलानि कलितवैतथ्यशूलानि सतां प्रतिकूलान्येव वर्तेरन् तस्मात् य: कोऽपि ब्रह्मचारीगृहस्थो वानप्रस्थो विरक्त: संयासी वा भगवत्पदवद्मपरागरसपान पेशलपरमभागवतशिखामणि: अमृतत्वं भगवदीयं सुखमेति श्रुतेरिदं हार्दम्।।श्री:।।

यदुक्तं परिव्राडेव निरस्तमिथ्यात्वप्रतीतिर्भवति तदपि न जगन्निमथ्यात्वं हि ज्ञानेनावगम्यते ज्ञानं न केवले परिव्राजि इदं तुभगवत्कृपासाध्यम् बाल्यकालेव ध्रुवप्रह्लादनारदादौ ज्ञानसद्भावश्रवणात् ज्ञानं हि भक्तिलब्धं **'यस्य देवेभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ तस्यैते कथितांह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मना:'** श्वे. उ. ६-२५ इति श्रुते: **'भक्त्यामामभिजानाति'** गी. १८.५५ इति स्मृते: आबालं हरिभक्ति: इति लोकवादाच्च न केवलं परिव्राजिभक्ति सा तु सर्वसामान्या बाल इव जरठसमवेता तत्रापि नारी हृदयेषु विशेषता नारीहृदयत्वञ्च त्रिलिङ्गसाधारणं तस्मात् शक्तिज्ञानमध्ये जननीजनकभावसम्बन्धनिश्चयात् यत्र यत्र भक्ति तत्र तत्र ज्ञानमिति राधान्त:। सकललक्षणसम्पन्नमातृसद्भावे पितरि चोपस्थिते शास्वतपौरुषे सुतजन्मप्रतिबन्धकम् किमपि कारणं पश्याम: तस्मात् शक्तिसद्भावे ज्ञानसद्भावस्य निश्चप्रचत्वात् भक्तेष्वपि सहजसुलभज्ञानं मह्यमना सकलकर्मबीजा विनाश: शोच्यएव। ब्रह्मणि ब्रह्मपदाभिधेये योगिध्येये सकलसाधकविज्ञेये श्री सीतारामे, संस्था शरणागतिरूपं सम्यक्स्थानं यस्य स ब्रह्मसंस्थ:, यस्यानन्यचेतस: परमात्मन्येव प्रपन्ने षड्विधा तथाभूत इति भाव:। अथवा ब्रह्मणीत्यत्र **'निमित्तात् कर्मयोगे'** इत्यनेन चर्मणिद्वीपिनमितिवत् निमित्तार्थे सप्तमी इत्थं ब्रह्मणि ब्रह्मनिमित्तं श्रीसीतारामचरण-कमलामलपरागमकरन्दपानाय सन्तिष्ठन्ति निखिलप्रपञ्चं दूरोज्झितं विधाय शारङ्गा इव स्वातिघनं परमेश्वरकृपाकादम्बिनीं प्रतीक्षमाणास्तिष्ठन्तीति ये तेषामेव वर्ग: समुज्झित चतुर्वर्ग: ब्रह्मसंस्थ:, स एव अमृतत्वम् अमृतरूपस्य परमात्मनो गुणविशेषं सौशील्यादिकम् एति यत्किञ्चिदंशतया

गच्छति प्राप्नोतीति श्रुतिसकलपदार्थ:। यदुक्तं परिव्राज एव ब्रह्मसंस्थत्वं तत्तु सम्प्रदायपक्षपातग्रस्ततया श्रुत्यर्तमिहत्यमविगणस्य जल्पितम्। परिव्राडेव निवृत्तनि:शेषकर्मा नैवैषा राजाज्ञा, कतमोऽपि चतुर्ष्वाश्रमेषु भगवति कर्माणि समर्प्य कर्मबन्धनमुक्तो भवति। बाल्य एव ध्रुवादौ, यौवन एव गणिकादौ तृतीये च ययात्यादौ चतुर्थे चाजामिलादौ पारिव्राज्याभावेऽपि महापुरुषपदपद्मपरागनिषेवया भवबन्धनमुक्ते: पुराणेषु बहुश: समाम्नातत्वात्। एवमेव ब्रह्मचर्ये हनुमदादौ गार्हस्थ्ये दशरथकौसल्यादौ वैखानसे सुतीक्ष्णादौ चापि ब्रह्मसंस्थत्वस्य तत्र तत्र श्रुतिस्मृतिपुराणादिषु दृष्टत्वात्।

यदुक्तं परिव्राड्व्यतिरिक्त: कश्चिन्नोपमर्दितभेदप्रत्ययतया न ब्रह्मसंस्थ: तदप्यलीकम् भेदप्रत्यय: परिव्राजैवोपमृद्यते नैवेतादृक् कश्चित् पारम्परीविशेष: भगवत् कृपानुभावो बालकोऽपि निरस्तभेदप्रत्ययो भवितुं शक्नोति। तद् यथा—

प्रहलाद:,

न्यस्तक्रीडनको बालो जडवत्तन्मनस्तया ।
कृष्णग्रहगृहीतात्मा न वेद जगदीदृशम् ।। (भागवत ७।४।३७)

किञ्च निरस्तभेदप्रत्यय एव मुच्यत इत्यपि वक्तुं न शक्यते, **भक्त्या विमुच्येन्नर:** (भागवत १२।१३।१८) इति स्मृते: । ननु **ज्ञानादेव हि कैवल्यम् ऋते ज्ञानान्न मुक्ति:** इत्यादि श्रुतीनां प्रामाण्यविरोधानुरोधेन स्वत: प्रमाणत्वाच्छ्रुति वचनस्य स्मृतेर्बलवत्तरत्वा-भिसन्देहे भक्त्या विमुच्येन्नर: इति स्मार्तवचनं ज्ञानहेतुकमुक्तिप्रतिपादकश्रौतवचनपूगेन बाध्येत? इति चेन्न, उत्सर्गापवादयो: समानदेश एव प्रवृत्तिनियमेन विषयभेदादिह तद्बाधकानवकाशात्। अथ कस्तावत् विषयभेद इहत्येव श्रौतस्मार्तवचनयोरितिचेच्छृणु, **ज्ञानादेव हि कैवल्यं ऋते ज्ञानान्न मुक्ति:** इत्यादि श्रुतिर्हि मुक्तिप्रतिपादनविषया **भक्त्याविमुच्येन्नर:** इति स्मार्तवचनं च विमुक्तिविषयकं तर्हि कोऽत्र भेदो मुक्तिविमुक्त्यो:? हन्त! एतावदपि न जानासि, विशिष्टामुक्ति: विमुक्ति: सा चात्यन्तिकीमुक्तिर्द्विधा क्रमिकमुक्तिसद्योमुक्तिश्च:, क्रमिकमुक्तिर्हि ज्ञानेन, तथा च **आत्मा वा अरे दृष्टव्य:** इत्यादि श्रुत्यनुशासनेन पूर्वं पश्वादिशरीराणि समतिक्रम्य प्राप्य च मानवशरीराणि तत्रापि च क्रमश: शूद्रवैश्यक्षत्रियशरीराण्यतिक्रम्य पुनरेत्यब्राह्मणदेहं तत्रापि शास्त्रनिर्दिष्टे वसुवर्षात्मके वयस्येव विहितोपनयन संस्कार:, व्रात्यादिदोषवर्जित: सावित्रंव्रतमास्थित: क्रमेणनैष्ठिकब्रह्मचर्यं बिभ्रत् सद्गुरो: सकाशात् प्राप्तब्रह्मोपदेश: सकलाविद्याप्रपञ्चं निरस्य ऐक्यप्रत्ययवान् मुच्यते एषैव क्रमिकमुक्ति:। सद्यो मुक्तिस्तु निरपेक्षसकलसाधना भगवत्कृपैकधना। असंस्कृतानामपि गजेन्द्राजामिलप्रभृतीनां

तत्प्राप्तिश्रवणात्। ज्ञानं च क्रमेण पञ्चकोषान् जरयति, भक्तिस्तु सद्य एवेति विशेषः। तथोक्तं श्रीकपिलेन श्रीभागवते—

अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी ।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा ।। (भागवत ३।२५।३३)

यदप्युक्तं परिव्राजो व्यतिरिक्तो भग्नभेदप्रत्ययोऽपि न कर्मभ्यो निवर्तते, इत्यपि नोचितं, तथात्वे ऐक्यप्रतिपादकश्रुतीनामेव त्वन्मतेऽपि प्रामाण्यानुपपत्तेः। महावाक्योपदेश-जनिताभेदमत्युपमर्दितभेदप्रतीतिर्हि मोक्षदायिनीति तव मतम्। मोक्षश्च कर्मबन्धनविलापनपुरःसरमैक्यभावनमिति त्वदीयो राद्धान्तः। भेदबुद्ध्यभाव एव कर्मबन्धनोपरमो वह्निसद्भावे दाहकत्वमिव। हन्त! तदेवापलप्यले? को नाम सुधीरग्नीन्धनसंयोगे दाहनक्रियां निरोद्धुमलं व्यतिरिच्य तावकीं कुमनीषाम्। मम मते तु भदेबुद्ध्यभावो नैव कर्मोपरमे हेतुः, प्रत्युत निजवर्णाश्रममर्यादानुकूलशास्त्रीयकर्मानुष्ठान-जनितापूर्वमेव कर्मबन्धनोपमर्दने कारणम्। यथोक्तं गोस्वामिचरणैः—

प्रथमहि विप्रचरन अति प्रीति ।
निज निज धरम निरत श्रुति नीति ।।
एहि कर फल पुनि विषय विरागा ।
तब ममधरम उपज अनुरागा ।। (मानस ३।१६।७)

यदप्युच्यते निवृत्तकर्मा परिव्राडेव ब्रह्मसंस्थः तदप्यसङ्गतम्। यस्मिन् कस्मिन्नप्याश्रमे यत्र क्वापि वावरणे यत्र क्वचिदपि शरीरे साधकः ब्रह्मसंस्थो भवितुं शक्नोति, अन्यथा तत्तत्पौराणिक परमभागवताख्यानानां प्रामाण्यं नोपपद्येत। तस्मात् ब्रह्मसंस्थम् इत्येतत् सर्वसामान्यम्। अत्रैवोपनिषदि तत्तत् गृहस्था राजानः ताँस्तान् परिप्राट्च्छिखामणीनपि ब्रह्मसमुपदिदिशुरिति तत्र तत्र प्रसङ्गेषु द्रष्टव्यम्।

मन्त्रार्थस्तु एतादृक्-यज्ञः स्वाध्यायः दानम् इति धर्मस्य प्रथमस्कन्धः, इयं धर्मस्य प्राथमिकी शाखा। अनन्तरं तपः इष्टप्राप्तये क्लेशसहनं द्वितीयः। अथ नैष्ठिकब्रह्मचर्यविधिना यः आत्मानम् आचार्यकुले ग्लपयन् जीवनपर्यन्तं यो वसुमैथुनवर्जितः ब्रह्मचारी स तृतीयः। अत्रेदमवगन्तव्यं यत् आश्रमयुजां गृहस्थानां पूर्वं यज्ञाध्ययनदानैः मलावरण विक्षेपनिरसनं द्वितीयकक्षायां तपः, किन्तु ये जीवनपर्यन्तं परमात्मप्राप्तये नैष्ठिकब्रह्मचर्यविधिना यतन्ते पूर्वोक्तविलक्षणोऽयं तृतीयधर्मस्कन्धः। एवं प्रवृत्तिलक्षणधर्मस्य द्वौ, निवृत्तिधर्मलक्षणस्य एकः, इमे

सर्वेऽपि पुण्यलोकं गच्छन्ति परन्तु च्यवन्ति पुण्यस्य क्षयशीलत्वात्। येषु कतमोऽपि धर्मस्कन्धवान् ब्रह्मचारी गृहस्थो वानप्रस्थश्चतुर्थोवा यदि ब्रह्मसंस्थः भगवति समर्पितस्वचतुष्टयः तदा अमृतत्वं परमात्मपदपङ्कजं प्राप्नोति। यदप्युक्तं तपोशब्दः नैव सन्यासिषु युज्यते तपसो कर्माङ्गत्वेन ततस्तेषां निवृत्तेर्विज्ञानात् तदपि नोचितम् श्रुतौ तपः शब्दस्य ज्ञानपरकतया कीर्तित्वात्। तथा च **यस्य ज्ञानमयं तपः** (मुण्डक १।१।९) तप आलोचने इत्यस्मान्निष्पन्नस्तपः शब्दः आलोचनपरोऽपि। यदि कोऽपि सन्यासी तपोव्यतिरिक्तस्तर्हि ब्रह्मचिन्तनबहिर्भूतत्वात् अलं तस्य सन्यासेन। यदपि ब्रह्मसंस्थशब्दः रूढतया प्रत्यपादि तदप्यनभिज्ञत्वं शब्दशास्त्रस्य, ब्रह्मणि संतिष्ठते इति ब्रह्मसंस्थः, इति व्युत्पत्तेः सर्वाश्रमिणाञ्च ब्रह्मसंस्थत्वे श्रुतावेव प्रामाण्यप्राचुर्यात्। वस्तुतस्तु सेवकसेव्यभावसम्बन्धेन परमेश्वरं श्रीसीताराममुपासीनः सुदृढीकृतदास्यभावो ब्रह्मसंस्थः इति विरम्यते।।श्रीः।।

अथ केन माध्यमेन साधको ब्रह्मणि संतिष्ठेत भजनस्य मुख्यसाधनभगवन्नाम सत्स्वप्यनेकेषु नामसु प्रणवस्य प्रामुख्यम् अतस्तदुत्पत्तिवर्णनमुपक्रमते—

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी विद्या संप्रास्रवत्तामभ्यतपत्तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि संप्रासवन्त भूर्भुवः स्वरिति ।।२।।

प्रजापतिः प्रजानां रक्षकः पिता कश्यपः लोकान् परमात्मनिर्मितानि चतुर्धशभुवनानि अभ्यतपत् समाधिना समालोचयत् अध्यायेदिति भावः। एवम् अभितप्तेभ्यः कश्यपध्यानविषयीभूतेभ्यः तेभ्यः लोकेभ्यः सकाशाद् त्रयीं विद्यामृग्यजुःसामनाम्नीम् अभ्यतपत् आलोचितवान्। पुनः तस्य अभितप्तायाः ध्यातायाः त्रयीतः भूः भुवः स्वः एतानि अक्षराणि व्याहृतिरूपाणि अभ्यतपत् ध्यानेनाधिगतवान्। सारांशोऽयं यल्लोकेषु त्रयीविद्या निगूढा तत् सारभूता तस्यां च भूर्भवः स्वः इति तिस्रो व्याहृतयो निहिताः एवं तेभ्यस्तां तस्या इमाश्च ध्यानेनैवाधिगतवान् कश्यपः इति श्रौतो भावः। अत्र प्रास्रवत् इत्यस्य प्रादुर्भूता प्रास्रवन्ति इत्यस्य प्रादुर्भूतानीति शब्दार्थोऽवगन्त्यः।।श्रीः।।

अथोङ्कारोत्पत्तिमाह—

तान्यश्यतपत्तेभ्योऽभिताप्तेभ्य ॐकारः संप्रास्रवत्तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णान्येवमोङ्कारेण सर्वा वाक् संतृण्णोङ्कार एवेदꣳसर्वमोङ्कार एवेदꣳसर्वम् ।।३।।

तानि भूर्भुवः स्वः इति अक्षराणि अभ्यतपत् परमेणसमाधिना ध्यातवान्। तेभ्यः अभितप्तेभ्यः आलोचितेभ्यः व्याहृतिभूतेभ्यः ओङ्कारः ॐ इति प्रणवः प्रास्रवत्

साक्षात् कृतो भवत्। अनेन ॐकारेण सर्वं वाङ्मयं कथं व्यवस्थापितमिति वक्तुमुपमामाह— यथा शङ्कुना पर्णनसेन तद् व्यवस्थापकबन्धनतन्तुनेति भावः, सर्वाणि पर्णानि छदानि संतृणानि व्यवस्थापितानि तथैव इयं सर्वा वाक् ओङ्कारेण संतृण्णा व्याप्य संबद्धा, इदं सर्वं वाङ्मयम् ओङ्कार एव ओङ्काराधिकरणकमेव। ओङ्कार एव इत्यत्र ओङ्कारे एव इति पदच्छेदः आदरार्थाद्विरुक्तः।।श्रीः।।

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये त्रयोविंशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।
।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। अथ चतुर्विंशखण्डः ।।

एवं प्रणवस्य सामोपासनायाः प्रामुख्येनोपास्यत्वं परमेश्वर प्रतीकतां व्यवस्थाप्य प्रसङ्गतः सामसवनानि निरूपयति खण्डेऽस्मिन्।

ब्रह्मवादिनो वदन्ति यद्वसूनां प्रातःसवन ꣳ रुद्राणां। माध्यान्दिन ꣳ सवनमादित्यानां च विश्वेषां च देवानां तृतीयसवनम्।।१।।

ब्रह्म परमात्मानं वदन्ति निजमनोमन्दिरे स्थिरयन्ति तच्छीलाः इति ब्रह्मवादिनः। वसूनां द्रोणादीनां प्रातःसवनं रुद्राणां शंकरादीनां माध्यन्दिनं मध्याह्निकम्, आदित्यानां द्वादशानां विवस्वदादीनां विश्वेदेवानां च तृतीयं सायंकालिकम्। एवं त्रीण्यपि सवनानि यथाक्रमं देवविभागत्रयाधिष्ठितानि।।श्रीः।।

सवनज्ञानमाहात्म्यमाह—

क्व तर्हि यजमानस्य लोक इति स यस्तं न विद्यात्कथं कुर्यादथ विद्वान्कुर्यात् ।।२।।

एवं यदि त्रिषु सवनेषु वस्वादयः समधिश्रिताः तर्हि यजमानस्य यज्ञकर्तुः क्व लोकः कुत्रस्थानं प्रातःसवनं कुर्वन् वसुलोकं गच्छति, मध्याह्ने सिन्वन् रुद्रलोकं याति सायं सिन्वन् आदित्यान् विश्वेदेवांश्च प्राप्नोति। किन्तु एतज्ज्ञानस्य आवश्यकता स यः साधकः तं न विद्यात् स कथं कुर्यात् सवनं, यः विद्यात् जानाति स एव कुर्यात्। अत्र लडर्थे लिङ् सवनं ज्ञात्वैव कर्तव्यम् इत्युपदेशः।।श्रीः।।

अथ वसुदैवथसामगानं निर्दिशति—

पुरा प्रातरनुवाकस्योपाकरणाज्जघनेन । गार्हपत्यस्योदङ्मुख उपविश्य स वासवꣳसामाभिगायति ।।३।।

पुरा पूर्वं प्रातः अनुवाकस्य अनुच्चारणीयमन्त्रस्य जपयोग्यस्य प्रथममितिभावः उपक्रमणं प्रारंभः, तस्मात् पुरा प्रातरनुवाकस्य प्रारम्भात्पूर्वमिति भावः। गार्हपत्यस्य अग्नेः जघनेन पृष्ठतः आसीनः उदङ्मुखः उत्तराभिमुखः स वासवं वसुर्देवताभ्य इति वासवं **सास्यदेवता** इत्यनेन अण् प्रत्ययः। तेन सहितं सवासवं साम अभिगायति अभीष्टगानं करोति॥श्रीः॥

साममंत्रमाह—

लोकद्वारमवापा ३ र्ण ३ ३ पश्येम त्वा वयꣳरा ३ ३ ३ ३ ३ हु ३ म आ ३ ३ ज्या ३ यो ३ आ ३ २ १ १ १ इति॥४॥

हे अग्ने! त्वं लोकस्य भूर्लोकस्य द्वारं पन्थानम् अपावृणु अपावर्तय तेन वयं साधकाः राज्याय दीप्तये त्वा भवन्तं पश्येम। अथवा हे अग्ने! सर्वेषाम् अग्रे नीयमानराघवलोकस्य साकेतलोकस्य द्वारं पन्थानमपावृणु, अथवा द्वारं पिधानभूतं कपाटं मायानामकम् अपावृणु अपसारय येन राज्याय श्रीरामराज्याय स्वाराज्याय तव चरणकमलसामीप्यरूपाय परमपदाय त्वा भवन्तं साकेताधिपतिं सीताभिरामं श्रीरामं पश्येम नयनपथं नययेम॥श्रीः॥

अथ हवनप्रकारमाह—

अथ जुहोति नमोऽग्नये पृथिवीक्षिते लोकक्षिते लोकं मे । यजमानाय विन्दैष वे यजमानस्य लोक एतास्मि ॥५॥

अथ अनन्तरं सामगानं विधाय जुहोति हवनं कुर्यात्। जुहोतीति व्यत्ययेन जुह्वीत इत्यर्थे लट्। नमस्कार प्रकारमाह-अग्नये पावकाय तुभ्यं नमः नमस्करोमि नमोऽस्तु वा, अग्नेर्विशेषणद्वयं पृथिवीं क्षियति रक्षति इति पृथिवीक्षितः तस्मै पृथिवीक्षिते, लोकं क्षियति रक्षति इति लोकक्षितः तस्मै लोकक्षिते तादृशाय तुभ्यं नमः। मे यह्वं मजमानाय भवन्तमर्चयते लोकं दिव्यं साकेतलोकं विदं देहि। धातूनामनेकार्थत्वात् लाभार्थकस्यापि विद्लेर्दानार्थः। एष यजमानोऽहं तादृशे लोके एतास्मि गन्तास्मि॥श्रीः॥

इदानीं पूज्यपूजकयोः प्रतिक्रियां दर्शयति—

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहापजहिपरिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठतितस्मै। वसवः प्रातः सवनꣳ संप्रयच्छन्ति ॥६॥

अत्र अस्मिमल्लोके अहं यजमानः आयुषः आयुष्यस्य परस्तात् पश्चात् शरीरत्यगानन्तरमिति भावः। स्वाहा स्वस्य आसमन्तात् हानं त्यागः इति स्वाहा भगवते सर्वसमर्पणमिति भावः करिष्यामि इति शेषः। परिघं भजनप्रत्यवायम् अर्गलाम् अपजहि विनाशय इति इत्थम् उक्त्वा कथयित्वा तस्मै उत्तिष्ठति, पूजार्थमुत्थानं करोति, वसवः द्रोणादयः तस्मै प्रातःसवनं तत्फलं संप्रयच्छन्ति समर्पयन्ति।।श्रीः।।

अथ रुद्रसामगानं वर्णयति—

पुरा माध्यन्दिनस्य सवनस्योपाकरणाज्जघनेनाग्नी-
ध्रीयस्योदङ्भुख उपविश्य स रौद्रꣳसामाभिगायति।।७।।

दिनस्य मध्यं मध्यन्दिनं मध्यन्दिने भवं माध्यन्दिनं तस्य माध्यन्दिनस्य मध्याह्न संभवस्य सवनस्य उपाकरणात् प्रारंभात् पुरा आग्नीध्रीयस्य दक्षिणाग्नेः जघने पृष्ठेन उदङ्मुखः उत्तराभिमुखः उपविश्य सरुद्रं रुद्रदैवत सहितं साम अभिगायति गानविषयं करोति।।श्रीः।।

प्रार्थनाप्रकारमाह—

लो ३ क द्वारमपावा ३ र्णू ३ ३ पश्येम त्वा वयं वैरा ३ ३ ३ ३ ३
हु ३ म आ ३ ३ ज्या ३ यो ३ आ ३ २ १ १ १ इति।।८।।

हे वायो! लोकद्वारम् अन्तरिक्षलोकस्य द्वारम् अपावृणु, येन त्वां राज्याय पश्येम विलोकयेम। मन्त्रेऽस्मिन् वायुरूपेण भगवतः वर्णनं **त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि** (तै.उ. शिक्षावल्ली)।।श्रीः।।

अथ वायुरूपस्य भगवतो हवनविधानं प्राह—

अथ जुहोति नमो वायवेऽन्तरिक्षक्षिते लोकक्षिते लोकं मे।
यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्य लोक एतास्मि।।९।।

अथ साम्ना प्रार्थनानन्तरम् अग्निं जुहोति, प्रार्थना प्रकारमाह—अन्तरिक्षक्षिते नभोलोकपालकाय लोकक्षिते लोकरक्षकाय ते तुभ्यं वायवे पवनदेवाय नमः प्रह्वीभावः मम इति शेषः। हे वायो! मे मह्यम् यजानाय लोकं विद प्रापय। अहं यजमानस्य लोके एतास्मि यातास्मि।।श्रीः।।

देवताफलदानप्रकामाह—

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहापजहि परिधमित्युक्तवोत्तिष्ठति।
तस्मैरुद्रा माध्यान्दिनꣳ सवनꣳ सम्प्रयच्छन्ति।।१०।।

हवानन्तरं यजमानः किं करोति? इति विशिष्टि, अत्र अस्मिन्देवाराधने जीवनपर्यन्तम् अग्निहोत्रं विधाय आयुषः परस्तात् जीवनादनन्तरं वायवे वाक्यद्वयं निवेदयति। स्वाहा इति प्रथमं वाक्यम् अर्थात् हे वायो! यावज्जीवनं त्वं मया अनेकशः समिधाविधानेन यवतिलधान्यर्पिर्भि हुतः स्वाहाकारैः, अद्यत निजदेहं विसृजन् चत्वार्यपि स्वानि त्वयि समादरेण आजह्वाणो समाजुहोमि। किन्तु त्वमपि मत्कृते किमपि प्रत्युपकुरु। उपकाराकारमाह-परिधं भजनप्रत्यवायभूतां मोहमायाम् अर्गलाम्अपजहि अपकृष्टतया छिन्धि इति इदं वाक्यद्वयम् उक्त्वा कथयित्वा तस्मै वायुमनुकूलयितुं प्रसादयितुं वा उत्तिष्ठति आदरेण समुत्थितो भवति। रुद्रा उत्तिष्ठते तस्मै माध्यमन्दिनं मध्याह्नकालिकं सवनं संप्रयच्छति ददति।।श्रीः।।

भूयस्तार्तीयकसवनसामगानमाह—

पुरा तृतीयसवनस्योपाकरणाज्जघनेनाहवनीयस्योदङ्मुख उपविश्य स आदित्यꣳस वैश्वदेव सामाभिगायति ।।११।।

आदित्यैः सहवर्तमानं सादित्यं, रुद्रैः सह भूतं सरुद्रं विश्वेदेवैः सहितं सविश्वेदेवं शेषं पूर्ववत्।

अथ मन्त्रद्वयेन प्रार्थनाप्रकारं होमप्रकारं च निर्दिशति—

लो ३ कद्वारमपावा ३ र्णू ३ ३ पश्यम त्वा वयꣳस्वारा ३ ३ ३ ३ ३ हु ३ म् आ ३ ३ ज्या ३ यो ३ आ ३ २ १ १ १ इति।।१२।।

हे आदित्य! लोकस्य दिवलोकस्यद्वारं मायाच्छन्नं मार्गम् अपावृणु, मायाजवनिकाम् अपसार्य समुद्घाटय वयं साधकाः हुम भजनरवं कुर्वन्तः हुंकाराख्यं त्वां पश्येम। कथं स्वाराज्याय तव परम पदलाभाय।।श्रीः।।

अथवैश्वदेव प्रार्थनाप्रकारमाह—

आदियमथ वैश्वदेवं लो ३ कद्वारमपावा ३ र्णू ३ ३ पश्येम त्वा वयꣳसाम्रा ३ ३ ३ ३ ३ हु ३ म् आ ३ ३ यो ३ आ ३ २ १ १ १ इति।।१३।।

आदित्यमिति पूर्वान्वयि अथ अनन्तरं वैश्वदेवं विश्वेदेवा देवता अस्य इति वैश्वदेवं प्रार्थनं वर्ण्यते। हे विश्वेदेवाः। लोकस्य स्वर्ग लोकस्य द्वारम् अपावृणु व्यत्ययेन अपावृणुत अपसारयत इति बहुववचनस्पार्थे अपावृणु इति प्रयोगः। एवमेव वः इत्यस्य अर्थे त्वा इति एकवचनं प्रयुक्तं शेषं पूर्ववत्।।श्रीः।।

हवन प्रकारमाह—

अथ जुहोति नम आदित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च देवेभ्यो ।
दिविक्षिद्भ्यो लोकक्षिद्भ्यो लोकं मे यजमानाय विन्दत ।।१४।।

अथ आदित्यान्विश्वेदेवाँश्च समुद्दिश्य जुहोति अग्नावाहुतिं प्रक्षिपति-आदित्येभ्यः विश्वे-देवेभ्यश्च दिविक्षिद्भ्य स्वर्गरक्षकेभ्यः नमः, मे यजमानाय लोकं दिवं विन्दत विन्दयत।।श्रीः।।

प्रार्थनाप्रकारमाह—

एष वै यजमानस्य लोक एतस्म्यत्र यजमानः परस्मा दायुषः स्वाहापहत परिधमित्युक्त्वोत्तिष्ठति।।१५।।

अपहत विनाशयत शेषं सरलम्।।श्रीः।।

देवतायाः फलदानप्रकारं फलश्रुत्याकारं च निरुपयति—

तस्मा आदित्याश्च विश्वे च देवास्तृतीयसवन ँसम्प्रयच्छन्त्येष ।
वै यज्ञस्य मात्रां वेद य ह एवं वेद य एवं वेद ।।१६।।

एवं प्रार्थयमानाय तस्मै आदित्याः विश्वेदेवाश्च तृतीयसवनं फलं संप्रयच्छन्ति संप्रददति। यः एवम् उक्तरीत्या सवनत्रितयं सदैवतं वेद जानाति सः यज्ञस्य मात्रां रहस्यं वेद द्विरुक्तिरादरार्था अध्यायसमारप्त्यर्था च इति।।श्रीः।।

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये चतुर्विंश खण्डः द्वितीयायश्चसंम्पूर्णः।

इति श्रीचित्रकूटनिवासि सर्वाम्नायश्रीतुलसीपीठाधीश्वर जगद्गुरुश्रीरामानन्दचार्य श्रीरामभद्राचार्यमहाराजकृतौ छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये श्रीराधवकृपाभाष्यंसंपूर्णम्।

श्रीराघवः शन्तनोतु।

।। श्रीराघवोविजयतेतराम् ।।

।। श्रीमते रामानन्दाचार्याय नमः ।।

तृतीयोध्यायः

प्रथमखण्डः

वन्देवन्दारुवृन्दानां मन्दार चरणाम्बुजम् ।
नीलपीतं महोब्रह्म सीतारामाभिधं नतः ।।

सम्बन्धभाष्यं श्री:-द्वितीयाध्याये तत्तत्प्रतीकच्छलेन सविस्तरं सामोपासनं तन्वतस्तु प्रणवमेव सर्वोपास्यत्वेन विनिश्चित्य यज्ञाङ्गभूतसाम्नां सरहस्यमुच्चारणविधिः यज्ञीयसाम्नां गानं तद्दैवतोत्थानम् इति सर्वं सविस्तरं प्रतिपादितम्। अनुपदमेव द्वितीयाध्याये चरममन्त्रे य एवं वेद स यज्ञमात्रां वेद इति श्रुतिः कण्ठरवेण यज्ञस्वरूपनिर्धारणं गेयत्वेन प्रत्यजानात्। अस्य यज्ञस्य प्रत्यक्षगोचरतया कर्माङ्गभूतः प्रमुखसाक्षी भगवान्सूर्यः अस्मिन्नस्तमिते नाहुतयो दीयन्ते नवा कानिचित् यज्ञकर्माणि अनुष्ठीयन्ते, तस्मात् यज्ञमात्राज्ञानात् प्राक् आदित्यज्ञानमपेक्षते। अतस्तत् विबोधयिषुः श्रुतिः **असौवा आदित्य** इति सूर्यमहिमानं वर्णयितुमुपक्रमते। हेत्वन्तरञ्च समस्तश्रुतिसारस्य सकलजगदाधारस्य श्री कौसल्याकुमारस्य जन्मापि सूर्यवंशे सकलभुवश्रेयसे तस्मात् सूर्यमंडलसंस्थस्य श्रीरामस्य महिमानुवर्णनात्पूर्वं सूर्यमहिमवर्णनमनुप्राप्तं तदर्थमयमारंभ असाविति।

ॐ असौ वा आदित्यो देवमधु तस्य द्यौ रेव ।
तिरश्चीनव ꣳ शोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचयः पुत्राः।।१।।

ॐ इति परमात्मनो नाम अध्यात्मविद्याविशेषमधुविद्याप्रकरणमङ्गलार्थं प्रयुक्तम्। मधुरूपकविद्यया सूर्यं वर्णयन्ती श्रुतिरूपक्रमते, वा निश्चयेन असौ प्रत्यक्षं दृश्यमानः आदित्यः अदितिनन्दनसूर्यः, अथवा दितिः खण्डः स नास्ति यस्यां सा अदितिः, अखण्डा विराट्पुरुषदृष्टिः तस्यां भवः आदित्यः। सूर्यो हि विराट्चक्षुषः प्रादुर्बभूव **चक्षोः सूर्यो अजायत** इति श्रुतेः। स एव विराट्पुरुषचक्षुर्जन्मा वैराजः सूर्यः देवमधुः देवानां द्योतनप्रधानानां सुराणां मधु इव मोदनावहः। माद्यन्ति प्रहृष्टा भवन्ति येन तन्मधुः, हर्षार्थकमदिधातोः औणादिक उण् प्रत्यये दकारस्य च धकारे मध्विति निष्पाद्यते। तस्य दैवीसम्पदमुपासीनानां परमरसभूतस्य मधुन आदित्यस्य द्यौः स्वर्गलोक एव तिरश्चीनवंशः तिरश्चीनो वक्रः वंशः वेणुदण्डः कीचको वा यस्मिन्

मधुलम्बते। अन्तरिक्षम् आकाशमेव अपूपः वंशमाश्रित्य समवलम्बमानम् अपूपभक्षाकारं मधुच्छत्राकं क्षौद्रं यन्मक्षिका निर्मायन्ते भाषायां मधुछत्ता इति व्यवह्रियते। एवं तस्मिन् वर्तमाने मधुनीव अन्तरिक्षेऽवलम्बमाने सूर्ये ये मरीचयः किरणाः त एव पुत्राः त इव हितैषिणः लघुमाक्षिकाः।।श्रीः।। अथ रूपकपरिशिष्टमाह, मधुनिर्माणे कान्यन्यानि समुपकरणानि तान्यपि रूपकविधानेन दर्श्यन्ते—

तस्य ये प्राञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्राच्योमधुनाड्यः । ऋच एव मधुकृत ऋग्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपस्ता वा एता ऋचः ।।२।।

एतमृग्वेदमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳरसोऽजायत।।३।।

अर्थोऽयं मन्त्रद्वयान्वयी। तस्य सूर्यस्य ये प्राञ्चः पूर्वदिग्वर्तिनः पूजनीयाः रश्मयः किरणाः ता एवं मधुभूतस्यास्य प्राच्यः मधुनाड्यः पूर्वस्थाः मधुनालिकाः। ऋचः कर्मफलप्रतिपादिकाः ऋग्वेद श्रुतयः मधुकृत मधुकुर्वन्ति इति मधुकृतः मक्षिकास्थानाः एवम् ऋग्वेद एव पुष्पं यथा पुष्पेभ्यः रसं गृहीत्वा मधुनिर्मीयते तथैव ऋग्वेदात् सूर्यतत्वरूपरसं ग्रहीत्वा ऋचः कर्मफलदातृत्वेन मधुरूपं तमादित्यं मधुकरा इव प्रस्तुवन्त्यनुष्ठातुः पुरः। एवम् अमृताः अमृतमिवान्दवहाः फलक्रिया एव आपः मधुद्रवभूताः ताःऋचः कर्मप्रयुक्ताः ऋग्वेदम् अभ्यतपन् फलदानाय विवशमकुर्वन्। तदा तस्य अभितप्तस्य फलदानाय ध्यायमानस्य ऋग्वेदस्य सकाशादेव यशः, कीर्ति तेजः, शरीरकान्तिः इन्द्रियम्, चक्षुरादिषु भगवद्भजनप्रत्यवायनिरसनसामर्थ्यं वीर्यं षड्विकारजयसामर्थ्यं रसः, निरतिशयभजनानन्दरूपः अजायत वैदिकानुष्ठानादेव निरपद्रवभगवद्भजनरसो निष्पद्यते इति हार्दम्।।श्रीः।।

अथ रसपरिणामं व्याचष्टे—

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा ।
एतद्यदेतदादित्यस्य रोहितꣳ रूपम् ।।४।।

तदेव वैदिकं रसरूप वस्तु व्यक्षरत् ऋग्वेदात् फलं सत् विशेषेणक्षरितं श्रुतं तत् अभितः लोकपरलोकमाध्यमेन सूर्यमेव आदित्यम् अश्रयत् आधारमकरोत्। यदेतत् फलरूपं वेदनिस्न्दभूतं तदेव सूर्यस्य रोहितम् अरुणं रूपम् यत् प्रातः सायं च स्पष्टं विलोक्यते।।श्रीः।।

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये प्रथमखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।
श्रीराघवः शन्तनोतु

।। अथ द्वितीयखण्डः ।।

अस्मिन् आदित्यदक्षिणाकिरणरूपकवर्णनेन सूर्यस्य शुक्लरूपं वर्ण्यते।

अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य दक्षिणा मधुनाड्यो ।
यजूꣳष्येव मधुकृतो यजुर्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपः ।।१।।

सूर्यस्य दक्षिणा एव किरणाः दक्षिणमधुनाड्यः यजूंषि यजुर्वेदमन्त्राः अमृताः सोमरसभूताः दक्षिण हि किरणाः यजुर्वेदमया इत्यर्थः।।श्रीः।।

तानि वा एतानि यजूष्येतं यजुर्वेदमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य
यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳ रसोऽजायत ।।२।।

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयन्तद्वा
एतद्यदेतदादित्यस्य शुक्लꣳरूपम् ।।३।।

उभयान्वयमिदम्, यजुर्वेदादेव यशस्तेजइन्द्रियसामर्थ्यात्मकं क्षरितं सूर्योऽङ्यकरोत् दक्षिणतस्तदेवास्य शुक्लं रूपं दृश्यमानमास्त इत्याशयः।।श्रीः।।

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये द्वितीयखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।२।।

।। अथ तृतीय खण्डः ।।

अथ तृतीये खण्डे सूर्यस्य कृष्णरूपं निरूपयति—

अथ येऽस्य प्रत्यञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्रतीच्चो मधुनाड्यः ।
सामान्येव मधुकृतः सामवेद एव पुष्पं ता अमृता आपः ।।१।।

तानि वा एतानि सामान्येत ꣳ सामवेदमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य ।
यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳरसोऽजायत ।।२।।

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्ताद्वा ।
एतद्यदेवदादित्यस्य कृष्णꣳरूपम् ।।३।।

सूर्यस्य रश्मयः प्रत्यक् मधुनाड्यस्तु पश्चिमाः। सामानि भ्रमरा पुष्पं सामवेदस्तथैव हि।

तस्य तप्तस्य यशइन्द्रियतेजोवीर्यरसं रविः। जगृहे कृष्णरूपं तत् खण्डार्थोऽयं समासतः।।श्रीः।।

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये तृतीयखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।। अथ चतुर्थखण्डः ।।

अस्मिन् खण्डे सूर्यस्य परकृष्णरूपं निरूपयति—

अथ योऽस्योदञ्चो रश्मयस्ता एवास्योदीच्यो मधुनाड्योऽथर्वाङ्गिरस एव मधुकृत इतिहासपुराणं पुष्पं ता अमृता आपः ।।१।।

ते वा एतेऽर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणमभ्यतप । स्तस्याभितापतस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यरसोऽजायत ।।२।।

तद्व्यक्षस्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य परं कृष्ण ँ रूपम् ।।३।।

उदीच्यो मधुनाड्यश्च उदीच्यो रविरश्मयः ।
अथर्वशीर्षो भ्रमरा सुमनांसि तथैव हि ।।
तस्य तप्तस्य यश आदि रसं तज्जगृह रविः।
परः कृष्णं हि तद् रूपं शकलोऽर्थोऽयमीरितः।।श्रीः।।

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये चतुर्थ खण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।

।। अथ पञ्चम खण्डः ।।

पञ्चमखण्डे सूर्योस्योर्ध्वकिरणेषु मधुदृष्टिं निरूपयति—

अथ येऽस्योर्ध्वारश्मयस्ता एवास्योर्ध्वा मधुनाड्यो गुह्या । एवादेशा मधुकृतो ब्रह्मैव पुष्पं ता अमृता आपः ।।१।।

ते वा एते गुह्या आदेशा एतद्ब्रह्माभ्यतपँस्तस्याभितप्तस्य। यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यँरसोऽजायत ।।२।।

तद्व्यक्षस्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा । एतद्यदेतदादित्यस्य मध्ये क्षोभत इव ।।३।।

ते वा एते रसानाँरसा वेदा हि रसास्तेषामेते रसास्तानि । वा एतान्यमृतानामृतानि वेदाह्यमृतास्तेषामेतान्यमृतानि ।।४।।

गुह्या आदेशा श्रुतिनिहिताः साधकवेद्यतया गोपनीयाः औपनिषदाः ब्रह्मोपासनानिर्देशा एव गुह्या आदेशाः। इदमेव गीतायाम् **राजविद्या राजगुह्यम्** (गीता ९/२) इति व्याजहार भगवान् वासुदेवः। इमे एव भ्रमररूपाः। कस्माद् रसं गृह्णन्ति? इत्य आह, ब्रह्मैव पुष्पमिति ब्रह्म प्रणवः **ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म** (कठ उप. १/२/१६) इति श्रुतेः। तदेव पुष्पम् ओंकारादेव पुष्परूपाद् औपनिषदा आदेशा ब्रह्मानन्दरूपं रसं गृह्णन्ति। तस्यैवाभितस्य यश आदि रसो जायते तदेव विक्षरितं सूर्यः समश्रयत तदेव सूर्यस्य मध्ये क्षोभमाणं श्रीसीतारामात्मकं चञ्चलन्महः पश्यन्ति साधकाः। अमृताः अमृतलोकदायिन्यः आपः इमे एव वेदरसानां रसाः सारभूताः भजनानन्दसिद्धान्ताः, इमानि एव अमृतानां क्षोभनानामपि फलानाम् अमृतानि फलानि शोभनतमानि, भक्तिर्हि समस्तसाधनानां फलभूता तथैवाह भगवान्नारदः, **फलरूपत्वात्** (नारद भ. सूत्र २/३) मानसकारोऽपि कथयति—

संजम नियम फूल फल ज्ञाना ।
हरिपद इति रस बेद बखाना ।।

(मानस (१।३७।१४)

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये पञ्चमेखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यमं सम्पूर्णम्।।५।।

।। अथ षष्ठखण्डः ।।

प्रथमामृतोपभोगमहिमानं वर्णयति—

तद्यत्प्रथमममृतं तद्वसव उपजीवन्त्यग्निना मुखेन न वै देवा । अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ।।१।।

तत् यत्प्रथम् अमृतम् ऋग्वेदतः समुपलब्धं प्रभातकालिकं सूर्यस्य रोहितं रूपं तदेव वसवः द्रोणादयः अग्निना मुखेन माध्यमेन सवनविधिना उपजीवन्ति उपभुञ्जते। किमश्नन्? इति शङ्कां निराचष्टे न वै इति देवाः अश्नन्ति नैव पिबन्त्यपि नहि ते अशनपिपासारहिता एतद् दृष्टैव चक्षुषा उपभुज्य तृप्यन्ति तृप्ता भवन्ति।।श्रीः।।

परिणाममाह—

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ।।२।।

ते वसव एतद् सूर्यस्य शुक्लं रूपम् अभिसंविशन्ति प्रविशन्ति, एतस्मादेव सूर्यस्य शुक्लरूपात् उद्यन्ति उपरि गच्छन्ति हविषां जिघृक्षवः।।श्रीः।।

रूपदर्शनफलमाह—

स य एतदेवममृतं वेद वशूनामेवैको भूत्वाग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ।।३।।

यः एवंवेद जानाति सः वसूनाम् एकः प्रधानः भूत्वा अग्निा अग्निमाध्यमेन एतदमृतं दृष्ट्वा तृप्यति देवसमानगुणत्वात् एतदेवरूपं प्रविशति, एतस्मादेव उदेति सूर्यमण्डलभेदसामर्थ्यो भवतीति भावः।।श्रीः।।

अग्रे फलमाह—

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमता ।
वसूनामेव तावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्येता ।।४।।

सः एतदमृतरहस्यवेत्ता देवसमानगुणकः यावद् सूर्यः तावदेव तेन सह उदेता बालखिल्या इव सूर्येण सह उद्गन्ता पश्चाद् अस्तमेता वसूनां द्रोणादीनामाधिपत्यं साम्राज्यं स्वराज्यं परमं पदं च पर्येता परितो अत्र उदेता इत्यादिषु चतुर्षु अपि तृन् प्रत्ययान्तया नलोक इत्यादिना षष्ठीनिषेधः।।श्रीः।।

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये षष्ठेखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।

।। अथ सप्तमखण्डः ।।

एवं रुद्राणां जीवनाश्रयभूतं द्वितीयामृतोपासनं खण्डेऽस्मिन् प्रस्तौति। अथेत्यादिना—

अथ यद् द्वितीयममृतं तद्रुद्रा उपजीवन्तीन्द्रेण मुखेन ।
न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति ।।१।।

अथ एतदनन्तरं यत् पूर्वोक्तं द्वितीयमणृतं मधुरूपं सूर्ये वर्तमानं माध्यन्दिन स्थं तत् रुद्राः शङ्करप्रमुखाः उपजीवन्ति आश्रित्य प्राणन्ति। किं कृत्वा, तत् अश्नन्तो पिबन्तो वा? यदि उभयं कुर्वन्तस्तर्हि तदस्थमानं पीयमानं वा कथं न क्षीयते?

निश्चयेन न अश्नन्ति न भुञ्जते, न पिबन्ति न वा द्रवतया पानविषयं कुर्वन्ति। कथमुपजीवन्ति तर्हि? तद् दृष्ट्वा चाक्षुषविषयं कृत्वा तृप्यन्ति तृप्तिं लभन्ते।।श्रीः।।

अग्र आह—

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ।।२।।

ते रुद्राः एतद् एव रूपं माध्यन्दिनम् अभिसंविशन्ति प्रविष्टा भवन्ति। यत्तु उदासीना भवन्तीति व्याख्यायते तत्तु शब्दशास्त्रमनालोच्यैव। एतस्मादेवरूपाद् एतद् सकाशादेव उद्यन्ति उदयं प्राप्नुवन्ति।।श्रीः।।

रूपज्ञानफलमाह—

स य एतदेवममृतं वेद
रुद्राणामेवैको भूत्वेन्द्रेणैव मुखेनैतदेवामृतं
दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव
रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ।।३।।

एतद् रूपज्ञाता रुद्रसमानधर्मा भवतीति मन्त्रतात्पर्यम्। यः एतद्रूपं वेद सोऽपि रुद्रा इव इन्द्रमुखेन इन्द्रप्राधान्येन एतद्रूपमभिसंविशति प्रविशति, एतस्मादेव उदेति अभ्युदयं गच्छति। इत्यनेन ज्ञाने समानधर्मता वर्णिता न त्वेकरूपता।।श्रीः।।

अपरमपि फलमाह—

स यावदादित्यः पुरसतादुदेता
पश्चादस्तमेता द्विस्तावद् दक्षिणत
उदेतोत्तरतोऽस्तमेता रुद्राणामेव
तावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्येता ।।४।।

सः आदित्यः यावत्कालपर्यन्तं पुरस्तात् पूर्वदिशि उदेता उद्गच्छति, पश्चात् पश्चात् पश्चिमतश्च अस्तमेता अस्तं गच्छति, तावत् परिमाणकात् कालात् द्विः द्विगुणित कालपर्यन्तं दक्षिणतः उदेता दक्षिणदिग्विभागमाश्रित्य उद्गच्छति, उत्तरतश्च उदीच्यामेता अस्तं गच्छति। रुद्राणां मध्ये एकोभूत्वा प्रधानो भूत्वा स्वाराज्यं रुद्रानुशासनातिगामित्वं पर्येता परितः प्राप्नोति तृनन्तं सर्वम्।।श्रीः।।

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये सप्तमखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।। अथाष्टमखण्डः ।।

अथादित्योपजीव्यं तृतीयममृतोपासनं वर्णयति—

अथ यत्तृतीयममृतं तदादित्या उपजीवन्ति वरुणेन मुखेन न वै देवा । अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ।।१।।

अथ द्वितीयामृतोपासनानन्तरं तृतीयामृतोपासम् प्रस्तूयते। यत्तृतीयम् अपराह्णे सूर्यमण्डलस्थं तदेव आदित्यः विवस्वदादयः। शेषं पूर्ववत्।।श्रीः।।

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ।।२।।

ते आदित्याः एतदेव अपराह्णकालिकम्।।श्रीः।। एतद्रूपविज्ञानफलमाह—

स य एतदेवममृतं वेदादित्यानामेवैको भूत्वा वरुणेनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्ये-तस्माद्रूपादुदेति ।।३।।

वरुणेन मुखेन मुखशब्दप्रधानवाची वरुणेन प्रधानीभूतेन द्वादशादित्येषु दशमेन सहेति तात्पर्यम्।।श्रीः।।

शेषं फलमाह—

स यावदादित्या दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेताद्विस्तावत् पश्चादुदेता । पुरस्तादस्तमेतादित्यानामेव तावदाधिपत्य ँ स्वाराज्यं पर्येता ।।४।।

एतदक्षरार्थः सरलः, भावार्थस्तु–आदित्यो यावदुकालं दक्षिणस्यामुदीयमानः पश्चिमायामस्तमेति ततो द्विगुणितकालपर्यन्तमयं पश्चिमायामुदीयमान उत्तरस्यामस्तमेति आदित्यानामपि स्वामित्वं स्वाराज्यं चाधिगच्छति।।श्रीः।।

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये अष्टमखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।। अथ नवमखण्डः ।।

अथ नवमखण्डे मरुद्गणोपजीव्यस्य चतुर्थामृतस्योपासनं वर्णयति,

अथ यच्चतुर्थममृतं तन्मरुत उपजीवन्ति सोमेन मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ।।१।।

अथ तृतीयामृतोपासनानन्तरम्, मरुतः ऊनपंचाशत् संख्याकाः दितिगर्भजाः पवनाधिष्ठातृदेवाः सोमेन चन्द्रेण मुखेन माध्यमेन।।श्रीः।।

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ।।२।।

ते मरुतः एतदेव अपराह्णोत्तरकालिकं रूपं सवितुरिति शेषः।।श्रीः।।

फलमाह मन्त्रद्वयेन—

स य एतदेवममृतं वेद
मरूतामेवैको भूत्वा सोमेनैव
मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स
एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ।।३।।

स यावदादित्यः पश्चादुदेता
पुरस्तादस्तमेता द्विस्तावदुत्तरत उदेता
दक्षिणतोऽस्तमेता मरुतामेव
तावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्य पर्येता ।।४।।

अक्षरार्थस्तु पूर्ववत्, भावार्थोऽयं यदेतद्रूपं विज्ञाय साधको मरुत्समधर्मा भवति यावत्कालम् आदित्यः पश्चिम उदीय पूर्वेऽस्तमेति ततो द्विगुणितकालमाश्रित्य साधकोऽयम् उत्तरत उदीय दक्षिणस्तोऽस्तमेति।।श्रीः।।

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये नवमेखण्डे श्रीराघवकृपाभिष्यं सम्पूर्णम्।।

।। अथ दशमखण्डः ।।

इदानीं साध्योपजीव्यपञ्चमामृतोपासनं वर्णयति—

अथ यत्पञ्चमममृतं तत्साध्या
उपजीवन्ति ब्रह्मणा मुखेन न वै
देवा अश्नन्ति न पिबन्त्ये
तदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ।।१।।

अथ चतुर्थामृतोपासनानन्तरं पञ्चमं प्रस्तूयते-इत्यथपदार्थः। ब्रह्मणा मुखेन हिरण्यगर्भेण माध्यमेन इत्थं मधुविद्याप्रकरणे सूर्यस्य पञ्चसु प्रातःकालिक मध्याह्नकालिका-पराह्णकालिकापराह्णोत्तरकालिकास्तगमनकालिकेषु अरुणशुक्लकृष्णकृष्णतरपरःकृष्णेषु रूपेषु पञ्चामृतानां वर्णनम्, तत्र प्रथमममृतं वसवः अग्निमाध्यमेन समुपजीवन्ति। द्वितीयं रुद्रा इन्द्रमाध्यमेन तृतीयमादित्याः वरुणमाध्यमेन, चतुर्थं मरुतः सोममाध्यमेन,

पञ्चमं साध्याः ब्रह्ममाध्यमेन यथाक्रमम् अमृतमुपजीवन्ति। अत्र पञ्चस्वपि खण्डेषु न वै देवा अशनन्ति न वा पिबन्ति तद् दृष्ट्वा तृप्यन्ति इति पञ्चकृत्वः श्रुत्यैव समभ्यस्तम्। इत्यनेन देवानां क्षुत्पिपासे निरस्ते। कथमथ तर्हि कर्मकाण्डिनः देवपूजने नैवेद्यं पानीयमिति उपकल्पयन्ति? तदुच्यते, तत्रैव दत्तोत्तरोऽयं प्रश्नः। तददृष्ट्वा तृप्यन्ति ययास्मदादयः प्रत्येकपदर्थं तत्तद्ग्राहकशक्तिमदिन्द्रियेण समास्वादयन्ति न तथा देवाः। नैवेद्यं ते चक्षुषैव गृह्णान्ति परन्तु देवाधिदेवः भगवान् भक्तभावनामनुगृह्णानो रामकृष्णादिमानवाकारो भक्तदत्तनैवेद्यम् अश्नाति जलं च पिबति। यथोक्तं गीतायाम्।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ।।

(गीता ९।२६)

ननु विरुद्धेयं गीतोक्तिः श्रुतितः **न वै देवा अशनन्ति** इत्यादितः? इति चेन्न, तत्र प्रकरणे पञ्चानामेव वसुरुद्रादिदित्यमरुत्साध्याना चर्चा श्रवणात् परमात्मनश्च तेभ्यो बहिर्भूतत्वात् **सर्वाध्यक्ष** इत्यादिश्रुतेः। तत्र परतन्त्राणां चर्चा श्रवणेन अत्र भगवति तन्नियमाप्रसक्तेः। ते हि पावकेन्द्रवरुणसोमब्रह्मादयो दत्तानि माश्नन्तु मा पिबन्तु वा परन्तु मम भगवाँस्तु भक्तदत्तं पत्रपुष्फफलं जलं भुङ्क्त एवेति ब्रूमः। न च निर्मूलेयं पत्रं पुष्पम् इत्यादि स्मृतिरिति वाच्यम्? **सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा पिपश्चिताः** (तैत्तरीय ब्रह्मा. १) इति श्रुतौ। तन्मूलप्रामाण्यप्रधर्शनेनोक्तभ्रमनिराकरण मितिदिक्।।श्रीः।।

तेसाध्याः एतदेव सूर्यास्तमनकालिकमेव फलमाह मन्त्रद्वयेन—

य एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति।।२।।

स य एतदेवममृतं वेद
साध्यानामेवैको भूत्वा ब्रह्मणैव
मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स
एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति।।३।।

ब्रह्मणामुखेन हिरण्यगर्भेण माध्यमेन शेषं पूर्ववत्।।श्रीः।।

परिशेषमाह—

स यावदादित्य उत्तरत् उदेता दक्षिणतोस्तमेताद्विस्तावदूर्ध्व उदेतार्वाङ्स्तमेता साध्यानामेव तावदाधिपत्य ॅ स्वाराज्यं पर्येता।।४।।

आदित्य: सूर्य: स: श्रुतिप्रसिद्ध: यावत्काल परिणामम् उत्तरत: उदीच्या: दक्षिणत: दक्षिणस्याम् अत्रसर्वत्र सार्वविभक्तिकस्तसि:। ततो द्वि: द्विगुणीकृत्यकालम् ऊर्ध्वम् उपरि उदेता अर्वाङ् नीचै: पातालादौ अस्तमेता अस्तङ्गमनशीलो भवति उदेता अस्तमेता पर्येता इति प्रयुक्तेषु त्रिषुताच्छील्ये तृनन्तता। यद्यपि सूर्य: सर्वेषामपिपूर्वत: उदेति पश्चिमतश्चास्तमेति वस्तुत: तथापि दक्षिणादि दिक्तस्तु सूर्यो निरन्तरं चलति तस्योदयास्तमयत्वंतु प्राणिनां चक्षुर्ग्रहणाग्रहण विपरिणमनरूपमितिगेयम्।।श्री:।।

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये दशम:खण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं संपूर्णम्।।

।। अथैकादश: खण्ड: ।।

एवं यावत् पुण्यसाधकोऽयं यथाक्रमं वसुरुद्रादित्यं मरूत् साध्य श्रेणीमभिक्रमाण: सूर्यसमानधर्मा पुरस्तात् पश्यति दक्षिणत: उत्तरत: ऊर्ध्वं चोद्गच्छति विपर्यये चास्तमेति परन्तु **कर्मचितोहि लोक: क्षीयते** इति श्रुते:। क्षयिष्णुतया पुण्यचितलोकानां क्षयवत्सु शुभाशुभेषु, सूर्य: क्वचिदपि नैवोदयारत्तमयौ कुरुते तेन समानधर्मतया साधकोऽपि तथैव तिष्ठति अत आह—

अत तव ऊर्ध्व उदेत्य नैवोदेता नास्तमेततैकल
एव मध्ये स्थाता तदेष श्लोक: ।।१।।

अथ प्राणिनामुपरिनिजकृपारश्मिभिर्दिव्यमनुग्रहं विधाय अयं सूर्य: तत: तस्मात् वसुरुद्रादित्यमरुत्साध्येभ्य: मध्वमृतवितरणादनन्तरम् ऊर्ध्व सर्वेभ्य: ऊपरि उदेत्य उदितो भूत्वा भगवान् भास्कर:, वस्तुत: भूय: नैवोदेति नैवोद्गच्छति, उदयो हि तदनुग्रह: अनुग्राह्याश्च प्राणिन: तत्सत्ता च भोगधीना। तेषु निमित्तभूतेषु क्षीणेषुं नैमित्तिकस्यापि प्राणिजातस्या सद्भावे तदानर्थक्यात्। एवं यद्युदयो नहि तर्ह्यस्तमनस्य का चर्चा? उदितो ह्यस्तो भवति यर्हि नोदितेति तर्हि नास्तमेति। एवमुदयास्तमेव वर्णित: सन् किं करोत्यादित्य इत्यपेक्षमाणं प्रत्याह— अयं न उदेता नोद्गमनशील: नास्तमेता अनस्तमयशील: सन् मध्ये अपरिच्छिन्ने परमे व्योमनि परमात्मनि निजस्वरूपे ब्रह्मचिन्तने ताटस्थभावे वा स्थाता तिष्ठति तच्छील:, ताच्छील्यतृनन्तत्वं हि तत्स्वभाव व्यक्तीकरणार्थम्।।श्री:।।

एतद् प्रतिपादनार्थं तत: तस्मादेव हेतो: एष: अयं श्लोक: तद्गुणगणस्तवनरूपो मन्त्र:। मन्त्राकारमाह—

न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन ।
देवास्तेनाहꣳ सत्येन मा विराधिषि ब्रह्मणेति।।२।।

कश्चन समधिकृतब्रह्मसाक्षात्कार: देवानां समक्षं सत्येन प्रतिजानान: प्राह— हे देवा:, द्योतनशीला:! भगवत्स्तवनशीला: वा भगवद्भजनसुधया मोदमाना वा भगवद्भक्तिरोचिषा कान्तिमन्तो वा देवा: प्रतियन्तु। प्रतीते: किं प्रमाणमित्यत आह— अहं कृतपरमेश्वरसाक्षात्कार: तेन तच्छब्दवाच्येन सत्येन सत्स्वरूपेण त्रिकालाबाध्य-परमार्थरूपेण वा परमेश्वरेण शपित्वा ब्रवीमि। अथवा सतां हितेन सत्येन शपित्वा ब्रवीमि। यद्यहम सत्यं ब्रूयां तर्हि ब्रह्मणा तेन परमेश्वरेण सह मा विरोधिषि मा आविराधिषि अविरुद्धो न भवेयम्। अर्थात् विरुद्धो भूत्वा तत्कृपापात्रतां न ब्रजेयम्। अतोऽहं सत्यं कथयामि विश्वस्यतां भूतार्थवादाकारमाह, तत्र परेश्वरे परमेश्वरलोके साकेते वा अयं सूर्य: कदाचन कस्मिंश्चिदपि काले न निम्लोचं नास्तमगच्छत कदाचन च नोदियाय नोदितो बभूव। तात्पर्यमेतद् यत्, तत्र चेत् वैराजः सूर्योऽभविष्यत् तदायमुदयास्तमयतामगमिष्यत्। तत्र तु परमप्रकाशरूपो भगवत्तेजोराशिरेव लोकोत्तर-सूर्यधर्मतां भजमानो भजनरसिककोककोकनदनिकुरम्बकाणि समुद्भासयति। यथोक्तं कठोपनिषदि, **न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्। नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः** (कठ. १-३-१३) गीतायामपि प्राह भगवान्—

न तद्भासयत्ते सूर्यो न शशांको न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।।

(गीता १५-६)

एवं सततमखण्डज्योतिषि तस्मिन् विशुद्धबोधघने परमव्योमभूते श्रीसीतारामनिकेते साकेते किमनेन वैराजसूर्योदयास्तभावेन।।श्री:।।

एवमेकादशखण्डेषु सूर्यायत्तमधुविद्यां निरूप्य तदुपदेशपात्रतां निरूपयति, तदेवार्थं द्रढयति—

न ह वा अस्मा उदेति न निम्लोचति सकृद्दिवा ।
हैवास्मै भवति य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद ।।३।।

य:, कश्चन मधुविद्यासम्प्रदायत: एवं पूर्वोक्तप्रकारेण एतम् एकादशखण्डैर्निरूपितां ब्रह्मोपनिषदं, ब्रह्मप्रापिका उपनिषद् ब्रह्मोपनिषद् तां, ब्रह्मोपनिषदं वेद जानाति समुपास्ते च ह वा निश्चयवाचकौ निपातौ सुनिश्चितमेतदिति भाव:।

अस्मै भगवत्सन्निकृष्टाय साधकाय तादर्थेऽत्र चतुर्थी। सूर्यः न वा उदेति न वा निम्लोचति अर्थात् तत्कृतेऽपि निरस्तोदयास्तमयभावः। कोटिसूर्यसम प्रभो भगवान् श्रीसीताराम एव सततं प्रकाशते।।श्रीः।।

इदानीं मधुविधासम्प्रदायपरम्परामाह—

तद्धैतद्ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यसतद्धैतदुद्दालकायारुणये ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रोवाच ।।४।।

ब्रह्मा तत् मधुविद्यारहस्यं परमेश्वरात् प्राप्य प्रजापतये निजपौत्राय कश्यपाय उवाच। प्रजापत्तिः कश्यपः मनवे निजपौत्राय वैवस्वताय स च मनुः प्रजाभ्यः इति परम्पराक्रमः तासु अरुणः पिता निज पुत्राय उद्दालकाय उवाच।।श्रीः।।

इदं वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता
ब्रह्म प्रब्रूयात् प्रणाय्याय वान्तेवासिने ।।५।।

वाव इति निश्चार्थो निपातः। तत् वैदिक वाङ्मयव्याप्तं प्रसिद्धमिदम् अनुपदमेव प्रोक्तम्। भगवद् विरुद्ध कामस्य दं खण्डकं ब्रह्म मधुविद्यानिरूपकं वेदराशिं पिता ज्येष्ठाय पुत्राय प्रथमसूनवे प्रब्रूयात् प्रकृष्टतया, समुपदिशेत् गृही सन्। विरक्तश्चेत् प्रणम्याय निजचरितप्रणताय अन्तेवासिने सेवारताय शिष्याय प्रब्रूयात् इति योज्यम्।।श्रीः।।

इतरस्या उपदेशो निषिध्यते—

नान्यस्मै कस्मैचन यद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दधादेतदेव ततो भूय इत्येतदेव ततो भूय इति ।।६।।

गृहस्थः ज्येष्ठपुत्रात् अन्यस्मै, विरक्तः प्रणतशिष्यात् अन्यस्मै कस्मैचन इमां मधुविद्यां न दधात्। कदाचित् धनलोभसमापतेत्, तत्प्रतिषेधमाह-ज्येष्ठ पुत्रशिष्यव्यतिरिक्तः कोऽपि मधुविद्याजिघृक्षुः अस्मै मधुविद्यारस्यज्ञाय यद्यपि अद्भिः परिगृहीतां जलोपलक्षित- समुद्रमेखलां धनस्य पूर्णाम् धनधाम्यसम्पन्नाम् इमां पृथ्वीम् अपि दधात्, समुद्रमेखलायाः पृथिव्या अपि लोभेन प्रलोभितो भूत्वा न दद्यादिति हार्दम्। हेतुमाह, यतो हि ततः समुद्रमेखला पृथिवीतोऽपि एतद्देवमधुविद्यारहस्यमेव भूयः अधिकगुणवत्तरम् आदरार्था द्विरुक्तिः।।श्रीः।।

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये एकादशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।

अथ द्वादशखण्डः

अथ निरतिशयफला ब्रह्मविद्या प्रकारान्तरैरपि प्रतिपादनीयेति गायत्रीदृष्ट्या सा निरूप्यते।

छन्दसांप्रथमत्वाच्च सोमाहरणतस्तथा।
इतराक्षरेषु व्याप्तत्वात् गानात् त्राणात् च देहिनः।।
जननीत्वाच्चमन्त्राणां द्विजानां पूज्यभाक्तया।
द्वारत्वात् ब्रह्मविद्यायाः विभूतित्वाद्गदाभृतः।।
अन्वितत्वाच्च वेदेषु पुण्यातिशयकारणात्।
तन्मयत्वात् भगवतो निरूप्या प्रथमं हि सा।।

गायत्री वा इदꣳ सर्वंभूतं यदिदं किं च वाग्वै।
गायत्री वाग्वा इदꣳ सर्वं भूतं गायति च त्रायते च ।।१।।

वै इदम् इति पदच्छेदः। यलोपस्वरसन्धिः, वै निश्चयेन इदं दृश्यमानं यत्किचित् चराचरं भूतं सत्तामयं प्रपञ्चजातं तत् सर्वं गायत्री गायत्र्याः संभूतं **सुपां सुलुक्** इत्यनेन ङसेः पूर्वसवर्णदीर्घः। समस्तं जगदिदं ब्रह्मभूतायाः गायत्र्याः संभूतमितितात्पर्यम्। ननु गायत्र्याः ब्रह्मभूतत्वे किं प्रमाणम्? इत्युच्यते **गायत्री छन्दसामहं** (गीता. १७-३५)

कथमिदं गायत्रीमयमिति शंकां समादधाना श्रुतिः प्राह-वाक् गायत्री तस्या वाग्रूपत्वात् अथवा वागिति लुप्तपञ्चमीकं पदं, यतोहि चराचरमिदं वाचोविकारभूतमेव यथोक्तं हरिणा बाक्यपदीये—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्वं यदक्षरं।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।।

(वाक्य ब्र. काण्ड-१)

वा एवं वाङ्मयत्वात् तस्याः जगतश्च वाक्प्रसूतत्वात् तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्व नियमः इति सिद्धान्तानुरोधेन गायत्र्यभिन्नवागभिन्नजगतो गायत्र्यभिन्नत्वं सुसिद्धम्। अत आह— वाग्वा इदं सर्वं वाचः वै इदं सर्वं भूतम् इति पदार्थः व्युत्पत्तिमाह— गायति च त्रायते च, परमात्मानं गायति स्तौति तं गायन्तं जीवं त्रायते रक्षति भवभीतेः। अत्र चकारद्वयप्रयोगात् व्युत्पत्तियुगलमपरमपि ध्वन्यते। तथा च गायन्तं त्रायते इति गायत्री गीयते इति गायः गायः परमात्मा स त्रायते यया स्मर्यमाणो जीवान् सा गायत्री।।श्रीः।।

अथ गायत्रीपृथिव्योरभेदमाह—

या वै सा गायत्रीयं वावा सा येयं पृथिव्यस्याꣳहीदꣳ ।
सर्वं भूतं प्रतिष्ठितमेतामेव नातिशीयते ।।२।।

वै निश्चयेन सा ब्रह्मविद्यया अभिन्ना या पूर्वोक्ता वाव निश्चयत: सा इयं गायत्री शब्दरूपा या इयं शब्दात्मिका सैव पृथिवी, अस्यां पृथिव्याम् इदं सर्वं दृश्यमानं प्राणिजातं प्रतिष्ठितम्। यथा वाङ्मयत्वात् पृथिव्या: वाण्या: संबन्ध: तथैव गायत्र्या अपि प्रत्येक- व्यवहार: घटपटात्मक: शब्दानुगमनिरपेक्षो न भवति। यथोक्तं भर्तृहरिणा—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य: शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धभिवज्ञानं सर्वं शब्देनभासते।।

(वाक्यपदी १-९६)

वस्तुतस्तु पृथिव्यामपि वाचि इव गानत्राणसंबन्धानुरोधेन गायत्र्यास्तन्मयत्वेऽभ्युपगतेऽपि वैयाकरणरीत्या जगत्या: वाङ्मयत्वेन तदभिन्नगायत्र्या अपि जगन्मयत्वं सुवचमेव।।श्री:।।

पृथिवीशरीरयोरभेदमाह—

या वै सा पृथिवीयं वाव सा यदिमस्मिन्पुरुषे
शरीरमस्मिन्हीमे प्राणा: प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ।।३।।

वै निश्चयेन या पूर्वोक्ता सा गायत्र्यभिन्ना इयं पृथिवी एषैव पुरुषे, अत्रौपश्लेषिकी सप्तमी पुरुषे शरीरमित्यस्य पुरि शयनशीलपुरुषसंज्ञकजीवात्मानमुपश्लिष्टमित्यर्थ:। तस्मिन्नेव शरीरे हि इमे प्राणा: प्रतिष्ठिता: व्यवस्थयाविराजिता: अतो नातिशीयन्ते नातिक्रामन्ति इति भाव:। निष्कृष्टन्तु गायत्र्यभिन्ना वाक् वागभिन्ना पृथिवी पृथिव्यभिन्नं पुरुषशरीरं तदभिन्नाश्च प्राणा: इत्यभेददर्शनेन संबन्धनिबन्धनेन गायत्र्यैव ब्रह्मोपासितव्यम्।।श्री:।।

शरीरहृदययोरभेदमाह—

यद्वै तत्परुषे शरीरमिदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्त: पुरुषे
हृदयमस्मिन्हीमे प्राणा: प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ।।४।।

निश्चयेन पुरुषे यत् शरीरम् इदमेव इदमभिन्नं पुरुषस्य अन्त:वर्तमानं हृदयम् अन्त: करणं हृदयाकाशो वा अस्मिन्नेव प्राणा: प्रतिष्ठिता: नातिक्रामन्ति।।श्री:।।

तदभेदमाह—

सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री तदेतदृचाभ्यनूक्तम् ।।५।।

सा एषा ब्रह्मरूपिणी गायत्री चतुष्पदा चत्वारि वाक्पृथिवीशरीरहृदयाख्यानि यस्याः सा चतुश्चरणात्मिका, वा अथवा चतुर्व्यूहं ब्रह्म चतुष्पादविभूतिमयं वा ब्रह्म पद्यते गच्छति या सा चतुष्पदा एव षड्विधा वाक्भूतपृथिवीशरीरहृदयप्राणरूपा तदेव ऋचा ऋक्विशेषेण मन्त्रेण अभ्यनूक्तम् अभीष्टमनुत्तमुक्तम्।।श्रीः।।

ऋचमनुवदति—

तावानस्य महिमा ततो ज्यायाँश्च पुरुषः ।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति ।।६।।

अस्य परमव्यापिनः परमेश्वरस्य ब्रह्मणः महिमा ऐश्वर्यं तावान् जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीय-चतुष्पादप्रमाणकः, च किन्तु नासौ पुरुषः, कस्तर्हि? अत आह तत इत्यादिना—पुरुषः परिपूर्णतमः सर्वभावेन अपूर्यत इति पूरुषः कर्मणि **औणादिक उषस्प्रत्ययः।** पूर्णकामः परमात्मनः ततः तेभ्यः चतुर्भ्योऽपि पादेभ्यः ज्यायान् प्रशस्यः अस्य परमात्मनः पादः पादादेव अत्र **सुपांसुलुक्** इत्यनेनैवङसिविभक्तौ स्वादेशे रुत्वे विसर्गे पादः। तस्यैकांशत एव सर्वाभूतानि सर्वाणिभूतानि इति भावः। सर्वाणि इति स्थिते '**सुपांसुलुक्**' इत्यनेनैव जस् विभक्तेः पूर्वसवर्णदीर्घः सर्वा। अस्य त्रिपात् अंशत्रयममृतं मृतधर्म प्राप्तिवहिर्भूतं, दिवि साकेतलोके विराजति इति भावः। एवं प्राणाभिन्नहृदयं हृदयाभिन्नपुरुषशरीरं तदभिन्नापृथ्वी तदभिन्नावाक् तदभिन्नभूतं तदभिन्नागायत्रीति निश्चित्याभेदमेतम्। गायत्रीदृष्ट्यैव ब्रह्मोपासनीयमिति प्रकरणार्थः।।श्रीः।।

अथ तस्यैव त्रिपादविभूतिब्रह्मणः शुद्धब्रह्मणः तस्य च बाह्याकाशेन तस्य चान्तराकाशेन तस्य च हृदयाकाशेन सहाभेदं दर्शयति मन्त्रत्रितयेन।

यद्वै तद्ब्रह्मेतीदं बाव तद्योऽयं बहिर्धा
पुरुषादाकाशो यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाशः।।७।।

अयं स योऽयमन्तः पुरुष आकाशो
यो वै सोऽन्तः पुरुष आकाशः।।८।।

अयं स योऽयमन्तर्हृदय आकाशस्तदेतत्पूर्णमप्रवर्ति
पूर्णमप्रवर्तिनी श्रियं लभते य एवं वेद।।९।।

मन्त्रत्रयमेकार्थम् अभिप्रायोऽयं यत् दिवि वर्तमानं त्रिपादविभूतिमद्ब्रह्म इदं शुद्धं तद् ब्रह्म अंशांशिनोरभेदात्। अयं परमेश्वरः आकाशः '**आकाशस्तल्लिङ्गात्।।** (१-१-२३ ब्र.सू.) पुरुषात् बहिर्देशे यः आकाशः रिक्तस्थानविशेषः सोऽपि ब्रह्मरूपएव यः बाह्याकाशो ब्रह्मरूपः स एव पुरुषस्य अन्तराकाशः शरीरेऽवकाशरूपः, यः शरीरावकाशरूपोऽन्तराकाशः सोऽपि ब्रह्मभूत एव, यश्च अन्तराकाशः स एव तदभिन्न एव हृदयाकाशः अयमेव पूर्णब्रह्मान्तरङ्गत्वात् पूर्णम्, अप्रवर्ति शरण्यम् शरणागतान् न प्रवर्तयति तच्छीलं। यः एवं वेद स अप्रवर्तिनीं भक्तपुनरावर्तभंगकारिणीं श्रियं शोभां लभते प्राप्नोति।।श्रीः।।

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये द्वादशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।

अथ त्रयोदशखण्डः

पूर्वस्मिन् खण्डे गायत्रीद्वारकं ब्रह्मोपासनं प्रतिपादितं तद्ब्रह्म हृदयसिंहासनमधितिष्ठतिमहाराज इव यथा महाराजदर्शनाय प्रतिहाराणाम् आनुकूल्यम् नहि दौवारिकान् विरुध्य तैर्वा प्रतिषिध्यमानः कोऽपि राजानं द्रष्टुं क्षमः। तथैवात्रापि हृदयं सर्वतः पञ्चचक्षुःश्रोत्रवाङ्मनोहृदयरूपाणि तत्र प्राणव्यानअपानसमानोदानाः पञ्चवायवः समधिश्रिताः, यथाक्रममादित्ययमोऽग्निचन्द्रपर्जन्यचैत्याः देवाः समधितिष्ठन्ति। इम एव हृदयरूपपिण्डस्वर्गलोकमंगलमयमंदिराधिष्ठितपरमात्ममहाराजप्रतिहारा उपासिताः परमेश्वरविभूतित्वेन तत्प्राप्तिसहायकाः नोपासिताश्चेत् व्यवधायकाः। नहि भक्तविरोधे भगवत्परितोष इति परमात्माङ्गत्वेन पञ्चसुषिहृदयस्थब्रह्मोपासनं निर्देष्टुं तस्येत्यादिना मन्त्राष्टकेन खण्डोऽयमारभ्यते—

तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य
पञ्चदेवसुषयः स योऽस्य प्राङ्सुषिः ।
स प्राणस्तच्चक्षुः स आदित्यस्तदेतत्तेजोऽन्नाद्य-
मित्युपासीत तेजस्व्यन्नादो भवति य एवं वेद।।१।।

तस्य पूर्वं प्रतिपादितस्य गायत्र्यासमुपासनीयस्य ब्रह्मणः एतस्य अत्यन्त संनिधीयमानस्य अनन्तरं तदङ्गोपासनं वर्ण्यते। हृदयस्य परमेश्वरमंदिररूपस्य द्वारपाला

इव पञ्चदेवसुषय: पञ्चसंख्याका: चक्षु:श्रोत्रमनोवाक्हृदयरूपा: देवै: अधिष्ठिता: सुषय: रन्ध्रविशेषा: **सुषि: छिद्रं च रन्ध्रं च** इति वैष्णवकोष:। अस्य हृदयस्य य: प्राङ्सुषि: पूर्वाभिमुखं छिद्रं स: प्राण: तच्छिद्रसंसारी मुखनासिकाभ्यां निर्गमनशीलोवायुविशेष:। प्राक् अनिति नि:श्वशिति इति प्राण:। तच्छिद्रं चक्षूरूपं भौतिकं स एव आदित्य: सूर्य: इदम् आधिदैविकं रूपं तत् एतत् शरीरस्थं तेज:। अन्नाद्यम् अन्नादि पाचकं शरीरधारकं च। य: एवं वेद प्राक्द्वारपालभूतं चक्षुर्गतप्राणमयमादित्यं तेजोरूपं भगवत् प्राप्तिसहायतयैतद्विभूतितयासमुपास्ते **ज्योतिषांरविरंशुमान्**(गीता १०-२२) इतिस्मृते:। उपासीत भजते स एव तेजस्वी भजन् तेज:समन्वित:, अन्वाद: अन्नभोक्ता भवतीति गौणे फले मुख्यं तु परमेश्वरप्राप्तिरेव अतोऽस्मत्पूज्यचरणतुलसीदासमहाराज: सूर्यं समुपास्य श्रीरामभक्तिमेव याचते—

दीनदयाल दिवाकर देवा ।
कर मुनिमनुजसुरासुर सेवा ।।

हिमतमकारि केहरिकर माली ।
दहनदोष दु:खदुरितरूजाली ।।

कोककोकनद लोक प्रकाशी ।
तेज प्रतापरूपरस रासी ।।

सारथि पंगु दिव्यरथगामी ।
बिधिसंकर हरिमूरतिस्वामी ।।

वेद पुरान प्रगट जस जागे ।
तुलसी रामभक्ति वरमांगे ।।श्री ।।

(विनयपत्रिका-२)

अथ दक्षिणसुषिसमुपासनं निर्दिशति अथेत्यादिना—

अथ योस्य दक्षिण:
सुषि: स व्यानस्तच्छोत्रꣳ स
चन्द्रमास्तदेतच्छ्रीश्च यशश्चेत्युपासीत्
श्रीमान्यशस्वी भवति य एवं वेद ।।२।।

अथ पूर्वशुष्युपासनानन्तरमस्य परमात्मनः धामभूतस्य हृदयस्य यः दक्षिणः सुषिः दक्षिणादिक् विभागे छिद्रं सः व्ययानः तत्र स्थितः व्यानवायुः विशेषणः। अनिति कर्मभ्यो जीवान्प्रेरयति तथाभूतः, तत् श्रोत्रं श्रवणनामकं रन्ध्रं स चन्द्रमा तदभिन्नतया चन्द्रमोऽधिष्ठिता तत्र श्री भगवद्भक्तिरूपा य सः भागवतेषु कीर्तिः। यः इत्थं धारयन्नुपास्ते स श्रीमान् प्रशस्तश्रीसंपन्नः यशस्वी कीर्तिमांश्च भवति। चन्द्रमसो भगवद्दासभूतत्वात् तदुपासने सति भगवत्प्रीतिजननेन साधकाय भगवत्प्राप्तिसौकर्यमिति भावः। यथोक्तं मानसे हनुमता—

कह हनुमतं सुनहु प्रभु ससि तुम्हार प्रियदास।
प्रभुमूरति बिधु उर बसति सोइ स्यामता अभास।।श्रीः।।

(मा. ६.१२ क)

अथ पश्चिमसुष्युपासनं वर्णयति—

अत योऽस्य प्रत्यङ् सुषिः
सोऽपानः सा वाक्सोऽग्नि-।
स्तदेतद्ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यमित्युपासीत
ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति य एवं वेद।।३।।

अथ अस्य भगवल्लोकद्वारभूतस्य हृदयस्य यः प्रत्यङ् सुषिः पश्चिमरन्ध्रविशेषः स अपानः तत्र अपानवायुः संचरति, अपकृष्य अन्नादीन् अनिति इत्यपानः। सा वाक् तच्छिद्रपरिणमनभूतावाणी सः अग्निः हुतशनः आध्यात्मिकरूपमेतस्य। तत् ब्रह्मवर्चसं ब्रह्मणः वर्चः ब्रह्मवर्चसं **ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः** इत्यनेनाऽच्प्रत्ययः। ब्राह्मणतेज इति भावः। अत्तुं योग्यम् आद्यमन्नमेवाद्यम् अन्नाद्यं भक्षणर्हमन्नम् इति धारणामिमां मत्वा उपासीत भजेत। यः एवं वेद यथोक्तमुपासते सः ब्रह्मवर्चसी अतिसयेन ब्रह्मवर्चोयुक्तः अन्नाद्यः श्रेष्ठान्नयुक्तो भवति, अग्नेरेव द्वयोः निदानभूतत्वात्।।श्रीः।।

अथोत्तरसुष्युपासनं वर्णयति—

अथ योऽस्योदङ् सुषिः
स समानस्तन्मनः स पर्जन्यस्तत-
देतत्कीर्तिश्च व्युष्टिश्चेत्युपासीत्
कीर्तिमान्व्युष्टिमान् भवति य एवं वेद ।।४।।

अस्य भगवत्पर्वमस्य हृदयस्य यः उदङ्सुषिः उत्तरछिद्रं स समानः तत्राधिष्ठितः समानवायुः समं यथास्यात्तथा विषमभोजनं समीकृत्य अनिति जीवतीति समानः, तन्मनः तत् परिणामभूतं स्वान्तमाधिभौतिकं रूपं, स पर्जन्यः स एवाधिदैविको वर्षामेघः अत्र कीर्तिः व्युष्टिः कान्तिः विशिष्टा कान्तिः तथा च वशकान्तौ इत्यस्मात् वशनम् उष्टिः इति विग्रहे भावे क्तिन् प्रत्यये सम्प्रसारणे पूर्वरूपे एत्वे ष्टुत्वे उष्टिः कान्तिः विशेषा उष्टिः व्युष्टिः, य एवं वेद उपास्ते स प्रशस्तकीर्तिः नित्यकान्तिसम्पन्नो भवति इति मन्त्रर्थः।।श्रीः।।

अथोर्ध्वसुष्युपासनं प्राह—

अथ योऽस्योर्ध्वः सुषिः
सु उदानः स वायुः स ।
आकाशस्तदेतदोजश्च महश्चेत्युपा-
सीतौजस्वी महस्वान्भवति य एवं वेद ।।५।।

अस्य भगवदालयस्य हृदयस्य यः ऊर्ध्वसुषिः उपरितनोरन्ध्रभागः स उदानः तदभिन्न उदानवायुः, ऊर्ध्वम् अनतीत्युदानः स एव आकाशः तदभिन्नोवायुः। यद्यपि अन्यत्र तच्छोत्रं तच्चक्षुः सा वाक् तन्मनः इति चतुर्ष्वपि स्थानेषु पूर्वं सुष्याकाराः निर्दिष्टाः पश्चात् यथाक्रमम् आदित्यचन्द्राग्निपर्जन्याः देवाः निर्दिष्टाः अत्र पाठव्यतिक्रमः पूर्वं देवनिर्देशः पश्चात् रन्ध्रस्थानं तथापि शब्दक्रमात् अर्थक्रमोबलीयान् इति निमेयेन पूर्वशरणिमनुसरतैव मया व्याख्यातम्। नहि स्थानमतिरिच्यदेवास्तिष्ठन्ति अत्राकाशपदं हृदयकुहरपरम् एवम् ओजः शारीरिकं बलं महः आध्यात्मिकशक्तिः द्वयोरपि प्रापकं मत्वा उपासीत्, एवमुपासीनः ओजोमहोयुक्तोभवतीति शब्दार्थः। इत्थं नेत्रश्रवणवाङ्मनोहृदयकुहरेषु प्राणव्यानापानसमानोदानसंयुक्तेषु सूर्यचन्द्राग्निपर्जन्यवायुसमधिष्ठितेषु यथोक्तमाध्यात्मिक-शक्तीः संकलयन् प्रसाध्य पञ्चापिदेवान् भगवति पञ्चविभूतिमये निरतिशयभजनरसमनुभवन् भवभयमतितितीर्षति जीवः।

ना प्रसाद्यसुरानेतान् हरेर्मायामहानदीम् ।
अतितर्त्तुं कदापीष्टे विना नौकामिवापगाम् ।।

यतोक्तं श्रीमानसे—

इन्द्रियद्वारझरोखे नाना। जहँतहँ सुर वैठेकरिथाना।।
आवतदेखहिं विषयबयारी। ते हठि देहि कपाट उघारी।।श्रीः।।

(मा.. ७-११८-११-१२)

ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपाः स य एतानेवं पञ्चब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वेदास्य कुलेवीरो जयते प्रतिपद्यते, स्वर्गं लोकं य एतानेवं पञ्चब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वेद।।६।।

एते इमे ते श्रुतिप्रसिद्धाः पञ्चदेवपुरुषाः देवस्य परमात्मनः अनुचराः पुरुषाः देवपुरुषाः सूर्यचन्द्रपावकपर्जन्यवायवः भगवतः परिकराः तथाहि सूर्यः प्रकाशस्य, चन्द्रमा ओषधिपोषणस्य, अग्निर्दहनकर्मणः पर्जन्यो वर्षायाः। वायुश्च संजीवनस्य इमे भगवद्विभूतयोऽपि यथा सूर्यः **'ज्योतिषां रविरंशुमान्'** (गता. १०-२०) चन्द्रं **नक्षत्रोणमहं शशी** (गी. १०-२३) अग्निः **वसूनां पावकश्चास्मि** (गी. १०-२३) मनः **इन्द्रियाणां मनश्चास्मि** (गी. १०-३२१) वायु पवनः पवतामस्मि (गी. १०-३१) स्वर्गस्य लोकस्य साकेतस्य लोकस्य स्वः स्वर्गादिदेवलोकेषु गायते इति स्वर्गः, तस्य स्वर्गस्य साकेतस्य भगवल्लोको हि स्व र्गीयैरपि देवैर्गीयते। द्वारं पान्तीति द्वारपाः जयविजयाविव प्रतिहाराः एवम् एतान् आदित्यादीन् स्वर्गलोकस्य द्वारपालकत्वेन य उपास्ते तस्य कुले वीरः जायते षड़विकारजेता संभवति, स्वर्गं लोकं च प्रतिपद्यते। अमीषामप्यनुग्रहेण निरस्तभजनप्रत्यवायो भगवल्लोकमाप्नोतीति श्रौताशयः।।श्रीः।।

हार्दब्रह्मव्यापकब्रह्मणोः पिण्डब्रह्माण्डगतब्राह्मणोर्वा व्याकरोत्येकताम्—

अथ यदतः परो दिवो
ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु
सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं
वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः ।।७।।

अथ पञ्चाद्वारपालदेवपुरुषोपासनानन्तरं सकलकारणभूतसर्वाराध्यसर्वाध्यक्षसर्वेश्वर-श्रीसीताराममयब्रह्मोपास्यत्वेन विविच्यते। अतः अस्याः दिवः द्योतनशीलायाः अपराजितायाः साकेतपुर्याः परः उत्कृष्टः परीभूतस्तत्स्वामी साकेताधिपतिः श्रीसीताभिरामो रामः स एव इदम् अकारो वासुदेव। तस्य अपत्यं पुमान् इः—

भत्वेनाकारलोपेऽपि प्रत्यये ह्युभयार्थता ।
वर्ण्यते शब्दरसिकैर्वैयाकरणसम्मता ।।

इति वैष्णवस्मृतिः। तम् इं कामं द्यति खण्डयति इतीदं संसारवासनाखण्डनशीलं, ज्योतिः भाः विश्वतः पृष्ठेषु विश्वेषामुपरि तत्स्थानां प्राणिनां सूचनार्थमाह-सर्वतः पृष्ठेषु सर्वतः सर्वेषाम् अत्र तसिः षष्ठ्यर्थेः। सकलाजीवानामपि पृष्ठेषु ब्रह्मदीनामपि महत्तमानामप्युपरितनभागेष्वित्यर्थः। यत्तु विश्वतः पृष्ठेषु इत्यस्य सर्वतः पृष्ठेषु इत्यनुवादः इति प्राहुः प्राञ्चस्तन्मतिदौर्बल्यजनितसमाधानाभावप्रसूतधारणया। वस्तुतस्तु भगवल्लोकः विश्वेषां लोकानामुपरि एतद् सूचनाय विश्वतःपृष्ठेषु चतुर्दशभुवनातीतोऽयमित्यर्थः। किमिमं ध्रुवादयो महत्तमास्प्रष्टुं शक्ताः इति निषिद्धयन्ती प्राह— सर्वतः पृष्ठेषु सर्वेषां ध्रुवादीनामप्युपरितनभागेषु, उत्तमेषु उच्छ्रितं तमं उत्खातं वा तमविद्यातत्कारिरूपं ध्वान्तं यैस्ते उत्तमाः तेषु उत्तमेषु निरस्तान्धकारेषु। तथोक्ततं श्रीभागवत्ते प्रथमे **धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकम्** (भागवत १/१/१)।

किम् एतेभ्यः केचनापरेप्युत्तमाः? इति शङ्कां परिहरति, अनुत्तमेषु न सन्त्यन्ये ब्रह्मलोकदयः उत्तमाः येभ्यस्ते अनुत्तमाः तेषु अनुत्तमेषु लोकेषु आदरार्थे बहुवचनं, श्री साकतेलोके यद् ज्योतिः दीप्यते तदेव साधकस्य अस्मिन् हृदयरूपेऽपि अन्तःपुरुषे अन्तः स्थितः पुरुषः यस्मिन् तदन्तः पुरुषः तस्मिन् हृदये ज्योतिर्दीप्यते हृदयस्य साकेतस्थज्योतिषोर्मध्ये न किञ्चिदन्तरमिति श्रुतिविवक्षितम्।।श्रीः।।

अथ एतस्मिन् ज्योतिषि दर्शनश्रवणे सापेक्षं प्रत्यक्ष्यं प्रमाणमाह—

तस्यैषा दृष्टिर्यत्रैतदस्मिञ्छरीरे सः स्पर्शेनोष्णिमानं
विजानाति तस्यैषा श्रुतिर्यत्रैतत्कर्णावपिगृह्यनिनदमिव ।
नदथुरिवाग्नेरिव ज्वलत उपशृणोति तदेतद्दृष्टं च श्रुतं
चेत्युपासीत् चक्षुष्यः श्रुतो भवति य एवं वेद च एवं वेद ।।८।।

तस्य हृदयस्थस्य ज्योतिषः एषा दृष्टिः इदं दर्शनं इदं ज्ञानं वा प्रमाणं यद् अस्मिन् शरीरे संस्पर्शेण उष्णिमानम् उष्णतां विजानाति, कस्य चित् शरीरस्पर्शेनैव तस्य उष्णतया अयं जीवतीति तर्कयति, शीतलतया च मृतज्ञ इत्यवधारयति। उष्णता च ज्योतिः परिणामः येन जीवसत्तानिश्चीयते। एषा दृष्टिः एवमेव एषा श्रुतिः। श्रवणप्रमाणमाह यत् कोऽपि कर्णौ पिधाय अंगुल्याततद्द्वारं रुद्ध्वा नदथुः वृषभस्वर इव किमपि निनदं

शब्दं शृणोति, ज्वलतः दन्दह्यमानस्य तृणादिकं दहतः अग्नेः धम् धम् इव किमपि उपशृणोति, य एवं वेद सः चक्षुष्यः भगवद्दर्शनसामर्थ्ययुक्तनेत्रः श्रुतः भगवत्कथा-श्रवणपाटवसम्पन्नः भवति।

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये त्रयोदशखण्डे श्री राघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

अथ चतुर्दशःखण्डः

चतुर्वक्त्रसुताराध्यं चतुर्वर्गफलप्रदम्।
चतुश्शत्रुविनाशाय चतुर्थं ब्रह्म भावये।।१।।

चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च त्रिभिस्त्रिभिः।
चतुर्भिर्भावितो रामश्चतुर्यो मे हरिर्गतिः।।२।।

चतुर्दशसमारण्य शरण्यः सीतयाव्रत-।
श्चातुर्दशवधाभ्यासी चतुरश्चतुरो द्यतु।।३।।

चतुर्दशेऽस्मिन् शकले चतुर्थं ब्रह्मनिष्कलम्।
चातुरी त्वरया रीत्या चतुर्भिर्मन्त्रकैर्नुतम्।।४।।

भक्त्याचार्यस्तु शाण्डिल्यः, शाण्डिल्यं स्थाण्डिलेशयम्।
सर्वभावनयोपास्यं ब्रह्मरामाभिधं जगौ।।५।।

तत्र हि प्रथमे मन्त्रे सर्वव्यापकतां विभोः।
प्रतिपाद्य यथाशास्त्रं तदुपास्तिर्विधीयते।।६।।

त्रिभिर्मन्त्रैः पुनस्तस्य ताटस्थ्येन स्वरूपतः।
लक्षणेनाथ संल्लक्ष्य ब्रह्मोपास्यत्वमीरितम्।।७।।

परमार्थस्तु न ज्ञानं श्रेयसां भक्तिरित्यतः।
ज्ञानानन्तरमप्यस्मात् श्रुतिर्गायत्युपासनाम्।।८।।

उपासना तु भेदे स्यात् नैवाभेदे कथंचन।
तद्विधित्वादिहानेन ध्वस्तमद्वैतमञ्जसा ।।९।।

अद्वैतवाददुर्मर्षकालकूटार्दनं बुधैः।
श्रीराघवकृपाभाष्यपीयूषं पीयतामिह ।।१०।।

नैवद्वेषो विरोधो मे नैव पूर्वाग्रहो मम।
श्रुत्यक्षरविचारोऽत्र विवेकेन विविच्यते ।।११।।

सर्व खल्विदं ब्रह्म तज्जलानीति शान्त उपासीत
अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिंल्लोके ।
पुरुषो भवति तथेतः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिल्लोके
पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्यः भवति स क्रतुं कुर्वीत ।।१।।

इदम् सर्वम् ब्रह्म खलु तज्जलानि इति शान्तः उपासीत एषः मन्त्रपूर्वार्धान्वयः। इदं प्रत्यक्षीभूतम् चराचरं जगत् ब्रह्म ब्रह्मात्मकम्, अथवा इदम् एः कामस्य खण्डकं ब्रह्म सर्वसर्वेश्वरं श्रीरामाभिधं परतत्वं सकलब्राह्मणशीलं ब्रह्म सर्वं सर्वत्र। ननु सर्वमित्यस्य सर्वत्रेति कथमर्थः? अत्र सुस्पष्टं ब्रह्मसमानाधिकरणारूपसर्वमिति प्रथमाविभक्तिश्रवणात्। तस्याश्च क्वाप्यधिकरणवाचकत्वाश्रवणादिति चेत् सत्यं सर्वमिति सप्तम्यन्तमेव कथमिति चेत् सर्वेषु इति सप्तमीबहुवचनान्तस्य छान्दसं रूपमेतत् सुपः **सुपां सुलुक्** पा. अ. ३-३ इत्यनेन स्वादेशे तस्य 'अतोऽम्' इत्यमि पूर्वरूपे सर्वमिति। न च 'अतोऽम्' इत्यस्य प्रथमाद्वितीयायामेव प्रवृत्तेस्त्वत् साधितं रूपं सप्तम्यन्ते नोपपद्यत इति वाच्यम्? 'स्वमोर्नपुंसकात्' इत्यस्मात् अम् विधायके स्वमोरनुवृत्तो शास्त्रसम्मतायां सत्यामपि तत्र प्रथमा द्वितीययोरेव प्रवृतौ मानाभावात्। सोश्च ततोऽपीतरविभक्तिषु दर्शनादेशतया त्वच्छङ्कानिर्मूला। एवं **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** इति श्रुतिशकलस्य सर्वेषु प्राणिषु विषयतया उपश्लिष्टतया च विराजमानम् इदं श्रुतिप्रसिद्धं ब्रह्म खलु, निश्चयेन विभाति इति फलितार्थः। प्रमाणं चास्मिन् व्याख्याने भगवद्वाक्यमेव—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।।

(गीता ५-१८)

ननु परतः प्रामाण्यसूचकस्मार्तवाक्यं दुर्बलं श्रुत्यपेक्षया? सत्यं श्रुत्यन्तराण्यपि प्रमाणानि तद्यथा एष सर्वेषु **भूतेषु गूढोऽत्मा न प्रकाशते दृश्यते त्वग्र्यया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः** (कठ, १-३-१२) तिलेषु तैलं दधिनीव सर्पि (श्वेता. ६-१९) **सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा** (श्वेत. ६-१२) इत्यादीनि। तथा प्राह मानसकारोऽपि

ज्ञान मान जहँ एकउ नाही।
दीख ब्रह्म समान सब माही।।

(मानस ३/१५/७)

तत्सर्वत्रवर्तमानं सर्वात्मकं वा ब्रह्म कथमुपासनीयमिति जिज्ञासायामाह—तदित्यादि शान्तः, शान्तभजनप्रत्यवायरूपबहिरङ्गवृत्तिसमुदायः नित्यशान्तियुक्तो वा, कथमुपासीत? ज्ञात्वा, किं प्रकरकं तज्ज्ञानम्? इति स्पष्टयति—तज्ज्लानि तच्छब्देन पूर्वं चर्चितः सर्वम् इति शब्दः परामृश्यते तस्मात् ब्रह्मणः सकाशादजायत इति तज्जं तस्मिन् ब्रह्ममण्येव महाप्रलये लीयते श्लिष्यते इति तल्लं तेन ब्रह्मणा करणीभूतेन पात्यमानं सत् अनिति जीवति इति तदन् तथा च तज्जं च तल्लं च तदनंचेति तज्जलान् त्रयाणां समाहारे एकवद्भावे बाहुलकात् तच्छब्दद्वयलोपे तज्जलानि सर्वमिदं जगत्। अत एव ब्रह्मात्मकं, यतोहि तस्मात् जायते तस्मिंल्लीयते तेनानति च एवं जगत्प्रतिजन्मस्थितिभंगहेतुतया ब्रह्मणस्तदात्मकता सुवचैव **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।** (तै.उ.ब्र.ब. १) इति श्रुतेः। एवं सर्वमिदं ब्रह्महेतुतयैव जन्मस्थितिसंहरणवत्तया ब्रह्मबुद्ध्यैवसमुपास्यमिति श्रुतेर्हार्दम्। इति शब्दोत्र समवधारणपरः, एवं रूपेण समवधार्येतिभावः। उपासीत उपासनाविषयं विदधीत सेवकसेव्यभावसंबन्धेन चराचरमपि ब्रह्मबुध्यैव भजेत इत्याशयः। सर्वमिदं ब्रह्मात्मकतया ज्ञात्वा ततो भगवन्तं भजनविषयं कुर्यात्। इत्यनेन ज्ञानस्य चरमलक्ष्यतापरास्ता। वस्तुतस्तु भगवद्भजनानन्द एव। जीवस्य चरमतलक्ष्यमिति राद्धान्तः।

उपासनं भेदबुद्धिसापेक्ष्यं तच्च शरीरनिर्भरं शरीरं च संकल्पजन्यं पूर्वजन्मसंकल्पभवा हि भावः शरीरग्रहणे हेतुः तस्मात् सत्संकल्पप्रभवशरीरं नभगवद् भजनोपयोगि तस्मात् सत्संकल्पकरणाय विधिमुखेन श्रुतिर्निर्दिशति, अथेत्यादिना-खलुशब्दोऽत्रवक्तव्ये निःसंदेहसूचकः पुरुषः पुरुषार्थपथपान्थः जीवः क्रतुमयः संकल्परूपः अस्मिँल्लोके पुरुषः जीवः यथाक्रतुः यादृक्संकल्पवान् भवति यथासंकल्पेन कलेवरं जहाति इति भावः। इतः प्रारब्धक्षये अस्माँल्लोकात् तथा क्रतुः तादृक्संकल्पानुरूपशरीरवान्

शरीरवान् भवति सत्संकल्पकारी हि: गृहीतसच्छरीर: सत्सङ्गगङ्गातरङ्गनिरस्त भगवद्भजनप्रत्यवायपादप: प्रभुपदपल्लवं प्रपद्यते। असत्संकल्प: सूकरकूकरादि-योनिषु चिरं भ्राम्यन् भीषणभवदवाग्निना दन्दह्यते। अत: स साधक: क्रतुं कुर्वीत् भगवद्भजनानुरूपसंकल्पं विदधीत इतिविधि:। अयमेवार्थो भगवता श्रीगीताषूप बृंहित:—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः।।
यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।।श्रीः।।

(गीता. ८।५।६)

भूय: परमेश्वरस्वरूपं यत्किंचित्तया विवृणोति—

मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः
सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा
सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः
सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः ।।२।।

अथ य: निखिलचराचरव्यपक: स: सर्वविश्रुतपौरुष:, किं रूप इति द्वादशविशेषणै: स्वरूपं लक्षयति— स: परमेश्वर: मनोमय:, ननु विरुद्ध एष निर्देश: काठके अयमेव परमात्मा मनोरहित इति पठित:। तथा च अप्राणोह्यमनाशुभ्र: (कठ. १-३-१) अप्राण: अमना: कथं मनोमय: प्राणशरीरो भवेत्? इतिचेन्न तस्य सकलासंभवमयत्वात् तथा चाह श्रुति: **अपाणिपादोजवनोगृहीतां** (श्वे.उ. ५.१९) भगवतश्च एककालावच्छेदेन एकाधिकरणनिष्ठसकलविरुद्धधर्माश्रयतावच्छेदकता स्वीकारात्। अथवा अप्राण: अमना इत्यत्र प्रयुक्तो नञ् समाससूचकाकारो न निषेधपर:, प्रत्युत अनुपमाव्यक्तार्थवाची। एवम् अनुपमा: अव्यक्ता: वा प्राणा: यस्य सोऽप्राण: एवमेव अनुपमम् अव्यक्तं वा मनो यस्य सोऽमना: भगवतोमनस: वैलक्षण्यं मानसकारोऽपि आह—

कुलिसहु चाहिकठोर अति कोमलकुसुमहि चाहि।
चित्तखगेस रामकर समुझि परइ कहु काहि।।

(मा.उ. १९ ख)

अनया व्युत्पत्या विरोधपरिहारः। अथवा मनोमयः इत्यत्र मयट् प्रत्ययः, स्वरूपार्थे पुल्लिंगता च विशेष्यानुरोधिनी, एवं मन एव मनोमयः मनोऽपि भगवद्विभूतित्वात् तत्स्वरूपमेव तद्यथा—इन्द्रियाणां मनश्चास्मि (गीता. १०-२१) एवं भगवतो मनोरूपत्वे तन्मनोऽभाववत्वे च न विरोधः। अथवा अपूपमय इत्यादिवत् **तत् प्रकृतिवचनेमपट्** इत्यनेन सप्तम्यर्थे मयट्। तथाहि मनांसि तच्चरणकमलसमुपासकानां कोटिकोटि मनोभ्रमराः सन्ति यस्मिन् प्राचुर्येण इतिमनोमयः, भगवतः स्वनिरूपितमनोभाव-सूचनाय अमनाः इति। परन्तु तत्र शत् शत् भागवत परमहंस मनोभृंगसद्भावसूचनाय मनोमय इति। तथोक्तं केनचिद्भक्तेन—

रत्नाकरस्तवगृहं गृहिणी च पद्मा
किं देयमस्ति भवते जगदीश्वराय ।
आभीरवामनयनाहृतमानसाय
दत्तं मनो यदुपते कृपया गृहाण ।।

अथवा भक्तभावनापरिपालनाय निरस्तनिखिलदूषणं भूषणभूषणं निरतिशय-सकलकल्याणगुणगणनिलयं सगुणसाकारं वपुर्दधानो भगवान् निजलीलोपकरणार्थं नूतनं मनोऽपि विदधाति।

तद्यथा रिरंशुर्गोपीभिः प्रभुः नूतनं मनोरचयति— अतः प्राह भागवते वीक्ष्यरन्तुं मनश्चक्रेयोगमायामुपासितः ।

(भागवत १०-२९-१)

अमना अपि भगवान् शरदोत्फुल्लमल्लिकाः स्वस्मै सर्वस्वं समर्पयन्ती श्री व्रजाङ्गनाः विलोक्य ताभिः सह रन्तुं मनः चक्रे रचयामासे। कथं रचितवान्? इत्यत आह— योगमायामुपाश्रितः। यतोहि स परमात्मा अघटितघटनापटीयसीयोगमायाम् उपाश्रितः तया सह समन्वयेन लब्धरचनासामर्थ्यो निजरमणानुकूलं मनो व्यधात्। चक्रे इति आत्मनेपद प्रयोगस्य तात्पर्यमेवैतत् ञकारानुवन्धकोहि डुकृञ्धातुः निर्माणानुकूलव्यापारार्थोऽपि, कुम्भकारो घटं करोतिवत्। अथवा गत्यर्था ज्ञानार्था इति नियमात् मनसा निजसंकल्पेन मयति चराचरं जानाति इति मनोमयः। भगवान् हि स्वसंकल्पेन चराचरं जानाति **'सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यज्ञानमयं तपः'** इति श्रुतेः। **'उत्पत्तिं च विनाशञ्च भूतानामगतिं गतिं वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवान् इति'**। इति

स्मृतेः। अथवा मनसा निजसंकल्पबलेनैव छन्दोमयेन गरुडेन मर्याति गच्छतीति मनोमयः भगवान हि भक्तेन स्मृतमात्रः समातुरः तत्र गच्छति। यथोक्तं श्री भागवते गजेन्द्र- मोक्ष प्रकरणे—

तं तद्वदार्त्तमुपलभ्य जगन्निवासः
स्तोत्रं निशम्य दिविजैः सहसंस्तुवद्भिः ।
छन्दोमयेन गरुडेन समुह्यमानश्
चक्रायुधोऽभ्यगमदासु यतो गजेन्द्रः ।।

(भगवत ८-३-३१)

अथवा मनसा निर्मलशान्तेन स्वान्तेन मीयते दृश्यते अवगम्यते इति मनोमयः 'मनसैवानु द्रष्टव्यम्' इति श्रुतेः।

निर्मल मन जन सो महि पावा।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा।।

मानस ५-४४-५

इति मानसात्। प्राणशरीरः प्राणः सकलप्राणिनामुपजीव्यः शरीरः श्रीविग्रहः यस्य स प्राणशरीरः **स उ प्राणस्यप्राणः** केन उपनिषद १-२। अथवा प्राणः विशुद्धचेतनघनशरीरं यस्य तथाभूतः जीवात्मा **'यस्मात्मा शरीरम्'** इति शतपथब्राह्मणात्। **जगत्सर्वं शरीरं ते** इति श्रीमद्रामायणे ब्रह्मसम्बन्धः साधित। चिदचिती प्रत्यगात्मप्रकृती, शरीरे विशेषणे च भगवतः ताभ्यां चिदचिद्भ्यां विशिष्टमद्वैतं विशिष्टाद्वैतमित्येव नो राद्धान्तः। अथवा प्राणः ओंकारः वाचकतया शरीरः अक्षराकारः यस्य स प्राणशरीरः 'प्राणस्तु प्रणवे प्राणेइति कोशात्। प्रणवो हि प्राणः सोऽपि भगवद्विग्रहश्रीरामश्रुतौ तस्मादेव चतुर्णां भ्रातृणां श्रीरामभरतलक्ष्मणशत्रुघ्नानां सम्भवनिदर्शनात्। **अकाराक्षरसम्भूतः सौमित्रिर्विश्वभावनः। उकाराक्षरसम्भूतः शत्रुघ्नस्तैजसः स्मृतः। प्राज्ञात्मकस्तु भरतो** मकाराक्षरसम्भवः अर्धमात्रास्थितोरामः सच्चिदानन्दविग्रहः। भारूपः भा ज्ञानं तदेवरूपं यस्य स भारूपः विशुद्धज्ञानघन इति भावः। अथवा भाति परमेश्वरप्रेम-रविरश्मिरोचिषा कौमुदीव भक्तहृदयगगने या सा भा भगवद्भक्तिः तया भया भक्तिरूपया रूप्यते बोध्यते यः सः भारूपः। भक्त्या हि भगवान् सामग्र्येण ज्ञातुं शक्यते। **भक्त्या त्वनन्यया शक्य** अहमेवंविधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन वेष्टुं च परंतप।। गी. ११-

५४ **भक्त्यामामभिजानाति यावान्यश्चाश्मि तत्वतः** गी. १८-५५ इति स्मृति प्रामाण्ययुगलनिदर्शनात्। सत्यसंकल्पः लीलाचिकीर्षाव्यापारः यस्य स सत्यसंकल्पः, अथवा सद्भ्यो महात्मभ्यो हितः कल्याणकारीसंकल्पः लीलाकरणनिश्चयो यस्य स सत्यसंकल्पः। आकाशात्मा नीलो गम्भीरो निर्लेपः व्यापकः करुणाकादम्विनीमण्डितः दीनानुग्रहनभस्वता समुपेतः आत्मा स्वरूपं यस्य स आकाशात्मा। यथा आकाशे समवकाशदातृत्वं तथैव अनन्तकोटिब्रह्माण्डनिलयभूतं भगवतः श्रीरामस्य प्रत्येकं रोम। यथा आकाशे उषायां सायं च भास्करकिरणाः पीताः तथैव भगवति विराजमानं कट्यवच्छेदेन बालदिवाकरसौदामिनीद्युतिविनिन्दकं पीताम्बरम्। यथाकाशे नक्षत्रापि तथैव भगवत्याभूषणानि, यथा नभसि चन्द्रमाः तर्थवात्र कोहि कोटि शरच्छशांक विनिन्दकं भगवदाननम्। एवमेव बहवः पक्षाः ऊह्याः। सर्वकर्मा— सर्वाणि श्रुति विहितानि नित्यनैमित्तिकप्रायश्चितोपासनानि कर्माणि यस्मै यदर्थं निर्दिष्टानि स सर्वकर्मा। सर्वकामः-सर्वे कामाः मनोरथाः यस्य यस्मै वा स सर्वकामः, अथवा सर्वैरपि सुरासुरैरपि काम्यते दर्शनेच्छाविषयः क्रियते स सर्वकामः, भगवान् हि चराचर दिदृच्छाश्रयः। किं बहुना अचेतना अपिं सरोवरसरितः भगवन्तं परिचित्य मार्गं ददति। दण्डकविपिन-विहारिणः श्रीहरेः चण्डातपस्य घर्मवारणाय मेघोऽपि स्ववपुश्छत्रेन छायां करोति रघुपतेः। यथा—

सर सरिता बन अवघट घाटा।
पति पहिचानदेहि बर बादा।।
जहँ जहँ जाहिं देव रघुराया।
करहिं मेघ तहँ तहँ नभ छाया।।

मानस ३।४-५

सर्वगन्धः— गन्धशब्दोऽत्र सुगन्धवाची, सर्वे गन्धाः सुगन्धाः उपभोग्यतया सन्ति यस्य य सर्वगन्धः, अथवा सर्वेषाम् उपासकानां पूजनार्थं प्रयुक्तः गन्धः यस्मै स सर्वगन्धः, अथवा गन्धो **रसे च सम्बन्धं इति कोशात्।** गन्धशब्दः सम्बन्धवाची, एवं सर्वैः चराचर—प्राणिभिः सहः गन्धः सम्बन्धः। यथोक्तं कैकेयीं प्रति भरतेन—

अस को जीव जन्तु जग माही।
जेहि रघुनाथ प्रान प्रिय नाही।।

मानस २-१६३-६

सर्वरसः— सर्वे रसाः स्वादाः यस्मै यस्मिन् वा सन्धाः सर्वरसः, वस्तु-तस्तु सर्वे गन्धाः यस्मात् स सर्व गन्धः सर्वेरसाः यस्मात् स सर्वरसः रसोऽहमप्सु थोन्तेय गीता ७-८ पुण्यो गन्धः पृथिव्याञ्च। इत्यादि स्मृतेः। एवं नवविशेषणविशिष्टो भगवान् सर्वं चराचर- मेतज्जगत् अभ्यात्तः अभिमुखी कृत्य तस्मिन् व्याप्तः उच्यते इति। अवाकं न विद्यामानं पूर्णतया प्रतिपादनार्हम् वाकं जीववाङ्मयं यस्मिन् स अवाकः। अनादरः नपरितोषकः आदरः यस्य सोऽनादरः भगवान् विशुद्ध प्रेम्णा परितुष्यति नैव प्रेमरहितेन आदरोपचारणेन। विदुरग्रहे भगवतः कदलीफलशाकस्वीकार एव एतच्छ्रुति सिद्धान्त-प्रयोगः। अथवा दरः भयं ईषद् दरः आदरः न विद्यते महाकालादपि आदरः ईषन्मात्रं भयं यस्मिन् सोऽनादरः **अभयं निर्जरं ब्रह्म** इति श्रुतेः। अत एव साक्षाद् ब्रह्ममयोहरिः श्री रामः सकलभीषणमपि विभीषणमभयेन योजयन् प्राह सागरोत्तरतटे—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ।।

(वा.रा. ६-१८-३३)

एवं अनादरः निर्भयः इति वयं, यत्तु अनादरः संभ्रम रहितः तत्तु चिन्त्यम्, संभ्रमार्थस्यादरशब्दस्य कुत्रापि कोषेष्वदृष्टत्वात्।।श्रीः।। अथ परमात्मनोऽणुत्वं ज्यायश्त्वं विरुद्धधर्मद्वयाधिकरणत्वं निदर्शयति शाण्डिल्यः—

एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा
सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतम्डुलाद्वैष
म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरि-
क्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः ।।३।।

मे मम शाण्डिल्यस्य ब्रह्मसाक्षात्कर्तुर्हृदये हृद्देशे अन्तः विराजमानः एषः मयाकृत-साक्षात्कारः आत्मापरमात्मा, ब्रीहेः धान्यात्, यवात्, सर्षपात्, श्यामाकात् पृथुकात्, श्यामकतण्डुलात्, पृथुक् तण्डुलादपि अणीयान् सूक्ष्मतरः, अत्र पञ्चधाप्रयुक्तो वा शब्दः अप्यर्थः, स चाधिक्ये। एवमेव मम हृदयान्तर्वर्तमानः एषः आत्मा सर्वव्याप्तिमान् पृथिव्याः भूमेः ज्यायान् श्रेष्ठतरः, अन्तरिक्षात् भुवर्लोकात्, दिवः स्वर्गलोकात् एभ्यः भूर्भवःस्वराख्येभ्यः लोकेभ्यो ज्यायान् प्रशस्यतरः। एवं भक्तानां कृते **अणोरणीयान्** ज्ञानिनाम च कृते **महतोमहीयान्** इति विवेकः। एवमेव श्रुत्यन्तरम् **अणोरणीयान् महतोमहीयान्** कठ.उ. १-२-२०।।श्रीः।।

पुनः सगुणब्रह्मोपासनामेव संस्तौति—

सर्वकर्मा सर्वकामा सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमदिमभ्यात्तोऽवाक्यनादर एष म आत्मान्तर्हृदय एतद्ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मि यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्तीति ह स्माह शाण्डिल्यः।।४।।

सर्वकर्मा सकलकर्माश्रयः सर्वकामत्वसर्वगन्धत्वसर्वरसत्वादियुक्तः सर्वव्यापकः वागगोचरो निर्भयो मे हृदयान्तरवर्तमानः एषः आत्मा अन्तर्यामी परमात्मा एतद् ब्रह्म इदमेव श्रुति प्रतिपादितं परतत्वम्। इतः संसारात् प्रेत्य शरीरविसर्जनेन सह गत्वा तं तमेव परमात्मानं संभवितास्मि प्राप्तास्मि, यस्य साधकस्य अद्धा आश्चर्येऽस्मिन् न विचिकित्सा स्यात् तस्यापि सन्देहरहितस्य एवमस्ति इत्थं ब्रह्मानुभवो भवति। इति अनेन प्रकारेण शाण्डिल्यः भक्तिशास्त्राचार्यः आह विज्ञापयत् द्विरुक्तिः आदरार्थः।।श्रीः।।

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये चतुर्दशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यम् सम्पूर्णम्।।

अथ पंचदशखण्डः

इत्थं चतुर्दशे खण्डे सर्वकाम इत्यादिभिः भगवति सकलकल्याणगुणगणनिलयत्वं तस्य सर्वात्मकतया जगज्जन्मस्थितिभंगकारणतया चोपास्यत्त्वं शाण्डिल्यमुखेन विधित्वेन निर्दिष्टं कारयित्वा पुनस्तस्यैव विराट्तयोपासनां निरूपयति। एतज्ज्ञानेन यथास्य कुले जायमानो वीरपुत्रो दीर्घायुष्ट्वाय कल्पयति। विराड्ब्रह्मणः समुपासनं हि लोकद्वयसमृद्धिं साधयति। भगवदुपासनेन लब्ध्या सा नक्षयं गम्यते अत आह वैराजं स्वरूपम्—

अन्तरिक्षोदरः कोशो भूमिबुध्नो न जीर्यति दिशो ह्यस्य स्रक्तयो द्यौरस्योत्तरं बिलꣳस एष कोशो वसुधानस्तस्मिन्विश्वमिदꣳश्रितम् ।।१।।

अयं सर्वकामः सर्वकर्मा सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वरूपः सगुणसाकारः स्निग्धाकारः कौशल्याकुमारः ब्रह्माभिधेयो रामः वामनोऽपि विराट् तथोक्तं काठके **मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते** (कठ. १-३-५) सः कीदृशः? इत्यत आह, कोषाकारः सकलभुवनानां निखिलकल्याणगुणगणानाञ्च भाण्डागाररूपत्वात् कोषोपमेयता समुचितैव, अतस्तद्रूपकविधया विशिनष्टि। अन्तरिक्षोदरः अन्तर्भूतानि रिक्षाणि नक्षत्राणि यस्मिन् तत् अन्तरिक्षम्। रिकारे रेफश्रवणात् 'रोरि' इत्यनेन अन्तर्घटकरेफ लोपः व्यत्ययात् ढ्रलोपकार्याभावः। तत् अन्तरिक्षं नभः उदरं मध्यरन्ध्रं यस्य स अन्तरिक्षोदरः नाभ्या आसीदन्तरिक्षम्। इति श्रुत्यन्तरात्।

एवमेव आकाशमध्यो भगवान् विराट् भूमिबुघ्नः भूमिः पृथ्वी बुघ्नः मूलं चरणरूपं यस्य स भूमिबुघ्नः **बुघ्नोमूलं पदं चादिः** इति श्रीवैष्णवकोषात्। **पद्भ्यां भूमिः** इति मन्त्रार्णवाः। एवं नभो मध्यो भूमिपादः प्रभुः कोशः कारः सन् विराडाकारोऽपि नाशमेति नवेति संशयं छिन्दन्ती श्रुतिप्राह— सामान्याः खल्वाकारवन्तो नश्यन्ति किन्तु नायं तथा अत आह— न जीर्यति, न जीर्णो भवति नैव वयोहान्या युज्यते। स तु सदैव स्निग्धसरोजसम्मितसान्द्रपयोदसौभगनिखिलसौन्दर्य सारसर्वस्वसुन्दरश्यामलशरीर-भग्नकोटिकोटिकन्दर्पदर्पः तथा चाह ब्रह्मापि **नित्यं किशोर वयसम्** (बृहद् ब्रह्मसंहिता) न जीर्यति नैव नष्टो भवति। तथोक्तं श्रीगीतासु अजोऽपि सन्नव्ययात्मा (गीता ४-६) यस्य कोशाकारस्य विराजो भगवतः दिशः पूर्वादयः स्रक्तयः कोणानि कोशपक्षे विराट्पक्षे तु पार्श्वस्थानानि श्रोत्रादिरन्ध्राणि वा दिशः श्रोत्रात् इति मन्त्रात् **स्रक्ति स्त्रीकोणरन्ध्रयोः** इति वैष्णवकोषात्। एवमस्य उत्तरं बिलं ब्रह्मरन्ध्रं शीर्षभागः द्यौः स्वर्गलोकः **शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत** इति श्रुतेः।

पद पाताल सीस अज धामा।
अखिल लोक अंग विश्रामा।।

(मानस २।१५।१)

एवं भूतः सकलविश्वमयः सः श्रुतिप्रसिद्ध एषः अयं भक्तिसम्बलितदिव्यदृष्टिगोचरः कोषः सौन्दर्यैश्वर्यमाधुर्यलावण्यकारुण्यतारुण्यसौशील्यसौलभ्यसौजन्यदयादाक्षिण्य प्रणतपालकत्वभक्तवात्सल्याद्यपरिमितकल्याणगुणगणभाण्डागाररूपः भगवान् कीदृशः? इत्यत आह— वसुधानः, वसूनि सकलधनानि धीयन्ते सन्निधीयन्ते यस्मिन् इति वसुधानः अत्र **करणाधिकरणयोश्च** इत्यनेन अधिकरणे ल्युट्। धीयते अस्मिन्निति धानः पुनश्च सम्बन्धविवक्षायां वसूनां धानः वसुधानः इति षष्ठी समासः अयं प्राचीनानुसारी पन्था। नव्यास्तु— वसु निजपदपद्मप्रणतजनप्रेमभक्तिधनं दधाति परमाश्रयतया बिभर्ति अकारणकरुणतया च पुष्णाति इति वसुधानः। अत्र बाहुलकात् कर्तरि ल्युट्। पुनश्च वसु-शब्दश्च शेषषष्ठीसमासः, अथवा वसुधां पृथिवीं आनयति जीवयति भूभारावतरणेन स वसुधानः, यद्वा वसुधां बलेराछिद्य इन्द्राय आनयति अर्पयति इति वसुधानः, अथवा वसुधां पृथिवीं हिरण्याक्षेण पातालं नीताम् आनयति उद्धरति निजदन्तकोट्या वाराहरूपो भगवान् स वसुधानः, अथवा वसुधायाः भूमेः सुता इति वसुधासुता तामपि धनुर्भङ्गेन मिथिलापुरात् रावणवधेन लंकापुरात् आनयति स वसुधानः। एवमेव वसुधासुताम्

आनयति जीवयति निजनामघटकवर्णप्रहरीद्वयेन यः स वसुधानः, उभयत्र सुता शब्दस्य लुप्तत्वेऽपि पूर्वपदस्य लुप्यमानार्थाभिधायित्वादर्थसंगतिः। वसुधासुता हि रामनाम्नैव अशोकवाटिकायाममनायि। तथोक्तं श्रीहनुमता मानसे—

नाम पाहरु दिवसनिशि, ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जन्त्रित, प्रान जाहि केहिबाट।।

(मानस ५.३०)

तस्मिन् विराजि इदं विश्वं प्रत्यक्षं जगत् विश्वं सम्पूर्णं श्रितम्, आधारीकृत्य स्थितम्।।श्रीः।।

भगवतः स्त्रक्तिरूपाणां दिशां विभागं दर्शयति—

तस्य प्राची दिगजुहूर्नाम सहमाना दक्षिणा
राज्ञीनाम प्रतीची सुभूता नामोदीची तासां वायुर्वत्सः
स य एतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्ररोदꣳ रोदिति
सोऽहमेतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद मा पुत्ररोदꣳ रुदम् ।।२।।

तस्य भगवतः स्त्रक्तिभूता प्राचीदिक् पूर्वादिशा जुहूः हूयते आहूयते ब्रह्म यामभिमुखीकृत्य सा जुहुः, जुह्वति अग्निहोत्रं यदभिमुखं वा यासा जुहूः अत्राधिकरणे उण्प्रत्ययः, श्लुभावः। तदनुगुणकार्यं च पूर्वदिश्येव ब्रह्मणः समाह्वान् जायते। अतएव वेदव्यासो देवकीं तुलसीदासश्च कौशल्यां प्राचीदिशैवोपमिमीते तद्यथा—

देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः।
आविशसीत् यथाप्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः।।

(भा. १०.३.९)

मानसेच—

बंदउ कौशल्या दिसि प्राची।
कीरति जासु सकल जगमाची।।
प्रगटेउ जहँ रघुपतिससि चारु।
विस्वसुखद खलकमलतुषारु।।

(मा. १।१६।४।५)

दक्षिणा अवाची सहमाना सहन्ते चण्डातपं ग्रीष्मे मध्येह्नि सूर्यस्य यस्यां सा यथार्थनामा। प्रतीची पश्चिमादिक् राज्ञी वरुणस्य राज्ञः तत्रपत्नीवोपचारात् तथाभूता, अथवा राजते सायन्तनसूर्यारुणिम्ना, अथवा रज्यते नक्षत्रज्योतिषा राजते च सायन्तने स्वामभिमुखीकृत्यसन्ध्यामुखद्विजैः, उदीची उत्तरादिक् तद् विभूतिमयी, अथवा सुः परब्रह्माभिधानः श्रीरामः भूतः पुत्ररूपेणाविर्भूतः दशरथगृहेयस्यां सा सुभूत। यथोक्तं मानसे—

जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि।
उत्तरदिसि बह सरयूपावनि।।

(मा.उ. ३.४.५)

आसां दिशां जुहुः सहमानाराज्ञीसुभूतानाम्नीनां वायुः समीरणो वत्सः शिशुरिव यथा शिशुरङ्के खेलति मातुः तथैव वायुर्वाति दिशि दिशि। यथा वत्सः मातृस्तन्यं धयति तथैवायं दिगमृतं पिबति। एवं यः दिशां वत्सरूपं वेद जानाति सः पुत्ररोदं पुत्रविषयकक्रन्दनं न रोदिति नैव विलपति, तस्यसमक्षं पुत्रो न म्रियते। स्वानुभवमाह सोऽहम् एतं वायुं दिशां वत्सरूपं वेद जानामि अत एव पुत्ररोदं मा रुदम्, न पुत्र विषये रोदनं कृतवान् जीवित्पुत्रोऽभवमिति भावः।।श्रीः।।

अथ पञ्चभिर्मन्त्रैः प्राणादिप्रपत्तिप्रकारमाह—

अरिष्टं कोशं प्रपद्येऽमुनामुनामुना प्राणं प्रपद्येऽमुनामुनामुना भूः प्रपद्येऽमुनामुनामुना भुवः प्रपद्येऽमुनामुनामुना स्वः प्रपद्येऽमुनामुनामुना।।३।।

अरिष्टं सकलमंगलमयं कोशं करुणाकोशपरमात्मानम् अमुना पुत्रेण हेतुना प्रपद्ये, त्रिरुक्तिः जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिस्थहेतुकप्रपत्तिद्योतिका एवं प्राणं भूः भुवः स्वः इति चत्वारि भगवतो नामरूपलीलाधामप्रतीकानि तिसृषु अवस्थाषु पुत्रजीवातवे प्रपद्ये।।श्रीः।।

अथ न चतुर्भिर्मन्त्रैः चतुर्णां प्रपत्तिकर्मणां स्वयमेव श्रुतिर्व्याख्यानं करोति—

स यदवोचं प्राणं प्रपद्य इति प्राणो वा इद१ं।
सर्वं भूतं यदिदं किञ्च तमेव तत्प्रापत्सि।।४।।

प्राणप्रपत्तिमुत्पादयति, 'सः प्रपत्ताहं प्राणं प्रपद्ये 'इति पूर्वमन्त्रे यत् अवोचम् अकथयं तस्यायं हेतुः यत्किंच भूतं सत्तामात्रम् इदं सर्वं प्राणएव प्राणपरिणामः तत्

तस्मात् कारणात् तं प्राणमेव प्रापत्सि शरणमगमं प्राण एवभगवन्नामप्रतीकं प्राणरक्षकत्वात्।।श्रीः।।

अथभूः प्रपत्तिं सोपपत्तिमाह—

अथ यदवोचं भूः प्रपद्य इति पृथिवीं ।
प्रपद्येऽन्तरिक्षं प्रपद्येदिवं प्रपद्य इत्येव तदवोचम् ।।५।।

अथ यत् भूः प्रपद्ये इति अवोचं तत्र भूपदेन पृथिवीमुपलक्षणतया अन्तरिक्षं दिवं एवं लोकतत्रयं भगवद्रूपं प्रपद्ये इति अवोचम् इत्युपादिशम्। अथ भुवः प्रपत्तिं साधयति—

अथ यदवोचं भुवः प्रपद्य इत्यग्निं प्रपद्ये।
वायुं प्रपद्य आदित्यं प्रपद्य इत्येव तदवोचम्।।६।।

अथ भुवः अन्तरिक्षं प्रपद्ये इति यदहमवोचं तदुपलक्षणतया अग्निं वायुम् आदित्यम् इति, त्रीनपि भगवद्विभूतिरूपान् लीलोपकरणविशेषान् प्रपद्ये प्रपन्नो भवामि। इति एतदभिप्रायेण अवोचं प्रपत्तिं प्रत्यशृण्ववम्।।श्रीः।।

अथ स्वः प्रपत्तिं सोपपत्तिं निरूपयति—

अथ यदवोचँ्स्वः प्रपद्य इत्यृग्वेदं प्रपद्ये यजुर्वेदं प्रपद्ये।
सामवेदं प्रपद्य इत्येव तदवोचं तदवोचम्।।७।।

अथ यत् स्वः प्रपद्ये इति तृतीये मन्त्रे अवोचम् अकथयं तत् उपलक्षणतया ऋग्वेदं यजुर्वेदं सामवेदं प्रपद्ये भगवद्धाम् रूपं प्रपत्तिविषयीकरोमि इति अनेनाभिप्रायेण तत् अवोचम् अकथयम्। द्विरुक्तिः समाप्तिसूचिका।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये पञ्चदशेखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सपूंर्णं।।

।। श्रीराघवोः शन्तनोतु ।।

अथ षोडशः खण्डः

इदानीं निजदीर्घायुष्याय आत्मानमेव यज्ञप्रतीकत्वेन समुपासितुं श्रुतिर्निर्दिशति। दीर्घायुष्ट्वं हि नैरुद्ध सहितं भगवत्भजनाय परमेश्वरकैंकर्याय च सदुपयोगं भजते। जीवो हि परमात्मदासः स च सरोगोऽल्पायुः सन् न पूर्णतया भगवत्कैङ्कर्यकरणे घटते। तस्मात्

महीदासानुभववर्णनेन श्रुतिः सुस्पष्टं षोडशाधिकशतवर्षजीवनाय जपादिप्रक्रियामुपदिशति। अत्रायुषो विभागास्त्रयः, प्रथमश्चतुर्विंशतिवर्षात्मकः स च प्रातःकालिकगायत्र्यसवनसमः। यतो हि गायत्रीछन्दसि चतुर्विंशतिरक्षराणि वयसः प्रथमभागत्वात् प्रातःकालिक सवनतुल्यता। इदं हि वसुदेवताकम्। मध्यावस्थाचतुश्चत्वारिंशद्वर्षात्मिका, सा च मध्यत्वात् माध्यन्दिनसवनतुल्या अत्र संख्यापि त्रिष्टुभा तुल्या त्रिष्टुप्छन्दसि चतुश्चत्वारिंशदक्षराणि अत्र रुद्रादेवता। एवं तृतीयो विभागः अष्टचत्वारिंशत् वर्षात्मिकः चरमत्वात् तृतीयसवनसमत्वं जगतीछन्दसः अष्टचत्वारिंशदक्षराणाम् एतद्वर्षसंख्यया सादृश्यम् अत्रादित्या देवता। एवं यथाक्रमं वसुरुद्रादित्यानां समाराधनेन तेषां कृपया लब्धनैरुज्यसहितशताधिकषोडशवर्षायुः भगवन्तं सुखेनसमाराधितुं पारयतीति खण्डार्थः। अक्षरार्थस्तु संक्षेपतोऽनुपदं व्याख्यायते।

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विँ्शतिवर्षाणि
तत्प्रातःसवनं चतुर्विँ्शत्यक्षरा गायत्री गायत्रं
प्रातःसवनं तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा
वाव वसवं एते हीदँ् सर्वं वासयन्ति ।।१।।

पुरुषः, परमार्थसाधनरूपपुरुषार्थसम्बन्धः पुरि शरीरे निश्चयेन शयनशीलः, वाव निश्चयार्थो निपातः, यज्ञः यजनशीलः इज्यमानश्च यजते इज्यते इति यज्ञः। इत्थं व्युत्पत्तिद्वयदर्शनात् तस्य यज्ञरूपस्य पुरुषस्य प्रत्यगात्मनः जीवनस्य प्रारम्भिकाणि चतुर्विंशति वर्षाणि तानि एव प्रातःसवनं गायत्रं सा च चतुर्विंशत्यक्षरा चतुर्विंशतिः अक्षराणि यस्याम् इति बहुव्रीहिः। अत्र वसवः प्राणाः प्राणाधिष्ठितृदेवताः वसन्त्यस्मिन्शरीरे वासयन्ति च इदम् इति व्युत्पत्तिद्वयात्।।श्रीः।।

अथ प्रार्थनाप्रकारमाह—

तं चेदेतस्मिन्वयसि किञ्चिदपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा
वसव इदं मे प्रातःसवनं माध्यन्दिन सवन
मनुसंतनुतेति माहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो
विलोप्सीयेत्युद्धव तत एत्यगदो ह भवति ।।२।।

तम् आत्मानं यज्ञं यजन्तम् एतस्मिन् प्रातः सवनरूपे प्रथमे वयसि चेत् यदि किञ्चित् मृत्यरूपं व्याधिरूपं वा उपतपेत् रोगग्रस्तं कुर्यात् तदा स ब्रूयात् यष्टा मन्त्रमिमं

ऽतेन्— हे प्राणा:! वसव: प्राणदेवता: मे मम यष्टु: इदं प्रात:सवनं प्रथमवयोरूपं माध्यान्दिनम् अनु अत्र तृतीयार्थे इत्यनेन द्वितीया। मध्यवयोरूपेण सवनेनेत्यर्थ:। संतनुत संयोजयत। अहं यज्ञ: यज्ञकारी जीवात्मा प्राणानां वसूनां प्राणाधिष्ठातृदेवतानां युष्माकं मध्ये मा विलोप्सीय न नष्टो भवेयम्। अथवा अत्रभावलक्षणषष्ठी। युष्माकं रक्षकत्वे सति न विलुप्तो भवेयम् इत्युक्त्वैव मन्त्रं जप्त्वा तत: एत्य तस्माद्रोगान् मुक्त्वोभूत्वा अगदो भवति मुक्तो भवति॥श्री:॥

अथ मध्यमवय: मध्यसवनेन सह संमितयति—

अथ यानि चतुश्चत्वरिꣳशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनꣳ
सवनं चतुश्चत्वारिꣳशदक्षरा जिष्टुप्त्रैष्टुभं
माध्यनन्दिनꣳसवनं तदस्य रुद्रा अन्वायत्ता:
प्राणा वाव रुद्रा एते हीदꣳसवꣳरोदयन्ति ॥३॥

यानि चतुर्विंशतेरनन्तरभाविनि माध्यन्दिनं मध्येदिने संपादनीयं त्रैष्टुभं त्रिष्टुप्संबन्धि अन्वायत्ता: अनुगता:, एते रुद्रा: रोदयन्ति रुदन्ति च ये ते रुद्रा: इति व्युत्पत्ते: तेषां निसर्गसिद्धक्रूरस्वभावात्॥श्री:॥

अथ रुद्रप्रार्थनाप्रकारमाह—

तं चेदेतस्मिन्वयसि किञ्चिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा
रुद्रा इदं मे माध्यन्दिनꣳ सवनं तृतीयसवन-
मनुसंतनुतेति माहं प्राणानां रुद्राणां मध्ये
यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव एत्यगदो ह भवति ॥४॥

ब्रूयात् रुद्रान् प्रार्थयेत् तृतीयं सवनमनु तृतीयेन सवनेन सह ह एव निश्चयेन तत: तस्मात् परितापकात् उत एत्य उपरिगत्वा उद्धव इत्यस्य उत्ह एव इति विग्रह:॥श्री:॥

अथ तृतीयं व्याचष्टे—

अथ यान्यष्टाचत्वारिꣳ शद्वर्षाणि
तत्तृतीयसवनमष्टाचत्वारिꣳ शदक्षरा जगती
जागतं तृतीयसवनं तदस्यादित्या अन्वायत्ता:
प्राणा वावादित्या एतेहीदꣳ सर्वमाददते ॥५॥

यानि अष्टषष्टिवर्षादनन्तरभावीनि अष्टाचत्वारिंशत् अक्षराणि यस्यां तथा भूता जगत्या इदं जागतम् इदं दृश्यमानम् आदित्याः विवश्वदादयः आददते गृहणन्ति।।श्रीः।।

अथादित्यप्रार्थनाप्रकारमाह—

तं चेदेतस्मिन्वयसि किञ्चिदुपतपेत्स ब्रूयात्
प्राणा आदित्या इदं मे तृतीयसवनमायुरनु-
संतनुतेति माहं प्राणानामादित्यानां मध्ये यज्ञो
विलोप्सीयेत्युद्धैत तत एत्यगदो हैव भवथि ।।६।।

स ब्रूयात् यज्ञकर्त्ता आदित्यान्प्रार्थयेत् आयुरनु आयुषा सह मा विलोप्सीय न लुप्तो भवेयं लुप्सधातुश्छान्दसः आत्मनेपदी लोपार्थः एतत् प्रयोगः, गदो रोगः न विद्यते यस्मिन् सोऽगदः।।श्रीः।।

अथ प्रकरणमुपसंहरति—

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः स किं म एतदुपतपसि योऽहमनेन न प्रेष्यामीति स ह षोडशं वर्षशातमजीवत्प्र ह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद ।।७।।

ह निश्चयार्थः स्म प्रसिद्ध्यर्थः एतत् इदं रहस्यं तद्विद्वान् सिद्धान्तज्ञाता ऐतरेयः इं जगतकामकेलिं तरति स्वपुत्रमपि तारयति या सा इतरा कापि ऋिषिपत्नी, इतरायाः अपत्यं पुमान् ऐतरेयः महिदासः महीसुतायाः सीतायाः दासः इति महिदासः उत्तरपदलोपो बाहुलकादीकारह्रस्वश्च। कथनप्रकारमाह— किं याम् उपतपसि कथं मां क्लेशयति, अनेन त्वत्कृतत्रितापेन नाहं प्रेष्यामि नाहं मरिष्यामि, इति इत्थं निषेध्य षोडशं षोडस सन्ति यस्मिन् तथा भूतं षोडशाधिकमिति भावः वर्षशतं शताब्दं जीवति सुखं प्राणिति।।श्रीः।।

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये षोडशेखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं संपूर्णम्।

अथ सप्तदशखण्डः

भूयस्तमेव पुरुषयज्ञं पारिशेष्यतः रूपकविधिना निरूपयति—

स यदशिशिषति यत्पिपासति यन्न रमते ता अस्य दीक्षाः ।।१।।

न खलु दीक्षामन्तरा यज्ञः प्रभवति स्थातुम् अतस्तत् दीक्षां रूपयति— पुरुषमनोवृत्तित्रयेण यज्ञे दीक्षा खलु क्षुत्पिपासा क्रीडाभावसमन्विता भवति, यज्ञेदीक्षितः क्षुत्पिपासे सहते भोगेषु न रिरंसते, तथैवात्र सामान्येन दीक्षागुणधरयावत्तया मानसवृत्तित्रितयमेव पुंसो दीक्षात्वेन व्यपिदिशति, शैत्यादि सह पुरुषरूपयज्ञः यत् **क्रियाविशेषणमेतत्** वृत्तित्रयं विशिनष्टि अशिशिषति अशितुमिच्छति बुभुक्षत इति भावः। **यच्च पिपासति** जलं पातुमिच्छति यच्च न रमते ताटस्थ्येन न क्रीडति तदेव **क्षुत्तृट्क्रीडाभ्यो** विरतिरेवास्य दीक्षा।।श्रीः।।

यज्ञेषु उपषदनियमो भवति येषु ईषत् पयांसि स्वल्पान्यशनानि च दीयन्ते याजकाय तत् सामान्यात् पुरुषाशनपानरमणानि औपसदैः संदृश्यन्ते यदिति—

अथ यदश्नाति यत्पिबति यद्रमते तदुपसदैरेति ।।२।।

यदिति पूर्ववत् क्रियाविशेषणं धात्वर्थत्रयं प्रकरोति—सः पुरुषः यदश्नाति भुङ्क्ते, यत पिबति पानं कुरुते, यद्रमते उपलब्धैरिष्टवस्तुभिः क्रीडति, तत् उपसदैः पयोव्रतलब्धनियमसुखावहभोजनपानैः एति सादृश्यं गच्छति इति भावः। यथोपसदेषु यज्ञव्रतकर्षितो ह्यल्पमपि समभ्यवहारं लब्ध्वा प्रसीदति तथैवात्र क्रियात्रये द्वयोरित्थं साम्यम्।।श्रीः।।

भूयः क्रियात्रयं स्तुतशस्त्रैःरूपयति स्तुतशस्त्राणि यज्ञे मखविश्रामप्रसन्नता व्यंजकानि वैदिकानि स्तोत्राणि—

अथ यद्धसति यज्जक्षति यन्मैथुनं चरति स्तुतशस्त्रैरेव तदेति ।।३।।

एवं यद्धसति हासं करोति, यद् जक्षति दानंकरोति यन्मैथुनमाचरति पाणिगृहीत्याभार्यया सवर्णया धर्मेण द्वन्द्वभावेन युज्यते तदेव ह्यस्य स्तुतशस्त्रैः प्रसन्नतासूचकवैदिकस्तोत्रैः एति सादृश्यं गच्छति। आशुक्रिया स्तुतशस्त्रजन्यप्रसन्नता साम्यात्।।श्रीः।।

अथदक्षिणां रूपयति—

अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा ।
सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः ।।४।।

दक्षिणासु पुण्यजनकतावच्छेदकता तत्साम्यं च पुरुषनिष्ठेषु तपोदानार्जवहिंसासत्यवचनेषु तथा हि तपः गीतोक्तं सात्विकं तपस्त्रयं कृच्छ्रचान्द्रायणादि व्रतम् इष्टदिदृक्षाजनितविरहतापो वा, दानं निस्वार्थमतिसर्जनं, यथावर्णं यथाश्रमम्

आर्जवं सारल्यम् इन्द्रियवृत्तिकौटिल्याभावो वा, अहिंसा श्रुतिविहितत्वे सति परपीडनप्रतियोगिकाभावः '**मा हिंस्या सर्वाभूतानि**' इति श्रुतेः सत्यवचनं भूतार्थवाद एवं पुण्योत्पादनतुल्यतया दक्षिणासाम्यम्।।श्रीः।।

एवं यज्ञसवनं यज्ञावभृथमपि पुरुषजन्ममरणाभ्यां तुलयति—

तस्मादाहुः सोष्यत्यसोष्टेति
पुनरुत्पादनमेवास्य तन्मरणमेवावभृथः।।५।।

तस्मात् अतएव शोष्यति सूतवती भविष्यति अशोष्ट इयं बालकं जनित्तवती इति सवनसमान एव व्यवहारो भवति। पुनः उत्पादनं जन्ममरणम् अयम् अवभृथः यज्ञान्ताभिषेकः अवभृथेन यथा यज्ञसमाप्तिः तथैवमरणेनापि प्राक्तनजन्मकार्यकालसमाप्तिः ।।श्रीः।।

यज्ञदर्शनाचार्यपरम्परामाह—

तद्धैतद्घोर आङ्गिरसः कृष्णाय
देवकीपुत्रायोकूत्वोवाचापिपास एव स बभूव
सोऽन्तवेलायामेतत्रयं प्रतिपद्ये ताक्षितमस्यच्युतमसि
प्राणसꣳ शितमसीति तत्रैते द्वे ऋचौ भवतः।।६।।

ह निश्चययेन तत् एतत् प्रसिद्धं त्रयं यज्ञे विद्या गृस्यसूचकं घोरः घोरनामा घोरतपस्वान् उग्रस्वभावाच्च मध्ये तस्य घोरनाम। आङ्गिरसः अङ्गिरोगोत्रः, अङ्गिरसः गोत्रापत्यं पुमान् आङ्गिरसः देवकी पुत्राय कृष्णाय यद्यपि मत्तः पूर्वभाष्यकृतः सर्वेऽपि अस्य वाक्यखण्डस्य सामान्यजिज्ञासुपरकतया व्याचक्षते। किन्त्वहम् इदं मन्त्रखण्डं वसुदेवनन्दनं परब्रह्मपरमात्मकृष्णपरकमेव मन्ये तथैव च व्याचक्षे। ननु निरतिशय-ज्ञानसम्पन्नस्य सदैकरसस्य भगवतोज्ञानानुपत्तिरिति चेत्, सत्यम्। लोकलीलायां गृहीतमानवतनुः परमात्मनः सम्पूर्णमर्यादितमानवचरित्राणां सर्वथैवोपपत्तेः। तथोक्तं भागवते—

नृणां निःश्रेयसार्थय मानुषीं तनुमास्थितः।
भजते तादृशीः क्रीडाः या श्रुत्वा तन्मयो भवेत्।।

(भागवत १०।३३।३७)

अत एव भगवतः कृष्णस्य विद्यध्ययनशत्रुदलनपार्थसाहाय्यकूटनीति-व्यापारदारक्रियासन्तानोत्पत्त्यादिकं सर्वं संगच्छते। तस्मात् सर्वज्ञोऽपि गुरुकुलमर्यादां मिमण्डयिषुः यज्ञविद्याम् आङ्गिरसादधिगच्छतीति सूपपन्नम्। एवं देवकीपुत्राय कंसपितृव्यपुत्रीदेवकीसुताय कृष्णाय वासुदेवाय उक्त्वा निवेद्य उवाच। किमुवाच? इत्यत आह— भो कृष्ण! अन्तकाले निजलीलासंवरणसमये एतत्त्रयं वक्ष्यमाणं मन्त्रित्रितयं प्रतिपद्यत अत्र 'व्यत्ययेन प्रथमपुरुषः। प्रतिपद्येथा कुत? इत्यत आह, स त्वम् अन्तवेलायाम् अन्तः सलिलान्तः सागरः तस्य वेलातटम् इति अन्तवेला तस्याम् अन्तवेलायां समुद्रतटे प्रभासक्षेत्र इति भावः। एतत्त्रयं प्रतिपद्यथाः। त्रिकालावाधितज्ञानमपि श्रेष्ठचरितप्रामाण्यदर्शनाय श्रुतिरुपदिशति। ननु श्रुतेरपौरुषेयत्वे कृष्णस्य च द्वापरीयत्वे नैतत् संगच्छेतेति चेन्न, त्रिकालदर्शित्वादृषीणां तत्र घटनासु कालपरिच्छेदत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिकाभाव एव अत एव श्रुतौ समग्ररामचरितस्य समग्रकृष्णचरितस्य प्रत्येक कथायाः सुस्पष्टं मन्त्रेषूपलभ्यत इति स्वतन्त्रप्रबन्धे निरूयिष्यामः। किं प्रतिपद्ये? इति चेदाह, लोकलीलामिमां संवृण्वानो लोकाभिरामतनुं सोपसमुपसंहरन् इत्थं संभावयेथाः, यत् अक्षितमसि न क्षितं नाशः यस्य तत् अक्षितम् असि व्यत्ययेन मध्यमपुरुषः। वस्तुतस्तूत्तमपुरुषार्थः कर्ता प्रतिपद्यमानस्तूत्तमपुरुषत्वात्। एवम् अक्षितमसीत्यस्य अक्षीणं यदुवंश्याणां युध्येऽपि प्राह्रियमाणमपि न कैश्चित्च्छेत्तुं शक्यम्। अतः कञ्चिदपि प्रहर्तारं प्रति निर्वैरबुद्ध्या अक्षितमसीति भावना। द्वितीयम् अच्युतमसि गृहस्थाश्रमे अष्टोत्ततरषोडशसहस्रवल्लभासु विपुलसंततिपरम्पराम् उत्पाद्यापि आत्मनो रेतश्च्युतिं मा विभावयेथाः अतः अच्युतमसि। अखण्ड-ब्रह्मचर्यं ब्रह्मतत्वमस्मीति भावः। प्राणसंशितमसि, '**प्राणस्तुप्रणवे प्राणे** इति कोषात्। प्राणे सूक्ष्मतमे परब्रह्मतत्वे संस्थितं स्थितिमते नास्ति मे विशालसाम्राज्यद्वारावती कनकभवन पुत्रकलत्रादिषुरर्वहनिन्धः। एतच्छ्रुत्वा स कृष्णः इतरवधातः अपिपासः बभूव अतृष्णः? समभवत्। तयैव विदित विवित्सितत्वात् गोलोके भगवतो देवक्यादीनां च तल्लीलानां नित्यसत्वात् नैतत् विद्योपदेशस्य कदाप्यर्वाचीनत्वमवधेयं तदेतद् यज्ञविद्याफलप्रतिपादिके ऋचौ मन्त्रौ भवतः विद्येते।।श्रीः।।

मन्त्रद्वयमाह, तत्र च सूर्यज्योतिनिरूपणम्,—

आदित्प्रत्नस्य रेतसः। उद्वयं

तमसस्परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तर॑ँस्वः

पश्यन्त उत्तरं देवं देवत्रा सूर्यमगन्म
ज्योतिरुत्तममिति ज्योतिरुत्तममिति ।।७।।

पूर्वमन्त्रे व्याख्यातं तदेतद् ऋचौ भवतः किन्त्वत्र मूले प्रथमा यो ऋचः तृतीयांशो दृश्यते तत्र अंसद्वयं नोपलभ्यते लिपिप्रमादात् वा संक्षेपी करणात्, वा जानकीजानिर्जानातु। परन्तु वयं वेदादुधृतामिमां सम्पूर्णां समुपस्थाप्य व्यांचक्ष्महे। आदित्प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिः पश्यन्ति वासरम्। परो यदीध्यते दिवि इति प्रथमाऋक् एतदन्वितार्थः। प्रत्नस्य चतुर्मुखादपि प्राचीनस्य रेतसः जगत्कारणस्य प्राणिनां बीजभूतस्य् भगवतः **'बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।** (गीता ७।१०) इति गीतोक्तेः। तादृशं तस्य सम्बन्धिज्योतिः परमं प्रकाशम् ईदृशं वासरं दिनम् इव यत् दिवेव देदीप्यमानम् अन्धकाराभावात्। अथरा वासं प्रणतेभ्यः परमात्मनि निवासं राति तदातीति वासरं सर्वभूतनिवासप्रदं यच्च परः व्यत्तयात् पुस्त्वं ब्रह्मादितोऽपि परिभूतमिति भावः। **'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम् नेमा विद्युतो भान्ति कुतो यमग्निः इति श्रुतेः** (कठ. १-३-१३) यत् दिवि परमप्रकाशमाने साकेतलोकेऽपि इध्यते देदीप्यमानमास्ते। तज्ज्योतिः एतद्यज्ञरहस्यविदः पश्यन्ति एषः प्रथमर्चार्थः। अथ द्वितीयायाः आ शब्दस्य च आदरार्थः, तकारः इच्छब्दस्य प्रसन्नार्थकनिपातौ। वयं यज्ञरहस्यविदः तमसः अन्धकारादपि परि परस्ताद्वर्तमानम् उत्तरम् उत्कृष्टम् आदित्यमण्डले वर्तमानम् एवंभूतः ज्योतिः पश्यन्तः साक्षात् कुर्वाणाः अथ च तदेव सूर्यमण्डलस्य ज्योतिर्भूतसीताराममयं ब्रह्म स्वः अत्रापि व्यत्ययेन पुल्लिंगता। वस्तुतस्तु ज्योतिर्विशेषणत्तया तृतीयत्वमेव, स्वम् आत्मीयम् अन्तर्यामिणम् उत्तमं क्षराक्षराभ्यामुत्कृष्टम् उद्गतं तमं येन वा तदुत्तमं क्षराक्षरपरमात्मश्रेष्ठं ज्योतिः पश्यन्तः आ उद्गम आदरेण भगवत् सामीप्यं प्राप्तवन्तः ज्योतिरुत्तममिति द्विरुक्तिस्तु आदरार्था। शकलसमाप्तिसूचिका च।।श्रीः।।

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये सप्तदशेखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।

अथाष्टादशखण्डः

इदानीं यज्ञपुरुषहृदयाकाशवर्तिनः सगुणसाकारस्य सकलनिष्कल्याणगुणगणागारस्य कौसल्याकुमारस्य ब्रह्मणः शुभनिवासस्थलभूतेहृदयाकाशे मनस्त्वाकाशत्वो-भयधर्णाविच्छिन्नत्वात् प्रत्येकमवच्छेदकदृष्ट्या ब्रह्मोपासनां निरूपयति। सा च द्वेधा

आध्यात्मिकी । आधिदैविकी चसू तत्र मनोमयी आध्यात्मिकी आत्मपदार्थशरीरसुक्ष्मान्तः करणमनःसम्बन्धत्वात् आकाशमयी चाधिदैविकी तत्रस्थदेवताविषयत्वात्,

मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधिदैवतमाकाशो-
ब्रह्मेत्युभयमादिष्ट भवत्यध्यात्मं चाधिदैवतं च ।।१।।

मनः मनुते अवबुध्यते सर्वं व्यवहारं परब्रह्म वा समनुभूयते येन तन्मनः स्वान्तम्। ब्रह्म परब्रह्मविभूतिः इति अवधारणास्वरूपनिर्देशः उपासीत् भगवत् विभूतितया मनो भजेत इति भावः। नैवेदं विगर्हेत तत्र ब्रह्मभावव्यतिरेकेणानिष्टफलकत्वम् इति, इत्थम् अध्यात्मम् अव्ययीभावेनाव्ययोऽयम्, आत्मनीत्यध्यात्मम् आत्मविषयकमुपासनमित्यर्थः। अथ आकाशः ब्रह्म तद्वत सौक्ष्म्यव्यापकत्वसर्वापरिच्छिन्नत्वनीलत्वादिसाम्यात् उपासीत इति अनुषज्जते इत्यधिदैवतं दैवविषयकमुपासनम्। एवम् अध्यात्ममधिदैवतम् इति उभयम् उपासनद्वयं मनःआकाशदृष्ट्या आदिष्टम् उपदिष्टं श्रुत्या इति शेषम्।।श्रीः।।

अथ मनो दृष्टावाकाशदृष्टौ च ब्रह्मणश्चतुष्पादोपचारं प्रपञ्चयति। मन्त्रत्रितयेन,—

तदेतच्चतुष्पाद्ब्रह्म। वाक्पादः प्राणः पादश्चक्षुः
पादः क्षोत्रं पाद इत्यध्यात्मम्। अथाधिदैवतमग्निः
पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पाद
इत्युभयमेवादिष्टं भवत्यध्यात्मं चैवाधिदैवतं च ।।२।।

तत् एतत् मनोमयं ब्रह्म उपासनीयं परमेश्वरतत्वं चतुष्पाद यथा विशुद्धं श्रीसाकतेनिलयं ब्रह्म पादचतुष्टयसम्पन्नं भवति, तथैव प्रतीकभूतं मनोमयमाकाशमयं च ब्रह्मेति भावः । वाक् पादः मनो ब्रह्मणो विचारव्यक्तीकरणात् प्राणः घ्राणः प्रकर्षेण अनिति सितीति व्यत्पत्तेः । गन्धमाध्यमत्वात् चक्षुः पादः रूप साक्षात्कारकरणत्वात् श्रोत्रं पादः शब्दग्राहकत्वात् । अथ अधिदैवतं वर्णयति, आकाशरूपब्रह्मणोऽपि अग्निवाय्वादित्यदिशः पशूदरलग्नपादा इव आकाशसम्बन्धत्वात् पादः इति उभयं मनो नभो रूपं ब्रह्म चतुष्पाददः वदिति आदिष्टं भवति श्रुत्या निर्दिष्टं विद्यते सार्वकालिकतया तस्या अपौरुषेयत्वात्।।श्रीः।।

भूयस्तमेवार्थं प्रपञ्चयति— **वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः ।**
सोऽग्निना ज्योतिषा भाति च तपति च ।
भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ।।३।।

अथ अध्यात्मब्रह्मणः मनसः अधिदैवतब्रह्मणाकाशेन सम्बन्धनिबन्धनामेकतां दर्शयति- मनोब्रह्मणः चतुर्थः वागभिधानः पादः आकशपादेनाग्निना करणीभूतेन पादेन भाति प्रकाशते। तपति तापं गच्छति। अतएव वाग्दैवतमग्निरुच्यते य एवं वेद सोऽपि भासा तपसा यशसा तेजसा च सम्पृच्यते इति फलम्।।श्रीः।।

एवं मन्त्रत्रयेण मनो ब्रह्मणः पादत्रयस्य आकाशब्रह्मणः पादत्रयेण प्रकाशकत्वं तापकत्वं च तद्वेतुः तत्समानफलकत्वं निर्दिश्यते त्रिभिः—

प्राणाः एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः
स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च ।
भाति च तपति च कीर्त्या
यशसा ब्रह्मवर्चसेन च एवं वेद ।।४।।

चक्षुरेव ब्रह्मणश्चातुर्थः पादः
स आदित्येन ज्योतिषा भाति च ।
तपति च। भाति च तपति च कीर्त्या
यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ।।५।।

श्रोत्रमेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः
स दिग्भिर्ज्योतिषा भाति च तपति च ।
भात्ति च तपत्ति च कीर्त्या यशसा
ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद य एवं वेद ।।६।।

प्राणश्च वायुना चक्षुरादित्येन श्रुतिर्दिशाज्योतिषा भात्ति तपति तज्ज्ञातुश्च तथा फलं दिरुक्तिरादरार्थाः।।श्रीः।।

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्यायेऽष्टादशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।

अथैकोनविंशः खण्डः

इदानीं प्रत्यक्षब्रह्मणः भगवत आदित्यस्य आदित्यमण्डलस्थस्य वा सीतारामम्यब्रह्मणो वा समुपासनं विधित्वेनोपदिशति—

आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशस्तस्योपव्याख्यानमसदेवेदमग्र आसीत् तत्सदासीत्तत्समभवत्तदाण्डं निरवर्तत सत्संवत्सरस्य मात्रामशयत तन्निरभिद्यत ते आण्डकपाले रजतं च सुवर्णं चाभवताम् ।।१।।

आदित्यः, ब्रह्म आदित्यः सूर्यः तन्मण्डलस्थ श्रीसीतारामब्रह्मधामभूत्वा-दाधाराधययोरेकरूपत्वेनादित्येऽपि ब्रह्मव्युपदेशः इति इत्थम् आदेशः श्रुतेर्निर्देशः। आदेश इति पदेन श्रुतिरादित्ये कदापि ब्रह्मव्यतिरिक्तभावं निराकरोति, तस्य आदित्यस्य उपव्याख्यानम् अन्तरंगरहस्यव्याख्या क्रियते इति शेषः। इदं नामरूपात्मकं जगत् अग्रे सृष्टेः प्रारम्भे असत् अस्तित्वहीनमेव अव्यापितनामरूपम् आसीत् अभूत् इदं प्राचीनानुरोधेन। मम तु सत्ता एव सत् भावे क्विप् एवम् अव्यक्तं निवासाभावात् अस्फुटं सत् स्थिरता यस्य तत् असत्, अथवा अकारः वासुदेवो भगवान् रामः तस्मिन् ए अस्तीति असत् '**यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति**' (तैत्तिरैय २-१) इति श्रुतेः। इदं जीवजातम् आसीत् एव केवलं भगवतिस्थितं नत्वन्यत्रेति अन्याधिकरणतां व्यवच्छिनत्ति असदित्यनेन जीवस्य सत्तानिराकरणं कोऽपि न शङ्केत अतस्तत्सत्ता प्रतिपादयितुमाह अव्यक्तसत्वेति सत्यपि भगवदधीनसत्वे तत् जीवरूपं वस्तु सत् आसीत् अखण्डसत्ताकमासीत् इत्यनेन जीवसत्कार्यवादः सूचितः। अथवा अकारोवासुदेवाख्यं ब्रह्म तम् अं सीदति गच्छतीत्यसत् '**तत् प्रयन्ति**' इति श्रुतेः। जीवः खलु प्रलयकाले परमात्मानमेव गच्छति सामस्त्येन दासभूतो नित्यजीवस्तु परिकर्तुं गच्छति भगवन्तम् इदं जीवजातम् असत् एवं भगवच्चरणकमलानुगमेवेति तात्पर्यम् आसीत् अभवत्। इत्थं तत् सत् भगवदनुगं जीवतत्वं सत् नित्यसत्ताकं '**सदेवसोम्य इदमग्र आसीत्**' इति श्रुतेः। ननु '**असदेवेदमग्र आसीत्**' इति श्रुतिखण्डेन विविध-व्युत्पत्तिवैचित्र्या जीवस्य नित्यसत्तावत्वं भगवन्निष्ठसत्ताकत्वं परमेश्वरानुगत्वञ्च सूचितं तर्हि किमर्थं पुनः तत् सदित्याद्यारंभः? इति चेत् असदित्यस्य सद्भावाभावमूलक-व्युत्पत्तिर्माभूत् जीवस्य च नित्यसत्ता सिद्धा यथा स्यात् अथवा तदिति पृथक्पदं जीवपरामर्शकं सदिति लुप्तपंचमीकं परमात्मवाचकम् इत्थं तत् जीवतत्वं सतः परमात्मनः सकाशात् आसीत् सृष्टिकाले समभूत् '**अव्यक्तात् व्यक्तयः सर्वा प्रभवन्त्यहरागमे**' (गीता ८/१७) इति स्मृतेः। इत्थं ब्रह्मशक्तिसमन्वितं तत् जीवतत्वं समभवत् जगतीतले प्रादुर्भूत्। परमात्मसाहित्येन तस्य सम्यक् भवनं तत् आण्डम् अण्डस्येदम् अण्डमेव वा निरवर्तयत् ब्रह्माण्डमुत्पादयामास। परमात्मा तत् संवत्सरस्य मात्रां परमात्मा वर्षणरिमाणम् असयत् गणकार्याणाम् अनियतत्वात् असेत इत्यस्य स्थाने असयति इति शप् विशिष्टप्रयोगः सुप्तमिति भावः। पश्चात् तन्निरभिद्यत्

खगानाम् अण्डमिव निर्भिन्नं ते निर्भिन्ने अण्डकपाले कपालाकृती अण्डखण्डौ राजतं पार्थिवत्वात् सुवर्णं स्वरमयत्वात् तेजोविशेषेण अभवताम् अजायेताम्।।श्रीः।।

भूयस्तेन सृष्टिं प्रपञ्चयति—

तद्यद्रजतꣳ सेयं पृथिवी यत्सुवर्णꣳ
सा द्यौर्यज्जरायु ते पर्वता
यदुल्बꣳ स मेघो नीहारो या धमनयस्ता
नद्यो यद्वास्तेयमुदकꣳ स समुद्रः ।।२।।

यद्रजतं रजतमिव पूर्वभागः सैव पृथिवी भूमिः अभवत्, यत् सुवर्णं स्वर्णमिव तेजोमयमुत्तरार्धं सा द्यौः स्वर्गम् अत्र पृथिवी अधोलोकानां द्यौरुर्ध्वलोकानां चोपलक्षणं, यज्जरायुः स्थूलगर्भावरणं त एव पर्वताः यच्च उल्वं सूक्ष्मगर्भावरणं तदेव समेघः घनसहितः नीहारो तुहिनं द्रवत्वात् आवरकत्वाच्च, यः धमनयः शिराः ता एव नद्यः वास्तेयम् उदकं वस्तिभवं जलं तदेव समुद्रः एवं विराट् पुरुषाण्डपरिणामभूतं जगत्।

भूयस्तस्मादादित्यजन्म वर्णयति—

अथ यत्तदजायत सोऽसावादित्यस्तं जायमानं
घोषा उलूलवोऽनूदतिष्ठन्त सर्वाणि च भूतानि
सर्वे च कामास्तस्मात्तस्योदयं प्रति प्रत्यायनं प्रति घोषा
उलूलवोऽनूत्तिष्ठन्ति सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामाः ।।३।।

अथ यत्तत् अण्डं अजायत् असौ आदित्यः अत एवेमं खगं मार्तण्डं च व्याचक्षते। तं जायमानम् उलूलवः उरवः उरवः उरुरवः आधिक्यविवक्षायां द्वित्वं पुनर्लत्वं लकारस्य इति उलूलवः, अधिकाधिका इति भावः। घोषाः शब्दाः सर्वाणि भूतानि प्राणिनः सर्वे कामाः काम्यपदार्थाः उदतिष्ठन्त अत एव अधुनापि सूर्यस्य उदयं प्रति प्रत्यायनम् अस्तं गमनं प्रतिशब्दाः प्राणिनः कामाश्च उत्तिष्ठन्ति।।श्रीः।।

फलश्रुत्या प्रकरणमुपसंहरति—

स य एतमेवं विद्वानादित्यं
ब्रह्मेत्युपास्तेऽभ्याशो ह यदेनꣳ साधवो
घोषा आ च गच्छेयुरुप
च निम्रेडेरन् निम्रेडेरन् ।।४।।

एवं विद्वान् जानन् यः अभ्यारसः अभ्यासशीलः एतम् आदित्यं सूर्यं ब्रह्म ब्रह्म बुद्ध्या उपास्ते परमेश्वररूपेण चिन्तयति। ह निश्चयेन एनं साधवः श्रेष्ठाः शब्दाः कामाश्च आगच्छेयुः समागच्छेयुः प्राप्नुयुः मृडेरन् सुखेयुः सुखयेयुः द्विरुक्तिरादरार्था अध्यायसमाप्तिसूचिका च॥श्रीः॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये सर्वाम्नायश्रीतुलसीपीठाधीश्वरजगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामभद्राचार्यकृतौ श्रीराघवकृपाभाष्ये तृतीयः अध्यायः सम्पूर्णः।।

।।श्री राघवः शन्तनोतु।।

।।श्रीराघवो विजयते।।

।।श्रीरामानन्दा चार्याय नमः।।

चतुर्थोऽध्यायः

प्रथमः खण्डः

तूर्ये तूर्यतुरङ्गतूर्णहृदयैरापूर्यमाणं पदे,
देवैर्दीव्यदमन्दभावपटलैर्लालाल्यमानं मुहुः ।
मुह्यन्मुग्धमनुष्यमानसमधुव्रातानि राजद्रसै-
श्चारित्र्यैर्मृडयन्तमीड्यमृगयुं रामं तुरीयं श्रये ।।

अथतृतीयाध्याये प्रतीकतया वर्णिते वायुप्राणोपासने पुनर्ब्रह्मतया वर्णयितुं साम्प्रतमध्यायस्तूर्यः प्रारभ्यते।

उपासनया खलु वासनानस्यतीति तस्यां विनष्टायां निरुपाधिः प्रीतिः पारमेश्वरी पल्लविता भवतीति कृत्वा विभूतिविभूतिमतोरभेदधिया जानश्रुतेराख्यानच्छलेन वायु-प्राणोपासनवर्णनपुरःसरं संवर्गविद्या विविच्यते, आख्यायिका सुखावबोधविद्यामहत्वातिशय-सूचिका।

तत्र प्रथमः मन्त्रः—

ॐ जानश्रुतिर्ह प्रौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस। स ह सर्वत आवसथान्मापयाञ्चक्रे सर्वत एव मेऽत्स्यन्तीति ।।१।।

ॐ इति निखिलमंगलमयं परमेश्वरनामस्मरणं, श्रुतं जनः यस्य स जनश्रुतः आहिताग्न्यादित्वात् पूर्वनिपातेनः जनश्रुतः विख्यातजन्मा तस्य जनश्रुतस्य गोत्रापत्यं पुमान् जानश्रुतिः तस्य जानश्रुतेः पौत्रायणः पुत्रस्य पौत्रः ह निश्चयेन श्रद्धादेयः श्रद्धया देयं यस्य स श्रद्धादेयः आस्तिकबुद्धिदानार्हः बहुदातुं शीलः यस्य स बहुदायी, एवं बहु अन्नं पक्तुं शीलं यस्य स बहुपाकी अत्र ताच्छील्ये णिनिः आस अभूत्। सर्वतः सर्वाभ्योदिग्भ्यः आगत्य अत्स्यन्ति इति इत्थं विचार्य सर्वतः आवसथान् निवासभूमिः मापयामास निर्मापितवान्। **आवसथं गृहं सद्म मन्दिरं भवनं** तथा इति वैष्णवकोशे।

कथम् आवस्थान् निर्मापितवान्? इत्यत आह मे अत्स्यन्ति यतोहि येषु आवसथेषु निवसन्तो जनाः मे मत्सम्बन्धिभोजनमेव अत्स्यन्ति भोक्ष्यन्ते आवसथमन्तरेण अन्यात्रापि ते भुञ्जीरन्। ह इति प्रसिद्ध्यर्थम्।।श्रीः।।

घटनाक्रमं विस्तारयति—

अथ ह हँ् सा निशायामतिपेतुस्तद्धैवँ् हँ् सो
ह समभ्युवाद हो होऽयि भल्लाक्ष भल्लाक्ष
जानश्रुतेः पौत्रायणस्य समं दिवा ज्योतिराततं
तन्माप्रसाङ्क्षीस्त त्वा मा प्रधाक्षीरिति ।।२।।

अथ कस्मिंश्चिद्दिने ह इति प्रसिद्धिद्योतकोनिपातः, निशायां रात्रौ राज्ञि शयनमुपगते साँ् हंसा इति भावः। अनुस्वारस्य उच्चारणं वेद परम्परायां हंसरूपधारणो महर्षयः अतिपेतुः आपतितवन्तः। रात्रौ पक्षिणो नोड्डीयन्ते, किन्तु राग्यो हितचिकीर्षयाः इमे महर्षयः अस्वाभाविकतया हंसायमाना आगता इति अतिपेतुरिति क्रियाघटकोपसर्गस्य तात्पर्यम्। तदन्तरं हंसः अपरमरालः हंसम् अतिपतन्तम् एवम् अनेन रूपेण अभ्युवाद राजानं श्रावयन् अभ्यवदत होऽपि इति सम्बोधन परं निपातद्वयं, भल्लाक्ष भल्लवत् तीक्ष्णे ब्रह्मदर्शनसमर्थे यस्य स भल्लाक्षः तत्सम्बुद्धौ हे भल्लाक्ष! मनसः ऐकाग्रयार्थं द्विर्वचनं, पौत्रायणस्य जानुश्रुतेः पूर्वोक्तस्य विख्यात यशसः दिवा द्योतनलोकेन ब्रह्मधाम्ना समं सदृशं यथा द्विलोकः प्रकाशमान उपरि राजते, तथैव राज्ञोऽपि ब्रह्मज्ञान ज्योतिरिति भावः। आततं व्याप्तं तत् पतनकाले माप्रसाक्षीः निरादरबुद्ध्या माप्रश्नं कुरु, तथा कृते सति त्वां दग्धन् करिष्यति। अतः यथा त्वां माधाक्षीः अत्र व्यत्ययेन मध्यम-पुरुषः, एवं माधाक्षीरित्यस्य मा भस्म करोति इति भावः।।श्रीः।।

प्रति प्रश्नं निरूपयति।

तमु ह परः प्रत्युवाच कम्बर एनमेतत्सन्तँ् सयुग्वानमिव।
रैक्वमात्थेति यो नु कथँ् सयुग्वा रैक्व इति ।।३।।

निषेधवचनं श्रुत्वा परः श्रेष्ठः अग्रगामी तं निषिद्धं कुर्वाणं हंसं प्रत्युवाच, प्रतिपप्रच्छ। अरे! उपेक्षार्थोऽयं निपातः कं किं गुणकं सन्तं वर्तमानमेनं राजानं विद्याभिमानरतमपि वराकं स युग्वानं युग्वा शकटीतया सह वर्तमानं सशकटिकं रैक्वम् एतदभिमानं ब्रह्मविद् वरिष्ठम् इव यथा आत्थ कथयसि। आशयोऽयं यत् शकटयुक्तो रैक्वः महान् ब्रह्मवेत्ता तस्य ज्योतिषो भेतव्यम् अयं राजा तु विद्यादानाभिमानमत्ततया

नाल्पमपि ज्ञानं कलयति। एतद् वाक्यं श्रुत्वा पूर्वः प्रत्याह यो नो यः रैक्वः भवतः प्रशस्तः स कथं किं प्रकारकः, सयुग्वा युग्वना सहितोऽपि स्थूल वस्तु विभ्रत् कथं सूक्ष्मं ज्ञानं कलयतीति साश्चर्यप्रश्नः।।श्रीः।। अथ पर आह—

यथा कृतायो विजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनँ्
सर्वं तदभिसमेति यत्किञ्च प्रजाः
साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स
वेद स मयैतदुक्त इति ।।४।।

इदानीं रैक्वस्य माहात्म्यं वर्णयति—

यथा येन प्रकारेण कृतायः कृतस्य कृतयुगस्य प्रथमस्य सत्ययुगस्य इति भावः। अयः द्यूतपाशः स एव विजितः द्यूतक्रीडायां प्रतिपक्षिणः जितः तं कृतायं विजितायम् आधरेयाः त्रेताद्वापरकलियुगद्यूतपाशाः संयन्ति। एवं प्रजाः यत् साधु कुर्वन्ति श्रेष्ठ-कर्माचरन्ति तत् सर्वं रैक्वमेव समेति आविर्भवति तत् यः प्रजावर्गः वेद स रैक्वः सर्वं वेद स एव ब्रह्मविद् वरिष्ठः ज्योतिष्मान् नावज्ञातुं मया उक्त प्रतिषिद्धः इति अयंभावः द्यूतक्रीडायां प्रतियुगक्रमानुरोधेन चत्वारः भवन्ति पाशाः तत्र सत्ययुगस्य प्रथमः कृतायनामा चतुरङ्कः तत्र धर्मस्य चतुष्पादयुक्तत्वात्। एवं द्वितीयः पाशः त्रयङ्कः त्रेताया नामा तत्र धर्मस्य त्रिचरणत्वात्। एवं तृतीयः द्वापरायनामा द्वयङ्कः, तत्र धर्मस्य द्विचरणत्वात्। चतुर्थः कलियुगाय नामा एकाङ्कः तत्र धर्मस्य एकचरणत्वात् प्रथमे चतुरङ्के विजिते त्रयः विजिता भवन्ति तत्रैव तेषां समाहारात्। एवं प्रजानां साधुकर्मणां तत्रैव रैक्वे समाहारः, इत्येव रैक्वं माहात्म्यम्। अत्र कृताय विजिताय शब्दयोः द्वितीयायाःछान्दसो लुक् एवमेव यस्तद्वेद इत्यत्रापि जातिविवक्षायाम् एकवचनं, छान्दसां वा अधरेषु चतुरङ्कात् कृतायतः न्यूनेषु भवाः इति आधरेयाः।।श्रीः।।

राज्ञः प्रतिक्रियां सूचयति—

तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायण उपशुश्राव
स ह संजिहान एव क्षत्तारमुवाचाङ्गारे
ह सयुग्वानमिव रैक्वमात्थेति यो
कथँ् सयुग्वा रैक्व इति।।५।।

एवं हंसयोःविवदमानयोः संवादं पौत्रायणः जानश्रुतिः राजा तत् रैक्वप्रशंसावचनम्, उ सतर्कः ह निश्चयेन उपशुश्राव समीपतः आकर्णयामास। रैक्वं जिज्ञासामाना रात्रौ निद्रां

न लब्धवान् प्रभाते वन्दिभिर्गीतिविरुद्धैः प्रबुध्यमानः क्षत्तारं राजसूचनाप्रसारकं सेवकम् उवाच अरे इति उपेक्षा वचनो निपातः, अङ्गं माम् राजानां सयुग्वानं रैक्वम् इव यथा अंगप्रिय आत्थ प्रशंससि, अहं तद्योग्योनास्मि एतद्वाक्यं श्रुत्वा क्षत्राजिज्ञासाञ्चक्रे, यः रैक्वः भवतः प्रशस्तः स सयुग्वा कथं कीदृग् प्रभावः।।श्रीः।।

जानश्रुतिः हंसवाक्यमनुवदति—

यथा कृतायविजितायाधरेयाः
संयन्त्येवमेनँ् सर्वं तदभिसमेति
यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद
यत्स वेद स मयैतदुक्त इति ।।६।।

चतुरङ्गी यथापाशे इतरेऽतन्तर भवन्ति हि एवं प्रजा कृतं साधु रैक्वे सम्प्रलीयते व्याख्या सुगमा। एतावत् गुणगणसम्पन्नं रैक्वमहं दिदृक्षुरिति राज्ञो हार्दम्।।श्रीः।।

क्षत्तुप्रयासं निरूपयति—

स ह क्षत्तान्विष्य नाविदमिति प्रत्येयाय तँ् ।
होवाच यत्रारे ब्राह्मणस्यान्वेषणा तदेनमार्च्छेति ।।७।।

अनन्तरं सः क्षत्ता राजसूचानाधिकारी रैक्वम् अन्वेष्य मृगयित्वा नोपलभमानो निराशः प्रत्यययाय परावव‍ृते, उवाच च एवं यत् अहं नाविदम् न ज्ञातवान्। तदा राज्ञा कथितं यत्र ब्राह्मणस्य विप्रकुलोत्पन्नस्य ब्रह्मज्ञानिनः रैक्वस्य अन्वेषणः परिमार्गणं सम्भवं तत्र पृच्छ गच्छ इति शब्दोऽयं कथनप्रकारवाची।।श्रीः।।

रैक्वान्वेषणं वर्णयति—

सोऽधस्ताच्छकटस्य पामानं कर्षमाणमुपोपविवेश
तषँ् हाभ्युवाद त्वं नु भगवः सयुग्वा
रैक्व इत्यहँ् राह्य३ इति ह प्रतियज्ञे
स ह क्षत्ताविदमिति प्रत्येयाय।।८।।

इत्थं राज्ञः निर्दिष्टं स ब्राह्मणान्वेषणगत्वा शकटस्य युगस्य अधस्तात् नीचैः पामानं खर्जूम् शरीरप्रारब्धभवाम् कषमाणं कण्डूयमाणं उपोपविवेश समीपमुपविष्टः। तमुवाच

भगवः हे भगवन् त्वमेव रैक्वः एतन्नामसाधकः असि रैक्वः प्राह अरे अहम् अस्मि इति प्रतिजज्ञे प्रतिज्ञां कृतवान् सः क्षत्ता प्रत्येयाय प्रत्याजगाम।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये प्रथमे खण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यम् सम्पूर्णम्।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

द्वितीयः खण्डः

क्षत्तरिदत्तसमाचारे विज्ञाते रैक्वे तस्मात् ब्रह्मविद्यां जिघ्रिक्षुः, **'गुरुशुश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा, अथवा विद्यया विद्या चतुर्थीन्नैव कारणम्'** इति वचनात् ऋषि-सुश्रूषणे राज्यकार्यव्यस्ततया जानश्रुतिरसमर्थः। मध्यममेव माध्यममंगीकृत्य पुष्कलेनधनेन रैक्वं तोषयितु कामो ब्रह्मविद्या जिघृक्षन् समुपससाद। तदेवाह तदित्यादिना—

तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायणः षट्शतानि गवां । निष्कमश्वतरीरथं तदादाय प्रतिचक्रमे तँ हाभ्युवाद ।।१।।

तत् क्षत्तुः सूचनानन्तरं पौत्रायणः पौत्रपौत्रः जानश्रुति राजा 'उ' तर्कयित्वा 'ह' दृढ़तरं विनिश्चित्य ऋषेरर्थार्थित्वं गार्हस्थ्यञ्च विज्ञाय गवां धेनूनाम् षट्शतानि अश्वतरीभिः चतसृभिः युक्तं रथम् इति अश्वतरीरथं, 'निष्कम्' सुन्दरं स्वर्णसूत्रपिनद्धं तत्तन्मणिमाणिक्यमौक्तिकमयं हारम् तत्सर्वं धनम् आदाय रैक्वं प्रतिचक्रमे विद्यार्थिरूपेण समुपाषदत्। ह निश्चयेन रैक्वम् अभ्युवाद विज्ञापयामास।।श्रीः।।

वाक्यमनुवदति—

रैक्वेमानि षट्शतानि गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथो नु म । एतां भगवो देवताँ शाधि यां देवतामुपास्स इति ।।२।।

हे रैक्व! महर्षे इमानि मया समानीतानि भवत्पुरोवर्तमानानि गवां षट्शतानि षट्शतसंख्याकाः धेनवः, ननु रैक्व शब्दः सम्बोधनान्तः, सम्बोधने प्रथमालुकिति सति 'दूराद्धूते च' इति पाणिनीय सूत्रेण वाक्यास्य इह प्लुत उदात्ते, 'प्लुत प्रगृह्या अचि नित्यम्' इत्यनेन प्रकृति भावे रैक्वेमान् इति कथम्, छान्दसत्वादिति चेत् अगतिकगतिरेषा, सत्यं जानश्रुतेः रैक्वं निकटतयोपसन्नतया दूराद्धूतत्वाभावात् तत्र पूर्वोदितसूत्रप्रवृत्यभावेन नैष दोषः। अयम् एषः निष्कः रत्नहारः अयं च अश्वतरीरथः। हयतरीभिरुह्यमान् स्यन्दनः इदं सर्वं गृहाण कृपया यां देवताम् उपास्ये हे भगवः हे भगवन्! तां देवतां मे जानश्रुतये पौत्रायणाय जिज्ञासवे मह्यम् साधि उपदिश। भवत् सेवां कर्त्तुमक्षमोऽहं शास्त्रोक्तेन मध्यमेनैव भवन्तमनकूलयितुं यते इति जानश्रुतेर्हार्दम्।।श्रीः।।

ऋषेः प्रतिक्रियां स्फुटयति—

तमु ह परः प्रत्युवाचाह हारे त्वा शूद्र तवैव
सह गोभिरस्त्विति तदु ह पुनरेव जानश्रुतिः
पौत्रायणः सहस्रं गवां निष्कमश्वतरीरथं
दुहितरं तदादाय प्रतिचक्रमे ।।३।।

परः ब्रह्मविद्या परायणरैक्वः उ वितर्क्य, ह विपुलधनस्वीकरणस्य निश्चयं कृत्वा तं जानश्रुतिं उवाच— प्रत्ययाख्यानमुद्रया प्रतिसिद्धवान् नन्वसंगतमेतत्। निष्क्रियस्य ब्राह्मणस्य यदृक्षालाभसंतुष्टस्य महदनुचितं जानश्रुति दीयमानधनप्रत्याख्यानम्। नाऽयं दोषः जानश्रुतिः नैव दक्षिणादाता दक्षिणायां यादृक्षको नियमः एष तु विद्या प्राप्ति माध्यमः धनपुष्कलत्वञ्च विद्यादातृपरिस्थित्यावश्यकताधीनं तस्मात् सुसंगतमेतत्। अह अरे इति तिरष्कारसूचकौ निपातौ, अरे शूद्र! हारेत्वा हारयुक्ता ह्यतरी शकटिः, गोभिः षट्शत धेनुभिः सह तवैवास्तु तव पार्श्वे तिष्ठतु, नैव त्वादृशस्य राज्ञोऽनुरूपं धनमिदम्। अथ कथं क्षत्रियं वंश्याय जानश्रुतये रैक्वेण शूद्र इति शब्दसम्बोधनं कृतम्। क्षूद्रं शब्दोऽत्र गौणवृत्तिः ब्राह्मणः क्षत्रियश्च आचार्यान् शुश्रूषेते अयं क्षत्रियाचारहीनतया द्विजसेवा बहिर्मुखः शूद्रः। अथवा महतीं विद्याम् अल्पीयसा धनेन जिघृक्षते इति तदवमूलनं कुर्वन् अविवेकतया शूद्रः। अथवा। पूर्वेद्युः रात्रौ हंसेन गीयमानां रैक्वकीर्तितोमहीयषीं श्रुत्वा रैक्वेर्ष्याजनितशोकेन त्वं द्रुतचित्तोभवः अतस्त्वं शूद्रः। शुचा द्रवतीति शूद्रः इति व्युत्पत्तेः शूद्र इति सम्बोधनं ऋषेस्त्रिकालज्ञत्वसूचनाय इति समञ्जसं सर्वमिति इत्थमृषेः प्रत्याख्यानं श्रुत्वा पूर्वस्मादपि भूयोधनं दीत्सन् गवां सहस्रं दशशतम् निष्कः अश्वतरीरथः दुहितरं निजां विवाहार्हां रूपवतीं कन्याम्। कन्यायाश्च सन्ततिदातृत्वेन श्रेष्ठरत्नतया परिगणतत्वात् 'स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि' इति नीतेः तत् एतत् विपुलं धनम् आदाय प्रतिचक्रमे रैक्वमुपससाद।।श्रीः।।

जानश्रुतिवाक्यमनुवदति—

तँ् हाभ्युवाद रैक्वेदँ् सहस्रं गवामयं निष्कोयमश्वतरीरथ इयं।
जायाऽयं ग्रामो यस्मिन्नास्सेऽन्वेव मा भगवः शाधीति ।।४।।

ततो भूयो धनं संकीर्तयति, रैक्व इदं गवां सहस्रम् अयं हारः अयम् अश्वतरीरथः इयं च रूढयौवना मम दुहिता तव जाया तद् गृहलक्ष्मीत्वेन परिकल्पिता राजकन्या यस्मिन् ग्रामे त्वम् अनु अनुकूलतया आस्से जलस्थलनीरवपर्यावरणप्रकृति शान्तिः

इत्यादि महर्षिनिवासार्ह सकलसामग्रीसमवधानेन सानन्दं तिष्ठसि अयं ग्रामः रैक्वपर्ण इति। त्वन्नामतः ख्यातिं गमिष्यन् इत्येतत् सर्वं धनं मया समानीतं स्वीकृत्य निजोपास्य देवतां शाधि इति उभयत्र 'प्रार्थनायां लोट्' नत्वाज्ञायायाम्।।श्रीः।।

अनेन धनेन सामान्यतः संतोषं प्रकट्यन्नाहनिरादरशब्दावल्या—

तस्या ह मुखमुपोद्गृहणन्नुवाचाजहारेमाः
शूद्रानेनैव मुखेनालापयिष्यथा इति
ते हैते रैक्वपर्णानाम महावृषेषु
यत्रास्मा उवास तस्मै होवाच।।५।।

ऋषिः प्राह! ह निश्चयेन तस्याः कन्यायाः मुखं वदनम् उपोद्गृह्णन् उपकृतः उत्कृष्टतया स्वीकुर्वन् अथवा तस्याः राजकन्यायाः स्वीकारमेव मुखं विद्याप्राप्तिद्वारम् उपोद्गृह्णन् स्वीकुर्वन् रैक्वः जानश्रुतिः उवाच उदतीतरत् शूद्रः धनमाध्यमतो विद्याकाक्षिन् इमाः अश्वथरीरथयुक्तकन्यासमन्वितदशशतधेनूः। अथवा आदरार्थे इदं पदार्थमूलकन्यायां बहुवचनम् आजहार आहर देहि इति भावः। लकारवृत्तेन 'लोडर्थेलिट्' पुरुषव्यत्ययोऽपि आजहार इत्यस्य आहर इत्यर्थः, शूद्र चिन्ताद्रवीभूतचित्त, अनेन कन्यामुखेनैव श्रद्धावपुषा विद्यां आलापयिष्यथा वक्तुं प्रेरयिष्यसि, किमेतेन धनेन, इति कथयित्वा सर्वं स्वीचक्रे। यो ग्रामोदत्तः तस्य नाम कथयति यत्र येषु आदरणीयेषु सह ऋषिः उवास स्म निवासं चकार तेषां रैक्वपर्णा इति नाम अतः रैक्वपर्णाः रैक्वेण विकीर्णाः इति नाम अतः रैक्वपर्णाः रैक्वेण विकीर्णा वृक्षपर्णाः येषु तथाभूताः, अथवा रैक्वस्य पर्णकुटी येषु ते रैक्वपर्णाः तत्र विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदलोपः इति नियमात् कुटीशब्दलोपेन रैक्वपर्णा इति। अथ तस्मै जानश्रुतये सः रैक्वः निजोपास्यदेवताम् उवाच उपदिदेश।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थेऽध्याये द्वितीये खण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यम् सम्पूर्णम्।।
।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

तृतीयः खण्डः

अथ जानश्रुतये रैक्वः संवर्गविद्यामाह संवृञ्जते सर्वे आग्नेयाः यस्मिन् स संवर्गः वायुः प्रत्यक्षं ब्रह्म यथोक्तं तैतिरीयशान्तिपाठे **'त्वमेव ब्रह्मासि'** मन्ये रैक्वः वायुस्वरूपतया सकलगुणसम्वर्गभूतं वायुपुत्रं हनुमन्तमुपास्ते।

वायुर्वाव संवर्गो यदा वा
अग्निरुद्वायति वायुमेवाप्येति यदा
सूर्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति यदा
चन्द्रोऽस्तमेति वायुमेवाप्येति ।।१।।

वाव इति निश्चयनिपातौ, वायुः निश्चयेन संवर्गः अत्र सर्वे संवृञ्जते तदेव स्पष्टयति। यदा अग्निः उद्वायति निर्वाणमेति तदा वायु एव अप्येति गच्छति, एवं सूर्यः यदास्तमेति अस्तमितो भवथि तदा वायुं गच्छति एवं चन्द्रमा अपि अस्तंगतो वायौलीयते अग्निवायुचन्द्रमसां तेजसत्वात् तेजसश्च वायुप्रसवत्वात् तस्य लयो न्याय्यः।।श्रीः।।

अधिदैवतं वर्णयति—

यदाप उच्छुष्यन्ति वायुमेवापियन्ति ।
वायुर्ह्येवैतान् सर्वान्संवृङ्क्त इत्यधिदैवतम् ।।२।।

यदा यस्मिन्काले आपः जलानि उच्छुष्यन्ति शुष्काः भवन्ति तदा वायुमेव अपियन्ति निलीना भवन्ति वारः उद्वायमाणाः वायुं गच्छन्ति। अथ अनन्तरम् एष वायुः एतान् वायुरुपभूतान् संवृङ्क्ते धारयति इदमर्वाचीनविज्ञानं समर्थयति। आक्सीजन-हाईड्रोजन्नामक वारूपाभ्यां जलमुत्पद्यते। पुनः शुष्कं तत्र याति।।श्रीः।।

अथाध्यात्मं निरूपयति—

अथाध्यात्मं प्राणो वाव संवर्गः
स यदा स्वपिति प्राणमेव वागप्येति
प्राणं चक्षुः प्राणँश्रोत्रं प्राणं मनः
प्राणो ह्येवैतान् सर्वान्संवृङ्क्त इति ।।३।।

अथ अनन्तरम् अध्यात्मम् आत्मनि स्थितं संवर्गं व्याचक्षे। वाव निश्चयेन प्राणः संवर्गः स च—

यदा स्वपिति तदा तं प्राणं वाक् अपि अप्येति गच्छति। एवं चक्षुनेत्रश्रोत्रमनांसि तत्रैव विलीयन्ते प्राणश्च एतान् सर्वान् संवृङ्क्ते संचित्य धारयति इत्येव तस्य संवर्गम्।।श्रीः।।

उपसंहरन्नाह—

तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु ।।४।।

वा निश्चयेन तौ पूर्वोक्तौ एतौ दृश्यमानो वायुप्राणौ संवर्गो देवेषु दैवीसंपद-मुपगतेषु वायुः संवर्गः प्राणेषु प्राणापानव्यानोदानसमानेषु प्राणः मुखनासिकानिर्गमन-शीलौ मुख्यः संवर्गः।।श्रीः।।

संवर्गस्तुतये अन्यामाख्यायिकामवतारयति—

अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं ।
परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे तस्मा उ ह न ददतुः ।।५।।

संवर्गस्य महत्वम्—

अथ अनन्तरं कापेयं कपिगोत्रोत्पन्नं शौनकं एतन्नामकं गृहस्थं काक्षिसेनिं कक्षिसेनस्य अपत्यं पुमांसम् अविप्रतारिणं न विप्रतारयति इति अविप्रतारी एतन्नामकः ब्राह्मणः यः कमपि न वञ्चयति एतादृक् तम् उभावपि एकस्मिन्काले एकस्मिन्स्थाने परिविष्यमाणौ भोजनार्थं परिवेषणविषयीकृतौ यदा शौनकः अविप्रतारी च भोजनायामन्त्रितौ तयोः समक्षं परिवेषितञ्च भोजनं तदा इति भावः। कश्चिन् ब्रह्मचारी आगत्य तौ विभिक्षे भिक्षाविषयौ कृतवान् परिवेष्यमाणौ विभिक्षे इत्यत्र 'अकथितञ्च' इत्यनेन द्वितीया। 'दुहयाचपचदण्डरुधिप्रक्षचीब्रुशासजिमथ्मुषां कर्मयुत्स्यादकथितं तथास्यान्नीहि कृष्वहां इति कारिकायां पठितानां दुहादीनां द्वादशानां निप्रभृतीनां चतुर्णां मध्ये भिक्षधातोः परिगणनाभावात्। कथमत्र द्वितीया? इति चेच्छृणु संज्ञायाः अर्थनिबन्धनत्वात् कारिकापरिगणितयाच्आर्थकस्यापि भिक्षेस्तथात्वेनादोषात्। यथोक्तं तत्रैव (अर्थनिबन्ध नेयं संज्ञा) बलिं भिक्षते वसुधाम् अनन्तरम् उभयोः का प्रतिक्रिया? इत्यत् आह ह निश्चयेन उ वितर्क्य उभावपि शौनकाविप्रतारिणौ तस्मै ब्रह्मचारिणे न ददतुः भिक्षामिति शेषः तेन वाच्यमानावपि भिक्षां नार्पितवन्तौ तस्मै उ इति पदच्छेदः आयादेशे यकारलोपे तस्मात उ इति सिद्धम्।।श्रीः।।

गृहस्थयोरुपेक्षां दृष्ट्वा ब्रह्मचारी तौ परिप्रश्नयाम्बभूव—

स होवाच महात्मनश्चतुरो देव एकः
कः स जगार भुवनस्य गोपास्तं
कापेय नाभिपश्यन्ति मर्त्या अभिप्रतारिन्बहुधा
वसन्तं यस्मै वा एतदन्नं तस्मा एतन्न दत्तमिति ।।६।।

ह निश्चयेन सः भिक्षुब्रह्मचारी द्वावपि उवाच पप्रच्छ, हे कापेय कपिगोत्रोत्पन्नशौनक हे अभिप्रतारिन्काक्षिसेने! कः एकः देवः अद्वितीयः प्रकाशवान् यः चतुरः संख्याकान् महात्मनः महानुभावान् जगार अग्रसत् अग्न्यादीनि वायौ चक्षुरादीन् प्राण इति भावः। इमौ द्वावेन संवर्गौ अधिदैवतो वायुः अध्यात्मः प्राणः, भवन्ति भूतानि यस्मिन् तद्भुवनं तस्य भुवनस्य निखिललोकस्य गोपा गोपायति इति गोपा रक्षक इति भावः, तं भुवने लोके बहुधा अनेकप्रकारेण अध्यात्मादिरूपेण वसन्तं निवसन्तं मर्त्याः मरणशीलाः न अभिपश्यन्ति न जानन्ति न वा साक्षात्कुर्वन्ति। यस्मै इदमन्नं यदर्थं सम्पूर्णमदनीयमिति भावः तस्मै न दत्तं नार्पितं भिक्षितं तात्पर्यमेतत् यश्चराचरग्रसनशीलः रक्षकः घटघटनिवासी तस्मै भगवते वायुरूपाय प्राणरूपाय युवाभ्याम् अन्नं न दत्तम्।।श्रीः।।

ब्रह्मचारिणः प्रश्नमाकर्ण्य शौनकः कथं प्रतिचकारेति वर्णयति—

तदु ह शौनकः कापेयः प्रतिमन्वानः प्रत्येयायात्मा देवानां जनिता प्रजानाँ्हिरण्यदँ्ष्ट्रो बभसोऽनसूरिर्महान्तमस्य महिमानमाहुरनद्यमानो यदनन्नमत्तीति वै यं ब्रह्मचारिन्नेदमुपास्महे दत्तास्मै भिक्षामिति।।७।।

तद्वचनं श्रुत्वा कापेयः शौनकः प्रतिमन्वानः ब्रह्मचारिप्रश्नं समीक्ष्य प्रत्येयाय परिविष्टभोजनं त्यक्त्वा ब्रह्मचारिणं प्रति प्रश्नमुत्तरयितुं जगाम ब्रह्मचारिन् उत्तरं चतुर्णां महात्मनां भक्षणकर्त्ता भुवनरक्षकः स एव आत्मा सर्वव्यापकः, अग्न्यादीनां देवानां चक्षुरादीनां प्रजानां जनिता जन्मदाता हिरण्यदंष्ट्रः हिरण्यवत् प्रकाशमानाः दंष्ट्राः यस्य तथाभूतः बभसः पुनः पुनः अतिशयेन भक्षयति इति बभसः अत्र अच्प्रत्यये यङ् लुङन्तात् अभ्यासलोपे संयोगादिसलारलोपे बभसः, सकललोकान् भक्षयति। अतो ब्रह्मसूत्रे 'अत्ताचराचर ग्रहणात्' (ब्र.सू. १.२.७) अनसूरिः सूरिर्विद्वान् सूरिर्मनीषी विद्वान् इति वैष्णवकोशात्। न सूरिः असूरिः न असूरिः अनसूरिः अवैदुष्याभाववान्। ननु सूरिरित्यनुक्त्वा तमेवार्थं प्रतिपादयितुं कथं नञ्द्वयघटितद्रविणप्राणायामविधिराश्रितः नञ्द्वयं प्रतियोगिनं दृढयति अतस्तत्रसूरौ दृढत्वप्रतिपादनायैतत् अस्य महान्तं महनीयं महिमानं महत्वमाहुः वदन्ति। यद्वा महान्तमघरितघटना पटीयसीं भगवन्मायाम् अस्य परमेश्वरस्य महिमानं विभूतिम् आहुः माहन्तं वा जीवात्मानम् अस्य अकारो वासुदेवः तस्य वासुदेवस्य महिमानं विभूतिमाहुः अतो विभूतियोगवर्णने भगवताप्रथमत आत्मैव विभूतिवर्णयत **'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः'** (गीता. १०-२०) अन्यैः जनैः अनद्यमानः अनश्मानः अन्नम् अन्नभिन्नमपि अत्ति खादति **यस्य ब्रह्म च क्षत्रञ्च उभे भवत ओदन मृत्युर्यस्योपषेचनं क इत्थावेद यत्र सः'** (कठ. उ. १.२.२५)

एतादृशं ब्रह्म किन्तु हे ब्रह्मचारिन्। वयं कापेयाः इदं न उपास्य हे एतस्मात् जीवात्मनोऽपि परतरं सीतावरं धनुर्धरं रामं उपास्महे इति तात्पर्यम्। इत्थं प्रश्नं समाधाय भृत्यमादिष्टमाह अस्मै ब्रह्मचारिणे भिक्षां दत्त भिक्षां प्रयच्छत इतिशब्दः आदेशानुवादसूचकः।।श्रीः।।

अथ भिक्षादानप्रकारं फलश्रुतिं चाह—

तस्मा उह ददुस्ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश
सन्तस्तत्कृतं तस्मात्सर्वासु दिक्ष्वन्नमेव दशकृतँ्
सैषा विराडन्नादी तयेदँ् सर्वं दृष्टँ् सर्वमस्येदं
दृष्टं भवत्यन्नादो भवति य एवं वेद य एवं वेद ।।८।।

उ ह निश्चयेन तस्मै ब्रह्मचारिणे ते परिकराः ददुः भिक्षां दत्तवन्तः, अधिदैवताः पञ्च आध्यात्मिकाः च पञ्च उभये मिलित्वा दशसंख्याकाः सन्तः एभिरेव दशदिक्षु अन्न कृतम् एवं विराट् दशान्नमयः विराडन्नमितिश्रुतेः। यः एवं वेद जानाति सः अन्नादः भवति य एवं वेद इति आदरार्थं द्विर्वचनं ग्रन्थसमाप्तिसूचकञ्च।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थोध्याये तृतीये खण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।
।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

चतुर्थः खण्डः

स जयति षोडशकलको जानक्यानन्दवर्द्धनो रामः।
श्रुतयोऽपि यस्य च चरितं गायन्त्यो न ययुः पारम्।।१।।

तूर्यमारभ्य शकलं यावन्नवममद्भुतम्।
मन्त्रैः षोडश वै कलाश्चतुष्पादैर्निरूपिता।।२।।

षोडशैव कलाः पुंसः सामान्यं श्रुतिभिः श्रुताः।
विशिष्टास्तु कलास्तस्य अनन्ता जानकीपतेः।।३।।

प्रतिपादं चतस्रो हि वर्णिताः ब्रह्मवादिभिः।
वृषाग्निहंसमौद्गैश्च सत्यकामाय धीमते।।४।।

प्रकाशवांश्च प्रथमोऽनन्तवांश्च तथापरः।
विद्युत्वान् आयतनवान् पादाश्चत्वार एव हि।।५।।

प्रकाशाज्जानकीजानेरन्वर्थस्तु प्रकाशवान्।
प्राच्यवाची प्रतीची च उदीचीति चतुष्कलाः ।।६।।

अनन्तमहिमाविष्टोऽनन्तवान् वै द्वितीयकः।
पृथव्यन्तरिक्षो द्यौः सिन्धुश्चतस्रस्तत्र वै कलाः ।।७।।

विद्युत्तेजोमयत्वाच्च विद्युत्वान् वै तृतीयकः।
कलास्तत्र चतस्रो वै अग्निसूर्येन्दुः विद्युतः ।।८।।

आयतनवान् चतुर्थो ब्रह्मपादः प्रकीर्तितः।
चक्षुः श्रोत्रं मनः प्राणश्चतस्रस्तत्र वै कलाः ।।९।।

चत्वार्यायतनान्येव कलात्वेन प्रचक्षते।
आयतनं तवान्वर्थो ब्रह्मपादश्चतुर्थकः ।।१०।।

वृषाग्निहंसमद्‌गुभ्यः श्रुत्वाप्याचार्यवक्त्रतः।
शुश्राव सत्यकामोऽपि जाबालो नौन्यहानये ।।११।।

एवं ब्रह्म चतुष्पादं कलाद्व्यष्टसमन्वितम्।
वर्णयितुं श्रुतिः प्राह छान्दोग्ये पञ्चखण्डकम् ।।१२।।

अथ प्रकृतं व्याख्यायते—

विषयं स्पष्टयितुम् आख्यायिकाम् अवतारयति—

सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयाञ्चक्रे ब्रह्मचर्यं भवति विवत्स्यामि किंगोत्रोन्वहमस्मीति ।।१।।

ह शब्दः आख्यायिकायाः ऐतिह्य प्रसिद्धिद्योतकः। घटनेयमिति इतिहास-प्रसिद्धेति भावः। अजेन भगवता प्रसूताबाला 'अजबाला' सैव जबाला 'जकार' पूर्वाकारस्य लोपः वगाहादिवत्, भागुर्मतेऽपि अकारपकारलोपविकल्पः। यथोक्तं वैयाकरणसिद्धान्त कौमुद्याम् अव्ययप्रकरणे—**'वष्टिभागुरिरल्लोप' 'प' कारस्य विकल्पनम् आपं चैव हलन्तानां, तथा वाचा निशा दिशा।** अतएव ''विभाषासुरासेनाशालानिशायानां'' इति पाणिनी प्रयुक्तः निशाशब्दो मानम्। तेन

'पूर्वापरौ तोयनिधीवगाह्य' इति कालिदास प्रयोगोऽपि संगच्छते, अन्यथा अवगाह्य इति ब्रूयात्। तस्या: जबालाया अपत्यं पुमान् जाबाल: 'तस्यापत्तम्' इति अण्। ननु 'स्त्रीभ्यो 'ढक्' इति सूत्रेण ढक् ए आदेशे कौन्तेयादिवत् जाबालेय इति कथं नहि? इति चेत् शृणु जाबालाया: स्वपुत्रं प्रति संकटकालेऽपि सत्यवादिताया अग्रे श्रुत्यैव वक्ष्यमाणत्वात् तस्या: सामान्यस्त्रिभ्यो वैलक्षण्यसूचनाय सामान्य स्त्रीषु प्रयुतस्य 'ढक्' विधायक इति शास्त्रस्य विशिष्ट- प्रसरासम्भवात्। स्त्रियो हि प्राय: अनृतं वदन्ति। यथोक्तं मानसे—

नारि स्वभाव सत्य कबि कहहीं।
अवगुन आठ सदा उर रहहीं।।

साहस अनृत चपलता माया।
भय अविवेक अशौच अदाया।।

(मानस ६।१६।२,३)

परन्तु इयं जबाला विसंकटे संकटेऽपि पुत्रपृष्टा निजसेवाव्यस्तमेव गोत्राज्ञानकारणं स्वीचकार। एवं भूतो जाबाल: जबालां मातरं निजजननी आमन्त्रयाञ्चक्रे स्वाभिप्रायं निवेदितवान्। भवति मातृप्रभृतिमान्या स्त्रीणां सम्बोधनमेतत् केचन "भा दीप्तौ" इत्यस्मात् 'भातिर्डवतु:' इति सूत्रेण भत्वादिलोपं विधाय साधयन्ति, हे दीप्तिमतीति भाव:। अहं ब्रह्मचर्यं ब्रह्मणे चर्या ब्रह्मचर्यं भगवत्प्राप्तिसाधनभूतवसुद्वन्द्वधर्म-व्यवायपरिहारस्वरूपं भगवत् साधनं विवत्स्यामि विदेशं गत्वा प्रवत्स्यामि। किन्तु अहं जाबाल: किं गोत्र: किमभिधानगोत्र: अहं जाबाल: अस्मि इति माम् निर्दिश। न खलु अज्ञातवगोत्रवटु: आचार्यमुपनयीत इति। प्रश्नाकारोऽयम्।।श्री:।।

एवं पृष्टा सती ऋजुबुद्धि: जबालापुत्रप्रश्नमुत्तरयति--

सा हैनमुवाच नाहमेतद्वेद तात यद्गोत्रस्त्वमसि बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसि स सत्यकाम एव जाबालो ब्रुवीथा इति ।।२।।

सा सत्यकाममाता ह निश्चित्य एनं पुत्रम् उवाच अवदत्। तात! तनोति विस्तारयति वात्सल्य भावलतां य: सतात: तत् संबुद्धौ हे तात हे मद् वत्सलरसालंबन पुत्र! अहं त्वन् माता एतत् इदं न वेद न जानामि यद् गोत्र: यदभिधानं गोत्रं यस्य स यद् गोत्र: इति समासाकार:। तव गोत्रस्य यन् नाम तद् अहं न जानामि इत्याशय:। तर्हि मम पितरं

कथं न पृष्टवती? इति जिज्ञासमानं पुत्रं प्रति शंकानिराचिकीर्षुः हेतुमाह-यतोहि अहं यदा तव पितृगेहमागता तदा बहुचरन्ती बहुसेवमाना क्षणमपि समयं न प्राप्तवती। पितृ विश्रामकाले कथं न पृष्टवती? इति गीप्समानं प्रति प्रश्नाभावकारणमाह-परिचारिणी अतिथीनाम् इति शेषः। परिचरति तच्छीला इति परिचारिणी स्वभावतोऽहं समागतानां अतिथीनामतिथिदेवो भव इति धर्मबुद्ध्यापरिचरणं कुर्वेस्म तेषां पाद्यार्घभोजनादि व्यस्तक्षणतया मया निमिषमात्रमपि नावसरो लब्धः। पश्चात् कथं न पृष्टम्? इति शङ्कां निराकरोति, यौवने एवं व्यस्ते यौवने तारुण्यभावे सन्तानैकलक्ष्ये त्वाम् एकमात्रं पुत्रम् अलभे प्राप्तवती। अनन्तरं ते पितामृतः, ननु श्रुतौ सत्यकामपितुर्मरणेऽनुक्तेऽपि तल्लापनं किमाधारमिति जबालां मातरमामन्त्रयाञ्चक्रे इति प्रथममन्त्रशकलमेव प्रमाणम्। यदि सत्यकाम पिता अजीविष्य तर्हि स निजगोत्रं कथं मातरमेवापृच्छत् इति मातुरुत्तरेऽपि जबाला तु नामाहमस्मि त्वं सत्यकामो नामासि इति मातृपुत्रमातृचर्चापि तत्र पितुरुपशमं ध्वनयति। सा उपरतपतिका अहं जबाला त्वं सत्यकामः यद्गोत्रः असि भवसि इति इदं न वेद। तर्हि अहं कथमाचार्यमुत्तरयेयम्? इत जिज्ञासमानं पुत्रं शिक्षयति अज्ञातपतिगोत्राऽपि निजं त्वदीयञ्च नाम जानामि अहं तव माता जबाला नाम एतदाख्यया प्रसिद्धा अस्मि त्वं च सत्यकामः सत्यं सद्धितैषिणं सद्भ्यो हितं सत्यामिति व्युत्पत्तेः। एवं सज्जनमनोभृङ्गसरोरुहश्रीचरणं मैथिली हृदयाभरणं समरुणमसरणशरणं परब्रह्मश्रीरामं कामयते नयनपथपान्थं चिकीर्षति इत्यन्वर्थः। सत्यकामः त्वम् असि इति आचार्यं प्रति मम परिस्थितिवर्णनपूर्वकं सुस्पष्टं सत्यं ब्रुवीथाः, अत्र ब्रुवीथा इति विधिलिङ् प्रयोगात् यथोक्तानुवादमेव दृढयति। तवोपनयनं भवतु वा न भवतु वा परं त्वया कदाप्यसत्यं न वक्तव्यमिति दृढ़ीयान् मातुर्निर्देशः।।श्रीः।।

घटनामवतारयति—

स ह हारिद्रुमतं गौतममेत्योवाच ब्रह्मचर्यं ।
भगवति वत्स्याम्युपेयां भगवन्तमिति ।।३।।

इत्थं मातुरादेशमाकर्ण्य ह निश्चयेन सः सत्यकामः हारिद्रुमतं हरितः द्रुमाः वृक्षाः सन्त्यस्य इति हरिद्रुमतः मतुबर्थे छान्दसस्तस्प्रत्ययः। तपसः प्रभावेण यस्माश्रमे नैव कोऽपि वृक्षः शुष्कः सर्वेहरिताः द्रुमाः तथाभूतस्य हरिद्रुमतस्य पुत्रः हारिद्रुमतः, अथवा मतुप्यपिसाधीयान्। हरिद्रुमवतः पुत्रः हारिद्रुमतः वकारलोपो व्यत्ययात् हारिद्रुमतं गौतमं गौतमगोत्रमुपेत्य समित्पाणिरुपगम्य 'समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं' (मुण्डक १.२.११) इति श्रुतेः। आह—न्यवेदयत् भगवति हारिद्रुमते अत्र गुरौ वसीत्यवत् सामीप्यसप्तमी,

हारिद्रुमतसमीप इति भावः। ब्रह्मचर्यं क्रियाविशेषणमेतत् वत्स्यामि ब्रह्मचर्यपूर्वक-निवासं करिष्यामि भगवन्तं तत्र भवन्तमाचार्यम् उपेयां समुपगतोऽस्मि।।श्रीः।।

अथ आत्मानं उपनिनायिषन्तं पञ्च वर्षं सन्तं सत्यकामं हारिद्रुमतोऽपृच्छत्।

तँ होवाच किं गोत्रो नु सोम्यासीति स होवाच नाहमेतद्वेद भो यद्गोत्रोऽहमस्म्यपृच्छं मातरँ सा मा प्रत्यब्रवीद्बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसीति सोऽहँ सत्यकामो जाबालोऽस्मि भो इति ।।४।।

तम् आत्मानमुपनाययितुमिच्छन्तं ह निश्चयेन उवाच ब्राह्मणः पृष्टवान्। सौम्य सोमरसार्ह किं गोत्रः किं गोत्रं यस्य तथाभूतः कस्मिन् गोत्रे जातोऽसि? सत्यकामोऽब्रवीत् यद्गोत्रोऽस्मि तन्न वेद अजानन् गोत्रं कथं पितरौ नापृच्छः? इति जिज्ञासामने सोऽब्रवीत् अहं मातरम् अपृच्छम् अग्रिमो मन्त्रसकलः जबालावाक्यानुवादः सोऽहं अज्ञातगोत्रः जाबालः जबालापुत्रः भो इति सम्बोधनम्।।श्रीः।।

अनन्तरं किमभूदित्याह—

तँ होवाच नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधँ सोम्याहरोप त्वा नेष्ये न सत्यादगा इति तमुपनीय कृशानामबलानां चतुःशता गा निराकृत्योवाचेमाः सोम्यानुसंव्रजेति ता अभिप्रस्थापयन्नुवाच नासहस्रेणावर्तेयेति स ह वर्षगणं प्रोवास, ता यदा सहस्रँ संपेदुः ।।५।।

सत्यकामस्य सत्यवादितां दृष्ट्वा प्रसीदन् तम् आचार्यः उवाच प्रत्युत्तरयामास। एतत् इत्थं छलशून्यं स्पष्टवाक्यं अब्राह्मणः ब्राह्मणेतरः न विवक्तुमर्हति न वक्तुं शक्नोति, अतस्त्वां निःसंदिग्धं ब्राह्मणं मत्वा उपनेष्ये सोपवीतं करिष्ये। यतोहि कठिनबेलायामपि सत्यात् न अगाः भूतार्थवादात् न व्यचलः। सोम्य समिधमाहर उपवीतार्थमिति शेषः। अनन्तरं तं सत्यकामम् उपनीय व्रतबन्धयुक्तं कृत्वा अबलानां दुर्बलानां कृशानां क्षीणानां चतुःशता चत्वारिशतानि संख्यात्वेन सन्ति यासु ताः चतुःशताः गाः धेनुः उपानीय उवाच— सोम्य इमाः समनुव्रज अनुगच्छ, इति स आचार्यनिर्देशं पालितवान्। भूयः प्राह ताः धेनुः सत्यकामेन सः अभिप्रस्थापयन् वनान्तरं गमयन् उवाच वत्स असहस्रेण सहस्रंसंख्यां विना ना वर्तयेत् वनान्तरादत्रेति शेषः। स वर्षगणं बहुवर्षानि यावत् उवास

वर्षगणमित्यत्र अत्यन्तसंयोगे द्वितीया इत्थं सत्यकामे पालयति सन्तान समृद्धिपरम्परया यदा सहस्त्र संपेदुः सहस्त्रसंख्या संपन्ना जाता:।।श्री:।।

इति छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये चतुर्थखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।
।। श्रीराघवः शंतनोतु ।।

पञ्चमः खण्डः

अथ पञ्चमे खण्डे सत्यकामाय ऋषभः ब्रह्मणः प्रथमं पादमुपदिशति, मन्ये वर्षपूगं सत्यकामस्य गोसेवया संतुष्टो भगवान् धर्म एव ऋषभवेषः ब्रह्मोपदिशति वृषो हि भगवान् धर्मः इति सूक्तात्।

अथ हैनमृषभोऽभ्युवाद सत्यकाम३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव प्राप्ताः सोम्य सहस्त्रँ स्मः प्रापय न आचार्यकुलम् ।।१।।

अथ गवां सहस्त्रसंख्या संपन्नतानन्तरम् एनं निजसेवापरं सत्यकामम् ऋषभः महावृषः शण्डः साक्षाद्धर्मः अभ्युवाद अभ्येत्यवदत्। सत्यकाम नामग्राहमभिमुखीकरोति भगव हे भगवन् इति सत्यकामोऽपि प्रतिशुश्राव प्रत्यजानात्। सोम्य वयं सहस्त्रं सहस्त्रसंख्यां प्राप्ता नः अस्मान् गाः आचार्यकुलं हारिद्रुमताश्रमं नय गमय।।श्री:।।

अथ द्वितीये धर्मर्षभः तं ब्रह्मोपदेष्टुं सावधानं करोति—

ब्रह्मणश्च ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच प्राची दिक्कला प्रतीची दिक्कला दक्षिणा दिक्कलोदीची दिक्कलैष वैसोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः प्रकाशवान्नाम ।।२।।

ऋषभः प्रसीदन् प्राह सत्यकाम गुरुशुश्रूषणपरेण त्वया सम्यगहं संतोषितः गुरुशुश्रूषणतः स्वयमेव विद्या आगच्छति। तथोक्तं मनुना—यथा खनन् खनित्रेण नरोवार्यधिगच्छति, एवं गुरुगतां विद्यां शुश्रूशुरधिगच्छति। 'गुरुशुश्रूषयाविद्या' इत्यपि अतः ते तुभ्यं ब्रह्मणः एकं पादं ब्रवाणि उपदिशानि प्रश्नार्थे लोट्। इति पृष्टः सत्यकामोऽवदत् भगवान् षडैश्वर्यसंपन्नः पशुशरीरोऽपि मनुष्यवाचाऽवदन् महाप्रभावशालीतिभावः। मह्यं ब्रवीतु वदतु तस्मै सत्यकामाय स उवाच उपदिदेश साम्य प्रतिपादं ब्रह्मणः चतस्त्रस्चतस्त्रः कलाः भवन्ति। तत्र ब्रह्मणः प्रथमः पादः प्रकाशवान्नाम प्रकाशः अस्ति अस्मिन् इति प्रकाशावान् अत्र परमेश्वरस्य प्रकाशः अस्मिन् प्रकाशवत् चतस्त्रः

कलाः प्राचीदिक्कला पूर्वादिशापि कला परमेश्वरस्य प्रतीची दिक्कला पश्चिमदिशापि ईश्वरस्य कला दक्षिणदिक् दक्षिणदिशाऽपि कला भगवतः उदीचीदिक्कला उत्तरदिशाऽपि परमात्मनः कला एवं चतुष्फलचतस्रः कलाः यस्मिन् तथा भूतः प्रकाशवान्नाम।।श्रीः।।

फलश्रुतिमाह—

स य एतमेवं विद्वाँश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते प्रकाशवास्मिँल्लोके भवति प्रकाशवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाँश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते ।।३।।

एवं यथोक्तरीत्या यः कश्चन एनं कलाचतुष्टयरूपदिक्चतुष्टयाकारं ब्रह्मणः पादं प्रकाशवानिति प्रकाशवानित्याकारकबुद्ध्या उपास्ते परमात्मपादत्वेन भजते सोऽपि लोके प्रकाशवान् भवति प्रकाशवतः ज्योतिष्मतः महदादीन् लोकान् जयति। द्विरुक्तिरादरार्था-सकलसमाप्तिसूचनार्था च।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये पंचमे खण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

षष्ठः खण्डः

अथ ब्रह्मणो द्वितीयपादोपदेशमुपक्रामति—

अग्निष्टे पादं वक्तेति स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयाञ्चकार। ता यत्राभि सायं बभूवस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ।।१।।

ते सत्यकामाय पादं द्वितीयं वक्ति, अत्र वर्तमानसामीप्ये भविष्यति लट् न चिराद् वक्ष्यतीति भावः। इति मौनीभूते ऋषभे सः सत्यकामः श्वोभूते अन्येद्युः गाः आचार्यकुलाय उपस्थाञ्चकार। बभूव ताः यत्र स्थाने अभिसायं बभूवुः सायंकालाभिमुत्राजाता तत्रैव उपरोध्य साद्वलेषु रोधयित्वा अग्निं प्रज्वलिनं विधाय समिधमाधाय अग्नेः पश्चात् पृष्ठभागे प्राङ्मुखः उपविवेश अग्न्युपदेशं प्रतीक्षमाणो उपविष्टः।।श्रीः।।

अथा अग्निप्राकट्यं वर्णयति—

तमग्निरभ्युवाद सत्यकाम३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ।।२।।

अभ्युवाद अभिमुखो भूत्वा वदति स्म शेषं स्पष्टम्।।श्री।।

द्वितीयपादोपदेशप्रतिज्ञां करोति—

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगव निति तस्मै होवाच पृथिवी कलान्तरिक्षं कला द्यौः कला समुद्रः कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणोऽनन्तवान्नाम ।।३।।

अग्निराह हे सोम्य! ते तुभ्यं ब्रह्मणः द्वितायं पादं ब्रवाणी शेषं पूर्ववत्। अस्मिन् अनन्तवति पूर्ववत्। पृथ्वी अन्तरिक्षं द्यौः स्वर्गलोकाः समुद्रः सागर इति चतस्रः कलाः चतस्रृणां कलानां नास्ति अन्तः इत्यनन्तवान्।।श्रीः।।

फलश्रुति निरूपयाति—

स य एतमेवं विद्वाँश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्यु-पास्तेऽनन्वा नस्मिल्लोके भवत्यनन्तवतो ह लोकाञ्जँ य एतमेवं विद्वाँश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्ते ।।४।।

उपास्यगुणा उपासकं गच्छन्तीति एवं विद्वान् जानन् यः उपास्ते भजते शेषं पूर्ववत्।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये षष्टेखण्डे श्रीराघवकृपा भाष्ये सम्पूर्णम्।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

सप्तमः खण्डः

अथ ब्रह्मणः तृतीयपादोपक्रमः—

हँसस्ते पादं वक्तेति सः श्वोभूते सा अभिप्रस्थापयाञ्चकार ता यत्राभि सायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमादाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ।।१।।

हंसः सूर्यः मरालवेषः ते तुभ्यं तृतीयपादं वक्ति। शेषं पूर्ववत्।।श्रीः।।

हंसागमनं सूचयति—

तँ् हस उप निपत्याभ्युवाद सत्यकाम३ इति ।
भगव इति ह प्रतिशुश्राव ।।२।।

तं सत्यकामम् उपनिपत्य हंसः हंसवेशः सूर्यः सत्यकाम इति अभ्युवाद। शेषं सुगमम्।।श्रीः।।

अथ तृतीयपादोपदेशः प्रारभ्यते—

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाचाग्निः कलां सूर्यः कला चन्द्रः कला विद्युत्कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणो ज्योतिष्मान्नाम ।।३।।

ब्रह्मणस्तृतीयो यः पादः ज्योतिष्मान् अत्र अग्निसूर्यचन्द्रविद्युतः कलाः ज्योतीरूपाः अतः ज्योतिष्मान् पादः "तसौ मत्वर्थे" पा.अ. १-१-१९ इति भसञ्ज्ञेन पदत्ववाधात् रुत्वाभावे इदूदुपधात् षत्वम्।।श्रीः।।

फलश्रुतिं निरूपयति—

स च एतमेवं विद्वाँश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते ज्योतिष्मानस्मिंल्लोके भवति ज्योतिष्मतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाँश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते।।४।।

एवं ज्योतिष्मान् इति ज्ञात्वा अग्निचन्द्र-सूर्य-विद्युतकलात्मकं तृतीयं पादमुपासीनो ज्योतिष्मान् भूत्वा ज्योतिष्मतो लोकाञ्जयति इति मन्त्रार्थः।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थोऽध्याये सप्तमखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।
।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

अष्टमः खण्डः

अथ चतुर्थपादोपदेशोपक्रमः—

मद्गुष्टे पादं वक्तेति स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयाञ्चकार ता यत्राभिसायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ।।१।।

हंसोऽपि तृतीयपादमुपदिश्य ते मद्गुजलचरपक्षी चतुर्थपामुपदेशयतीति खं गत:। पूर्ववत् सायमग्निमुपसमाधाय सत्यकामेन मद्गु: प्रतिशत: मन्ये मद्गु विवेशो वरुण: जलदैवतत्वात्।।श्री:।।

अथ मद्गुरागत्य चतुर्थपादोपदेशार्थं तमुद्बोधयति—

तं मद्गुरुपनिपत्याभ्युवाद सत्यकाम३ इति ।
भगव इति तं प्रतिशुश्राव ।।२।।

उपनिपत्य समीपं गत्वा।।श्री:।।

अथ चतुर्थपादं ब्रूते—

ब्रह्मण: सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच प्राण: कला चक्षु: कला श्रोत्रं कला मन: कलैष वै सोम्य चतुष्कला: पादो ब्रह्मण आयतनवान्नाम् ।।३।।

चतुर्थोऽयम् पाद: आयतनम् आयतनंन्नाम निवासस्थानम् एवम् अस्मिन् आयतनवति प्राण-चक्षु-श्रोत्रमनसां कलानाम् आयतनभूतत्वात्।।श्री:।।

फलश्रुतिं निरूपयाति—

स य एतमेवं विद्वँश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्त आयतनवानस्मिंल्लोके भवत्यातनवतो ह लोकञ्जयति य एतेवं विद्वाश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवा नित्युपास्ते।।४।।

एवम् आयतनवान् इति दृष्ट्या चतुष्कलं पादमुपासीनो आयतनवान् भूत्वा आयतनवतो लोकाञ्जयति।।श्री:।।

इति छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये अष्टमे खण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।
।।श्रीराघव: शन्तनोतु।।

नवम: खण्ड:

अथ असकृदुपदिष्टोऽपि गुरुमुखमन्तरेण विद्यायां नैव पूर्णतां भजते इति शिक्षयितुं नवमं शकलमारभ्यते स एवं ब्रह्मवित्सन्—

प्राप हाचार्यकुलं तमाचार्योऽभ्युवाद सत्यकाम३ इति ।
भगव इति ह प्रतिशुश्राव ।।१।।

एवम् ऋषभाग्निहंसमद्गुभिः समुपदिष्टः ब्रह्मवेत्ता सन् तृतीयदिवसे गवां सहस्रेण सह आचार्यकुलं प्राप तं हारिद्रुमतः सत्यकाम इत्यभ्युवाद सोऽपि भगवन् इति प्रतिजज्ञे।।श्रीः।।

आचार्यः शिष्यविद्यापूरणार्थं तदुपदेष्टारमपृच्छत्—

ब्रह्मविदिव वै सोम्य भासि को नु
त्वानुशशासेत्यन्ये मनुष्येभ्य इति ह
प्रतिजज्ञे भगवाँस्त्वेव मे कामे ब्रूयात् ।।२।।

आचार्यः प्राह सोम्य ब्रह्मविद् ब्रह्मवेत्ति ब्रह्मविन्दति वा इति ब्रह्मविद् स इव भासि प्रतीयसे दीप्से वा त्वां कः अनुशशास उपदिदेश सत्यकामोऽब्रवीत् मनुष्येभ्यः अन्ये पशवः पक्षिणः देवाश्च ऋषभाग्निहंसमद्गवः। तु किन्तु मे मह्यं भगवान् तत्र भवान् एव कामं यथेच्छं ब्रूयात् निगदेत्।।श्रीः।।

गुरोः सम्मानार्थी आचार्यदेवसत्यकामः भूयश्च तमनुरुन्धे—

श्रुतँ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यः आचार्याद्धैव
विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापतीति तस्मै हैतदेवोवाचात्र
ह न किञ्चन वीयायेति वीयायेति।।३।।

स्वकमेव निश्चयं द्रढयति हि यतोहि भगवद्दृशेभ्यः भवादृशेभ्यः आचार्येभ्यः मे एवं श्रुतमावर्णितं यत् आचार्यात् निजगुरोरेव विदिता ज्ञाता आचार्यात् इत्यत्र 'आख्यातोपयोगे इति प्राणिनिसूत्रेण पञ्चमी। साधिष्ठं शोभनत्वं प्रापति प्राप्नोति 'गणकार्यमनित्यम्' इत्यनुशासनेन सौवादिकेऽपि भौवादिकार्यम्। इति निवेदितः सन् तस्मै सत्यकामाय आचार्यः तामेव ब्रह्मपादचतुष्टयविद्यासमुपदिदेश। यत्र किञ्चन् अपि न वीयाय न विगतं बभूव इत्यनेन गरुदेवेभ्योऽपि गुरुतत्वं गरीयस्त्वेन प्रतिपादितम् द्विरुक्तिः आदरार्थः प्रकरणसमाप्तिसूचिका च।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये नवमखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।
।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

दशमः खण्डः

अथ निरतिशयगुणगणनिलयस्य परिकलितप्रणयस्य परमानन्दमूर्त्तये भगवतः परब्रह्मणोविभूम्नः कृत्स्नश आनन्दमयत्वात् पौनःपुण्येनाभ्यासार्थं मन्त्राणामालस्या-भावात् भगवतोऽसकृतस्मरणार्थं प्रकारान्तरेण ब्रह्मव्याचिख्यासया शकलमिदं प्रारभ्यते। आख्यायिका तु प्रतिपाद्यविषयतात्पर्यावबोधार्था—

उपकोसलो ह वै कामलायनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास तस्य ह द्वादशवर्षाण्यग्नीन्परिचचार स ह स्मान्यान्तेवासिनः समावर्तयँ्स्तँ्ह स्मैव न समावर्तयति ।।१।।

ह वै इति निपातद्वयम् घटनाया एतस्या ऐतिहासिकत्वसूचनाय, इतिहासप्रसिद्धेयं घटनेति भावः। का सा इत्यत आह— कामलायनः कं संसारसुखममपि निजब्रह्मविचारेण अमलयति यः स कमलः, कमल घटकारस्य ककारघटकारस्य च मध्ये स्कन्धादित्वात् पररूपम्। तथाभूतः कमलनामा कश्चित् ऋषिः तस्य गोत्रापत्यं पुमान् तस्यापत्यं पुमान् वा कामलायनः इत्यनेन ब्रह्मजज्ञोर्वंशपरिचयः। न खलु प्रशस्त मातृपित्राचार्यविहीनो ब्रह्मविद्यामधिगन्तुमर्हः। सर्वतोभावेन पतितस्य तु पतितपावनपार्वतीपतिपतिपाथोजचरण एव शरणमितिराद्धान्तः। विद्या ह वै ब्राह्मण माजगाम इति श्रुतेः। 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः' इति स्मृतेश्च। किन्नामासौ इत्यत आह उपकोसलः— कोसलान् उपगतः इत्युपकोसलः मन्ये कोसलदेशे तस्य प्रादुर्भूतत्वात् तज्जनक उपकोसल इति नाम व्यधत्त। अथवा कोसलेषूपलब्धः इति उपकोसलः, अथवा उपकंठः कोसलः यस्य स उपकोसलः उपकृता कोसला वा येन मुनि दुश्चरतपश्चरणद्वारा स उपकोसलः। एवं गुणगणविशिष्ट उपकोसलो नाम कमलमहर्षिपुत्रः सदाचरपरायणो ब्राह्मणकुमारः जाबाले सत्यकामे अनुपदमेव पञ्चसु खण्डेषु व्याख्यातमहिम्नि सत्यकाम नामनि आचार्ये, अत्रत्या सप्तमी तु सामीप्ये सत्यकामचरणकमलसन्निधाविति भावः। ब्रह्मचर्यं ब्रह्मचर्यपूर्वकम्, उवाच निवासञ्चकार, ह निश्चयेन, 'सः' तस्य सत्यकामस्य द्वादशवर्षाणि यावत् अग्नीन् परिचचार, गार्हपत्यम् आहवनीयमन्वाहार्यपजनम् इमान् त्रीणि अग्नीन् परितः सिषेवे। किन्तु सः सत्यकामः अन्यान् उपकोसलतः इतरान् अन्तेवासिनः वटून् समावर्तयन् समावर्तनसंस्कारेण योजयन् विद्यासमाप्तौ समावर्तनपूर्वकं गृहान्प्रस्थापयन् अपि तम् उपकोसलं न समावर्तयति स्म 'ह' एव इति प्रसिद्धार्थम्।।श्रीः।।

अग्रे किमभूत इत्यतत् आह—

तं जायोवाच तप्तो ब्रह्मचारी कुशलमग्नीन्परिचचारीन्मा त्वाग्नयः परिप्रवोचन्प्रब्रूह्यस्मा इति तस्मै हाप्रोच्यैव प्रवासाञ्चक्रे ।।२।।

एवं द्वादशवर्षाणि परिचरतोऽग्निरपि यदोपकोसलस्य सत्यकामो समावर्तनं न चकार तदा जाया, जायते पतिरेव पुत्ररूपेण यस्यां तथाभूता तस्य पुत्रवती वल्लभा पत्नी करुणापरवशा वटौ तमुवाच—सत्यकामं न्यवेदयत्, अयम् एषः ब्रह्मचारी तप्तः उग्रं तपश्चचार तप आलोचने इत्यस्मात् कर्मणिभूतेक्तः ब्रह्मविचारार्थं मया समालोचितः। अथवा असकृत् परिचरणेन त्रयाणाम् अपि पावकानां स्फुल्लिंगमालया तप्ताङ्गः अथ च कुशलं यथा शास्त्रं कौशलेन अग्नीन् परिचचार असेवत् इति निश्चये एतावत्यपि भवानस्मै ब्रह्मविद्यां नोपदिशाति अस्याम् उपेक्षायां अग्नयस्त्वां निन्देयुः।

अतः यथा गार्हपत्यादयोग्न्यः त्वां भवन्तं मा प्रवोचन् मा परिवदन्तु। ततो भवान् अस्मै ब्रह्मविद्या ब्रवीतु। यतोहि ज्ञानं सम्प्रात्य संसारे यः परेभ्यो न यच्छति ज्ञानरूपी हरिस्तस्मै प्रसन्न इव नेक्षते। इति अस्मै ब्रह्मचारिणे ब्रूहि किमपि ब्रह्मरहस्यं वर्णय। इति प्रेरितोऽपि अप्रोच्य अनिगद्यैव सत्यकामः प्रवासांचक्रे प्रावसत।।श्रीः।।

अथाग्निप्रशंसा वर्णयति—

स ह व्याधिनानशितुं दध्रे तमाचार्यजायोवाच ब्रह्मचारिन्नशान किं नु नश्नासीति स होवाच बहव इमेऽस्मिन्पुरुषे कामा नानात्यया व्याधिभिः प्रतिपूर्णोऽस्मि नाशिष्यामीति ।।३।।

एवं भग्नोद्दिश्य उपकोसलः व्याधिना मनस्तापेन अनशितुम् अनशनन् कर्त्तुं दध्रे निश्चितं कृतवान्। तमश्नन्तमाचार्यस्य सत्यकामस्य जाया आचार्यजाया तद्गुरुपत्नी उवाच भो ब्रह्मचारिन्! अशान् भोजनं गृहण किं नु कस्माद्धेतोः नाश्नासि न भुङ्क्षे सोऽवदत् अस्मिन् पुरुषे शरीधारिणे जीवे नानात्ययाः नानापरिणामवन्तः बहवा कामा इच्छाः कामानाम् आनन्तेन संजन्त व्याधिभिः प्रतिपूर्णोऽस्मि प्रतिस्पर्धितया पूर्णोऽस्मि अतः न अशिष्याभि न भोजनं करिष्यामि इति इत्थम् उदतीतरत् गुरुपत्नीम्।।श्रीः।।

अथाग्नीनां प्राकट्यपूर्वकम् उपदेशं वर्णयति अथ हाग्नयः समूदिरे तप्तो ब्रह्मचारी कुशलं नः पर्यचारीद्धन्तास्मै प्रब्रवामेति तस्मै होचुः प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति ।।४।।

अथ आसन्नमरणमुपकोसलं वीक्ष्य अग्नयः त्रयोऽपि समुदिरे प्रकटय्य निगदितवन्तः। तप्तो ब्रह्मचारी तपस्यया अस्मज्ज्वालया च नः अस्मान्त्रीनपि कुशलं विधिकौशलपूर्वकं पर्यचारीत् असेविष्ट। हन्त विस्मयाश्चर्यवाचकोऽयम् अव्ययः। अस्मै ब्रह्मचारिणे प्रब्रवाम प्राकर्षेण ब्रह्मतत्व निगदेम इति निश्चित्य त्रयोऽपि एकैकशः प्राणः ब्रह्म कं ब्रह्म, खं

ब्रह्म इति प्रकारत्रयेण त्रिभिर्विभूतिभिर्वा ब्रह्म ऊचुः। प्राण इत्येनन सत्, कम् इत्यनेन चित्, खम् इत्यनेन आनन्दम् इति सच्चिदानन्द ब्रह्म स्मारयामासुः।।श्रीः।।

उपकोसल-जिज्ञासां प्रस्तौति प्राणो ब्रह्मेति गार्हपत्ये उक्तवती प्राणानां प्रसिद्धत्वात् अवजगामुपकोसलः कं ब्रह्मेति दक्षिणाग्नौ कथिते, खं ब्रह्मेति तृतीये समुपदिष्टवती सहसा जिज्ञासा जाताकिमेतत् कं खमिति अतः जिज्ञासते—

स होवाच विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म कं च तु खं च न विजानामीति ते होचुर्यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कमिति प्राणं च हास्मै तदाकाशं चोचुः ।।५।।

अग्नीन् उपकोशलोऽपृच्छत् भगवन्तः प्रसिद्धपदार्थत्वात् प्राणं विजानामि तस्मिन् ब्रह्मभावानां चिकर्षामि। तु किन्तु कं, खं च न विजानामि। ननु यथा लोके प्रसिद्धार्थतया प्राणं ब्रह्मत्वेन जानासि तथैव क शब्दः लोके सुखवाची, खं शब्दश्चाकाशवाची इमौ कथन्न जानासि? इत्यान्तरं प्रच्छत्सु पावकेषु तत्समाहितिः। कं लौकिकं सुखं तद्ब्रह्म भवितुं शक्नोति नहि, खं आकाशं तस्मिन्न चेतने कथं चिद्घन ब्रह्मणो भावना अतः अग्नयः ऊचुः उत्तरयामासुः। वत्स—क ख योर्मध्ये न किञ्चित् विभेदः वाव निश्चयेन यत् कं तदेव खमर्थात् यद्ब्रह्मसुखस्वरूपं तदेवाकाशवन्नीलं गंभीरं समनन्तावकाशञ्च। ननु अन्यतरेणैव लाभः स्यात् अलं द्वाभ्याम् इति चेन्न। लौकिकसुखनिराशार्थं खमित्याकाशता, लौकिकाकाशत्वनिराशनार्थम्, कमिति लोकोत्तरसुखता सामानाधिकरण्यञ्च सुखस्वरूपत्वबोधानाय मानसेऽपि—

सुख स्वरूप रघुवंशमनि मंगलमोदनिधान।

(मानस २।२००)

मम तु कं सर्वेषां श्रुतीनां शिरोभूतं ब्रह्म। यथोक्तं श्रीमानसे—

जहँ रह श्रीनिवास श्रुतिमाथा।

(मानस १।१२७।३)

खमाकाशं शिरोभूतमपि आकाशवत् सर्वव्याप्तम्, अथवा कं जलरूपं, खं जलाधाराकाशरूपं, कं निर्गुणं ब्रह्म कीयते श्रुतिभिरनिर्वचनीयतया गीयते। खं—खनति भक्तानां संकटतरुमूलं राक्षसानां गर्वतरुमूलं यत्तत् खं सगुणं ब्रह्म श्रीरामाभिधम् एवं तस्मै प्राणं ब्रह्म सुखस्वरूप सर्वत्रव्यापितया आकाशं च ब्रह्म इत्यूचुः।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थेऽध्याये दशमे खण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यम् सम्पूर्णम्।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

एकादशः खण्डः

भूयोऽपि गार्हपत्यः अन्वाहार्य्यपचनः (दक्षिणाग्निः) आहवनीयश्चेति त्रयोऽप्यग्न्यः सम्भूय तमुपदेष्टुमारेभिरे—

अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशास पृथिव्यग्निरन्नमादित्य इति ।
य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ।।१।।

पूर्वस्मिन् खण्डे उपकोसलं प्राणो ब्रह्म इति गार्हपत्यः, कं ब्रह्म इति अन्वाहारपचनः, खं ब्रह्म इति च आहवनीयः इत्थं यथाक्रमम् अग्नित्रयम् त्रेधा ब्रह्मोपदिदेश। उपदेष्टुः स्वरूपजिज्ञासायां पुनरिमे यथाक्रमम् त्रिभिः कण्डैः स्वं स्वं स्वरूपमुपदिशन्ति। तत्रैकादशे प्रथमं गार्हपत्योपदेशोपक्रमः अथ इत्यादिना। अथ शब्दोऽयम् आनन्तर्यवाची प्रस्ताववाची च। अध्यात्मविद्योपदेशाव्यवहितोत्तरकालमेव। आत्मविद्योपदेशः प्रस्तूयते इत्यथ पदार्थः। ह निश्चयेन, एनम् उपकोसलं, गार्हपत्यः— ग्रहपतिनानीतोऽग्निः गृहपतिसेवितो वा, गृहपतिसम्बन्धिभूतो वा। अनुशशास ननु शासधातोः स्वयमेवानुशासनमर्थः तर्हि किमनेनानूपसर्गेण इति चेन्नैष दोषः। शासधातु-वाच्यमनुशासनरूपमर्थं विसर्ग एव द्योतयति, प्रहाराद्यर्थक 'हृ' धातोः प्राद्युपसर्गवत्, यद्वा शास धातोरनुशासनमर्थः अनूपसर्गस्य चानुकूल्यम् एवमनुशशासेत्यास्य गार्हपत्याभिन्नैककर्तृकपरोक्षत्वावच्छिन्नभूतकलावच्छिन्नोपकोसलकर्मकतदानुकूल्य-प्रकारकेच्छाविशिष्टशास्त्रोपदेशानुकूलव्यापारः पदार्थः। किमनुशासनमित्यत आह पृथिवी, अग्निः, अन्नम् आदित्यश्च इत्येव मे चत्वारि स्वरूपाणि। अत्र पृथिव्या अन्नेन सम्बन्धः अग्नेश्चादित्येन द्वन्द्वघटितस्यैव पूर्वोच्चरितत्वेऽपि अर्थानुरोधिनीयं व्यवस्था, एवम्, आदित्ये सूर्यनारायणे यः पुरुषः दृश्यते मानवाकारतया विलोक्यते सः अहं गार्हपत्याग्निः दृढयितुं परिवर्त्य प्राह— स एव आदित्यमण्डलगतपुरुष एव इत्येव गार्हपत्योपदेशप्रकारः आशयोऽयं यत् पृथिवी, अग्निः अन्नं, सूर्यः इमे मम चत्वारो देहाः, आत्मा तु सूर्यमण्डलगतपुरुष एव।।श्रीः।।

फलश्रुतिं निर्दिशति—

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकीभवति
सर्वमायुरेति जयोग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं
भुञ्जामोऽस्मिँश्च लोकेऽमुष्मिंश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ।।२।।

एवं पूर्वोक्तरूपेण विद्वान् जानन् एतं पृथिव्यादिरूपचतुष्टयसम्पन्नम् एतं गार्हपत्याग्निं यः कश्चनापि उपास्ते उपासनविषयं करोति। पापानां विकर्मविपाकानां

कृत्यां कृत्यारूपिणीं कृतिम् अपहते हिनस्ति आत्मनेपदत्वात् अपि तस्तकारस्य नित्वात् "सार्वधातुकमपित्" इति पाणिनीयानुरोधेन अनुनासिकलोपः सर्वमायुः शतवर्षात्मकम् एति कर्म कुर्वन् जीवनपथ्यायां गच्छति। ज्योक् उज्ज्वलार्थोऽयं क्रियाविशेषाणरूपोऽव्ययः ज्योग्जीवति समुज्ज्वलं जीवनं वर्तयतीति भावः। अस्य अवरपुरुषाः भावि संततयः न क्षीयन्ते नैव नष्टा भवन्ति। वयं त्रयोऽग्नयः अस्मिंल्लोके मर्त्यलोके जीवनकाले अमुष्मिन् परलोके च उपभुञ्जामः पालयामः 'भुजोऽनवने' इति पाणिनीयानुशासनेन अवन-भिन्नस्यैव आत्मनेपदविधानात् य एवमिति दुरुक्तिस्तु आदरार्था।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये एकादशे खण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यम् सम्पूर्णम्।।
।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

द्वादशः खण्डः

इदानीं दक्षिणाग्नेरुपदेशं प्रस्तौति—

अथ हैनमन्वाहार्यपचनोऽनुशशासापो दिशो नक्षत्राणि चन्द्रमा इति। य एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति।।१।।

अथ गार्हपत्योपदेशानन्तरं ह निश्चयेन उपकोसलं समनुग्रहीतुं निश्चित्य एनं जिज्ञासुं कमलपुत्रमन्वाहार्यपचनः दक्षिणाग्निः सशरीरः अनुशशास अनुशिष्टवान्। अनुशासनप्रकारमाह, आपः जलं, दिशः पूर्वादयः, नक्षत्राणि उडुगमाः चन्द्रमाः पार्वण, शशी, इमानि चत्वारि मे रूपाणि त्वं कः? इत्यत आह, एषः सर्वसाधारणगोचरः चन्द्रमसि इन्दुबिम्बमध्ये यः कश्चन् कदापि विलोकनार्ह दृश्यते चाक्षुस् साक्षात्कारविषयः क्रियते। दृशेर्ज्ञानार्थकत्वे अनुभूयते सः अहं दक्षिणाग्निरश्मि तमेव सिद्धान्तं दृढयति स एवास्मि एवकारः इतरयोगं व्यवच्छिनत्ति इति उपदेशप्रकारसूचकोऽयम्।।श्रीः।।

फलश्रुतिं निर्दिशति—

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकीभवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिँश्च लोकेऽमुष्मिँश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ।।२।।

एतत् ज्ञात्वा उपासीनः पालितो दक्षिणाग्निना आयुषा धनसम्पत्या जीवत्येष श्रुतेर्मतः।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थेऽध्याये द्वादशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यम् सम्पूर्णम्।
।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

त्रयोदशः खण्डः

अथाहवनीयविद्योपदेशं वर्णयति—

अथ हैनमाहवनीयोऽनुशशास
प्राण आकाशो द्यौर्विद्युदिति ।
एष विद्युति पुरुषो दृश्यते
सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ।।१।।

अथ तूष्णींभूते दक्षिणाग्नौ आहवनीयः तृतीयोऽग्निः अनुशशास, यत् प्राणः आकाशः नभो मण्डलं द्यौः स्वर्गलोकः, विद्युत् चपला इमे चत्वारो मे देहाः। विद्युति चपलायां य एषः पुरुषः दृश्यते अनुभूयते सः तादृशः अहम् अस्मि आहवनीयो भवामि स एवास्मि नान्यदतो व्यतिरिक्त इति भावः।।श्रीः।।

फलश्रुतिमाह—

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकीभवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिँश्च लोकेऽमुष्मिँश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ।।२।।

लोकीभवति विद्युल्लोकं याति शेषं सुगमम्।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये त्रयोदशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यम् सम्पूर्णम्।।
।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

चतुर्दशः खण्डः

उपदेशोपसंहाराय गुरुगौरवाय च खण्डोऽयं प्रारभ्यते सर्वज्ञाः सन्तोऽप्यग्नयः आचार्यमहत्वं वर्णयितुं अग्निविद्यात्मविद्ययोः गतिं नावगमयन्ति अत आहुः ते इत्यादि—

ते होचुरुपकोसलैषा सोम्य
तेऽस्मद्विद्यात्मविद्या चाचार्यस्तु
ते गतिं वक्तेत्याजगाम हास्याचार्य-
स्तमाचार्योऽभ्युवादोपकोसल ३ इति।।१।।

एवम् उपदेशं दत्त्वा ते गार्हपत्यान्वाहारपचनाहवनीयाः प्रोचुः निजगदुः— उपकोसल एषा तुभ्यम् अस्मद्विद्या अग्निविद्या आत्मविद्या ब्रह्मविद्या च निगदितेऽस्माभिः। हे सोम्य! सोमोत्पादनसमर्थ तव आचार्यः गतिम् उभयोर्विद्ययोर्लक्षं वक्ति वर्तमानसामीप्ये लट् विधानात् शीघ्रं वदिष्यतीत्यर्थः। तावत् अस्य आचार्यः विदेशतः आजगाम तम् अभ्युवाद आजुहाव उपकोसलसम्बोधने वाक्य टेः प्लुत उदात्तः।।श्रीः।।

अथाचार्योपकोसलसम्वादं समुपस्थापयति—

भगव इति ह प्रतिशुश्राव ब्रह्मविद इव सोम्य ते मुखं भाति को नु त्वानुशशासेति को नु मानुशिष्याद्भो इतीहापेव निह्नुत इमे नूनमीदृशा अन्यदृशा इतीहाग्नीनभ्यूदे किं नु सोम्य किल तेऽवोचन्निति ।।२।।

आचार्याह्वानानन्तरं भगव इति सम्मानवाक्येन प्रतिशुश्राव आत्मानं निवेदयाञ्चक्रे। आचार्यः सविस्मयं पप्रच्छ सोम्य! ते उपकोसलस्य मुखं ब्रह्मविद इव ब्रह्मवेत्तुरिव भाति परं प्रसन्नं दीप्यते। मयि प्रवसति त्वाम् उपकोसलं कः अनुशशास कोपादिदेश। आचार्य-प्रश्नं श्रुत्वा प्रेमसंरम्भविह्वलः ईषत् गोपनीयम् इव प्राह— भवति प्रवसति मां कः अनुशिष्यात् उपदिशेत् इह अस्मिन् बुधशून्ये गुरुपत्नीमात्रद्वितीये। अपि एव शब्दौ अत्यन्तगोपनपरौ इति निह्नुते गोपायति परम् आचार्यो जानन् न संतुष्यति तदा कथयति इमे ईदृशाः एतत् प्रकाराः तेजसा भवत्सदृशाः अन्यथादृशा वा वा शब्दः समुच्चयार्थः न तु विकल्पार्थः अन्यादृशाश्च इत्यर्थः। अभिप्रायोऽयं भवत्सादृश्येऽपि दैवतत्वात् ते अन्यदृशाः भवतो विलक्षणाः इति भावः। अथ स्पष्टयति तर्हि इमे अग्नयः आचार्यः प्राह ते किम् अवोचन् किमुपादिशन् इति।।श्रीः।।

अथोपकोसलः विद्याद्वयं तदुपदेशं प्राह अनन्तरम् आचार्यः ततो विलक्षणं ब्रह्म प्रावोचत्—

इदमिति ह प्रतिजज्ञे लोकान्वाव किल सोम्य तेऽवोचन्नहं तु ते तद्वक्ष्यामि यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यत इति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच ।।३।।

आचार्ये पृच्छति उपकोसलः इदम् अग्न्यात्मविद्याद्वयम् उपादिशन् इति प्रतिजज्ञे सत्यापयामास। आचार्यः प्राह सोम्य! ते लोकान् प्रावोचन् अर्थात् तैस्ते विद्ये उपदिष्टे याभ्यां त्वया ब्रह्मलोकान्ताः क्षणभङ्गुराः लोकाः तेषां क्षणभङ्गुरञ्च सुखं समधिगन्तु शक्यते न तु सकललोकविलक्षणं श्रीकौशल्यानन्दवर्दनपदपाथोजपरागमकरन्दपानरूपम्।

एतस्मात् विलक्षणम् अहं ते वक्ष्यामि। कीदृशं तत्? अत आह बन्धनानां दु:खामय-मूलकत्वात् यथा पुष्करपलाशे कमलपत्रे विराजमाना अपि आप: जलानि न श्लिष्यन्ते न सम्बन्द्ध्यन्ते एवम् अनेन प्रकारेण एवं विदि ब्रह्मवेत्तरि पापं विकर्मपरिणाम: कर्म सत्कर्मफलञ्च श्लिष्यन्ते न सम्बद्ध्यन्ते, ज्ञाने हि कर्मफलानि विलीयन्ते। यथोक्तं गीतायाम्—

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।

(गीता ४।३३)

इति उपकोसल: प्राह ब्रवीतु भगवान् इत्थं प्रार्थ्यमाने आचार्य: तस्मै उवाच अवदत्।।श्री:।।

इति छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये चतुर्दशे खण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यम् सम्पूर्णम्।।
।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

पंचदश: खण्ड:

अथ साम्प्रतमुपकोसलं सत्यकाम: प्राह ब्रह्मरहस्यं, नन्विदमनुपपन्नं ब्रह्मण: सर्वेषां याथातथ्येन बुद्ध्यारूढत्वाभावात् 'यस्यामतं तस्य मतं' (केन. १.२.५) 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य:' (कठ. १.२.२३) 'कस्तं मदामदं देवं मदन्योज्ञातुमर्हति' (कठ. १.२.२०) 'न च तस्यास्ति वेत्ता' (श्वेताश्वता उ. ५.२०) इत्यादिश्रुत्यन्तरेभ्य: 'स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम' (गीता १०.१५) इत्यदिस्मृतेश्च नैष दोष: ब्रह्मणो वृत्यारूढत्वस्य एकदेशीयै: सिद्धान्तितत्वात्। सत्यकामश्च स्वयं भगवद्रूपत्वाच्च, 'सत्यकाम: सत्यसंकल्प:' इत्यादिश्रुते: 'गुरु: साक्षाद् परब्रह्म' इति गुरुगीतोक्तेश्च। सत्यकामे ब्रह्मत्वव्यपदेशे तस्मिन्नल्पज्ञत्वरूपशंकापंकप्रच्छालनात्—

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति । तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चन्ति वर्त्मनी एव गच्छति।।१।।

अथ ब्रह्ममत्वत्तो न दविष्ठं कुत्र स इत्यत आह— एष: अयमित्याङ्गुल्यानिर्देश: कुत्रैतन्निवास:? अत आह य: सगुणसाकार: अक्षिणि प्रतिप्राणिनेत्रमधितिष्ठत् दृश्यते योगिभि: साक्षात् क्रियते। यथोक्तं श्रीभागवते—'ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो' (भागवत १२.१३.१) मानसे च जटायुषोक्तं— पश्यन्ति यं योगी जतन करि करत मन गो बस सदा (मानस ३.३२.४) पुरुष: पु: शरीरे उ निश्चयेन शेते

तटस्थतया तिष्ठति तथाभूतः एष आत्मा एषः अतिसंन्निकृष्टः आत्मा परमात्मा आसमन्तात् आदरेण वा आहूतो वा सततम् अतति इत्यात्मा, प्रेमवसंवदत्वात्। यत्तु केचन आत्मपदेन जीवात्मानं व्याचक्षते तदनर्गलम् अत्रत्य प्रसंगविरोधात्। नहि खलु जीवात्मा अक्षि दृश्यते तस्य स्वयमेवावयवित्वात् दृश्यते इति क्रियापदेनापि दृश्यदृष्टोर्भेदस्य सुस्पष्टं सिद्धत्वात् कर्मकर्त्रोश्च एकस्मिन् पिण्डे सर्वथैव व्यपदेशासंभवात्, यथा रामो दृश्यते केन इति जिज्ञासायां सीतया इत्थं लोकेऽपि दृश्यदृष्टिभेदस्य दुर्निवारत्वात् तस्मन्मदुक्तः पन्थः ज्यायान्। एवम् आदत्ते भक्तानां भावान् यः स आत्मा, आप्नोति व्याप्नोति चराचरं यः स आत्मा, निरस्तसकलपंचक्लेशपरिणामो नर्मदगुणग्रामोसीताभिरामो श्रीरामः, तथा च आप्नोति सर्वांल्लोकान् यः आहूतोऽतिसर्वदा, आदत्ते भक्तभावान्यः स आत्मा परमेश्वरः इति वैष्णवस्मृतेः इति इत्थं ह निश्चयेन उवाच अवदत् सत्यकाम उपकोसल इति भावः। पुनर्विशिनष्टि जीवात्मत्ववारणाय विशेषणं हि विद्यामानं सदितरव्यावर्तकम् एतद् क्लीबेऽपि ब्रह्मकथ्यते ब्रह्मपदेन वेदप्रकृति ब्रह्म ब्राह्मणानामर्थबोधसंभवे तद्वारणाय विशेषणम् एतद् अमृतं मृतामरणधर्माणोमनुपयाः। तद्भिन्नम् अथवा मरणमेव मृतं भावे क्त प्रत्ययविधानात् न भवति मृतं ज्ञायमानेऽस्मिन् तदमृतं "तमेव विदित्वामृत्युमेति" (शुक्लयजुर्वेद ३१.१८) इति मन्त्रवर्णात्। अभयं भयवर्जितं स्वत एव निरस्तसकलकुहकत्वात् अत एव विभीषणाय प्रतिजानीते दातुमभयं यथा 'सकृदेवप्रपन्नाय तवास्मीति चयाचते, अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम (बा.रा.यु. १८.३३) एतदेव ब्रह्म बृह्मत्वलक्षणं यच्च भागवत्पादाः ब्रह्मणो निर्धर्मत्वं सिद्धान्तयामासुः तत्तु बौद्धसंस्कृतिसंवित् कारणत्वात् ब्रह्मत्वस्यापि धर्मत्वेन सार्वजनीनत्वात् कस्यापि पदार्थस्य धर्मत्वशून्यतायाः त्रिकालमपि लपितुमशक्यत्वात् कथं ज्ञायताम्? इत्यत आह— उपमाविधेया यथा उदकं सर्पिषं निक्षिप्यते परन्तु मथ्यमानं ततः पृथगेव तिष्ठति यथा च नेत्रे किमपि सिच्यते तत् परितो गच्छति नैतत् स्पृष्टुं प्रभवति। तथैव सर्वाणि प्रपञ्चानि समीपं गच्छन्त्यपि नैतद् विकर्तुं पारयन्ति इति भावः। एवं सिञ्चति निक्षिपति वर्त्मनि मार्ग एव गच्छति नैव तत् प्राप्नोति इति भावः।।श्रीः।।

भूयस्तन्महिमानं वर्णयति—

एतꣳ संयद्वाम इत्याचक्षत एत ꣳ हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति । सर्वाण्येनं वामान्यभि संयन्ति य एवं वेद ।।२।।

एतम् इममेव परमेश्वरं संयत्वामः संयत्ति संयक् गच्छन्ति वामानि सकलानि सौन्दर्ययुक्तानि वस्तूनि यं तथाभूतः सकलसौन्दर्यगुमगणनिलयः इति अनेन रूपेण आचक्षते वर्णयन्ति विद्वांसः। तदेव स्पष्टयति— हि यतो हेतोः सर्वाणि वामानि

मनोहराणि सौभाग्यानि अभिसंयन्ति अभिगच्छन्ति वामत्वसंपादनायेति भावः। भगवतोऽन्यत्र कुत्रापि वामत्वानुपपत्तेः, एनं यः कश्चन वेद सोऽपि कीदृक् भवति? इत्यत आह एनं सर्वाणि वामानि अभिगच्छन्ति। यथोक्तं मानसे—

राम सरिस बर दुलहिन सीता ।
समधी दशरथ जनक पुनीता ।।
सुनि अस ब्याह सगुन सब नाचे ।
अब कीन्हे बिरंचि हम साँचे ।।श्रीः।।

(मा.वा. ३.५.२.३)

भूयस्तमेव फलश्रावणेन शरणागतं कर्तुं जीवं प्रेरयति श्रुतिः—

एष एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि।
नयति सर्वाणि वामानि नयति य एवं वेद ।।३।।

निश्चयेन एषः अयमेव अतिसिकुसुमसुकुमारः कौशल्याकुमारः एव नान्यः कश्चन एतद् व्यतिरिक्तः वामनिः सकलसौंदर्यभाजनम् अति सरलतया श्रुतिः स्वयमेव स्पष्टयत्यर्थं हि यतोहि एषः परमात्मा वामनिः वामानि नयति सर्वाणि सुभगानि स्वमेव प्रापयति यः एवं वेद जानाति सोऽपि सर्वाणि वामानि नयति प्राप्नोति कर्मकर्तृप्रयोगोऽयं स्वयमपि सौन्दर्याणि नीयमानो भवति।।श्रीः।।

भूयः भगवतोऽपरनाम्नो व्याख्यां करोति—

एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु ।
भाति सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद ।।४।।

निश्चयेन एषः निखिलसौन्दर्यसागरः भामनिः दीप्तिमान् कथमित्यत् आह— एषहि निरस्तसमस्तदूषणो भूषितभूषणो जितखरदूषणो दिनकरकुलभूषणो रामः सर्वेषु लोकेषु आब्रह्मभुवनेषु नरकेषु स्वर्गेषु च भाति अप्रतिहताखण्डज्योतिष्तया दीप्यते एवं दीप्यमानं परात्मानं वेद जानाति सोऽपि भाति शोभते भामित निरिति भाति इति भामनिः इति विग्रहे भा धातोः औणादिके मनिचिप्रत्यये साधुः।।श्रीः।।

भूयः ब्रह्मसाक्षित्वे सत्कर्ममहिमानं वर्णयति सत्कर्मकृतेषु निर्मलमनस्तया परमार्थवर्त्मनि प्रगतिर्जायते अतआह—

अथ यदु चौवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि

च नार्चिषमेवाभिसंवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासाꣳस्तान्मासेभ्यः संवत्सरꣳ संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यामाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते ।।५।।

अथ वामनीत्वेन भामतीत्वेन च ब्रह्मोपासना यदि शरीरं त्यजन्ति तदा उ तान्प्रतितत्कौटुम्बिकाः किमपि तर्कयित्वा एभिरस्माकं कृते किं धनमर्जितम् अतो न वयं किमपि साम्परायिकमेषाम् चरिष्याम इत्याकारकम्।

यदि चैव कदाचिन्नास्तिकबुद्ध्या समुपेताः अस्मिन् शरीरपाते शव्यं शवोनाम प्राणवियुक्तशरीरं तस्मै शवाय हितं शव्यं प्रेत सद्गत्युपयोगीत्यर्थं, कुर्वन्ति लोकलज्जावशंवदाः पुत्रपौत्राः अन्त्येष्टिसंस्कारं समाचरन्ति। यदि चैव भौतिकवादचाकिचिक्यविलुप्तवैदिककर्मश्रद्धाः न कुर्वन्ति शव्यं तथाऽपि ब्रह्मज्ञानां सद्गतौ कोऽपि प्रत्यवायो न जायते। ब्रह्मवेत्तारस्तु स्वयमेव भगवद्भजनजाह्नवीजलनिरस्तसकल परमेश्वरप्रेमप्रतिबन्धकप्रत्यवायपङ्काः शशाङ्क इव निष्कलङ्का। यथोक्तं भागवते—

देवर्षिभूताप्तनृणामृषीणां न किङ्करो नायमृणि राजन्
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्।

इत्यनेन वेदविहितसाम्परायिकसंस्कारस्य निन्दा न विधीयते।

प्रत्युत्स्तूयते ब्रह्मज्ञानी (नहि निन्दा निद्यं निन्दितुं प्रभवति किं तर्हि विधेयं स्तोतुम् इति न्यायात्) कुत्र गच्छन्ति ब्रह्मविदः अर्चिसम् अग्निज्वालां पश्चात् अर्चिसः अग्नीज्वालामतीत्य अहः दिनाभिमानिदैवतम् अह्नःदिनाभिमानि दैवतात् आपूर्यमाणपक्षं चन्द्रकलाभिः आपूर्यमाणं पूर्णं क्रियमाणं पक्षं शुक्लपक्षं तदभिमानि देवतामिति भावः। आपूर्यमाण पक्षात् अत्र ल्यवलोपे पञ्चमी आपूर्यमाणपक्षं अतिक्रम्येति भावः।

यान् षण्मासान् अत्र (कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे) इति सूत्रेण द्वितीया। एवम् आमाघात् यवदाषाढमिति भावः उदङ्ङेति सूर्यः उत्तरां दिशं गच्छति मकरमारभ्यः मिथुनं यावद् तान् उत्तरायणमासान् तेभ्यः मासेभ्यः संवत्सरं वर्षं, संवत्सरात् वर्षमतीत्य आदित्यं सूर्यमादित्याद् सूर्यात् पृथक्भूता चन्द्रमसं शशिनं, चन्द्रमसः तस्माद् विधोः विभक्ताः विद्युतं चपलां तदभिमानिनीं देवतामिति भावः। अभिसंयन्ति अभिगच्छन्ति

निर्जैरेव निष्कामकर्मजनितादृष्टविशेषैरित्यर्थ:। तत्पुरुष: तस्माद् ब्रह्मलोकादागत: पुरुष: तस्य ब्रह्मण: परिकरविशेषोदूत: पुरुष:। स किं प्रकारक:? इत्यत आह अमानवमनोरयं मानव: तद् भिन्नोऽमानव: मनु सृष्टिविलक्षणो भगवद् पार्षदविशेषो हनुमदादिरिति भाव:। स विमानान्यधिरोप्य एनान् ब्रह्मवेतॄन् ब्रह्मसीताभिरामं श्रीरामं परेश्वरं गमयति प्रापयति। यत्तु गन्तव्यगन्तृगमयितृभेदाभावं सिषाधयिष्यन्ति तदनर्गलमेव। एषै: देवपथ: देवानां द्योतनशीलानाम् पथा मार्ग देवपथ अयमेव ब्रह्मपथ ब्रह्मप्रापक पन्था। ब्रह्म पथ शाकपार्थिवादित्वात् मध्यमपद लोप:। एतेन ब्रह्मपथेन हनुमदादिमानवेतरश्रीवैष्णव: पार्षदै: सहयोगिर्भिर्नीयमाना प्रतिपद्यमाना श्रीरामं शरणं ब्रजन्त: इमं दृश्यमानां मानवं मनुनिर्मितं, यद्वा मानं मानोपलक्षितविकारान् वयति इति मानव:, तां मानवम् आवर्तम् आवर्तो जलभ्रमणविशेष: यस्मिन् पतितो नीचैर्मज्यते एव आवर्तयति पुन: पुनरघो गमयतीत्यावर्त: घोर: संसारजननमरणचक्ररूप: नावर्तन्ते नैव परमात्मपार्श्वत समागच्छन्ति नावर्तन्ते द्विरुक्तिरेषा ऐकान्तिकात्यन्तिकसंसारचक्रो निराससूचिका।।श्री:।।

इति छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाऽध्याये पञ्चदशे खण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यम् सम्पूर्णम्।।
।। श्रीराघव: शन्तनोतु ।।

षोडश: खण्ड:

यज्ञो दानं तप: कर्म पावनानि मनीषिणाम्। इति

(गीता १८ अ. ५)

इति गीतोक्त्या मनीषपावनत्वहेतुभूतस्य यज्ञस्य उपासत्वेन वर्णनमाह। न खल्वपूतमनीषे मनुष्ये ब्रह्मष्फुरणं सम्भवं अतो ब्रह्मसाक्षात्कारसहकारित्वेन यज्ञोपासनामाह—

एष ह वै यज्ञो योऽयं पवत
एष ह यन्निदꣳ सर्वं पुनाति यदेष
यन्निदꣳ सर्वं पुनाति तस्मादेष एव
यज्ञस्तस्य मनश्च वाक्च वर्तनी ।।१।।

एष: अयं समधिकसन्निकृष्ट: (त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्माऽसि) तै.उ. शिक्षाध्याय १ इति श्रुते:। वायो: प्रत्यक्षब्रह्मतया निरतिशयसान्निकृष्टता एतच्छब्दाभिलप्या ह वै इति निपात-युगलं, सार्वजनत्वेन सूचकम्। वायोर्यज्ञत्वेन सार्वजनीनता यज्ञ: मख: इज्यते पूज्यते

परिमलेन सङ्गम्यते सर्वेभ्यो प्राणान्ददाति यस्तथाभूत:, यद्वा यज्ञस्य विष्णो: रूपतया प्रत्यक्षब्रह्मतया च वायो: परस्पदरं समानधर्मत्वमनयो: 'यज्ञो वै विष्णु: इति श्रुते:। उपपत्तिमाह— य: अयं वायु: पवते पवित्री करोति तथैव यज्ञोऽपि एवमेव महाविष्णु श्रीरामोऽपि पतितपावनतयैव प्रसिद्ध: एष: वायु: एति गच्छति इति यन्, इण् धातो शतृ प्रत्येय अनुबन्धलोपे नुमि ''इणो यण्'' इत्येनेन यणि यण गच्छन् इदं सर्वं दृश्यमानं जगत् पुनाति पावयति। तथैव यज्ञभूत: परमात्मा अपि भक्तै: स्मर्यमाणो यन् दण्डकादिकं गच्छन् जगदखिलं पवित्रयतीत्यर्थ:। हेतुमाह यज्ञत्वे यत् यतोहि एष: वायु: यन् सर्वमिदं पुनाति अत एव अयं यज्ञ: तत्तुल्यकार्यत्वात् तस्य यज्ञस्य मनो स्वान्तं वाक् वाणी च वर्तनी वर्तते गच्छति यया तादृशि पद्धतिरिति भाव:।।श्री:।।

अथ यज्ञे ब्रह्मणो मौनभङ्गेऽपरिहार्यसङ्कटमाह मन्त्रद्वयमेकान्वयि—

तयोरन्यतरां मनसा स\ꣳस्करोति ब्रह्मा वाचा होताध्वर्युरुद्गातान्यतर\ꣳ स यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यववदति ।।२।।

अन्यतरामेव वर्तनी\ꣳ स\ꣳस्करोति हीयतेऽन्यतरा स यथैकपाद् व्रजन रथो वैकेन चक्रेण वर्तमानो रिष्यत्येवमस्य यज्ञो रिष्यति यज्ञ\ꣳ रिष्यन्तं यजमानोऽनुरिष्यति स दृष्ट्वा पापीयान् भवति ।।३।।

तयो: वाङ्मनोवर्तिन्योर्मध्ये अन्यतरां मनोवर्तिनीं ब्रह्मा यज्ञकारक: मनसा विवेकेन संस्करोति शोधयति अन्यतरां वाक्रूपां वर्तिनीं होता अध्वर्यु: उद्गाता वाचा वाग्वैभवेन संस्कुर्वन्ति ब्रह्मा अपि कदा वाक् वर्तिनीमेव संस्करोति? तां परिस्थितिमाह यस्मिन् प्रातरनुवाके शस्त्रारण्ये उपाकृते प्रारब्धे सति ब्रह्मा परिधानीयाया: ऋच पुरा पूर्वं ब्रह्मा व्यववदति मौनं त्यजति तदान्यतरा मनोवर्तिनी हीयते नश्यते। तेन किमित्यत आह स यज्ञोऽपि यथा एकपाद पुरुष: व्रजन् एकेन चरणेन नरो गच्छन् रिष्यति नश्यति एवम् एकेन चक्रेण वर्तमानो रथ: यथा रिष्यति तथैव मनोमात्रवर्तनीको यज्ञोऽवगन्तव्य तं यज्ञं यष्यन्तं विनश्यन्तम् अनुलक्ष्य अत्र ''अनुर्लक्षेण'' इत्यनेन द्वितीया। यजमान: रिष्यति नष्टो जायते।।श्री:।।

अत मौनमाचरतो ब्रह्मणो यज्ञस्य समुत्कर्षमाह मन्त्रयुग्मेन—

अथ चक्राभ्यां यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके न पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा। व्यववदत्युभे एव वर्तनी स\ꣳस्कुर्वन्ति न हीयतेऽन्यतरा ।।४।।

स यथोभयापद्व्रजन्रथो वोभाभ्यां चक्राभ्यां वर्तमानः प्रतितिष्ठत्येवमस्य यज्ञः प्रतितिष्ठति यज्ञं प्रतितिष्ठन्तं यजमानोऽनुप्रतितिष्ठति स इष्ट्वा श्रेयान् भवति ॥५॥

अथ एतद्विपरितं यत्र प्रातरनुवाके प्रारब्धे परिधानीय ऋक्त: पूर्वं ब्रह्मा नो व्यववदति न मौनं त्यजति, तदा स: उभे मनो वाग्वर्तिन्यो संस्करोति अन्यतरमनोवर्तिनी न हीयते न नष्टा भवति। उदाहरणद्वयमाह यथा उभयपादयुगलचरण: ब्रजन् न पतति एवम् उभाभ्यां द्वाभ्यां चक्राभ्यां वर्तमान: स्यन्दनेव स यज्ञ: प्रतितिष्ठति प्रतिष्ठितो भवति। तं यज्ञं प्रतितिष्ठन्तं प्रतिष्ठां गच्छन्तम् अनुलक्ष्यैवयजमान:प्रतितिष्ठति प्रतिष्ठितो भवति। इष्ट्वा सविधियज्ञं कृत्वा श्रेयान् भवति औपनिषद् श्रेयो भजते॥श्री:॥

इति छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाऽध्याये षोडशे खण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यम् सम्पूर्णम्॥
॥ श्रीराघवः शन्तनोतु ॥

सप्तदशः खण्डः

इदानीं ब्रह्म मौनप्रायश्चित्त निमित्तं व्याहृतिहोममनुशास्ति

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेषां तप्यमानानाꣳरसान् प्रावृहदग्निं पृथिव्या वायुमन्तरिक्षादादित्यं दिवः ॥१॥

प्रजापति: प्रजानां निखिलप्राणभृतां पति: स्वामी ब्रह्मा परमात्मा वा। तथा च स्मर्यते भागवते (प्रजापतिर्लोकपतिर्धरापति:) भा.व. २.४.१६ लोकान् निजनिर्मितान् पृथिवीम् अन्तरिक्षं दिवम् इति त्रिभुवनम् अभ्यतपत् 'तप आलोचने' आलोचनं ध्यानम् अभ्यध्यायेत् इत्यर्थ:। तेषां तप्यमानानां ध्यानविषयक्रियमाणानां लोकानां रसान् सारान् रसस्वादसारानन्देषु जले तथा, गुणे काव्यरसे चापि तथा काष्ठौषधीषु च) इति वैष्णवकोषात्। प्रावृहत् उदाहवत् निरगमयदिति भाव:॥श्री:॥

भूयो वेदोत्पत्तिं वर्णयति—

स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत्तासां तप्यमानानाꣳरसान्प्रावृहदग्नेर्ऋचोवायोर्यजूꣳषि सामान्यादित्यात् ॥२॥

एवं पृथिव्या: अग्निम् अन्तरिक्षात् वायुं दिवः सूर्यम् इति त्रयाणां लोकानां यथाक्रमं सारभूताम् एकैकां देवतां निगमय्य, स: प्रजापति: भूय: तिस्र: अग्निवाय्वादित्यसामाख्या: देवता: दैवसम्पन्मयी: शक्ती: अभ्यतपत् पौन:पुन्येनालोचितवान्। तासां तिसृणां देवतानाम् अभितप्यमानानां आलोच्यमानानां प्रसान् सारभूतान् त्रीन् विशेषान्

प्रावृहत्। काँस्तान्? अग्नेः अग्निदेवतातः ऋचः ऋक् प्रायवेदं वायुदैवतात् यजूँषि यजुः प्रायवेदमादित्यात् सूर्यदेवतातः सामानि सामवेदं निःसारितवान्।।श्रीः।।

अथ त्रयीविद्योत्पत्तिमाह—

स एतां त्रयी विद्यामभ्यतपत्तस्यास्तप्यमानाया रसान्प्रा-वृहद्भूरित्यृग्भ्यो भुवरिति यजुर्भ्यः स्वरिति सामभ्यः।।३।।

अथ अग्निवाय्वादित्येभ्यस्त्रयीं विद्यामुत्पाद्य तां पुनः अभ्यतपत ध्यानविषया-मकुरुत। तस्याः ध्यायमानायाः यथाक्रमं ऋचः ऋग्वेदात् सारभूतां भूरिति व्याहृतिं यजुर्भ्यः यजुर्वेदात् भुव इति व्याहृतिं सामभ्यः स्वरिति व्याहृतिं निर्गमयत् अत्र संग्रहः "प्रजापतिस्त्रिलोक्या वै ध्यात्वा रसमुदाहरत्"। भुव अग्निं च खाद्वायुं सहस्राशुं तथा दिवः। पुनस्तत् साररूपेण अग्नेः ऋग्वेदः उद्धृतः 'वायोश्चैव यजुर्वेदं सामवेदमथार्कतः'। व्याहृतीस्ताभ्यो भुर्भूवः स्वरुदाहरत्। ऋग्वेदाद्भूः यजुर्वेदात् भुवः स्वः सामवेदतः।।श्रीः।।

अथ ऋग्वेदन्यूनता प्रायश्चित्तमाह—

तद्यद्यृक्तो रिष्येद्भूः स्वाहेति गार्हपत्ये जुहुयादृचामेव तद्रसेनर्चां वीर्येणर्चां यज्ञस्य विरिष्टꣳ संदधाति।।४।।

यदि चेत् यत् किमपि विधानं ऋक्तः ऋक्वेदात् हेतुभूतात् ऋष्येत् न्यूनता भवेत् तदा भूः स्वाहा इति प्रथमव्याहृत्या गार्हपत्ये जुह्यात् प्रायश्चित्तहोमं कुर्यात्। उपपत्तिमाह यतो हि यज्ञस्य ऋचां च वृष्टं छिन्नं न्यूनमिति भावः ऋचां रसेन भूरूपेण ऋचामेव वीर्येण पराक्रमरूपेण भूरिति व्याहृतिविशेषेण संदधाति योजयति।।श्रीः।।

अथ यजुः प्रायश्चित्तमाह—

अथ यदि यजुष्टो रिष्येद्भुवः स्वाहेति दक्षिणाग्नौ जुहुयाद्यजुषामेव तद्रसेन यजुषां वीर्येण यजुषां यज्ञस्य विरिष्टꣳ संदधाति।।५।।

अथ अनन्तरं यदि यजुष्टः यजुर्वेदात् हेतोः रिष्येत् न्यूनं भवतु, तदा भुवः स्वाहा इति एवं चतुराक्षरं पठित्वा दक्षिणाग्नौ अन्वाहार्य पचने जुहुयात्। यतोहि तद्रसेन सारभूतेन यजुषां वीर्येण शक्तिरूपेण यजुषां यजुर्मन्त्राणां यज्ञस्य क्रतोः वृष्टं वृश्चुच्छेदने इत्यनेन भूते क्त प्रत्यये 'गृहज्या' इत्यनेन संप्रसारणे 'व्रश्चभ्रश्च' इत्यनेन सत्वेष्टुत्वे वृष्टं छिन्नमिति भावः। संदधाति द्विधाभूतमेकीकरोति। किम्? अत आह— तत् भुवः स्वाहा इति मन्त्रेणाहुतिकर्म।।श्रीः।।

अथ साम प्रायश्चित्तमाह—

अथ यदि सामतो रिष्येत्स्वः स्वाहेत्याहवनीये जुहुयात्साम्नामेव तद्रसेन साम्ना यज्ञस्य विरिष्टꣳ संदधाति।।६।।

अथ यदि सामतः सामवेदात् तत् न्यूनतां गच्छेत् तदा स्वः स्वाहा इत्यक्षरं पठित्वा सामसंभूतव्याहृत्या आहवनीये तृतीये जुह्यात्। तद्धवनकर्म साम्नां रसेन सारेण साम्नां वीर्येण आहुतिसमुद्भूता दृष्टिजनितेन बलेन साम्नां सामसंबन्धियज्ञस्य यज्ञसम्बन्धिभूतं वृष्टं छिन्नं संदधाति संघातयति।।श्रीः।।

अथ ब्रह्मणो बोधमहिमानं वर्णयति द्वाभ्यां मन्त्राभ्याभ्म्।

तद्यथा लवणेन सुवर्णꣳ संदध्यात्सुवर्णेन रजतꣳ रजतेन ।
त्रपु त्रपुमा सीसꣳसीसेन लोहं लोहेन दारु दारु चर्मणा ।।७।।
एवमेषां लोकानामासां देवतानामस्यास्त्रय्याविद्याया वीर्येण यज्ञस्य।
विरिष्टꣳ संदधाति भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवं विद्ब्रह्मा भवति।।८।।

यथा क्षारेण कनकं तेन चान्द्री ततो ह्ययो।
लोहं च तेन वै काष्ठं चर्मणा संदधाति वै ।।
एवं यत्रास्ति ब्रह्मज्ञो सोऽपि लोकसुरश्रुतिः ।
यज्ञानां क्षतिमेवाशु संदधाति स्वकर्मणा ।।

इति मन्त्रद्वयंसारांशः।।श्रीः।।

अथ द्वाभ्यां मन्त्राभ्यां भूयो ब्रह्मऋत्विग्ज्ञानप्रशस्तिमाह—

एष ह वा उदक्प्रवणो यज्ञो यत्रैवंविद्ब्रह्मा भवत्येवंविदꣳ ह वा एषा ब्रह्माणमनु गाथा यतो यत आवर्तते तत्तद्गच्छति।।९।।

ह वा इति निपातद्वयं सुनिश्चयसूचकं निश्चप्रचममेवेदं यत् यत्र यज्ञे एवं विद् एवं प्रायश्चितं व्याहृतिहवनविज्ञः ब्रह्मा एतन्नामको भवतिऋत्विक् एष यज्ञः उदक्प्रवणः उदकं जलं प्रवाति निम्नं गच्छति अस्मिन् तथाभूतो जलनिम्नकः उत्तरपथासूचकः, एवं विदं ब्रह्माणम् उद्दिश्य एषा गाथा स्तुतिगीतिः भवति यतो यतः यस्माद् यस्माद् वेदात् हेतुभूतात् आवर्तते न्यूनता भवत्यावृत्तिविषय़ा ततस्ततः तत्तद् व्याहृत्यैव जुह्वत् गच्छति प्रायश्चित्तपारमिति भावः।।श्रीः।।

मानवो ब्रह्मैवैक ऋत्विक्कुरुनश्वाभिरक्षत्येवं विद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानꣳ सर्वाश्चार्त्विजोऽभिरक्षति तस्मादेवं विदमेवं ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवंविदं नानेवंविदम् ।।१०।।

एवं मानव: मनौ जात: मनुसंस्कृतिपरिपालक:, अथवा मनु: मन्त्र: तेन संस्कृत: मानव: मनवे मन्त्राय हितो वा मानव:, एक एव ब्रह्मा ऋत्विक् भवति। यत्तुमौनाचरणात् मननात् ज्ञानवत्वात् ब्रह्मा मानव: इति कैश्चिद्व्याख्यानतं तद् व्याकरणशून्यभाषितत्वात् उपेक्ष्यम्। यथा अश्वा बडवा अश्वानामपेक्षया तत्र वात्सल्याधिक्यात् कुरून् कुर्वन्ति युद्धमिति कुरव: भय: तान् कुरून् अभिरक्षति शत्रु शस्त्रतस्त्रायते एवमेव एतद्रहस्य-ज्ञाता ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वानृत्विज: रक्षति। अत: एवं विदं ब्रह्माणं कुर्वीत यज्ञे ब्रह्मत्वेन नियुञ्जीत अनेवं विदं एतद्रहस्यानभिज्ञं न नियुञ्जीत द्विरुक्ति दृढतरनिषेधाध्याय-समाप्तिसूचिका।।श्री:।।

इति श्रीचित्रकूटस्थसर्वाम्नाय श्रीतुलसीपीठाधीश्वरश्रीमज्जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य-श्रीरामभद्राचार्यमहाराजकृतौ श्रीराघवकृपाभाष्ये छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये ऋत्विग्विवरणे चतुर्थाध्याय: सम्पूर्ण:।।

।। श्रीराघव: शन्तनोतु ।।

।। श्रीराघवो विजयते तराम ।।
।। श्री रामान्दाचार्याय नमः ।।

पंचमोऽध्यायः

प्रथमः खण्डः

पंचेषुर्निजपंचमश्चविजहौ यं पंचवक्त्रार्चितम् ।
पश्यन्पञ्चमसिद्धगीतचरितं पञ्चार्दनं पंचमम् ।।

पंचम्येकनिषेवणीयमनिशं पञ्चम्युपालब्धिकम् ।
तं काष्ठेभमुखेभगण्डहतिकृत् पंचाननं विद्महे ।।

पंचमीश कृताऽशेषसेषताकमशेषपम् ।
पंचपंचकृतं पंचपंचमं पञ्चमं श्रये ।।

चतुर्थे तत्तत्प्रतीकैः निरस्तसकलदोषस्य निखिलकल्याणगुणगणकोशस्य कोशलेन्द्रैकनाम्नः श्रीसीतापते सगुणब्रह्मणः विविधोपासना; समुपबृंहिताः। तत्रैव संवर्गविद्याप्रकरणे प्राणोपासनमपि निरूपितम्। साम्प्रतं तस्यैव प्राणस्य श्रेष्ठत्व-ज्येष्ठत्व-वसिष्ठत्व-प्रतिष्ठात्व-सम्पत्वायतनत्वनिबन्धनिरूपणं विधाय संसारनिरासारताम् ऊर्ध्वरेतसां ब्रह्मचारिणां दक्षिणोत्तरवर्त्मवर्तिनीं गतिं तृतीयाञ्च दुर्गतिं भगवत्पादपद्मविमुखानामनीश्वराणां न स्वराणां केवलं कर्मबन्धननिगडितानां प्रपञ्चयितुं पञ्चम् आरभ्यते पञ्चमपुरुषार्थवर्णनैकलक्षः तत्र प्रथमं द्वाभ्यां शकलाभ्यां समाख्यायिकायुगलवर्णनच्छलेन प्राणस्यैव सर्वोत्कृष्टत्वं प्रतिपाद्यते। ननु सर्वथैवानुचितमेतत् ब्रह्म विद्याप्रकरणे किमनेन प्राणसर्वोत्कृष्टत्व वर्णनेनेति चेन्न तच्छद्मना निरस्तसकल प्रपञ्चस्य ब्रह्मण एव प्रतिपादनफलकत्वेनादोषात्। ऊर्जिततत्वप्रतिपादनं हि ब्रह्मत्वाभिला-पकमिति स्मृतेः। यथोक्तं श्रीगीतासु—

यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसंभवनोंम् ।।

गीता १०.४.९

ममेत्यात्र भेदषष्ठी एवम् अभेदत्वरूपप्रकारतावच्छिन्ना भेदसंसर्गावच्छिन्ना भेदसंसर्गेण मद्विशिष्टतेजोभिन्ना स संभवमिति पदार्थपरिष्क्रिया। तस्मात् सर्वमविरुद्धमेवेति विरम्यते ।

यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च।
ह वै श्रेष्ठश्च भवति प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ।।१।।

पूर्वं ज्येष्ठत्वश्रेष्ठत्वविज्ञानफलश्रवणेन रोचयित्वा तत्तद्विवित्सन् प्राणस्यैव तत्वमुपपादयति । ह वा निश्चयेन कृपाचतुष्टयविशुद्धशान्तस्वान्तः गुरुदैवतो यः कश्चनापि ज्येष्ठं वयोऽधिकं श्रेष्ठं गुणाधिकं वेद जानन्नुपास्ते । सः लोके ज्येष्ठः वयोऽतिशयः श्रेष्ठः गुणातिशयश्च भवति । अतः तादृग्गुणेन बुभूषिता ज्येष्ठे श्रेष्ठे वेद्ये इति फलितम् । कौ तावित्यत आह प्राणः ज्येष्ठः वागादिभ्यो वयोऽधिकः गर्भधारणे वागादिभ्यः प्रागेव तस्योपलब्ध्यनुभवात् श्रेष्ठः गुणाधिकः तेनैवेतरेषां संचालकत्वसिद्धेः।।श्रीः।।

अथ प्राणस्य साक्षाद्वसिष्ठत्वप्रतिपादनाय पूर्वं पारम्परिकवसिष्ठतां प्रतिपादयति—

यो ह वै वसिष्ठं वेद वसिष्टो ।
ह स्वानां भवति वाग्वाव वसिष्ठः।।२।।

वै निश्चयेन यः कश्चनापि वसिष्ठम् अतिशयेन वसते आच्छादयति इति वसिष्ठः अतिशायन् इष्ठन् तम् अतिशयेन छादनशीलम् । यद्वा अतिशयेन वस्वस्त्यस्यिन् यः स वसुमान् अतिशयेन वसुमान इति वसिष्ठः, तं यः वेद ज्ञानाभिन्नोपासनेन योजयति सस्वानां निजज्ञातीनां स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् इति पाणिनीयसूत्रेण ज्ञाति धनार्थभिन्नाभिधेयक-स्वशब्दस्य सर्वनाम संज्ञा, विधायकतया तन्मूलक सुडागमाभावः। बोधितसर्वनाम-संज्ञाव्यतिरेकस्य स्वानामिति प्रयोगस्य यथोक्तार्थध्वनितत्वोपपत्तेः, न च पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा इति सुडविकल्पतः सर्वनामसंज्ञात्यतिरेकविनिगमना भावे न तादृगर्थो-पपत्तिरिति वाच्यम्। पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा इति सूत्रस्य ङसिङ्योरेव विकल्पविधान-विषयत्वेन त्वदुक्तपक्षानुपपत्तेः। एवं स्वानां निजज्ञातीनां मध्ये वसिष्ठो भवति आच्छादकतमो वसुमत्तमश्च भवतीति फलितं, वा निश्चयेन वाग् वाणी वसिष्ठः अतिशयेन वसुमान्।।श्रीः।।

अथ प्रतिष्ठां व्याचण्टे—

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठत्यस्मिंश्च
लोकेऽमुष्मिंश्च चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा ।।३।।

यः प्रतिष्ठां वेद तत्परिभाषां ज्ञात्वा समुपास्ते सः प्रतितिष्ठति लभते, चक्षुः चष्टेः विलोकयति येन तच्चक्षुः करणे उणप्रत्ययः। तदेव प्रतिष्ठा तेनैव निखिलानां रूपाणां साक्षात्कारकरणात्। अतएव तच्चक्षुः प्रतिष्ठात्वेन ज्ञात्वा अमुष्मिंल्लोके स्वर्गे अस्मिंल्लोके भूतले च प्रतिष्ठितो भवतीति फलितम्।।श्रीः।।

अथ संपदं व्याचष्टे—

यो ह वै संपदं वेद सꣳ हास्मै कामाः।
पद्यन्ते दैवाश्च मानुषाश्च श्रोत्रं वाव संपत्।।४।।

वै निश्चयेन यः कोऽपि संपदं वेद तत्वेनोपास्ते अस्मै संपद्वेत्रे अस्मै इत्यत्र तादर्थ्ये चतुर्थी, एतदर्थमितिभावः। दैवाः देवोचिताः मानुषाः मनुष्यसमुचिताश्च कामाः मनोभिलषितपदार्थाः संपद्यन्ते सम्पन्नाः भवन्ति प्राप्तय इति शेषः। श्रोत्रमेव संपत् संपद्यन्ते श्रवणगोचराः भवन्ति शब्दाः यत् सा संपत् इति व्युत्पत्तेः।।श्रीः।।

अथायतनं व्याचष्टे—

यो ह वा आयतनं वेदायतनꣳ ह।
स्वानां भवति मनो ह वा आयतनम्।।५।।

यः ह वा निश्चितधिया आयतनम् आयतन्ते आश्रयन्ति यत्तदायतनम्। आयत्तते आश्रियते जनैः यत्तदायतनं वा आपूर्वकस्य प्रयासार्थकयति धातोः आङो बालत् आश्रयार्थकता अनेकार्था हि धातवः इत्यनुशासनात्। आङुपसृष्ट "यतेः यजयाचयति रुचि विक्षप्रक्षरक्षोनङ्" इत्येनन नङ् प्रत्ययः। लोकाश्रयत्वात् क्लीबत्वम् आयतनं गृहं सद्म धाम मंदिरवेश्म च, भवनं सदनं वासो निवासश्च निकेतनम् इति वैष्णवकोशात्। एवम् आयतनज्ञः स्वानाम् आत्मीयानाम् आयतनम् आश्रयो भवति। तर्हि किं नाम आयतनं यज्ज्ञातुं प्रयत्येत इत्यत आह वा निश्चयेन मन आयतनं समस्तानां सुःखदुःखादीनां मनस्यैव कृतिनिवासत्वात् न्यायनये मनः सुखाद्युपलब्धिकारणं बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषधर्माधर्म-प्रयत्नसंस्कारणामात्मनिष्ठत्वम्। औपनिषदनयेतु सुखदुःखादयोमनोधर्माः आत्मा तु विकारेभ्य एतेभ्यो स्पृष्टः इति विवेकः।।श्रीः।।

अथ प्राणश्रेयस्तुनिर्धारणाय आख्यायिकामवतारयति—

अथ ह प्राणा अहꣳ श्रेयसि व्यूदिरेऽहꣳ श्रेयानस्म्यहꣳ श्रेयानस्मीति।।६।।

एवं प्राणवाक् चक्षुः श्रोत्रमनसां यथाक्रमं निर्विवादतया ज्येष्ठत्ववसिष्ठत्व प्रतिष्ठात्व संपत्वायतनत्वानि निर्धारितानि। किन्तु श्रेष्ठत्वविषये पञ्चानां विवादः। यद्यपि

मुख्यवृत्या प्राणशब्दभाक् मुखनासिकानिर्गमनप्रवेषनव्यापारो वाय्याकारश्चेतन एव तथापि गौडवृत्या वाक्चक्षु: श्रोत्रमनष्वपि प्राणशब्द: व्यवहार; इति धेयं एवं प्राणा: प्राणवाक्चक्षु:श्रोत्रमनोरूपा: शरीरचालनसूत्रधारा: अहं श्रेयानस्मिन् तदहं श्रेय: तस्मिन् अहं श्रेयसि अहम् एतस्मान् श्रेयानस्मि। एवं रूपे विषये, यत्तु अहं श्रेयसि इति सप्तम्यन्तं निरीक्ष्य तस्मान्यपदार्थत्वमूलं विशेषणत्वं विभाव्य तद्विशेषतया प्रयोजनमित्याक्षिपन्ति, भगवत्पादातदनुचितम्। अहं श्रेयसीत्यत्र सप्तमी, सा च वैषयिकी एवं स्वत एव विभक्तिबलेन विषयविशेष्ये सिद्धे: सति तदरिक्तबलेन: विशेष्याक्षेपस्य सर्वथैवाशास्त्रीयत्वात् विषयं विशिनष्टि, अहं श्रेयान् पूर्वस्मात् अहं श्रेयान् प्रशस्ततर: इत्याकारकं विवादं प्रस्तुवन्त: व्यूदिरे विवादं चक्रिरे।।श्री:।।

नन्वसंगतं जडीभूतानां प्राणवाक्चक्षुश्श्रोत्रमनसां कृते यथाक्रमं श्रेष्ठज्येष्ठ-प्रतीष्ठासम्पद् आयतनादि नामानि तत्तन्नामतया तेषां परिज्ञानं तत्तद्विधेयाज्ञानेन तेषां तत्तद्फलाभिधानप्रपञ्चश्च व्यर्थ एवेति चेन्मैवम्, औपनिषदानामस्माकं मते पूर्वोक्तानां प्राणादीनां न जडत्वं तत्तद्देवताधिष्ठिततया तत्तच्चेतनानुरोधेन चेतनत्वं दैवत्वं च। एवं प्राणे परात्मा 'स उ प्राणस्य प्राण:' (केन.उ. १-१-२) इति श्रुते:। स एव सर्वतो ज्येष्ठश्रेष्ठश्च तज्ज्ञानस्य ज्येष्ठत्वश्रेष्ठत्वरूपे फले तथा वाचमधुतिष्ठत्यग्नि स एव वसुमत्तम: वसितमश्च 'होतारं रत्नधातवम्' इति सर्वप्रथम ऋचि प्रतिपादितत्वात्। तस्मात् स एव वसिष्ठ:, तज्ज्ञस्य वसिष्ठताफलं तदनुरूप इत्थं चक्षुरधितिष्ठति सविता स एव सर्वेषां प्रतिष्ठा सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुश्च इति श्रुते:। तस्मात् तज्ज्ञ: प्रतितिष्ठति, तथा श्रोत्रदैवतं दृग् सैव सम्पत् तज् ज्ञातरि निखिलकामसम्पत्तिरुचितैव दिशां मातृत्वेन वात्सल्यावच्छिन्नचेतनतया तत्रवदान्यता सुसंघटा। एवं मनसो दैवतं चन्द्र: सुधा मयूखत्वात् जीवनपोषकत्वाच्च प्राणिनां स एव सर्वायतनं, तज्ज्ञस्य स्वायतनताफलम्। किन्त्वमूषां देवतानां वाक्चक्षुत्रमनोधिष्ठानानाम् एकैकफलदानसामर्थ्यं, प्राणरूपस्य परमात्मनस्तु सर्वफलदानसामर्थ्यम्। अतएव श्रीभागवतस्य द्वितीयस्कन्धे तृतीयाध्याये तत्तत् फलार्थं तत्तत् दैवतोपासनं समुदिश्य प्रकरणमुपसंहरतां भगवताशुकाचार्येण परात्मन्येव सर्वफलदानसामर्थ्यं विनिश्चिन्वता विधेयतया भक्त्येकप्रवणचेतसा भगवद्भजनमेव समुपदिष्टं तथा हि, '**अकाम: सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधी:। तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्।** (भागवत २-३-१०) तस्मात् प्राणभूतस्य परमात्मन: श्रेष्ठस्य वाच्यम् । ज्ञाते हि श्रेष्ठत्वे साधकस्य तत्तद्देवोपासनतो निवृत्तिपूर्विका समनन्यनिष्टा सीतापतौ परमात्मन्येव कामतो भजनप्रवृत्तिरिति समवतारयति कारुणिकशिरोमणिर्माताश्रुतिराख्ययिकामिमाम्। यत्तु शंकराचार्या: आख्यायिकासु

काल्पनिकत्वमारोपयन्ति तत्तु सर्वथा प्रच्छन्नबौद्धविजल्पिततया नास्तिकभाषण-मिवोपेक्षम्। श्रुतीनां ह्यपौरुषेयत्वात् तासां निरस्तभ्रमप्रमादलिप्साकर्णापाटवादि पुंदोषसमस्तशङ्कापङ्ककलङ्कावकाशतया भगवन्निश्वासभूतानां भगवन्मयत्वं त्रिकालज्ञत्वं च निर्बाधं न खलु तद्व्यलीकं वदिष्यन्ति। भूतार्थवादिना हि माता श्रुतिः तस्मात् प्रत्यक्षरं प्रमाणं श्रुतीनां स्वत एवेति निश्चिनुते रामभद्राचार्यः। तत्र नैकमक्षरमप्यप्रमाणम्। आख्यायिकारस्वरूपमाह—

ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुर्भगवन्को
नः श्रेष्ठः इति तान्होवाच यस्मिन्
व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव
दृश्येत स वः श्रेष्ठ इति ।।७।।

ते प्राणाः अहं श्रेयान् अहं श्रेयान् इति परस्परविवदमाना अपि कञ्चिन्निर्णयमलभमानाः प्रजापतिं प्रजानां पतिः प्रजापतिः तं प्रजापतिं हिरण्यगर्भं नेत्याः पितरं सकलप्राणिनां पितरं परमेश्वरं श्रीरामनामकं साकेतपतिं, यत्तु प्रजापतिः हिरण्यगर्भः इति प्राञ्चो व्याचक्षते। तत्तु वेदोपबृंह्मणपरायणपुराणसिद्धान्तानामनालोचितत्वादेव ब्राह्मणस्वयं प्राणवत्वात्। तस्य तेषां पितृत्वानुपपत्तेश्च। तथा च श्रीभागवते, सृष्टिवर्णनप्रारम्भे मैत्रेय आह विदुरम्—

सा वा एतस्य संद्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका ।
माया नाम महाभाग ययेदं निर्ममे विभुः ।।
कालवृत्या तु मायायां गुणमय्यामधोक्षजः ।
पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवान् ।।

(भागवत ३-५-२५,२६)

तस्मान्मदुक्तः पन्थाः ज्यायान्। न खलु पुराणेतिहासमनालोच्य श्रुतिर्व्याख्यातुं शक्या यथोक्तं भारते 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपवृंहयेत् बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मय्यसौ प्रहरिष्यति सत्य गत्वा ऊचुः निर्णयार्थं निवेदयाञ्चक्रुः। भगवन् हे षडैश्वर्यसम्पन्न! साकेताधिपते! न अस्माकं मध्ये कः श्रेष्ठः? कतमोगुणाधिक इति प्रश्नाकारः। सः भगवान् तान् पञ्चविवदमानान् उवाच प्रत्युत्तरयामास। यस्मिन् उत्क्रान्ते शरीरं त्यक्तवती शरीरमिदं पापिष्ठतरमतिशयेन पापवत्तरं पापवत्तरता च श्रौतस्मार्तकर्माकरणजनित-प्रत्यवायमूलिका दृश्यते, दृष्टिगोचरं स्यात्, स एव वः युष्माक मध्ये श्रेष्ठः प्रशस्ततरः, अहं न कमपि श्रेष्ठतरं कथयिष्यामि, नोचेत् यूयं मम तस्मिन् पक्षपातं गणयिष्यध्वे।

यूयमेव निष्क्रम्य-निष्क्रम्य महाक्षणानुसारेण कतमस्यचिच्छ्रेष्ठत्वमनुभविष्यथेति भगवतोऽभिप्राय: इति इत्युक्त्वा भगवान् विवदमानान् देवान् प्रेषयामास।।श्री:।।

अथाष्टमत: सकलसमाप्तिं यावत् पञ्चानामपि परीक्षाप्रकारपूर्वकं श्रेष्ठत्वावकलनमाह—

सा ह वागुच्चक्राम सा संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति यथा कला अवदन्तः प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह वाक् ।।८।।

अथ भगवता श्रेष्ठत्वपरीक्षाप्रकारनिर्धारणानन्तरं वाक् तदधिष्ठिताग्निदेवतेतिभाव:। उच्चक्राम विराट्शरीरं त्यक्त्वा निर्जगाम। कियत् कालं दूरमासीत्? इत्याह, संवत्सरम् अत्र कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे इति सूत्रेण कालात्यन्तसंयोगे द्वितीया। एक वर्षं यावदिति भाव:। प्रोष्य प्रवासं कृत्वा भगवदात्मक आकाशे स्थित्वेति भाव:। पर्यत्य, पुनरागत्य वैराजं देहम् उवाच, ताश्चतुर: प्राणचक्षु:श्रोत्रमनोनामकान् उवाच पप्रच्छ धातूनामनेकार्थत्वात् ब्रुवोऽपि गीप्सार्थकत्वं प्रश्नाकारं सूचयति। महते वाग्दैवतं विना यूयं जीवितम् विराट्शरीरं धारयितुं कथमशक्त कथं समर्था अभवत्? त उत्तरं ददु:, यथा कला: कलन्ति अव्यक्तं रावं कुर्वन्ति इति कला: मूका: अवदन्त: वाणीव्यवहारं न कुर्वन्तोऽपि प्राणेन प्राणन्त: श्वसन्त:, चक्षुषा नेत्रेण पश्यन्त: रूपं विलोकयन्त:, श्रोत्रेण कर्णेन शृण्वन्त: शब्दं साक्षात् कुर्वन्त: मनसा ध्यायन्त: सङ्कल्पयन्त: तथैव तदभावेऽपि सर्वे व्यवहारा: यथावज्जाता: केवलं वाणी व्यवहारो व्यतिक्रान्त: एतेनेदमायातं, यत् त्वयि उत्क्रान्तायां वाणीव्यवहारं विना शरीरं पापिष्ठमासीत् किन्तु पापिष्ठतरं नहि, वाणीं विनापि तदतिरिक्तव्यवहाराणां पूर्ववत् सम्पन्नत्वात्। एतत् श्रुत्वा सा आत्मन: श्रेष्ठत्वाभिमानं त्यक्त्वा प्रविवेश विराट्शरीरं प्रविष्टवती बभूव।।श्री:।।

अथ चक्षुष: श्रेष्ठत्वाभिमाननिराकरणमाह—

चक्षुर्होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति यथान्धा अपश्यन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह चक्षुः ।।९।।

चक्षु: चक्षुरभिमानदैवतम् उच्चकाम विराट्शरीरं तत्याज अशक्तमितिशेष:। अन्धा: दृष्टिहीना: अपश्यन्त: चक्षुर्व्यापारं न कुर्वाणा: प्रविवेश त्यक्ताभिमानं विराट्

शरीरं प्राविशत् सारांशस्यायं नेत्रमन्तरेणापि जीवनं सर्वव्यापारसाधारणं तिष्ठत्येव अत: शरीरं पापिष्ठं न तु पापिष्ठतरं तस्मान्नास्य श्रेष्ठता।।श्री:।।

अथ श्रोत्रपराजयप्रकारं वर्णयति—

श्रोत्रꣳहोच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्त्ते मज्जीवितुमिति यथा बधिरा अशृण्वन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह श्रोत्रम् ।।१०।।

एवं श्रोत्रं श्रेत्रदैवतमपि शरीरादुत्क्रम्य संवत्सरं यावत् प्रवासं कृत्वा पुनरागत्य प्राणादीन् निजाभावजन्य तन्निष्ठप्रतिक्रिया पप्रच्छ ते न्यवेदयन् यथावधिरा: श्रवणशक्ति-मन्तरेणापि प्राणवाक्चक्षुर्मनो व्यापारान् कुर्वन्तोऽपि जीवन्ति तथा वयमपि इत्यनेन श्रोत्रदैवतमपि गलिताभिमानं श्रेष्ठं मन्यमनोमदं त्यक्त्वा तत्र प्रविष्टम्।।श्री:।।

अथ मनोऽभिमाननिरसनमाह—

मनो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकर्तेतला मज्जीवितुमिति यथा बाला अमनसः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेणैवमिति प्रविवेश ह मनः ।।११।।

मन: मनोऽभिमानिदैवतं चन्द्रमयमुत्क्रम्य संवत्सरं यावत् प्रवासं विधाय पुन: परावर्त्य निजव्यतिरेकपरिस्थितिं जिज्ञासाञ्चक्रे। प्राणादय: प्राहु: यथा बाला: बालशब्दोऽत्र विक्षिप्तमनस्कपर: न तु शिशुपर: शिशूनामपि समनस्कत्वात्।

बाला:विक्षिप्तमनस: बालामूढातथार्भका:। इति वैष्णवकोशात्। तथाहि यथा मनसोव्यतिरेकेऽपि मत्ता: प्राणवाक् चक्षु:श्रोत्राणां व्यवहारांश्चरन्त: प्रकामं जीवन्ति, तथैव त्वदभावे बाला इव वयम् अजीवाम इति मनोऽपि त्यक्त श्रेष्ठत्वाभिमति तदेव शरीरं प्रविवेश। एवं वाक्चक्षु: श्रोत्रमन:सु यथाक्रमं निजाभावेऽपि शरीरपापिष्ठतरत्वमननु-भवत्सु सत्सु प्राणश्रेष्ठता प्रतिपादनाय श्रुतिरग्रे प्रावोचत्।।श्री:।।

अथ प्राणोत्क्रमणचिकीर्षादशामाह—

अथ ह प्राण उच्चिक्रमिषन्स यथासुहयः षड्वीशशङ्कून्संखिदेदेवमितरान्प्राणान्समखिदत्तꣳ हा-भिसमेत्योचुर्भगवन्नेधि त्वं नः श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रमीरिति ।।१२।।

अथ अनन्तरं ह निश्चयेन सः प्राणः तद्दैवतमन्तर्यामी भगवान् उच्चिक्रमिषन् उत्क्रान्तमिच्छन् आसीत्। अनन्तरं किमभूदित्यत आह यथा सुहयः शोभनो हयः सुहयः वेगशालिवाजी तोत्राभिहतः निजबलेन यथा पड्वीश शंकून्पड्वेशं पदबन्धनं तस्य शंकवः षड्वीशशंकवः तान् संखिदेत लडर्थे लोट्, संखिदतीत्यर्थः। एवम् अयम् इतरान् प्राणान् गौडवृत्या प्राणव्यवहारभाजः समखिदत उत्खातवान्। अनन्तरं चत्वारः समेत्य तं प्रोचुः भगवन् एधि त्वं नः श्रेष्ठः वयं त्वां श्रेष्ठं मन्यामहे या उत्क्रमी मा उत्क्रमणं कार्षीः।।श्रीः।।

अथ द्वाभ्यां मन्त्राभ्यां प्राणाय स्वस्व योग्यताभिमानसमर्पणमाह—

अथ हैनं वागुवाच यदहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीत्यथ हैनं चक्षुरुवाच यदहं प्रतिष्ठास्मि त्वं तत्प्रतिष्ठासीति ।।१३।।

अथ हैनं श्रोत्रमुवाच यदह्ँ संपदस्मि त्वं तत्संपदसीत्यथ हैनं मन उवाच यदहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति ।।१४।।

वाचश्चापि वसिष्ठत्वं प्रतिष्ठाचक्षुषस्तथा ।
श्रोत्रस्यापि च संपत्वं मनसश्चायतन्यता ।।

सर्वं प्राणे समर्प्यैते बभूवुस्तस्य किंकराः ।
तस्मात् प्राणस्य मुख्यत्वं निर्विवादं श्रुतिःश्रुतम् ।।श्रीः।।

प्राणश्रेष्ठत्वप्रतिपादनाय भूयः श्रुतिराचष्टे—

न वै वाचो न चक्षूँषि न श्रोत्राणि न मनाँसीत्याचक्षते प्राणा । इत्येवाचक्षते प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवन्ति ।।१५।।

वै निश्चयेन वाचः वागधिष्ठांतृदैवतानि चक्षूंषि नैव नेत्रदैवतं, न श्रोत्राणि नैव तद्दैवतानि, न मनांसि चञ्चलत्वेऽपि तदभिज्ञाज्ञापितानि प्राण इत्याचक्षते। किमाचक्षते? इत्यत आह प्राण इत्येन तस्मात् इमान् सर्वान् प्राणो बिभर्त्ति।।श्रीः।।

इति च्छान्दोग्योपनिषदि पंचमाध्याये प्रथमखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं संपूर्णम्।।
।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

द्वितीयः खण्डः

अथ पूर्वस्मिन् खण्डे प्राणस्य श्रेष्ठता प्रतिपादिता इदानीं तदन्न उवास आदि-निर्देशाय खण्डः प्रारभ्यते।

स होवाच किं मेऽन्नं भविष्यतीति यत्किञ्चिदिदमा श्वभ्य आ शकुनिभ्य इति होचुस्तद्वा एतदनस्यान्नमनो ह वै नाम प्रत्यक्षं न ह वा एवंविदि किञ्चनानन्नं भवतीति ।।१।।

सः सर्वश्रेष्ठप्राणः ह निश्चयेन उवाच वाक् आदीन् पृष्टवान्, मे अष्माकं मध्ये श्रेष्ठस्य मम किम् किन्नामकं वस्तुविशेषम् अन्नं भविष्यति अदनीयं सम्पत्स्यते। अहं किमदिष्यामि इत्यर्थ इति शब्दः प्रश्नाकारनिर्धारकः। एवं पृष्टा वागादयः ह निश्चयेन ऊचुः निर्दिदिशुः। कस्तेषां निर्देशः? इत्यताह— आश्वभ्य सुनः कुक्कुरान् अभिव्याप्य आ शकुनिभ्यः शकुनीन् पक्षिणो मर्यादीकृत्य अत्रोभयत्र "आङ् मर्यादावचने" इत्यनेन कर्म प्रवचनीयता "पञ्चम्यपाङ् परिभिः" इत्यनेन पञ्चमी। अत्र स्वपदं स्थलचरबोधकं शकुनि-पदञ्च नभश्चरसूचकम्। आश्वभ्य आशकुनिभ्य इति पदद्वयस्य अयमभिप्रायः यत् समस्ताः स्थलचराः नभश्चराश्च प्राणिनः भोजनं तव। यत्तु सुनां शकुनीनाञ्च भोजनं यत् तदेव ते इति कैश्चित् व्याख्यातं तदसंगतम्। प्राणिनां भोजनस्य प्राणभोजनत्वे मानाभावात्। वयं तु (अत एव प्राणाः) ब्र.सू. १-१-२३ इति ब्रह्मसूत्रनिर्देशात्। (अत्ताच्चराचरग्रहणात्) ब्र.सू. १-२-७ इति सूत्रान्तरलिङ्गात् (यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवतः ओदनः मृत्युर्यस्योपसेचनम् कइत्था वेद यत्र सः) कठो. उ-१-२-२५ इति श्रुतेः परमात्मभूतस्य प्राणस्य जगदेव चराचरं भोजनमध्यवस्यामः। अत एव (जा के डर अतिकाल डराहिं जो सुर असुर चराचर खाई) मानस ५-२२-९ इति श्रीमानसं सङ्गच्छते। अत्र स्व शकुनिपदे बद्धमुक्तप्राणिपरेब्रह्माणमारभ्य स्वपर्यन्ताः बद्धा जीवाः सनकादिमारभ्य शकुनिपर्यन्ताः मुक्ताः विधिनिषेधातीताः सर्वेऽपि अदनीया प्राणस्य भगवत इति यत्किञ्चिदिदं चराचरं तत् एतत् प्रत्यक्षपरोक्षात्मकं जीवजातं भोग्यम्। परमात्मनः एतस्य अनस्य अनितीति अनः तस्य प्राणस्य अन्नं भोग्यम्। वा शब्दोऽवधारणपरः को नामान? इति जिज्ञासायामाह— वै निश्चयेन एतस्य प्रष्टुरेव प्रत्यक्षम् एतद्गुणकर्मानुसारम् अनः इत्यक्षरद्वयं नाम वागादिभ्यः प्रकृष्टतरत्वात् प्रोपसर्गसंयोजनेन प्रकृष्टो न प्राणः इति व्युत्पत्तेः। प्राण इति व्यवह्रियते, यथा भगवतो दाशरथे सीतापतेः मुख्यं नाम राम इत्यक्षरद्वयं पश्चात् भवद्रमयितृत्वात् रामभद्र इति आह्लादकत्वात् चन्द्रमस इव रामचन्द्र इति ख्यातिमगमत्। अतः आमनन्ति प्राचीनाः—

रामेति रामभद्रेति रामचन्द्रेति वा स्मरन्।
नरो न लिप्यते पापैर्भुक्तिं मुक्तिं च विन्दति।।

(रामरक्षास्तोत्र १२)

वस्तुतस्तु भगवतो मुख्य नाम राम एव (तमात् ज्येष्ठं रामं महात्मानं)

(वा.रा.बा.का. १८-२०)

रामेति द्व्यक्षरं नाम मानभङ्ग पिनाकिनः।
राम मात्र लघु नाम हमारा।
परशु सहित बड़नाम तोहारा।।

(मानस १-२२२-६)

इत्यादीनि वाल्मीकिनागेशः तुलसीदासवचनानि सङ्गच्छन्ते। तथैवात्रापि अन् इति मुख्यन्नाम श्रेष्ठत्वात् सर्वेषाम् प्रोपसर्गसंयुक्तः प्राणः इति व्यवहृतः। एवं विदि अनेन रूपेण ज्ञातवति जने अत्र विषयसप्तमी न किञ्चित् अनत्रं सर्वमदनीयं भवति, अन्न-शब्दोऽत्र भोग्यपरं भोग्यत्वन्नाम मनोऽभिलषितपराप्यत्वम्।

स अश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता। (तै. २०)

इति श्रुतेः (नानावाप्तमवाप्तव्यं) गीता ३-३३ इति स्मृतेः। सम्पूर्णचराचरं भगवतैव भोग्यम् इति विरम्यते।।श्रीः।।

अथो वाचो जिज्ञासते—

स हो वाच किं मे वासो भविष्यतीत्याप
इति होचुस्तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः
पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधति लम्भुको ह
वासो भवत्यनग्नो ह भवति।।२।।

सः मुख्यप्राणः उवाच— मे वासा परिधानीयं वस्त्रं किं भविष्यति? इति पृष्टास्ताः निर्दिशन् आपः जलानि ते आच्छादनं, तस्मात् कारणात् एतद् भोजनम् अशिष्यन्तः भुञ्जानाः "अनुदात्तेत्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यम्" इति नियमात् परस्मैपदे शतृ प्रत्ययः, अशिष्यन्त असाना इति भावः। वैदिका ब्राह्मणाः भोजनस्य पुरस्तात् "अमृतपिधानमसि

स्वाहा'' इति मन्त्रं जपन्तः अद्भिः जलैः परिदधति परिधापयन्ति, परिदधति इति घटक धा धातुरन्तरभावितण्यर्थः। उपरिष्टात् भोजनसमाप्तेदनन्तरमपि ''अमृतस्तरणमसि'' इति मन्त्रेण अद्भिः परिदधति आशयोऽयं यत् अपः प्राणस्य वस्त्रं विदित्वैव भोजनात् पूर्वं पश्चात् च आचमनक्रियया जलेन प्राणाय भगवते परिधानं समर्पयन्ति। एवं कुर्वन् प्राणाय वैदिकमन्त्रेण जलपरिधानसमर्पणपुण्यमहिम्नवासःलम्भुको वस्त्रं लब्धमानः भवति अनग्नः सदैवाच्छादनयुक्तो भवति।

साम्प्रतं प्राणदर्शनं स्तौति—

तद्धैतत्सत्यकामो जाबालो गोश्रुतये
वैयाघ्रपद्यायोक्त्वोवाच यद्यप्येत-
तच्छुष्काय स्थाणवे ब्रूयाज्जाये
रन्नेवास्मिञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ।।३।।

तदैतत् प्राणदर्शनं व्याघ्रपदपुत्राय वैयाघ्रपद्याय गोश्रुतये गो श्रुतीनाम्ने जाबालः सत्यकामः उक्त्वा महत्वमुवाचयदि एतद् शुष्काय स्थाणवे पत्रविहीनाय डित्थाय अपि कोऽपि ब्रूयात् तर्हि तस्मिन् स्थाणो एतत् पुण्येन शाखाः जायेरन् उत्पद्येरन् पलाशानि पत्राणि प्ररोहेयुः उत्पन्नानि भवेयुः, चेतनसमक्षकथने का कथा।।श्रीः।।

एवं प्राणदर्शनं निरूप्य अधुना तत्सिद्धिप्रतिपादकं मन्थकर्म निरूपयति—

अथ यदि महज्जिगमिषेदमावास्यायां
दीक्षित्वा पौर्णमास्यां रात्रौ सर्वौषधस्य
मन्थं दधिमधुनोरुपमथ्य ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय
स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत् ।।४।।

अथ चेत् अथ शब्दोऽयमधिकारपरः, यदि कश्चनापि साधकः महत् भावबोधकत्वात् एष शब्दः महत्वपरः, जिगमिषेत् गन्तुमिच्छेत्। अहं तु महच्छब्दस्य परमात्मेत्यर्थं व्याचक्षे। तथा च मम भावं हन्ति इति महत् अनुनासिकत्वान्नलोपे तुकि सिद्धोऽयं शब्दः। ननु परमेश्वरविशेषणे द्वितीयान्ते महच्छब्दस्याकारे महान्तमितिस्यात्? इति चेन्न ब्रह्मविशेषणतया तत्र क्लीबत्वोपपत्तेः। एवं भूतं परमात्मानं यदि लब्धुमिच्छेत् तर्हि अमावस्यायां कुहूनिशायां दीक्षितो भूत्वा आचार्यात् दीक्षां गृहीत्वा पञ्चदशदिनानि

ब्रह्मचर्यादिव्रतं धारयन् पौर्णमास्यां रात्रौ राकायां दधिमधुनो: दधिमधुसम्बन्धिसर्वोषधस्य मन्थं सकलौषधस्य मथ्यमानं सारमल्पमल्पं सर्वाभ्य ओषधिभ्यो गृहीत्वा श्रेष्ठाय स्वाहा इति मन्त्रेण उपमथ्य आज्यस्य घृतस्य संपातम् ईषद्द्रावमवनयेत्।।श्री:।।

अधुना वसिष्ठादीनां हवनक्रममाह—

वसिष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत्प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपात मवनयेत्संपदे स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेदायतनाम स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वामन्थे संपातमवनयेत् ।।५।।

वसिष्ठाय स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहा संपदे स्वाहा आयतनाय स्वाहा इति मन्त्रान् जपित्वा अग्नौ घृतस्य द्रावं निक्षिपेत् इतिमन्त्रसार:।।श्री:।।

हवनविध्युपसंहारं दर्शयति—

अथ प्रतिसृप्याञ्जलौ मन्थमाधाय जपत्यमो नामास्यमा हि ते सर्वमिदँ् स हि ज्येष्ठः श्रेष्ठो राजाधिपतिः स मा ज्यैष्ठ्यँ् श्रैष्ठ्यँ् राज्यमाधिपत्यं गमयत्वहमेवेदँ् सर्वमसानीति ।।६।।

उपसंहारे मन्त्रप्रकारमाह— अथ अनन्तरं हवनं समाप्य अग्ने: प्रतित्य समीपं गत्वा अञ्जलौ मन्थं मथितद्रवम् आदाय वक्ष्यमाणं मन्त्रं जपति। मन्त्राकारमाह— अमोनामासीत्यारभ्य असानि इत्यन्तम् अस्यार्थ: हे प्राण! त्वम् अम: नाम असि अमा सर्वेषां साहित्यम् अस्त्यस्मिन् इति अम: सकलसाहित्यवान् नाम असि एतदभिधानेन प्रसिद्धोऽसि। यतो हि इदं सर्वं चराचरं ते तव अमा सह वर्तमानमास्ते ननु 'सहयुक्ते अप्रधाने' इति सूत्रेण सहार्थकस्य अमाशब्दस्य योगे त्वच्छब्दे कथं न तृतीया? इति चेत् शृणु साकं समं सार्धमिति सकारघटितानामेव शब्दानां सहार्थत्वेन भाष्यादौ प्रसिद्धत्वात्। अथवा अमाशब्दयोगे तृतीयायामपि 'बहुलं छन्दसि' इत्यनेन षष्ठ्यादेशेन दोषपरिहारात्। यतो हि स: प्राण:। ननु असंगतमेतत् पूर्वम् असिपदस्य समभिहारेण युष्मच्छब्दस्य वाच्यतां

गत: प्राणशब्द: अधुना तच्छब्दवाच्यतया कथं व्याख्यायते? इति चेत् मैवं वाक्यभेदेन व्याख्याने दोषपरिहार:। अथवा पुरुषव्यत्यो बोधव्य: अत: तच्छब्दो युष्मदर्थ: स हि ज्येष्ठ: श्रेष्ठ: राजा दीप्तिमान् अधिपति: ईश्वर: स: प्राणो भगवान् मा मां ज्यैष्ठ्यं ज्येष्ठ्यभावं श्रैष्ठ्यं श्रेष्ठतां गमयतु आधिपत्यं साम्राज्यं प्रापयतु यथा अहमिदं सर्वं सकलम् असानि भुञ्जीय।।श्री:।।

अथाचमनप्रकारमाह—

अथ खल्वेतयर्चा पच्छ आचामति
तत्सवितुर्वृणीमह इत्याचामति वयं देवस्य
भोजनमित्याचामति श्रेष्ठ ँ्सर्वधातममित्याचामति
तुरं भगस्य धीमहीति सर्वं पिबति।

निर्णिज्य कसं चमसं वा पश्चादग्ने:
संविशति चर्मणि वा स्थण्डिले
वा वाचं यमोऽप्रसाह: सायदि स्त्रियं
पश्येत्समृद्धं कर्मेति विद्यात्।।७।।

अथ हवनसमाप्त्यनन्तरं पच्छ: पादक्रमेण पादशब्दस्य पद्न्नोमास इति सूत्रेण पदादेशे क्रमार्थे शश् प्रत्यये पच्छ: पादौ प्रक्षाल्य इति भाव:। अथवा ऋच: एकैकपादक्रमेण तस्या: एकैकपादं पठित्वा एकैकमाचमनं कुर्वीत इति तात्पर्यं कासारिक् के ते पादा: इत्यत एकैकपादं विभज्य प्राह— तत्र प्रथमं तत् सवितुर्वृणीमहि इतिमन्त्रं जपित्वा आचामति आचमनं कुर्यात्। द्वितीयवारं वयं देवस्य भोजनम् इति मन्त्रजपं कुर्वन् आचामति। पुनस्तृतीयं श्रेष्ठ ँ्सर्वधातमम् इति तृतीयपादं ऋचो जपन् आचामति। एवम् आचामनत्रयं विधाय तुरं भगस्य धीमहि इति ऋचश्चतुर्थं पादं पठन् सर्वम् अविशिष्टं मन्थरसं पिबति पानविषयं करोति इत्थं समग्रेयम् ऋक् चतुष्पदी— तत् सवितुर्वृणीमहि वयं देवस्य भोजनं श्रेष्ठ ँ्सर्वधातमं तुरं भगस्य धीमहि इति अस्या: शब्दार्थ एष:। वयं साधका: सवितु: सूर्यस्य तत् देवस्य दीप्यमानस्य तत् भोजनं भक्ष्यं भोग्यजातं वृणीमहि स्वीकुर्याम् तथा च भगस्य षडैश्वर्यसंपन्नस्य भगवत: ननु भगशब्द: ऐश्वर्यवाची कथं तेन भगवदर्थप्रतीति: इति चेन्मैवम् भगानि ऐश्वर्यधर्मयश: श्रीज्ञानवैराग्यानि नित्यं

सन्त्यस्मिन्निति भग: भगवान् मत्वर्थीयोऽच् प्रत्यय: आकृतिगणत्वेनार्ष आदित्यं तस्य भगवत: भगस्य तुरं त्वरणशीलं पदाम्बुजं धीमहि। पूर्वे तु त्वरं भगनामकदैवतस्य वेगमिति व्याचक्षु: तत् साधारणम् एवमेव श्रेष्ठं सर्ववरिष्ठं सर्वधातवं सकलधातारं निजजन- संकटाटवीविध्वंससमीहात्वरितगतिं सकलप्राणभूतं परमात्मकमलचरणं धीमहि चिन्तयेमहि इति ऋचोऽर्थ:। इत्थं चरणौ निर्णिज्य कांसं चमसं वा पात्रविशेषं प्रक्षाल्य चर्मणि मृग- चर्मणि स्थण्डिले भूमौ वा संविशेत् शयीत यदि स्वप्ने यदि स्त्रियं काञ्चिदयोषितं पश्यति तथा कर्मसिद्धिं विद्यात् जानीयात्।

तमेव भावं निदर्शयति—

तदेष श्लोको यदा कर्मसु
काम्येषु स्त्रियꣳस्वप्नेषु पश्यति समृद्धिं
तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्न
निदर्शने तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने ।।८।।

तस्य भावस्य निबन्धनार्थम् एष: श्लोक: मन्त्र: भवति। यदा काम्येषु कामप्राप्तिसाधनेषु कर्मषु कोऽपि स्वप्नेषु स्त्रियं पश्यति सपुत्रां सौभाग्यवतीं तदा तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने कर्मसमृद्धिं जानीयात् विद्यात् स्त्री भक्ति: सा च सौभाग्यवती भगवता पुत्रवती च ज्ञान- वैराग्याभ्याम्।

इति छान्दोग्योपनिषदि पंचमाध्याये द्वितीयखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।। श्रीराघव: शन्तनोतु ।।

तृतीय: खण्ड:

अथ खण्डैरष्टभि: पञ्चप्रश्नावतारणया संसारसारतासंसारगतिवर्णनच्छलेन विरक्तिप्रतिपादनं प्रारभ्यते तत्र विषयदुरूहतां सरलयितुं श्वेतकेतोराख्यायिकाऽपि प्रस्तूयते—

श्वेतकेतुर्हारुणेय: पञ्चालानाꣳसमितिमेयाय तꣳह प्रवाहणो। जैबलिरुवाच कुमारानु त्वाशिषत्पितेत्यनु हि भगव ।।१।।

ह शब्द: इतिहासप्रसिद्धसूचक:, आख्यानमिदं सर्वविदितमिति भाव:। अरुणस्य गोत्रापत्यम् इति आरुणि: आरुणेरपत्यम् आरुणेय: अरुपौत्र: अरुणगोत्रीयपुत्रो वा

श्वेतकेतुः एतन्नामको ब्रह्मचारी निजपित्रा आरुणिना कृतसमावर्तनसंस्कारः पञ्चालानां पाञ्चालजनपदानां समितिं राजसभाम् इयाय जगाम। प्रवाहणः एतन्नामा राजा जैबलिः जुबलपुत्रः तम् आगतं ब्रह्मचारिणम् उवाच— त्वाम् अन्वशिषत् अनुशिष्टवान् सत्यकेतुरवदत् भगव भगवन् अनु अनुशिष्टोऽस्मि इति एष उत्तराकारः।

अथ द्वाभ्यां मन्त्राभ्यां पञ्चप्रश्नान् अवतारयति—

वेत्थ यदितोऽधि प्रजाः
प्रयन्तीति? न भगव इति वेत्थ
यथा पुनरावर्तन्त ३
वेत्थ पथोर्देवयानस्य पितृयाणस्य
च व्यावर्तना इति३ न भगव इति ।।२।।

वेत्थ यथासौ लोको न
संपूर्यत इति न भगव इति
वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो
भवन्तीति नैव भगव इति ।।३।।

प्रवाहणः पप्रच्छ— कुमार यदि त्वं पित्रा समनुशिष्टः तर्हि मे पञ्चप्रश्नान् उत्तरय प्रश्नाकारं साक्षेपमाह— कुमार किमिदं त्वं वेत्थ जानासि यत् येन प्रकारेण प्रजाः प्राणिनः इतः अस्माँल्लोकात् अधिप्रयन्ति उपरियान्ति। कुमारः प्राह— भगव भगवान्! न नाहं जानामि इति इत्थं निवेदितः भूयः पप्रच्छ इदं जानासि यथा येन कर्मणा जीवाः पुनरावर्तन्ते स्वर्गादागत्य पुनर्जन्म गृह्णन्ति? श्वेतकेतुः प्राह— भगवन् न अहं न जानामि। प्रवाहणः देवयानस्य देवान् यान्ति येन स देवयानः पितृन् यान्ति येन स पितृयानः कर्णे ल्युट् तस्य देवयानस्य पितृयानस्य च पथोः मार्गयोः या व्यावर्तना इतरस्मात् इतरस्य वैलक्षण्यं तां वेत्थ? कुमारः प्राह— न भगव भगवन्! अहं न जानामि। भूयः साक्षेपं पप्रच्छ जैबलिः— कुमार! इदं वेत्थ यत् यथा असौ लोकः न संपूर्यते न पूर्णतां गच्छति। स श्वेतकेतुः प्राह न भागवः न भगवन्। इदमपि न जानामि। पुनः प्राह जैबलिः— कुमार इदमपि वेत्थ जानासि यथा पञ्चम्याम् आहुतौ अग्नौ दत्तायाम् आपः एव पुरुषवचसः पुरुष एव वचः यासु ताः पुरुषवचसः भवन्ति। पञ्चानां प्रश्नानां संग्रहश्लोकाः—

इमं लोकं परित्यज्य यथैवोर्ध्वं प्रजा समाः।
प्रयन्ति तत् प्रजानीशे नेति प्राह कुमारकः।।

स्वर्गं गत्वापि वै जीवाः यथास्मिन् भवसागरे।
पुनरावर्तिनो भान्ति नाहं वेदेति सोऽब्रवीत्।।

देवयानः पितृयानः पन्थानौ योहि शाश्वतौ।
तयोर्विशेषं किं वेत्थ नैव विप्रो ह्यवोचत।।

यथाऽसौ मर्त्यलोको हि कदाचिन्नैव पूर्यते।
तं हेतुं वेत्थ भगवन् नेति वाचं जगाद सः।।

आपः पुरुषवचसः पञ्चम्यामाहुतौ यथा।
भवन्ति वेत्थ तत् नैव श्वेतकेतुरभाषत।।

अथ साक्षेपमाह जैबालिः—

अथानु किमनुशिष्टोऽवोचथा यो हीमानि न विद्यात्कथँ् सोऽनुशिष्टो ब्रुवीतेति स हायस्तः पितुरर्धमेयाय तँ्होवाचाननुशिष्य वाव किल मा भगवानब्रवीदनु त्वाशिषमिति।।४।।

अथ शब्दः आश्चर्यपरः अहमनुशिष्टः पित्रा दत्तानुशासनः इति किमवोचथाः कथमवोचथाः किमर्थम् उक्तवानसि यद्येषां प्रश्नानां मध्ये नैकोऽप्युत्तरितः यः इमानि प्रश्नतत्वानि प्रजानाम् उपरिगमनं देवयानपितृयानयोर्वैलक्षण्यं जीवपुनरावृत्तिहेतुं लोकसंपूर्णता प्रतिबन्धककारणं पञ्चम्यां आहुतौ अपां पुरुषसंज्ञात्वपद्धतिम् इति पञ्च जिज्ञासितानि न विद्यात् सः कथं विदुषां मध्ये अनुशिष्टोऽस्मि इत्यात्मानुशासनं ब्रवीत वक्तुं साहसं कुर्वीत। स हायस्त इति इत्थं राज्ञा आक्षिप्तः आयस्तः अवमानितः सन् श्वेतकेतुः पितुः निजजनकस्यारुणेः अर्धं निवासस्थानं एयाय आ इयाय इति पदच्छेदः मर्यादायाम् आङ्शब्दः। ननु यदि चेत् मर्यादायाम् आङ्शब्दः तर्हि ङित्वात् कथं स्वरसन्धिः यतोहि निपातएकाजनाङिति पाणिनिसूत्रेण अङितावेव प्रगृह्यसंज्ञा विधानात्? इति चेन्मैवम् एतेन मम पक्ष एव पुष्टः अङितौस्वरसन्धिनिषेधः ङितौ तु स्वरसन्धिरेव

मर्यादायां ङितस्य शास्त्रसिद्धत्वात्। तथाहि भाष्यवार्तिकं (ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधावपि एतमातं ङितं विद्याद्वाक्यस्मरण्योरङित्) एवम् एयाय आदरेण जगाम अपृच्छत् च भगवन् माम् अननुशिष्य न अनुशिष्टं विधाय, त्वाम् अन्वशिषम् अनुशिष्टवानस्मि इति कथम् अब्रवीत्।

अनुशासनबीजमाह—

पञ्च मा राजन्यबन्धुः प्रश्नानप्राक्षीत्तेषां
नैकञ्चनाशकं विवक्तुमिति स होवाच
यथा मा त्वं तदैतानवदो यथाहमेषां नैकञ्चनवेद
यद्यहमिमानवेदिष्यं कथं ते नावक्ष्यमिति ।।५।।

श्वेतकेतुः सग्लानिः प्राह— राजन्यबन्धुः दुष्टो राजा मा मां श्वेतकेतुं प्रति पञ्च पञ्च संख्याकान् प्रश्नान् अप्राक्षीत् तेषां प्रश्नानां मध्ये अहम् एकमपि विवक्तुं विविच्य वक्तुं नाशकं न शक्त आसं, पिता प्रत्युत्तरति स्म यत्— श्वेतकेतो यान् प्रश्नान् त्वम् अवदः तेषाम् एकमपि अहं न वेद। यदि अहमवेदिषम् ज्ञातवानभविष्यं तर्हि ते प्रियपुत्राय कथं नावक्ष्यं नाकथयिष्यम्।

अथ गौतमजैबलिसंवादपूर्वभूमिकां निरूपयति—

स ह गौतमो राज्ञोऽर्धमेयाय
तस्मै ह प्राप्तायार्हाञ्चकार स ह प्रातः
सभाग उदेयाय तँ होवाच
मानुषस्य भगवन्गौतम वित्तस्य वरं
वृणीथा इति स होवाच तवैव
राजन्मानुषं वित्तंय यामेव
कुमारस्यान्ते वाचमभाषकास्तामेव
मे ब्रूहीति स ह कृच्छ्री बभूव ।।६।।

अथ गौतमः गौतमगोत्र आरुणिः पुत्रेण सह पञ्चप्रश्नान् जिज्ञासमानः राज्ञः प्रवाहणस्य अर्धं भवनमेयाय सादरं जगाम। अतिथिरूपेण प्राप्ताय तस्मै अत्र उपपदस्थानिनिचतुर्थी तमनुकूलयितुमिति भावः अर्हाञ्चकारः पूजां विदधौ। श्वोभूते प्रातः

सभागः सभां गच्छति इति सभागः, भागः भजनं पूजा तेन सह वर्तमानः सभागः पूजनीय इति भावः समानाभा सभा राजसमानशोभा तां गच्छति इति सभागः, राजोचितालंकारमंडित इति भावः, भाग्यमेव भागः तेन सः वर्तमानः सभागः पञ्च विद्या ग्रहणयोगात् सौभाग्यवान् उदेयाय उद्गतः। राजा तं छन्दयामास यद्गौतममानुषस्य मनुष्योचितस्य वित्तस्य धनस्यास्पदं वरं वृणीः याचस्व। स कथयामास यद्राजन्! इदं मानुषं वित्तं तवैव पार्श्वे तिष्ठतु त्वं कुमारस्य समक्षं यां वाचम् अभाषथाः तामेव मे वद एतच्छ्रुत्वा राजा कृच्छ्रीबभूव। असामञ्जस्यचिन्तया जन्मना गुरवे ब्राह्मणाय कथं विद्यामहमुपदिशेयमिति संकटापन्नोऽभवत्।

अथ उपदेशप्राक्परिस्थितिं सूचयति—

तँ् ह चिरं वसेत्याज्ञापयाञ्चकार तँ् होवाच
यथा मा त्वं गौतमावदो यथेयं न प्राक् त्वत्तः
पुरा विद्या ब्राह्मणान्गच्छति तस्मादु सर्वेषु-
लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति तस्मै होवाच ।।७।।

अथ ब्राह्मणो न रिक्तहस्तः प्रेषणीयः इति कृत्वा चिरं वस अत्र नगरे चिरं निवासं कुरु इत्याज्ञापयाञ्चकार आदिष्टवान्, पश्चात् विद्यायाः आचार्यपरंपरां निर्देशात् हे गौतम! यथा त्वं माम् अवदः पञ्चप्रश्नान् समाधातुं न्यवेदयः तथा इमां विद्यां त्वत्तः पूर्वं न केऽपि कथयं, यतोहि यत् पूर्वम् इयं विद्या न कश्चित् ब्राह्मणं गच्छति अगच्छत्, स्मशब्दस्यात्र लोपो बोध्यः। तस्मात् अद्यावधि एतदविद्यायां क्षत्रस्यैव द्वितीयवर्णस्यैव प्रशासनम् अनुशासनमासीत् इति कथमित्वा तस्मै आरुणये उवाच अवदत्।

इति छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये तृतीयखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

चतुर्थः खण्डः

अथ प्रवाहणः श्वेतकेतवे दातुमुपदेशमुपक्रमते—

असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो ।
धूमोऽहरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः ।।१।।

इदानीम् अग्निरूपकेण सूर्यरश्मिचन्द्रतारकादीनां वर्णनं प्रारभ्यते। हे गौतम! असौ पुरो दृश्यममानोऽयं लोकः अग्निः अग्निरूपः तस्य लोकरूपाग्नेः आदित्यः सूर्यः समित् यथा समिधा अग्निः समिध्यते तथैव लोकोऽयम् आदित्येन। रश्मयः धूमवत् उभयोरपि ऊर्ध्वगमनरूपमानगुणकत्वम्। अहः दिनमेव अर्चिः लोकाग्नेर्ज्वाला। चन्द्रमाः एव अंगारस्तस्य लोकपावकस्य, उभयोरपि समानतया ज्योतिष्मत्वात् नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गा तदवन्नक्षत्राणामपि चमत्कृतमहस्त्वात्।

एवम् आदित्यरश्मिदिवसचन्द्रनक्षत्रतुल्यसमिद्रश्मिधूमार्चिरङ्गारविस्फुलिङ्गमयलोकाग्नौ किं क्रियत इत्यत आह—

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति।
तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति ।।२।।

एतस्मिन् एवं रूपकविशिष्टे तस्मिन् पूर्वोक्ते लोकाकारे अग्नौ, सूर्यसमित्समिद्धे सूर्यरश्मिधूमकेतो, अहरर्चिषि, चन्द्राङ्गारके नक्षत्रविस्फुलिङ्गे देवाः दैवीसंपदमुपासीनाः श्रद्धाम् आस्तिकबुद्धिं जुह्वति तस्याः निक्षिप्त्याः श्रद्धाः आहुतेः सकाशात् राजा राजनशीलो दीप्तिमान् सोमः अभीष्टफलदः रश्मयश्चन्द्रमा संभवति। पूर्वं यत्पृष्टं यत्पञ्चम्यामाहुतौ कथमापः पुरुषसंज्ञां लभन्ते तमेव प्रश्नं समादधते तदुपक्रमे खण्डेऽस्मिन् प्रथमाहुतेर्वर्णनमकारि।

इति छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये चतुर्थखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

अथ पंचमः खण्डः

अथ द्वितीयाहुतिं वर्णयितुमुपक्रमते—

पर्जन्यो वाव गौतमाग्निस्तस्य वायुरेव समिदभ्रं
धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादनयो विस्फुलिङ्गाः ।।१।।

पर्जन्यः वर्षाकालिकमेघः, स एवाग्निरूपः, तस्य वायुरेव समित् तेनैव पर्जन्यस्य समिध्यमानत्वात्, अभ्रम् अपां भरणं जलधारणकालिकमेघः, धूमः उद्भूतत्वरूप-

समानत्वात् अर्चेरिव प्रकाशकत्वात्, एवमङ्गारवत् अग्निकणवितरकत्वात् अशनिः वज्रपातः एव अंगारः, ह्रादनयः मेघगर्जितान्येब विस्फुलिङ्गाः अग्निलवविशेषाः।

एतादृगग्नौ द्वितीयाहुतिप्रकारमाह—

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमँ राजानं
जुह्वति तस्या आहुतेर्वर्षँ संभवति ।।२।।

एवं रूपकमये तस्मिन् पर्जन्याग्नौ देवाः सोमं राजानं दीप्तिमन्तं रसरूपं चन्द्रं जुह्वति, अर्थात् प्रथमाहुत्यदृष्टरूपं रसमेव विग्रहिणम् आहुतिरूपेण निक्षिपन्ति, तस्याः द्वितीयस्याः सकाशात् वर्षं वृष्टिः संभवति। इति द्वितीयाहुतिप्रकारः।

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पंचमाध्याये पंचमखण्डेश्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

अथ षष्ठःखण्डः

अथ तृतीयाहुतिं व्याख्याति—

पृथिवी वाव गौतमाग्निस्तस्याः
संवत्सर एव समिदाकाशो
धूमो रात्रिरर्चिर्दिशोऽङ्गारा
अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गाः ।।१।।

हे गौतम! आरुणे! पृथ्वी एव अग्निः, यत्र संवत्सरः समित् समिधेवाग्नेः पृथिव्या अपि संवत्सरेण समिध्यमानत्वात्। आकाश एव धूमः तद्वन्नीलत्वात् उपरितनत्वाच्च, रात्रिः अर्चिः ज्वाला भयावहत्वात्, दिशः अङ्गारः शान्तिमयप्रकाशत्वात्, अवान्तरदिशः विदिशः विस्फुलिङ्गाः। तस्मिन्नग्नौ देवाः किं कुर्वन्ति? इत्यत आह—

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वर्षं जुह्वति ।
तस्या आहुतेरन्नँ संभवति ।।२।।

एतस्मिन् पृथव्याग्नौ देवाः वर्षं वृष्टिमेव जुह्वति, तस्याः आहुतेः सकाशात् अन्नम् अदनीयं वस्तु भवति।

इति छान्दोग्योपनिषदि पंचमाध्याये षष्ठखण्डेश्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

अथ सप्तमःखण्डः

अथ चतुर्थाहुतिं व्याचष्टे—

पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव समित्प्राणो धूमो जिह्वार्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः ।।१।।

हे गौतम! अयं पुरुषः एव अग्निः, तस्य वाक् समित्, तथा अग्निरेव समिध्यमानत्वात् प्राण एव धूमः कृष्णवर्मत्वात्, जिह्वा एव अर्चिः तद्वदरूणत्वात्, श्रोत्रमेव अङ्गारः तद्वत् शब्दवितरकत्वात्।

अथ एतदग्निं किं कुर्वन्ति इत्यत आह—

तस्मिन्नेतस्मिन्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुतेरेतः संभवति ।।२।।

एवं गुणगणविशिष्टे वाक्समित्प्राणधूमजिह्वाचिष्चक्षुरङ्गारश्रोत्रविस्फुलिङ्गमण्डिते पुरुषाग्नौ देवाः अन्नम् अदनीयं जुह्वति आहुतित्वेन निक्षिपति, तस्याः चतुर्थ्याः अन्नाहुतेः सकाशात् रेतः शुक्रं संभवति। इति चतुर्थ्याहुतेः प्रकारः।

इति छान्दोग्योपनिषदि पंचमाध्याये सप्तमखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

अथ अष्टमःखण्डः

अथ पञ्चमाहुतिं वर्णयति—

योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्यदुपमन्त्रयते सधूमो

योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः ।।१।।

योषा संगमेच्छुःनारी एव अग्निः, तस्य उपस्थं पुरुषमेद्रं तेन समिध्यमानत्वात्। उपामन्त्रयते संगन्तुं संकतेयते इत्येव धूमः योनिः जननद्वारं अर्चिः ज्वाला तत्रैवरेतसः समाहितत्वात्, यदन्तःकरोति रेतो निवेशयति त एव अङ्गाराः तत्स्पर्शजनितानन्दाः विस्फुलिङ्गाः।

अथाहुतिमाह—

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवारेतो जुह्वति तस्या आहुतेर्गर्भः संभवति ।।२।।

तस्मिन् पूर्वोक्तगुणविशिष्टे, एतस्मिन् योषाग्नौ, देवाः रेतः जुह्वति शुक्रमाहुतित्वेन निक्षिपति, तस्मात् गर्भः संभवति। एवं लोकाग्नौ हूयमाना श्रद्धा सोमत्वेन परिणमति सोमो द्वितीयस्यां हूयमानः वर्षत्वेन परिणमति पुनः वर्षा हूयमाना अन्नत्वेन, अन्नं हूयमानं रेतस्त्वेन, रेतो हूयमानं गर्भत्वेन। चतुर्थखण्डे लोकाग्नौ हूयमाना याहुतिः श्रद्धात्वेन निगदिता सैव श्रद्धा आपः, सैव सोमः, वर्षा अन्नं रेतः गर्भ इति पञ्चम्यां आहुतौ पुरुषसंज्ञां लभते।

इति छान्दोग्योपनिषदि पंचमाध्याये अष्टमखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

अथ नवमः खण्डः

अथ प्रश्नमुपसंहरन्नाह—

इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति स उल्बावृतो गर्भो दश वा नव वा मासानन्तःशयित्वा यावद्वाथ जायते।।१।।

एवं पञ्चम्यामाहुतौ गर्भाधानरूपायामापः चतुर्थे खण्डे श्रद्धात्वेन संकेतिताः पुरुषवचसः भवन्ति। ननु देवाः श्रद्धां जुह्वति इत्येव कथमुक्तं, प्रश्नः अपाङ् कृते कथं पुरुषसंज्ञा इति आम्रान् पृष्टः कोविदारान् आचष्टे इतिवद् भवदुत्तरम्? इति चेन्न, लोक-रूपाग्नौ मानवः आस्तिकबुद्ध्या पितृभ्यः जलमयीं श्रद्धां समर्पयति, सैव सोमात्मा

वर्षात्मा रेत आत्मा अन्नात्मा गर्भात्मा सती पुरुषसंज्ञां लभते, यदि श्रद्धा न हूयते चेत् नैव पुरुषार्थयुक्तो गर्भो भवति इति तात्पर्यम्। एवं स गर्भः उल्वावृतः उल्वो जरायुः तेनावृतः दशमासाम् नवमासान् वा दशमासनवमाससंकीर्तनेन दसमासं पुत्रीरूपः नवमासं नररूपः यद्वा ततोऽप्यधिके क्लीब तां गतः जायते। गर्भपातपरिस्थितिको वा वचनमिदं त्रिलिङ्गसाधारणम्।

अथ जीवस्य पश्चाद्भाविनीं दशां निरूपयति—

स जातो यावदायुषं जीवति
तं प्रेतं दिष्टमितोग्नय
एव हरन्ति यत् एवेतो
यतः संभूतो भवति ।।२।।

एवं स्वकर्मवशाज्जातः आयुः यावत् कर्मणा प्राप्तं दीर्घायुः अल्पायुः क्षणायुः वा जीवति। तं प्रेतमग्नयः दिष्टं स्वकर्मपरिपाकं प्रापयन्ति, इतः संसारात् कुत्र हरन्ति यस्मात् मार्गादयमागतः। एवम्

पुनः श्रद्धां पुनः सोमं पुनर्वर्षमथान्नकम् ।
पुना रेत इति प्राहुः संसारेऽस्मिन् गतागतम् ।।

आवागमनमित्येव घटीयन्त्रवदीरितम् ।
जीवस्य विमुखस्याहो जानकीजीवनाङ्घ्रितः ।।

इति छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये नवमखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

अथ दशमःखण्डः

अथ शेषप्रश्नानां दशमे खण्डे दशभिर्मन्त्रैः समाधानमुपक्रम्यते तद्वाभ्यां मन्त्राभ्यां देवयानम्—

तद्य इत्थं विदुः। ये चेमेऽरण्ये
श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभि-

संभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमा-
पूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासाँ्स्तान् ।।१।।

मासेभ्यः संवत्सरँ्
संवत्सरादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो
विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म
गमयत्येष देवयानः पन्था इति ।।२।।

पञ्चम्यामाहुतौ इति प्रश्नस्य शकलषटकेन समाधनं कृत्वा, प्रजाः कथमितः प्रयन्तीति नवमखण्डस्य चरमेण समाहितिं विधाय, पुनर्दशमे देवपितृयानयोर्व्यावर्तनां तत्प्रसंगेन पुनरावर्तगतिं लोकस्य च संपूर्तिराहित्यमिति प्रश्नत्रयं समाधत्ते। पूर्वं देवयानं व्याचष्टे— देवान्यान्ति येन स देवयानः तं पुरुषः प्रेत्य कथं याति? इत्यपेक्षायामाह— तत् एवं पञ्चाहुतिक्रमम् अविच्छिन्नसंसारपरंपरां संसारासारतां पौनःपुन्येन जननमरण-तरलतरंगतरंगायितष ड्रूर्मिष ड्विकारमकरभीषणसमगाधदुर्जयवासनाकीलालदुर्गममनोरथ-भीमावर्तशताकुलकोटिकोटिमनोरथमीनसंकुलपरमपारसंसारसागरं ये विदुः तत्वेन जानन्ति, ते तत उपरज्यमाना, अरण्ये कृतारण्यशरण्याः श्रद्धाम् आस्तिकबुद्धिं, तपः, ब्रह्म ब्रह्मज्ञानं वा उपासते सेवन्ते। ते अर्चिषं ज्वालाम् अभिसंभवन्ति प्रकाशाभिमुखाःभूत्वा अहः दिनाभिमानि दैवतं, तस्मात् अह्नादिनेन आपूर्यमाणं पक्षं शुक्लपक्षाभिमानिदैवतं तस्मात् यानि षड् मासान्सविता उदङेति उत्तरं याति तान् उत्तरायणान् माघतः आषाढं यावत् मासेभ्यः उत्तरायणेभ्यः संवत्सरं वर्षं, ततः ऊर्ध्वम् आदित्यं सूर्यं ततोप्यूर्ध्वं चन्द्रमसं ततोऽप्यूर्ध्वं विद्युतं परमप्रकाशरूपं सत्यलोकं तत्र सत्यलोके कश्चन अमानवः मानवविलक्षणपुरुषः साकेतलोके हनुमान् एनान्जीवान्ब्रह्म गमयति साकेतपतिं पतित-पावनं श्रीरामम् एष प्रापयति एष देवयानः।।।श्रीः।।

इदमेव गीतायां भगवान् प्राह—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।।

(८।२४)

अथ पितृयाणं द्वाभ्यां मन्त्राभ्यां वर्णयति।

अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते
दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिँ्
रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाधान्षड् दक्षिणैति
मासाँ्स्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति ।।३।।

अथ एतद्विपरीतं ये ग्रामे रामं त्यक्त्वा ग्राम्यभोगनिरता इष्टापूर्ते वैदिककर्मानुष्ठानं पूर्तं वापीकूपतडागादिनिर्माणं, दत्तं बहिर्वेदिदानं दरिद्रादिभोजनमुपासते धृतैकलक्ष्याः भजन्ते नैवारण्ये तपःश्रद्धे, ते मरणकाले धूमं ततः रात्रिं ततः अपरपक्षं कृष्णपक्षमिति-भावः, ततः यान्षड्माषान् सूर्यः दक्षिणदिशम् एति तान् षड्माषान् आश्रावणात् यावत्पौषं ततः सम्वत्सरं तदमिमानिदैवतं प्राप्नुवन्ति।।श्रीः।।

मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकशाच्चन्द्रमसमेष
सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति ।।४।।

एवं षण्मासेभ्यः पितृलोकं ततः आकाशं सावकाशं ततः चन्द्रमसं प्राप्नुवन्ति ततोऽग्रे न गच्छन्ति। एष सोमो राजा तदेव देवानामन्नं भवति अदनीयमं तदेव देवाः भक्षयन्ति। चन्द्रभूतोऽयं देवैर्भक्ष्यते इत्येव पुनरावर्तनम्।।श्रीः।।

अथ पुनरावर्तनक्रमं निदर्शयति—

तस्मिन्यावत्संपातुमुषित्वाथैतमेवाध्वानं
पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं
वायुर्भूत्वा धूमो भवति
धूमो भूत्वाभ्रं भवति ।।५।।

अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा
प्रवर्षति तत इह व्रीहियवा
ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति
जायन्तेऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं
यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः
सिञ्चति तद्भूय एवं भवति ।।६।।

एवं देवयानपितृयानगतिमुक्त्वा पुनरावर्तनक्रमं कथयति। तस्मिन् चन्द्रमसि अथवा चन्द्रलोके यावत्संपातं यावत्पुण्यक्षयमुशित्वा निवासं कृत्वा। आशयोऽयम् यत् स्वर्गलोके देवा: तं चन्द्रमेव तान् भोजयन्ति एवं भोज्यमानेषु तेषु पुण्यक्षये जाते पुनस्ते आवर्तन्ते। यथोक्तं गीतासु—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते।।

(गीता २-२१)

ततः एतमध्वानं मार्गं निवर्तन्ते। कः सोऽध्वा इत्यत आह-ततः एतमाकाशम् आकाशाद् वायुर्भवति ततः धूमो, ततोऽभ्रं, ततः मेघः, ततो वर्षति जलमयस्ततो ब्रीहियवा ओषधयः वनस्पतयास्तिलमाषाः जायन्ते। ततः दुर्निष्प्रतरं संसारसागरं प्राप्य एतमन्नमत्ति तन्मयं यद् रेतः सिञ्चति स्त्रियाम् आदधाति तच्छरीरमेव जायते। लोकाभिरामः श्रीरामभजनमन्तरेण अहरहः संसरन् नैव शरच्छशाङ्कसुन्दरमनल्पसौन्दर्य-संयुतं कुटिलालकं श्रीसीतापतिवदनं निरीक्षितुं सौभाग्यभाग् भवति।

एवं षड्भिर्मन्त्रैरत्र देवयानपितृयानवैलक्ष्यण्यं पुनरावर्तना चोक्ता। इमे श्रीगीतासु अष्टमाध्ययाये श्रीकृष्णेनोक्तम्—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते।।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्यया वर्तते पुनः।।

(गीता अ. २४,२५,२५)

ननु निष्कामकर्मयोगिनः देवयानमार्ग उक्तः, कर्मयोगिनश्च पितृयाणमार्ग उक्तः, किन्तु द्वाभ्यां विधुरस्य केवलं कर्माणि कुर्वतः बोधविक्लवस्य का गतिः? इत्यत आह द्वाभ्यां मन्त्राभ्याम्।

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो
ह यत्ते रमणीयां योनिमाप-
द्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा
वैश्ययोनिं वाथ य इह
कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां
योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा
चण्डालयोनिं वा ।।७।।

तत इह संसारे ये रमणीयचरणाः रमणीयं शास्त्रीयं चरणम् आचरणम् कर्म येषां तथाभूताः, ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यसम्बन्धिनीं रमणीयां निजोद्धारक्षमां योनिम् आपद्यन्ते, ये कपूयं निन्दितं चरणं कर्म येषां तथाभूतास्ते कपूयां निन्दितां योनिं श्वशूकरचाण्डाल-सम्बन्धिनीं योनिम् आपद्यन्ते, अभ्यासं शीघ्रम्। यद्यपि इदं क्रियाविशेषणं तत्वेन द्वितीयैकवचनं क्लीबत्वञ्च तथाऽपि व्यत्ययात् पुल्लिङ्गत्वं प्रथमैकविभक्तिश्च बोद्धत्या।।श्रीः।।

अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानीमानि
क्षुद्राण्यस कृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति
जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयँ्स्थानं तेनासौ
लोको न सम्पूर्यते तस्माज्जुगुप्से तदेष श्लोकः ।।८।।

अथ एतद्विपरितं ये एतयोः देवयानपितृयाणयोः कतरेण केनाऽपि मार्गेण ये न गच्छान्ति, ते न वा क्षुद्राणि कीटपतङ्गादीनि न वा असकृतदावर्तीनि अपुनरागमनशीलानि भूतानि प्राणिनः भवन्ति। ते तु जायस्व जन्म गृहाण म्रियस्व उपरम इति ईश्वरेच्छया निर्देश्यमानाः जायन्ते म्रियन्ते म्रियन्ते जायन्ते, एवमेव ते निशारणयन्त्रे वृषभ इव संसरन्ति। इदमेव तृतीयस्थानम् अत एव असौ परलोकः न सम्पूर्ण्यते नैव पूर्णतां गच्छति, तस्माज्जुगुप्सेत तास्मात् निरासारसंसारतः विरज्जेत इति श्रुतेरादेशः, तत् प्रतिपादकोऽयम् श्लोकः।।श्रीः।।

अथ द्वाभ्यां मन्त्राभ्यां पञ्चाग्निविद्यां स्तौति—

स्तेनो हिरण्यस्य सुरा पिवँ्श्च
गुरोस्तल्पमावसन्ब्रह्महा चैते पतन्ति
चत्वारः पञ्चमश्चाचरँ् स्तैरिति ।।९।।

अथ ह य एतानेवं पञ्चाग्नीन्वेद
न सह तैरप्याचरन्पाप्मना लिप्यते
शुद्धः पूतः पुण्यलोको भवति
य एवं वेद य एवं वेद ।।१०।।

हिरण्यस्य सुवर्णस्य स्तेनः चोरः सुरां पिबन् मद्यपानं कुर्वन् गुरोस्तल्पम् आवसन् गुरुपत्निगामी, ब्रह्महा ब्राह्मणवधकर्ता इमे चत्वारः पतन्ति, पञ्चमः तैः सहाचरन् व्यवहारं कुर्वन् पञ्चमः पतितः, किन्तु य एतान् पञ्चाग्नीन् वेद सः एभिः सहाचरन्नपि पाप्मना न लिप्यते नैव पापीयान् भवति, सः शुद्धो भवति, पूतः पवित्रः पुण्य लोकः पुण्यपुञ्ज-युक्तो भवति दिरुक्तिरादरार्था प्रकरणसमाप्तिसूचिका च।

इति छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये दशणखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यम् सम्पूर्णम्।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

एकादशःखण्डः

अथैकादशखण्डमारभ्यसमाप्तिपर्यन्तो ग्रन्थः वैश्वानरविद्याव्याख्यापरः तत्र यथा-क्रमं पञ्चानां गृहमेधिनामश्वपतिना सह सम्वादवर्णनपराख्यायनं प्रतिपित्सित सुखावबोधार्थम्—

प्राचीनशाल औपमन्यवः सत्ययज्ञः
पौलुषिरिन्द्रद्युम्नो भाल्लवेयो जनः
शार्कराक्ष्यो बुडिल आश्वतराश्विस्ते
हैते महाशाला महाश्रोत्रियाः
समेत्य मीमासाञ्चक्रुः को
न आत्मा किं ब्रह्मेति ।।१।।

उपमन्योः व्याख्यातचरस्य गुरावनन्यनिष्ठस्य पुत्रः औपमन्वयः, प्राचीनशालः प्राचीना सुदृढा पुरा निर्मिता शाला भवनं यस्य तथाविधः अन्वर्थनामा, एवं पुलुषस्य पुत्रः पौलुषिः, सत्ययज्ञः सत्यं परमात्मानम् एव यजते अनन्यभावेन हृदये समर्चयति तथाभूतः। एवं भल्लवस्य पुत्रः भाल्ववि तस्यापि पुत्रः भाल्लवेयः इन्द्रद्युम्ननामा ऋषिः, शर्कराक्षी ऋषिपत्नी तस्याः अपत्यं पुमान् शार्कराक्ष्यः अथवा अरण्ये तपश्चरणात् सततं

धूलिधूसरितत्वात् यस्य नेत्रे शर्कराभिर्बालुकाकणिकाभिर्मलीमसे सः शर्कराक्ष्यो ऋषिस्तस्य शर्कराक्ष्यस्य अपत्यं पुमान् शार्कराक्ष्यः जनः एतन्नामा, एवम् अश्वतरः एव अश्वः तद्वद् व्यवहार एव वाहनं यस्य सोऽश्वतरांश्वः अश्वतराश्वस्य अपत्यं पुमानं आश्वतंराश्विर्बुडिलः। अत्र प्रत्येकमहर्षेर्नाम्ना सह तद्वंशाख्यानेन तेषां कुलीनता सूचिता नाकुलीनो हि ब्रह्म मीमांसितुं प्रभवति (विद्याहवै ब्राह्मणमाजगाम) इति श्रुतेः। एवं प्राचीनशालसत्ययज्ञेन्द्रद्युम्नजनबुडिलाः पञ्चापि ब्रह्मणाः किं प्रकारका इत्यत् आह- विशेषणद्वयं महाशाला महत्यः अग्निहोत्रपञ्चयज्ञबलिवैश्वदेवप्रभृतिवैदिकब्राह्मणोचित- सत्कर्म पूजिताः विशालायतनाश्च शालाः भवनानि येषां तथाभूताः, न केवलं भौतिकघनवन्त इमे, किं तर्हि महाश्रोत्रियाः श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते इति पाणिनीयसूत्रेण छन्दः शब्दस्य श्रीत्रियशब्दनिपातने महान्तश्च ते श्रोत्रियाः इति महाश्रोत्रियाः, महत्वञ्च वेदपारगत्वेऽपि ब्रह्मविवित्सा इत्यने तपःश्रुतजातिभिर्ब्राह्मणत्वमेषां तथा हि—

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्काराद्द्विज उच्यते।
वेदपाठी भवेतविप्रः श्रोत्रियो वेदपारगः।।

इति याज्ञवल्क्य वचनात्। एते एकदा समेत्य मीमांसाञ्चकुः विचारं कृतवन्तः। कः आत्मा किं नाम ब्रह्म? आत्मशब्दो जीवात्मवाच्यपि तत्रातिव्याप्तिवारणाय ब्रह्म इति प्रकृत्यादाववतिव्याप्तिवारणाय आत्मेतिं। यद्यपि मीमांसते इति आत्मनेपदीयधातोरपि जगद्धितार्थं परस्मैपदप्रयोगः। अत्रेदमवधेयम्-ब्रह्म विचारः खलु पूतात्मनः संस्पृशति येषां प्रशस्तमातृपितृमत्ता परमपावनकुलाचारः सर्वतोभावेन ब्राह्मणत्वं धर्मतो भोगसेवनं त एव ब्रह्म विचारयितुं समीयन्ते, अन्यथा विलसितविविधविकारे घोरदुःखाकारे समत्रव्याप्तमहान्धकारे निस्सारे संसारे यस्मिन् सागर इव नागराः भग्नप्लवाः सतत- मीप्सितकामलवाः परिपात्यन्ते। धर्मपूर्वके हि भोगसेवने जानकीजीवने संजायते काचित् दर्शनोत्कण्ठा यथोक्तं मानसे—

प्रथमहि विप्र चरन अति प्रीति। निज निज कर्म निरत श्रुति नीति।।
एहि कर फल पुनि विषय विरागा। तब मम धरम उपज अनुरागा।।

(मानस ३.१६.६.७)

तस्मादयं प्रथमो मन्त्रः ब्रह्मजिज्ञासायोग्यता प्रदर्शनार्थम्। अत्र नः कः आत्मा किं ब्रह्मेति लिङ्गद्वयनिर्देशः जीबब्रह्मणोर्भिदां प्रदर्शयतुम् आत्मशब्दोऽत्र जीवात्मवाची।

ब्रह्मशब्दश्च परमात्मबोधक:। न: अस्माकं पञ्चप्राणदशेन्द्रियचतुरन्त:करण-पञ्चतन्मात्र-पञ्चमहाभूतमध्ये को नाम आत्मपदार्थ इति जिज्ञासा बीजम्। किं गुणकं ब्रह्मेति प्रश्न:। तनु सर्वथै वासमीचीनोऽयं प्रश्नाकार:, ब्रह्मणस्तु प्रसिद्ध त्वात्। सत्यं प्रश्नाकारस्य नैतत्तात्पर्यम्। ब्रह्मणो निर्गुणत्वे सगुणत्वे च विप्रतिपत्तौ। किं तर्हि ब्रह्म निर्गुणं सगुणं वा? उभयमिति ब्रूम: अथैकस्मिन् धर्मिणि कथं विरुद्धधर्मद्वयं संघटते समञ्जसत्वात्। अतो भागवते वृत्रासुर: परेश्वरम् समञ्जसं प्राह—

समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे।

(भागवत ६-११-२५)

सामञ्जस्यम् कथम्? शृणु निर्गुणत्वं नाम निर्लीनगुणकत्वं, कथं समास इति चेत् प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपश्च इति वार्तिकमेव तद् एवम् सगुणत्वं नाम प्रकटितमाहात्म्यगुणै:सहभूतत्वं, न खलु गुणा: परमात्मानं जहति न वा हातुं प्रभवन्ति गुणगुणिनोश्च समवायत्वप्रसिद्धेम् **न च उत्पन्नं सद् द्रव्यम् क्षणं निर्गुणं निष्क्रियञ्च तिष्ठति** इति नियमात् द्रव्यनिर्गुणत्वसिद्धौ द्रव्यभूतपरमात्मन्यपि गुणरहतित्वापत्तिरिति-वाच्यम्। उत्पन्नद्रव्य एव त्वदुक्तन्यायप्रवृत्ते: परमामनश्च नित्यत्वे न्यायाप्रसरेणादोषात् इति विरम्यते।

एवं निर्णयमलभमानास्ते किं चक्रु:? इत्यत आह—

ते ह संपादयाञ्चक्रुरुद्दालको
वै भगवत्तोऽयमारूणि: संप्रतीममात्मानं
वैश्वानरमध्येति तँ॒ हन्ताभ्यागच्छा
मेति तँ॒ हाभ्याजग्मु: ।।२।।

यत् भगवन्त: हे महानुभावा:! वयं यं सद्गुरुम् अन्वीक्षाम: अस्मान् समिलित: अरुणपुत्र: उद्दालक इमम् आत्मानम् वैश्वानरं, विश्वेनरा: यस्मिन् स: विश्वानर: विश्वानर एव वैश्वानर:। **नरे च संज्ञाययाम्** इति सूत्रेण विश्वघटकस्य अकारस्य दीर्घ:, स्वार्थेऽण् प्रत्यय: तादृशम् आत्मभूतं वैश्वानरमेव सम्प्रति स अध्येति स्मरति इङ् अध्ययने इत्यस्य छान्दसोऽयं परस्मैपदप्रयोग: हन्त: सहर्षं तमेव अभिगच्छाम: इति इत्थं विचार्य तमेवाभ्याजग्मु: आगता:।।श्री:।।

अथाग्रिमं वृत्तं सूचयति—

स ह संपादयाञ्चकार प्रक्ष्यन्ति
मामिमे महाशाला महाश्रोत्रियास्तेभ्यो
न सर्वमिव प्रतिपत्स्ये
हन्ताहमन्यमभ्यनुशासानीति ।।३।।

तान् समागतान् वीक्ष्य ह निश्चयेन सः सम्पादयाञ्चकार विचारयामास। संपादि क्रिया अत्र विचारणपरा। इमे प्रक्ष्यन्ति वैश्वानर विषये, अहम् इदं सर्वं न प्रतिपत्स्ये इति हेतोः आत्मने सर्वेषाम् प्रश्नानां प्रतिपादनाभावं कलयन् अहं स्वतोऽन्यं कमपि विशिष्टं सद्गुरुम् अनुशासानि वदितुम् इमान् प्रेरयामि।।श्रीः।।

एवं विचार्य सः कैकेयदेशमहाराजम् अश्वपतिं स्मारयामास।

तान्होवाचाश्वपतिर्वै भगोवन्तोऽयं कैकेयः संप्रतीममात्मानं
वैश्वानरमध्येति तँ् हन्ताभ्यागच्छामेति तँ् हाभ्याजग्मुः ।।४।।

सः आरुणिः तान् उवाच यत् साम्प्रतं कैकेयदेशराजा अश्वपतिः वैश्वानरम् आत्मानम् अध्येति तमेव वयम् अभिगच्छामः भवद्भिः सहाहमपि तमेवाभिगच्छानीति तात्पर्यम्, इति ते सर्वे तत्र जग्मुः।।श्रीः।।

अथ राज्ञः स्वागतं वर्णयति—

तभ्यो ह प्राप्तेभ्यः पृथगर्हाणि
कारयाञ्चकार स ह प्रातः संजिहान
उवाच न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो
न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न
स्वैरी स्वैरिणी कुतो यक्ष्यमाणो
वै भगवन्तोऽहमस्मि यावदेकैकस्मा
ऋत्विजे धनं दास्यामि तावद् भघवद्भ्यो
दास्यामि वसन्तु भगवन्त इति ।।५।।

एवं तेभ्य: प्राप्तेभ्य: षड्भ्योऽपि प्राचीनशालसत्ययज्ञेन्द्रद्युम्नजनवुडिलोद्दालकेभ्य: पृथक् पृथक् अर्हाणि पूजनानि कारयाञ्चकार। प्रात: सभां गच्छन् सञ्जिहान: तेभ्यो दक्षिणां दत्त्वा विसर्जयितुमियेश यदा ते न जगृहु: तदा राजा जनपदस्य शुद्धतां प्रावोचत्। हे भगवन्त:। मम जनपदे कोऽपि स्तेन: परधनापहर्ता, कदर्य: निन्दतिकार्यकर्ता, कृतघ्नो वा न हि मे जनपदे मद्यप: सुरापाय:, अनाहिताग्नि: न आहित: अग्नि: येन तथाभूत: अनग्निहोत्री, न मम जनपदे स्वैरी पदस्त्रीगामिन् तर्हि कुत: स्वैरिणी कथं परपतिगामिनी स्वैरिणी। अत: मम शुद्धं धनं परन्तु यदि भगवन्तोऽधिकम् वाञ्छन्ति तर्हि न चिराद् यक्ष्यमाण: यज्ञं करिष्यमाण: यावद्धनं यत् परिमाणकं द्रव्यं प्रत्येकम् ऋत्विजे याज्ञिकाय दास्यामि तावद् भगवद्भ्यो, तद् वसन्तु निवासं कुर्वन्तु इति निवेदयाञ्चकार।।श्री:।।

मुनीनां प्रार्थनामह

ते होचुर्येन हैवार्थेन पुरुषश्चरेत्तँ् हैव।
वदेदात्मानमेवेमं वैश्वानरँ् संप्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहीति।।६।।

येन अर्थेन प्रयोजनेन पुरुष: चरेत् गच्छेत् तमेवार्थं वद, अर्थात् यत् प्रयोजनेन पुरुष: कुत्रचित् गच्छति तमेव वद इति प्राञ्च:। वस्तुस्तु नेदं व्याख्यानं समीचीनम्। अस्मिन् व्याख्याने वाक्यभेद: निराकाङ्क्षिताया अभाव: निरर्थकं लकारव्यत्यय कल्पना। न्यायतस्तु मुनीनामयमभिप्राय: यत् येन अर्थेन ब्रह्मविज्ञानघनेन पुरुष: पुरुषार्थवादिमानव: चरेत् परमात्मानम् अनुचरेत् तत्पदपद्मं गच्छेद्वा तमेव अर्थं वद। साम्प्रतं वैश्वानरमात्मानमध्येषि स्मरसि तमेव ब्रूहि किमनेन क्षणभङ्गुरधनेन।।श्री:।।

अथ तेषाम् उपसत्तिं वर्णयति—

तान्होवाच प्रातर्व: प्रतिवक्तास्मीति ते ह समित्पाणय:
पूर्वाह्णे प्रतिचक्रमिरे तान्हानुपनीयैवैतदुवाच।।७।।

राजा तेषाम् अभ्यर्थनां स्वीकृत्य प्राह— अहं प्रात: व: प्रतिवक्तास्मि युष्मान् उपदेष्टास्मि प्रात:काले षडपि मुनय: कुलजात्यभिमानं गृहस्थ अपि विद्याप्राप्तये समिद्भारहस्ता विद्यार्थिरूपेण प्रतिचक्रमिरे उपगता:। अश्वपति: तान् अनुपनीय क्षत्रियत्वेनाधिकाराभावात् उपनीतोपनयनानुपपत्तेश्च एतदुवाच, आत्मवैश्वानर-रहस्यमुपदिदेश।।श्री:।।

इति छान्दोग्यपनिषदि पञ्चमाध्याये एकादश खण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यम् सम्पूर्णम्।।

।। श्रीराघव: शन्तनोतु ।।

अथ द्वादशःखण्डः

अथौपमन्यवाश्वपतिसंवादमवतारयति—

औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्स इति
दिवमेव भगवो राजन्निति होवाचैष
वै सुतेजा आत्मा वैश्वानारो यं त्वमात्मानमुपासस्से
तस्मात्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते ।।१।।

राजा पप्रच्छ हे औपमन्यव! उपमन्युपुत्रप्राचीनशाल त्वं कं वैश्वानरम् आत्मबुद्ध्या उपास्से भजसे। स उत्तरयामास—राजन्! दिवम् एव द्युलोकमेव। राजा प्राह—स सुतेजा नाम वैश्वानरः शोभनं तेजः यस्मिन् तथाभूतः। अतएव तव कुलं प्रसूत- सुसंतानसमृद्धं अतएव तव कुलं प्रसुतं श्रेष्ठसंततियुक्तं दृश्यते विलोक्यते। प्रसुतं प्रकृष्टसंततिः, आसुतं मर्यादित वंशपरंपरा दृश्यते।

फलश्रुतिमाह—

अतस्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं
पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं
कुले य एतमेवात्मानं वैश्वानरमुपास्ते
मूर्धा त्वेष आत्मन इति
होवाच मूर्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां
नागमिष्य इति ।।२।।

अतएव त्वम् अन्नम् अदनीयम् अत्सि अश्नासि, प्रियं पश्यसि प्रियदर्शनं करोसि यः एवं वैश्वारनरम् आत्मानमुपास्ते, सः अदनीयम् अत्तित प्रियं परमात्मानं पश्यति एषः आत्मा मूर्धा वैश्वानरस्य शिरोभागः, यदि त्वम् अत्र नागमिष्यः न आगतोऽभविष्यो मां प्रति तदातेमूर्धाप्यपतिष्यत मूर्धा निपतितोऽभविष्यत् एतज्ज्ञानेन त्वया मूर्धरक्षण कृतमितिभावः।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषधि पञ्चमाध्याये द्वादशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

त्रयोदशः खण्डः

राजा सत्यज्ञं प्रति प्राह—

अथ होवाच सत्ययज्ञं पौलुषिं प्राचीनयोग्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्यादित्यमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै विश्वरूप आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्तव बहु विश्वरूपं कुले दृश्यते ।।१।।

प्रवृत्तोश्वतरीरथो दासीनिष्कोऽत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवात्मानं वैश्वानरमुपास्ते चक्षुष्ट्वेतदात्मन इति होवाचान्धोऽभविष्यो यन्मां नागमिष्य इति ।।२।।

राजा प्राचीनयोग्यं पुलषपुत्रं सत्ययज्ञं पप्रच्छ, यत् त्वं कम् आत्मानम् उपास्ये। स उवाच, आदित्यम् आदित्य एव विश्वरूपो वैश्वानरः तस्य सर्वरूपत्वात् अत एव तव कुले विश्वरूपं अनेकरूपं दृश्यते। अपरञ्च अश्वतरीभ्यां युक्तो रथः अश्वतरीरथः दासिभिः सहितो निष्कः हारः इति दासीनिष्कः ब्रह्मणोवर्चः ब्रह्मवर्चसम् एषः विश्वरूपः आत्मनः परमात्मनः चक्षुः नेत्रम् अन्धः दृष्टिरहितः शेषं सुगमम्।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि पंचमाध्याये त्रयोदशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

चतुर्दशः खण्डः

अथाश्वपति इन्द्रद्युम्नसंवादमवतारयति तृतीयवैश्वानरोपदेशच्छलेन—

अथ होवाचेन्द्रद्युम्नं भाल्लवेयं वैयाघ्रपद्य कं त्वमात्मानमुपास्स इति वायुमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै पृथग्वर्त्मात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वां पृथग्बलय आयन्ति पृथग्रथश्रेणयोऽनुयन्ति ।।१।।

अथ राजा इन्द्रद्युम्नं पप्रच्छ, य त्वं कं भजसे? सोऽब्रवीत् वायुम्। राजा प्राह अयं वायुः पृथग्वर्त्मानां वैश्वानरः आत्मा एतस्य वर्त्मानि मार्गाः पृथक्पृथक्सन्ति। अत एव त्वां पृथक्बलयः अनेकराजोपहाराः पृथग्रथश्रेणयः अनेकेषां रथानां समूहाः अनुयन्ति अनुगच्छन्ति।

फलश्रुतिशेषमाह—

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्यन्नं पश्यति प्रियं
भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं
वैश्वानरमुपास्ते प्राणस्त्वेष आत्मन इति
होवाच प्राणस्त उदक्रमिष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ।।२।।

एषः वायुरूपो पृथग्वर्त्मा आत्मनः परमात्मनः प्राणः उत्क्रमिष्यत् उत्क्रान्तोऽभविष्यत् पूर्ववदन्यत्।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि पंचमाध्याये चतुर्दशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

पंचदशः खण्डः

अथाश्वपतिजनसंवादमवतारयति—

अथवोवाच जनँ्शार्कराक्ष्य कं त्वमात्मानमुपास्स
इत्याकाशमेव भगवो राजन्निति होवाचैष
वै बहुल आत्मा वैश्वानरो यं
त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वं बहुलोऽसि प्रजया च धनेन च ।।१।।

राजा शर्कराक्ष्यपुत्रं जनमपृच्छत्, तदुपासनाविषये। तेनोक्तं— यदहमाकाशमेव आत्मबुद्ध्या उपासे स आह, यद्वयमपि बहुलो नाम वैश्वानर आत्मा यं त्वमात्मानं मत्वा उपास्से। अत एव प्रजया संततिपरंपरया पशुभिः बहुलः अधिकसंपन्नः।

परिशेषमाह—

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते संदेहस्त्वेष आत्मन इति होवाच संदेहस्ते व्यशीर्यद्यन्मां नागमिष्य इति।।२।।

अयम् आकाशरूपः बहुलनामा वैश्वानरः आत्मनः परमात्मनः संदेहः मध्यभागः तव संदेहः मध्यभागोविशीर्णं भविष्यत् शेषं समानम्।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि पंचमाध्याये पंचदशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

षोडशः खण्डः

अथाश्वपति बुडिलसंवादमवतारयति—

अथ होवाच बुडिलमाश्वतराश्विं वैयाघ्रपद्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्यप एव भगवो राजन्निति होवाचैष वै रयिरात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वँ रयिमान्पुष्टिमानसि।।१।।

पुनः राजा बुडिलम् अपृच्छत्। सोऽब्रवीत्— यदहम् अप एव उपासे राज वदति यत् अयं रयिः एतज्ज्ञाता रयिमान् पुष्टिमान्।

परिशेषमाह—

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते बस्तिस्त्वेष आत्मन इति होवाच बस्तिस्ते व्यभेत्स्यद्यन्मां नागमिष्य इति।।२।।

एषः अब्रूयो रयिर्नामा वैश्वानरः आत्मनः वस्तिः मेहग्रन्थिस्थानं यदित्वमत्र नागमिष्यः तदा ते वत्सिः व्यभेत्स्यत् भिन्नाभविष्यत्।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि पंचमाध्याये षोडशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

सप्तदशः खण्डः

अथाश्वपत्युद्दालकसंवादम् अवतारयति—

अथ होवाचोद्दालकमारुणिं गौतम कं त्वमात्मानमुपास्स इति पृथिवीमेष भगवो राजन्निति होवाचैष वै प्रतिष्ठात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वं प्रतिष्ठितोऽसि प्रजया च पशुभिश्च ।।१।।

अश्वपतिना पृष्ट उद्दालकः आत्मत्वेन पृथिवीमुपास्यमाह, स कथयति, यद् अयं प्रतिष्ठानाम वैश्वानरः एतं भजन्नेव त्वं प्रतिष्ठितोऽसि।

परिशेषमाह—

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते पादौ त्वेतावात्मन इति होवाच पादौ ते व्यम्लास्येतां यन्मां नागमिष्य इति ।।२।।

आत्मनः परमात्मनः पृथिवीरूपः प्रतिष्ठानामा वैश्वानरः आत्मनः परमात्मनः पादौ एतज्ज्ञानार्थं यदि त्वं नागतोऽभविष्यः पादौ ते व्यम्लास्येतां म्लानावभविष्यताम्।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि पंचमाध्याये सप्तदशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

अष्टादशः खण्डः

अथाश्वपतिः वैश्वानरं सामग्र्येणोपदिशति—

तान्होवाचैते वैखलु यूयं पृथगिवेममात्मानं वैश्वानरं विद्वाँ्सोऽन्नमत्थ यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति ।।१।।

अथ राजा सर्वान्प्राह— एते यूयं प्राचीनशालादयः षट् इममात्मानं पृथक्सन्तमिव मन्यमानाः अन्नमत्थ इदं नोचितं यस्तु इमं प्रादेशमात्रं प्रादेशाः दिवादित्यवाय्याकाश-जलपृथ्वीनामानः तदाकाराः सुतेजा च विश्वरूपः पृथग्वर्त्मा बहुलःरयिः प्रतिष्ठा इत्येतानि समभिधानानि विदधतः मूर्धा चक्षुः प्राणः संदेहः वस्तिः पादौ इत्येतानि अंगानि तैरेवमियते इति प्रादेशमात्रः तं प्रादेशमात्रमथवा प्रादेशः द्युलोकमारभ्य पृथिवीपर्यन्तः प्रमाणो यस्य तथाभूतम् अभिविमानम् अभितो ज्ञानवैराग्यनेत्राभ्यां विमीयते विज्ञायते इति अभिविमानः तं सामग्रेणोपासते आत्मानं सेवकं मत्वा परमात्मानं चराचरेष्वेषु पश्यन्भजते स सर्वेषु भूतेषु उपश्लिष्टतया समुपस्थितः अन्नम् अत्ति ब्रह्मसुखमनुभवति।

तस्य ह वा एतस्यात्मानो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मामा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिलर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः ।।२।।

ह वा इति निश्चयार्थौ निपातौ तस्य आत्मत्वेन समाराध्यस्य वैश्वानरस्य स्वतेजा एव मूर्धा, द्युलोकात्मकः चक्षुः नेत्रं विश्वरूपं सूर्यात्मा पृथग्वर्त्मा प्राणः वायुरूपः बहुलः संदेहः आकाशाख्यो रयिः बस्ती अब्रूपः पृथिवी एव प्रतिष्ठापादः उर एव वेदिः लोमानि रोमाणि एव बर्हिः कुशाः हृदयं मनः गार्हपत्यमन्वाहार्यपचनः चेतः आहवनीयम् आस्यं मुखम्।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि पंचमाध्याये अष्टादशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

एकोनविंशः खण्डः

अथ भोजने निष्पादयितुम् अग्निहोत्रत्वं पञ्चप्राणानां पञ्चाहुतिविधितया प्रतिपत्तये तत्फलश्रुतिश्रावणाय शकलषट्कम् उपक्रमते।

तद्यद्भक्तं प्रथमभागच्छेत्तद्धोमीयँ स यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात्प्राणाय स्वाहेति प्राणस्तृप्यति ।।१।।

तद् तस्माद् हेतोः यद् भक्तं सिद्धम् अथवा भक्तिः परमेश्वरचरणाविन्दप्रेमप्रवणता अस्त्यस्मिन् तद्भक्तं, ननु प्रेम्णश्चेतनावन्निष्ठत्वात् भोजने कथमस्याधेयतेति चेत्? शृणु निर्मातृनिष्ठभगवत् प्रेम्णः प्रवणतायाः तत्रापि समारोपात्। भोजननिर्माणकाले यन्निर्मातृविशेषो भगवन्नामरूपधाम्नां समास्वादं कुर्वाणो भगवत् प्रतीये पचति तदा तद्भक्तिपरमाणवो भजोनेऽपि समागच्छन्ति। अतो भक्तं भगवद्भक्तिपूर्वकनिर्मितं प्रथमम् आगच्छति भोजनाय स्थाल्यामुपस्थाप्यते तद् होमीयं होमाय आध्यात्मिकाहुतये हितम् इति होमीयं तत्र सःभोक्ता याम् आहुतिम् जुहुयात् पूर्वोक्तवैश्वानरं सकलहृदये वर्तमानं परमात्मानं प्रीणयितुम् आहुतिबुद्ध्या यं प्रथमं ग्रासं मुखे मेलयेत् तत्र प्राणाय स्वाहा अनेन मन्त्रेण जुहुयात् आहुतिं प्रमाणं ग्रासं मुखे मेलयेत् एतेन कर्मणा प्राणः प्राणभूतपरमात्मा तृप्यति तृप्तिं लभते।

ननु तत्तृप्तौ को लाभ इत्यत् आह—

प्राणे तृप्यति चक्षुस्तृप्यति चक्षुषि तृप्यत्यादित्यस्तृप्यत्यादित्ये तृप्यति द्यौस्तृप्यति दिवि तृप्यन्त्यां यत्किंच द्यौश्चादित्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ।।२।।

एवम् अत्र पञ्चधा सति सप्तमी। प्राणे तृप्यति तृप्तिं गच्छति सति। चक्षुः नेत्रं तृप्यति, चक्षुषि तृप्यति तृप्ते भवति आदित्यः चक्षुर्देवता तृप्यति तस्मिन् तृप्ते द्यौः आदित्याधारभूतो लोकः परमप्रकाशमानः साकेत इति भावः। तस्यां तृप्यन्त्यां तृप्तिं गच्छन्त्यां यत्किञ्चिद् रूपं यत् द्यौरादित्यसाकेतसूर्यौ अधितिष्ठतः आधारी कृत्य प्रकाशेते। यत्किञ्चिदधितिष्ठतः इत्यत्र (अधिशीङ् स्थासाम् कर्म) इत्यनेन आधारकर्म संज्ञायां द्वितीया। तृप्यति तद् ब्रह्मभूतं श्रीरामाख्यं वस्तु तृप्यति प्रीण्यते तस्य परमात्मनः तृप्तिम् अनु तृप्तेरनन्तरं भोक्ता प्रजया भगवद्भक्तनिर्देशकृदास्तिकसन्तत्या अन्नाद्येन भक्षणयोग्यभोजनेन। अन्नमेव आद्यमिति अन्नाद्यं तेन भगवद् प्रीतिजनकरसवदशनेन इति भावः। तेजसा शारीरिकबलेन ब्रह्मवर्चसेन ब्रह्मणः वर्चः इति ब्रह्मवर्चसं ब्रह्म हस्तिभ्यां वर्चसः। इति सूत्रेण अच् प्रत्ययः। ब्राह्मणसम्बन्धेन परमात्मानुग्रहलब्धतेजसा तृप्यति परितोषं व्रजति। इति शब्दः खण्डसमाप्तिसूचकः।

इति छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये एकोनविंशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

विंशोः खण्डः

अथ द्वितीयाहुतिं वर्णयति—

अथ यां द्वितीयां जुहुयाद् व्यानाय स्वाहेति व्यानस्तृप्यति ।।१।।

व्याने तृप्यति श्रोत्रं तृप्यति श्रोत्रे तृप्यति चन्द्रमास्तृप्यति चन्द्रमसि तृप्यति दिशस्तृप्यान्ति दिक्षु तृप्यन्तीषु यत्किञ्च दिशश्च चन्द्रमाश्चाधितिष्ठन्ति तत्तृप्यात तस्यानुतृप्ति तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ।।२।।

व्यानाय स्वाहा इति मन्त्रं जपन् आहुति बुद्ध्यात् द्वितीयं ग्रासं मुखे मेलयेत् एवं व्यानस्तृप्यति तदनु श्रोत्रं श्रवणेन्द्रियं तदनु चन्द्रमाः श्रोत्ररूपस्य आकाशस्य अलङ्करणभूतत्वात्। तदनु दिशः चन्द्रमासः दिक्त्वात्। तदनु दिक् चन्द्राधिष्ठान् परमात्मा श्रीरामः।

इति छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये विंशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।श्रीः।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

एकविंशः खण्डः

अथ तृतीयम् आहुतिं निरूपयति—

अथ यां तृतीयां जुहुयात्तां जुहुयादपानाय स्वाहेत्यपानस्तृप्यति ।।१।।

अपाने तृप्यति वाक्तृप्यति वाचि तृप्यन्त्यामग्निस्तृप्यत्यग्नौ तृप्यति पृथिवी तृप्यति पृथिव्यां तृप्यन्त्यां यात्किं च पृथिवी चाग्निश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ।।२।।

तृतीयामपानाय स्वाहा इति मन्त्रं जपन् आहुतिभूतां ग्रासक्रियां निर्वर्तयेत्। एवम् अपानः तद्दैवतं तृप्यति तमनु वाक् वाणी तामनु अग्निः वाक् दैवतं तमनु पृथिवी आधारशक्ति अग्निरधिष्ठानत्वात्।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये एकविंशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

द्वाविंशः खण्डः

अथ चतुर्थीम् आहुतिमाह—

अथ यां चतुर्थीं जहुयात्तां।
जुहुयात्समानाय स्वाहेति समानस्तृप्यति।।१।।

समाने तृप्यति मनस्तृप्यति मनसि
तृप्यति पर्जन्यस्तृप्यति पर्जन्ये तृप्यति
विद्युत्तृप्यति विद्युति तृप्यन्त्यां यत्किञ्च
विद्युच्च पर्जन्यश्चाधितिष्ठतस्ततृप्यति
तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया
पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति।।२।।

अथ चतुर्थं ग्रासं समानाय स्वाहा इति मन्त्रं जप्त्वा आहुतिबुद्ध्या मुखे मेलयेत्। अनेन समानस्तृप्यति तमनु मनः तदनु पर्जन्यः वर्षणदैवतं तमनु विद्युत्। तामनु तपोऽधिष्ठानं परमात्मा तमनु भोक्तेति तृप्तिक्रमः।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये द्वाविंशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

त्रयोविंशः खण्डः

अथ पञ्चमीम् आहुतिं वर्णयति—

अथ यां पञ्चमीं जुहुयात्तां स्वाहेत्युदानस्तुप्यति।।१।।

उदाने तृप्यति त्वक्तृप्यति त्वचि तृप्यन्त्यां वायुस्तृप्यति वायौ तृप्यत्याकाशस्तृप्यत्याकाशे तृप्यति यत्किं च वायुश्चाकाशश्चाधितिष्ठततस्तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ।।२।।

पञ्चमीम् आहुतिम् उदानाय स्वाहा इति मन्त्रेण जप्यमानेन ग्रासरूपां जुहुयात् क्रिययानया उदानस्तृप्यति तमनु त्वक् त्वगेन्द्रियं तामनु वायुः त्वग् दैवतं तमनु आकाशः वारवाधारः। तमनु द्वयोरधिष्ठाता परमात्मा। तस्मिन् तृप्ते तृप्यति भोक्ता आदेशकारः सन्ततिभिः भगवदीयाभिर्भगवद्भक्तिवर्धकभोजनेन भगवद् भजनोपयोगिना शारीरेण तेजसा ब्राह्मणोचितेन भगवद् दत्तेन च मानसेन वर्चसा तृप्यति। एवं भोजनकाले प्रत्यहं भोजनात्पूर्वं हृदिस्थं वैश्वानररूपं भगवन्तं तोषयितु कामः पञ्चग्रासान् आहुतिप्रमाणान् यथाक्रमं प्राणाय स्वाहा,, व्यानाय स्वाहा, अपानाय स्वाहा समानाय स्वाहा, उदानाय स्वाहा इति मन्त्रैः हवनबुद्ध्या पश्चाद्यथारुचि भोजनं कुर्यात्। अत एव स्मरति भगवान् गीतासु।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ।।

गीता १५-१४

प्राणापानशब्दः व्यानसमानोदानानामप्युपलक्षणः अन्नम् अदनीयमशनम् चतुर्विधं भक्षभोज्यलेह्यचोष्यरूपम्। इदमेवमाह मानसे गोस्वामी तुलसीदासः **पञ्च कवलि करि जेवन लागे, गारि गन सुनि अति अनुरागे**। (मानस १-३२-१।)

देवादित्येन्दुदिग्वाणी ज्वलनाम्भोदशम्पिका ।
वाताम्बरनियन्ता यस्तं रामं ब्रह्म संश्रये ।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये त्रयोविंशेखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

चतुर्विंशः खण्डः

अथ विदुषां हवनस्वरूपं निरूपयति—

स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति। यथाङ्गारानपोह्य भस्मनि जुहुयात्तादृक्तत्स्यात्।।१।।

सः एतत् पञ्च कवलप्रकारम् अविद्वान् न जानन् अग्निहोत्रं जुहुयात् मनः कल्पितं किमपि वाक्यं कथयित्वा भोजनं कुर्यात् सदा तस्य भोजनं तादृशमेव निष्फलं भवति यथा कोऽपि अङ्गारं निर्धूममग्निम् अपोह्य दूरीकृत्य भस्मनि हवनं करोति।

अथ विदुषां हवनस्वरूपं वर्णयति—

अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्य। सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवति।।२।।

अथ यदि विद्वान् एतद् रहस्यं जानन् मन्त्रपञ्चकजपपुरस्सरम् आहुतिं कुर्यात् तदा तस्य हुतं हवनकर्म सर्वेषु भूतेषु प्राणिषु सर्वेषु लोकेषु साकेतपर्यन्तेषु सर्वेषु आत्मसु जीवात्मसु। अत्र बहूक्तिनिर्देशः जीवात्मनाम् अनेकत्वं प्रमाणयति।

अथ विदुषोऽग्निहोत्रफलं वर्णयति—

तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतवँ्हास्य सर्वे पाप्मानः। प्रदूयन्ते य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति।।३।।

यः एतद् विद्वान् विदन् अग्निहोत्रमेतद्रूपं जुहोति पञ्चकवलं कृत्वा भोजनं करोति तस्य पाप्मानः अघानि तथैव प्रदूयन्ते नष्टा भवन्ति यथा ईशिका तूलं शरनामकतृण-राशिभिर्युक्तं कार्पाशं अग्नौ प्रदूयन्ते भस्मसाद् भवन्ति।

भूयः विद्वासं प्रशंसति—

तस्मादु हैवं विद्यद्यपि चण्डालायोच्छिष्टं प्रयच्छेदात्मनि। हैवास्य तद्वैश्वानरे हुतँ्स्यादिति तदेष श्लोकः।।४।।

तस्मात् अत एव एवं विद् एतद् रहस्यज्ञाता यदि चाण्डालाय यदि उच्छिष्टं प्रयच्छेत् तदात्। अत्र अपि शब्दः चतुर्थेनान्वेति। उच्छिष्टचाण्डालशब्दौ देय-

दायकेत्युभयत्र पवित्रापवित्रत्वभावसूचकौ। तत् सर्वम् आत्मनि वैश्वानरे भगवति हुतं प्रीणन् साधनं स्यात्। उच्छिष्टं हुतमेव चाण्डालस्य आत्मभूतवैश्वानर इव होतृकृते पुण्य-जनकतावच्छेदको घटते इति भावः।

अस्मिन् विषये एषः श्लोकः भवति। पद्यात्मकः मन्त्रः पद्यते।

यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासतेँ।
एव सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासत इत्यग्निहोत्रमुपासत इति ।।५।।

यथा इह अस्मिन् लोके क्षुधिताः बुभुक्षापीडिताः बालाः बालकाः शिशवः मातरं निजजननीं पर्युपासते इति क्षुत्क्षान्तये प्रार्थयमाना भजन्ते। एवं सर्वाणि भूतानि जीवजातानि अग्निहोत्रं वैश्वानराग्नौ हूयन्ते पञ्चाहुतयः अनेन इत्यग्निहोत्रस्तं भोजनकाले पञ्चकवलकर्तारम् उपासते निजत्राणाय भजन्ते द्विरुक्तिरादरार्थाध्यायसमाप्तिसूचकार्था:।।

इति छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये चतुर्विंशखण्डः
इति श्रीचित्रकूटवास्तव्य सर्वाम्नाय श्रीतुलसीपीठाधीश्वरश्रीमज्जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामभद्राचार्यकृतौ श्रीराघवकृपाभाष्ये छान्दोग्योपनिषदि विवरणे पञ्चमाध्यायः सम्पूर्णम्।।
।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।।श्रीराघवो विजयते।।

।।श्रीरामानन्दाचार्याय नमः।।

षष्ठोऽध्यायः

प्रथमः खण्डः

एकमेवाद्वितीयं सद् ब्रह्म यं श्रुतयो जगुः
नीलोत्पलदलश्यामं रामं षष्ठे तमीड्महे।

अथ समस्तश्रुतीनां परमं तात्पर्यं, निरस्त समस्तहेयगुणं विशुद्धबोधविग्रहं भूमिजापरिग्रहं सकलकल्याणगुणसङ्ग्रहं सर्वसर्वेश्वरं परमात्मानं श्रीरामं ब्रह्म निरूपयितुं षष्ठोऽध्यायः उपाक्रम्यते। तत्र आरुणेय श्वेतकेतु तज्जनकारुणि सम्वादव्याजेन समवतार्यते चैषाख्यायिका—

श्वेतकेतुर्हारुणेय आस तछह पितोवाच श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्यम्। न वै सोम्यास्मत्कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति।।१।।

ह शब्दः आख्यायिकाया ऐतिएकत्वसूचकः, आरुणेयः अरुणस्य गोत्रापत्यं पुमान् आरुणिः तस्य आरुणेः गोत्रापत्यं पुमान् आरुणेयः, अरुणनामा ब्रह्मऋषिपौत्र इति भावः। श्वेतकेतु श्वेतः ब्रह्मविद्याया धवली करिष्यमाणः केतु ध्वयो यस्य सः श्वेतकेतु अन्वर्थनामा आस पूर्वकाले बभूव। "बहुलं छन्दसी" इत्यनेन "अस्तेर्भूः" इति सूत्रस्याप्रवृत्तेः आसेति अस् धातुरेव लिडन्त प्रयोगः। तादृशं श्वेतकेतुनामकं पुत्रम् अतिक्रममाणमवधिं व्रतवन्धसंस्कारस्य तं वेदाध्ययिनं न चिकीर्षन्तं व्यतीतद्वादशवर्ष-वयसं पिता तज्जनक आरुणिरुवाच, श्वेतकेतो एतन्नाम्ना पुत्रमभिमुखीकरोति। वस ब्रह्मचर्यं शास्त्राध्ययनाय कञ्चिदाचार्यं वृत्वा तच्चरणारविन्दसमीपे ब्रह्मचर्यव्रतं वसुमैथुनत्याग पूर्वकं गुरुकुल एव निवस, आदेशहेतुमाह सोम्य हे सोमरसपानार्ह पुत्र! कोऽपि अस्मत् कुलीनः अस्मद् वंश प्रसूतः अनूच्य वेदान् अनधित्य अकण्ठस्थि कृतवेद ब्रह्मबन्धुः ब्रह्माणो बन्धवो यस्य व्यपदे स्याह सः ब्रह्मबन्धु अन्यान् ब्राह्मणान् बन्धून्

मन्वान स्वयं ब्राह्मणसंस्कारहीनः ब्रह्मबन्धुः स इव न भवति न कोऽपि वेदाध्ययन-वर्जितः सन् ब्राह्मणाधमो जायते। स्वाध्याय एव ब्राह्मणानां तपः तद् विहीनो ब्रह्मबन्धुरेव।

''ब्रह्मबन्धुर्द्विजाधमः'' इतिकोशात् यथोक्तं मानसे—

सोचिय विप्र जो वेद विहीना ।
तजि निज धर्म विषय लयलीना ।।

मानस २-१७३-३

इति एष आदेशप्रकारः।।श्रीः।।

अथ श्वेतकेतोरुत्तरकालिकदशामाह—

स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विंशतिवर्षः सर्वान् वेदानधीत्य महामना अनूचानमानी स्तब्ध एयाय। तछ्ह पितोवाच श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः।।२।।

एवं शास्त्राध्ययनसमर्थोऽपि ब्रह्मविद्या दौर्लभ्यद्योतनाय द्वादशवर्षं स्वयमनुपनीयैव पुत्रेणैव वृतं कञ्चिदाचार्यं प्रति प्रेषयामास ननु कथमिदं ज्ञातं यत् द्वादशवर्षः श्वेतकेतुः प्रेषित इति? अनुपदमेव चतुर्विंशति २वर्षः इति श्रुत्येव वक्ष्यमाणत्वात् न च द्वादशवर्षस्य विप्रस्योपनयने **'व्रात्यत्वापत्तिरितिवाच्यम्'** **''अष्टवर्षं ब्राह्मणोमुपनयित''** इति श्रुतेः तत्र षोडशवर्षं यावत् उपनयनावधिनिर्धारणेनादोषात् षोडशवर्षानन्तर एव अनुपनीत ब्राह्मणव्रात्यत्वनिर्देशात्। यथोक्तं मनुना **आषोडषाधि विप्रस्य सावित्री नाति वर्तते।**

इति सः श्वेतकेतु पितुनिर्देशं पालयन् तत्र समग्रं वेदराशिं गुरोरेवाधिजग्रे, ततो द्वादशे वर्षे पूर्णे सति वयसा चतुर्विंशतिवर्षः रूढयौवनः सर्वान् वेदान् अधीत्य एकैकं वेदं त्रिभिस्त्रिभिवर्षैः शब्दतः अर्थतश्चाधिगम्य तान् पुनराचार्यसमक्षम् अनूच्य आनुपूर्व्या प्रकृतिविकृतिस्वरवर्णानुकूल्येन परीक्षायां विस्पष्टमुक्त्वा तस्माद् लब्धप्रमाणः एवं गुरुकुलमुपेत्य ततः शिक्षितो भूत्वा समावर्तनविधया गृहं प्रति निवृत्तः। कथम् आगच्छत्? इत्यत् आह महामना:महत् पूजनीयं मनः यस्य सः महामनाः मनसि विद्याभिमानयुक्तत्वात् इतरापेक्षया निज मन एव महन् मन्वानः अनूचानमाने आनुपूर्व्या आनुकूल्येन च

विकृति स्वरवर्णानां परिभाषणविधानेन अनुवक्ति समस्तश्रुतिजातं यः सः अनूचानः, अनूचानम् आत्मानं मन्यते इत्यनूचानमानी, आत्मानमानुपूर्व्यानुकूल्याभ्यां वेदानां वक्तारं मन्यमानः, अथ एव तेन गर्वेण एयाय आ इषत् इयाय इति एयाय, अभिमानयुक्तत्वात्। न तु पूर्ण पितुः समीपमगच्छत् इत्येव 'आङस्तात्पर्यम्' ननु कथमीषदर्थ एवाङ्निर्धारितस्त्वया? इति चेत् सन्धिकार्यं निरीक्ष्यैव, अथ कथं सन्धिकार्येण ईषदर्थोवधारितः इति चेच्छृणुः "ङित्स्वेवाऽङः" सन्धिकार्यमिति पाणिनीरनुशास्ति। तथा च सूत्रं "निपात एकाजनाङ्" ङित्वं च चतुर्ष्वर्थेषु ईषदर्थे क्रियायाः योगे मर्यादायाम् अभिविद्यावपि वाक्ये स्मरणे च अङित् तत्र नैव सन्धिकार्यम्। तथा च भाष्यश्लोकः—

ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधावपि
एतमातं ङितं विद्यात् वाक्यस्मरणयोरङित्।

इति नन्वेतेषु चतुर्ष्वपि ङित्वज्ञाप्य वाच्येष्वः ईषदर्थ एव कथं निश्चितो भवता अनूचानमानीत्वस्तब्धत्वेति तन्मनः प्रतिक्रिया द्वयेन एवम् एयाय ईषदर्थसंपन्नः पितुःसमीपमगच्छत्। एवं समधीत वेदमपि विद्याभिमानगर्वितं पंडितं मन्यमानमनसं तं श्वेतकेतुं निरभिमानं चिकीर्षन् तं ब्रह्मविद्ययापि पावयिषन् उवाच अवदत् यत् श्वेतकेतो त्वं यस्मात् कारणात् अनूचानमानी आत्मानं सामग्र्येण वेदवक्तारं मन्यमानः, अतएव स्तब्धः विद्याभिमानेन गर्वितः असि किं तम् आदेशं ब्रह्मनिर्देशं आदरात् दिश्यते उपदिश्यते देशिकैः सत्पात्रेभ्यः यः स आदेशः,अथवा आ ईषदेव दृश्यते अनिर्वचनीयतया न तु सामग्रेण वर्ण्यते अनिर्वचनीयं नाम निःशेषेण वक्तुमनर्हत्वे सति यत्किंचित् वक्तुमर्हम् इत्यसकृदवोचाम श्रुतिरपि नेतिनेतिइति निगदन्ती ब्रह्मनिःशेषेण न वक्तुं प्रभवति। अथवा आ आकाशः सर्वेषां हृदाकाशः एवदेशः निवासदेशः यस्य स आदेशः भगवान्

"अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः"

इति श्रुतेः (कठ० १.२.१३)

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" (गी० १८.६१)

इति स्मृतेश्च। अथवा आदरात्दिशति अतिसृजति भक्तेभ्यः सकलाभीप्सितान् यः स आदेशः भगवान् श्रीरामः स हि समादरेण भक्तेभ्यः सकलानभीप्सितान् अतिसृजति।

यथोक्तं श्रीविभीषणशरणागतिप्रसंगे श्रीमानसे पंचमे—

जो संपति सिव रावनहिं दीन्ह दिये दसमाथ।
सोइ संपदा बिभीषणहिं सकुचि दीन्ह रघुनाथ।।

अथवा आदाय समन्तात् अत्ति (मा॰ ५.४९ख) खादति इत्यादः, सकल-कलाकलापकलनः कालः तस्यापि आदस्य कालस्यापि ईशः इत्यादेशः। तथा च पठन्ति काठकाः—

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपशेचनं क इत्था वेद यत्र सः।।

(कठ॰ १.२.२५)

मानसकारोऽप्यामनति—

जाके डर अतिकाल डेराई।
जो सुर असुर चराचर खाई।।

(मा॰ ५.२२.९)

तात राम नहिं नरभूपाला।
भुवनेश्वर कालहुँ कर काला।।

(मानस ५.३८.१)

भृकुटिभंग जो कालहिं खाई।
ताहि कि सोहइ ऐसि लराई।।

(मानस ६.६७.२)

एवं विधम् आदेशं सकलहृदयाकाशदेशं कालाधीशं साकेतपतिं श्रीरामं ब्रह्म अप्राक्षः छान्दसोऽयमाकारः, मन्मते तु अप्राक्षीः इत्येव पाठः ।।श्रीः।।

अथ तमादेशं पुत्रगीप्साविवर्धयीषया विशिनष्टि

येनाश्रुत ँश्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति।
कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति।।३।।

येन आचार्यचरणेभ्य: सविधिविज्ञाय प्रतीतिप्रीतिपूर्वकपरानुरक्तिरूपभक्तिप्रवणचेतसि संनिधीयमाने नानुगृह्णता भगवता हेतुभूतेन समुपजृंभितभक्तरितम्भरेण विश्वम्भरेण रघुवरेण अश्रुतं न कदापि श्रवणपथं नीतम् अपि समस्त श्रुतिजातं श्रुतं भवति। स्वयमेव श्रवणपथमागच्छति। निजं कृतार्थीचिकीर्षमाणम् अमतं यत् कर्हिचिदपि नैव ध्यातं तन्मतं भवति स्वयमेव ध्यानविषयी भवति। अविज्ञातं यन्न कदापि ज्ञानविषयतामागतं तदविज्ञातं विशेषेण ज्ञायमानं भवति, श्रुतमतयोर्निदिध्यासितस्यापि अन्तर्भाव:। एवं येन निर्भरभक्ति भागीरथीवारिधारया विमलिते मानसमन्दिरे परमाराध्यतया भगवद्भक्तेन समनुक्षणं प्रेमप्रवणानन्यचेतसा क्रियमाणभव्यभावना समर्चनेन येन श्रवणमनननिदिध्यासन-विज्ञानमन्तरेणापि निखिलं वस्तु सकल विलक्षणमविनस्वरं सर्ववेदान्तप्रतिपाद्यं ब्रह्म श्रुतं मतं निदिध्यासितं विज्ञातं च भवति। तमादेशं भक्तवाञ्छाकल्पतरुं कृपालु चूडामणिं प्रणतपालकं लोलालकं कौसल्याबालकं ब्रह्म निजगुरून् कदाचित् समगीप्स: न वेति यदि अगीप्सीष्य:। तर्हि न स्तब्धोऽभविष्य:, यतस्तब्ध: अतो न गीब्प्सितवानसि। न खलु ब्रह्मणि विज्ञाते कोऽपि स्तम्भते, एवं पित्रानिर्भर्त्सित: संचूर्णीकृतवेदाध्ययन-संजाताखर्वगर्व: खर्बोऽर्भक: कीदृगादेश: स इति पृच्छति।

हे भगव: हे पूज्यचरण! स आदेश: ब्रह्मरूप: कथं भवति कीदृगस्ति इति शब्दोगीप्साप्रकरसूचक:।।श्री:।।

अथादेशं त्रिभिर्मंत्रैर्विवृणोति—

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातꣳस्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।।४।।

यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातꣳस्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम्।।५।।

यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातꣳस्याद्वाचारम्भणं विकारो

नामधेयं कृष्णाय समित्येव सत्यमेवꣳसोम्य स आदेशो भवतीति।।६।।

इदानीम् आदेशस्य त्रैकालिकसत्यतां त्रिभिर्मन्त्रैः दृढीकरोति, आदेशशब्दवाच्यः परमात्मा त्रिकालं सत्यः अत्रेदमवगन्तव्यं यत् श्रुतिसंमतोऽयमविकृतपरिणामवादः। जगत्परमात्मनः परिणामः किन्तु विकारो नहि सर्वथैव तस्मिन् विकाराभावात्।

यथा दीपकाद्दीपः प्रभवति किन्तु प्रभावको न विक्रियते, यथा वृक्षात्फलं प्रभवति किन्तु न विकारमापद्यते वृक्षः।

यथा च चिन्तामणेः समीप्सिता निर्गच्छन्ति तथैव कोटि कोटि ब्रह्मांडानि भगवतः प्रभवन्ति। किन्तु भगवान् निर्विकार एव ननु ब्रह्मणो निर्विकारत्वे कथं परिणामवादः? चित्, अचिच्चेति ब्रह्मणो द्वे विशेषणे, विशेषणविशेष्यमध्यवर्ती शरीरशरीरिभाव सम्बन्धः। एवं चिज्जीवः, अचिज्जगत् तद् विशिष्टं ब्रह्म, तस्मिन्नेव प्रकृतिनामके अचिति विशेषणे विकारः। ननु चिदंशे विशेषणे, न वा विशेष्ये ब्रह्मणि इत्येव विशिष्टाद्वैतवादः। अत एव "परिणामात्" ब्र॰ सू॰ १-४-२७ इति बादरायणवचनं संगच्छते। इयमेव सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा। यत्वेकत्ववादिनः जगतो विवर्तवादमाडम्बरयन्ति, तत्तु सर्वथैवाशास्त्रीयम्। तेषामेव लक्षणानुसारेण—

सतत्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदाहृतः।
अतत्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदीरितः।।

ते खलु रज्जुसर्पोदाहरणं उपस्थापयन्ति तत्र ते प्रष्टव्याः "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानीति शान्त उपासीत" (छान्दोग्य॰ ३.१४.१) इति श्रुत्या जगन्मयत्वं ब्रह्मणः प्रतिपादितम्। तर्हि ब्रह्मव्यतिरिक्तं यदि किमप्यवशिष्यते नहि ब्रह्मैव परमार्थतस्तत्वं तदा कुतमागतमतत्वं यद्यतत्वं नास्ति तर्ह्यतत्वतोऽन्यथाप्रथाकुतः मह्यन्यथाप्रथा नास्ति तर्हि कुतोयं विवर्तवादगर्तावर्तः। यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च इति श्रुतिस्तु केवल ब्रह्मणः अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्वप्रतिपादनपरा। न तु तया कश्चनवादः प्रतिपाद्यते जगत् विषयकः। अहो रवोपधत्वमेषां ये सामान्यामुपमामपि न विवेक्तुं प्रभवन्ति, न खलु चन्द्रैव मुखमिति वाक्येन मुखे सामग्र्येण चन्द्रत्वं समुपस्थाप्यते। प्रत्युत आंशिकतया तद्गताह्लादकत्वमेव तत्र समारोप्यते। तस्मात् न वा जगद्ब्रह्मणो विवर्तो प्रत्युत्परिणामः

स चाविकृतत्वविशिष्ट इति तथ्यं स्पष्टयितुं त्रिर्विकारो निषिध्यते इति विरमामि लोकाभिरामे श्रीरामे। अथ तर्हि—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्वं यदक्षरम्।
विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।।

वाक्यपदीयब्रह्मकाण्ड१—

एवं श्रीलक्ष्मीरमणं नौमि गौरीरमणरूपिणम्।
स्फोटरूपं जगत्सर्वं यत यतद्विवर्त्तते।।

वैयाकरणभूषणसारमङ्गलाचरण १

इत्यादौ विवर्तते इति पदप्रयोगः किमभिप्रायकः? इति चेत् नैषः प्रयोग आर्षः प्राचीनोवा भगवत्पादशङ्कराचार्यपदानुयायिनां पूर्वाग्रहग्रहीतभाव एषः। अथवा विशेषेण वर्तते विवर्तते इति योगव्याख्या करणीया। एवं विवर्तवादो न श्रौतः, कस्तर्हि परिणामवादः, स चाचिज् विशेषण एव, विशिष्टे ब्रह्मणि समुपचर्यते। "दण्डे नष्टे दण्डी नष्ट" इतिवत् भगवानेव चराचररूपेण परिणमति, एष परिणामवादः जीवभोग्याचित् पदार्थविषयक, न तु जीवः स तु भगवत्कलारूपः दासभूतो भगवत्पुत्र एव एषः नित्यो भगवानिव नित्यो नित्यानाम् चेतस् चेतनानाम् इति श्रुतेः।

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः"

गीता १५-७

इति स्मृतेश्च। नन्वखण्डस्य परमात्मनः अंशत्वकल्पने सखण्डतापत्तिरिति चेन्न दीपात् प्रवर्तित दीपवत्, अंशत्वकल्पनेऽपि तदखण्डत्वेनाक्षति। यतु अंशशब्दः अंशसदृशे लाक्षणिक इति केचन आहुः तन्न सनातनपदो पादानेन भगवत इव तस्य नित्यत्वस्वीकारात्। अत्र अंशत्व अंशित्वव्यवहारः अणुत्व व्यापकत्व अभिप्रायकः। एवं परमात्मा व्यापको भवन् चेतन जीवात्मा च अणुः संश्चेतनः तस्य जीवस्य भोग्य पदार्थ सर्व अभिकृतस्य भगवत परिणाम एव। अत एव श्रीभागवते—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च।
ज्योतींषि सत्वानि दिशो द्रुमादीन्।

सरित्समुद्राश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्चभूतं प्रणमेदनन्यः।।

भा० पू० ११-२-४१

इति नारदीय वचनं सङ्गच्छते। इममेव परिणामवादं विस्पष्टयितुं यथाक्रमं मृत्पिण्ड-लोहमणिनखनिकृन्तनदृष्टान्तान्याह।हे सोम्य श्वेतकेतो! यथा येन प्रकारेण एकेन मृत्पिण्डेन लोष्ठेन तत्परिणामभूतं सर्वं मृण्मयं मृद् विकार: अत्र विकारार्थे मयट्। सर्वं विज्ञातं स्यात् अत्र लोऽर्थे लिङ् ज्ञानविषयीभूतं भवतीति भाव:। विकार: वाचारम्भणं वागालम्भनं, वाच: आरम्भणं वाचारम्भणम्। ननु कथमत्र न कुत्वं "अयस्मयादीनि छन्दसि" इत्यनेन अयष्मयादित्वेन तन्निषेधात्। अथ कथं न जस्त्वम् "उभय संज्ञानीति वक्तव्यम्" इति वार्तिके प्रयुक्त भत्वेन पदत्वबाधात्। नामधेयमत्र "नामरूपभागेभ्यो ध्येय:" इति वार्तिकेन स्वार्थे ध्येय प्रत्यय:, एवं विकार: वाचारम्भणं नामैव इति भाव:। अथवा भागुरिमतेन हलन्तानामाप्त्वे वाचायाम् आरम्भणं वाचारम्भणं विकारस्तु केवलं वाचमालम्भयन् नाममात्र किं सत्यं मृत्तिका इत्येव मृण्मयघटादिकारणभूता मृत्तिका प्रशस्तामृत "प्रशस्तायां त्यकन्" इति वार्तिकेन त्यकन् प्रत्यय:। यथा घटादिकं नाममात्रं मृद्विकार: सत्यं मृदेव तथैव परमात्मैव तन्मय जगति नाममात्रो विकार: सत्यं तु परमात्म एव कारणकार्य एवाभिन्नत्वात्। इत्यनेन विवर्तवादं निरस्य विकारवादं चानिराकृत्य परिणामवादं व्यवस्थापयांबभूव। श्रुति: इममेव सिद्धान्तद्रढयितुम् अपरदृष्टान्तमाह हे सोम्य! लोहं धातव: तेषां मणिलोहमणिकनकं तेन लोहमणिना विज्ञातेन हेतुभूतेन सर्वं लोहमयं सुवर्णरचितं विज्ञातुं भवति। इदं कटकम् इदम् कुण्डलम् इति विकार: वाचारम्भणं वाग्व्यवहाररूपं नामध्येयं होमं सुवर्णमित्येव सत्यम्। अथ तृतीयं दृष्टान्तं यथा एकेन नखनिकृन्तनेन नखच्छेदनयन्त्रेण सर्वं कार्ष्णायसं लोहनिर्मितपात्रादिकं विज्ञातुं स्यात्। इदं परशु इदं कुठारम् इत्यादिविकारस्तु वाक्विलासभूतं नाममात्रं, वस्तुत: कृष्णायसं लोहमित्येव सत्यम्। एवम् आदेश: भवति तेन परमात्म विज्ञातेन परिणामिता तत्कार्यभूतं नखनिकृन्तनेति दृष्टान्त त्रपं त्रिलोकाधिष्ठात् परमात्म सूचकं मृण्मयम् इति मर्त्यसम्बन्धिपदार्थलोहं देवयोनि: कृष्णायसं इति तिर्यक्योनिसंकेतकम्। एवं सर्वकारणभूतपरमात्मनि कृतया भक्त्या जीवश्चराचरमनायासेन जानाति इति हार्दं श्रौतम्।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्वतः।

गीता १८-५५

इति गीता वचनं सङ्गच्छते ।।श्रीः।।

एवांभूतमादेशमाकर्ण्य वर्धमानजिज्ञासा श्वेतकेतुः स्वगुरोःपितरं ब्रह्मवित्तरं मन्यमान तमेव समुपसन्नप्रश्नमादेशमुपक्रमते।

न वै नूनं भगवन्तस्त एतदवेदिषुर्यद्ध्येतदवेदिष्यन्

कथं मे नावक्ष्यन्निति भगवाꣳस्त्वेव मे

तद्ब्रवीत्विति तथा सोम्येति होवाच।।७।।

श्वेतकेतुः सरलतया साश्चर्यं कथयति। भगवन्! नूनम् एव ते भगवन्तः पूज्यचरणाः गुरवः एतद् आदेशरहस्यं न अवेदिषु न ज्ञातवन्तः कथं इत्यद् आह "हेतुहेतुमद्भावे क्रियातिपत्तिमूलक लृङ्लकारप्रयोगाभ्यां यदि ते अवेदिष्यन् ज्ञातवन्तोऽभविष्यन् तर्हि मे मह्यं कथं न अवक्ष्यन् न अवदिष्यन् यतो नावोचन् अतो न विदन्ति। ते तु शब्द एवार्थ भगवान् भवान् एव पूज्य पितृचरणः मेतमादेशं ब्रवीतु व्याख्यातु। इति श्वेतकेतु सरलतया पारितोषितस्वान्तः आरुणिः तथा तथास्तु इति आदेशमुपदेष्टुं उवाच प्रतिशुश्राव ।।श्रीः।।

इति च्छान्दोग्योपानिषदि षष्ठाध्याये प्रथमखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यम् सम्पूर्णम्।।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

द्वितीयः खण्डः

अथ पूर्वस्मिन् खण्डे त्रिभिर्मन्त्रैस्त्रिभिश्च दृष्टान्तयुग्मैर्यत्सत्यं प्रतिपादितं मृत्तिकेत्येव सत्यं, लोहमित्येवसत्यं, कृष्णायसमित्येव सत्यमिति। तत्र किं नाम सत्यम्? इति जिज्ञासायामुच्यते सदेव सत्यं स्वार्थे यत्प्रत्ययः भत्वात् पदत्वमूलकजस्त्वाभावः।

अथवा स ते जीवाय हितं सत्यम् एवं सत्यघटकं वस्तुसत् किं सार्वकालिकमुताहोसाम्प्रतिकमित्यत आह सदित्यादि—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत।।१।।

हे सोम्य! अग्रे संसारसृष्टे प्राक् इदं सत् एव आसीत् इदं नाम रूपात्मकं जगत् कारणरूपं सत् अणु जीवात्मसंज्ञमासीत् अत्र सच्छब्दे तन्त्रः, तन्त्रत्वं नाम सकृदुच्चरितत्वे सति बह्वर्थबोधजनकतावच्छेदकत्वम्। प्रथमश्च सप्तम्यन्तः द्वितीयश्च प्रथमान्तरूपोऽर्थः। अथवा विशेषणीभूते नेदमा प्रथमान्तः सच्छब्द आक्षिप्यते, एवं श्रुत्युपात्तसच्छब्दः लुप्तसप्तमीकः, इत्थं सृष्टेः अग्रेः इदं नामरूपात्मकं सदेव सन्मात्रम् एकीभूतं सति परमात्मनि स्थितमासीत्। किमनेकं भवत् सदासीत् उताहो एकम्? इत्यत आह एकमेवाद्वितीयम् एकं सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यं एव एवकारो अन्ययोगं व्यवच्छिनत्ति। किम् एतस्य पुत्रस्यापि उपमा नेत्याह? अद्वितीयं नास्ति द्वितीयः समानसत्ताकः अपरः यस्य सोऽद्वितीयस्तम्, अथवा यस्मिन् परमात्मनि सत्तिष्ठति स एक एव सतोऽप्यन्यः एवं सज्जीवः असत्माया प्रकृतिः ताभ्यां परः परमात्मा अतएव श्रुतिः "अनादिमत्परं ब्रह्म न सतन्नासदुच्यते" (श्वेताश्वतर उ० ५.१३) अतएव स्मृतिरपि "त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्" (गीता० ११.३७) तत्पदेन सदसतीपरामृश्येते ताभ्यां परिभूतं ब्रह्म इत्यवधेयम्। एवं सृष्टेः अग्रे इदं सत् एव आसीत् प्रलयेऽपि नैतद्विनाशोना भूदिति तात्पर्यं इदं प्राचीनानुरोधेन, वस्तुतस्तु सृष्टेः अग्रे इदं चिदचिदभ्यां विशिष्टं, यद् वा चिदचिदात्मकं सत् अव्याकृतनामरूपतया सत् परमात्मात्मकमासीत् अत्र शरीरशरीरिभावतया एकवचनम्। एवकारः असद् व्यावृत्यर्थः, सृष्टेः प्राक् इदं जगत् व्याकृत नामरूपानर्हतया परमात्मनिलीनं सदात्मकमासीत्। तच्च परमात्मतत्वं एकं एव नानेकम्। अद्वितीयं तत् समानधर्मान्यवर्जितं, इत्यनेन विशिष्टाद्वैतवादः सूत्रितः। नन्वासीदिति भूतकालावच्छिन्नेदमभिन्नकर्तृक-सत्तानुकूलव्यापारवाच्यक्रियोपादनेनैव समीप्सितार्थसिद्धौ किमर्थं सदुपादानमिति चेत् सत्तायाः द्विरुपादानेन जीवस्य नित्यसत्तासूचिता। एवं प्रलयेऽपि जीवस्य न नाश इति फलितम्। अतएव "सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यपन्ति च" इतिभगवद्वाक्यं संगच्छते। एवं प्रलयेऽपि (गीता

१४.२) इदं जीवजातं सूक्ष्मीभूतपरमात्मनि स्थितमासीत्। नान्य: कोऽपि परमात्मनि इदमेवैकमद्वितीयम्, अकार: वासुदेव: एव द्वितीय: सहायक: यस्य तथाभूतं तत् एवं नित्यसत्ताकं वासुदेवाश्रितमेव। तत् हि निश्चयेन एके अद्वैतवादिन: वैनासिका: एके अस्मद्भिन्ना: आहु यत् अग्रे इदं नामरूपात्मकं जगत् असत् एव आसीत् अर्थात् सर्वाभावरूपमभवत्। यद्यपि श्रुति: भूतार्थवादिनी असत्पक्षं कथमुपस्थापयति? इति चेन्न परपक्षमनुवदति न तु सिद्धान्तयति सिद्धान्ते तु सदेवासीदित्येव सिद्धान्त:। श्रुते: प्रत्यक्षरं प्रमाणत्वात् कथमिदमपसिद्धान्तमिति चेत् सत्यम् अकार: वासुदेव: तत् सीदति इति असत् अकारं वासुदेवं सीदति प्राप्य निषीदति। इति अकारेण वासुदेवेन साद्यते समाप्यते कल्पितसंबन्ध: यस्य तत् असत्, एवम् असत: परमात्मन: सकाशात् सर्वाभावरूपाद्वा, सत् जीवात्मकं जायत अजायत। कीदृशम्? तत् एकमेवाद्वितीयम् अत्रैकपदेन वैनासिकै: जैनै: स: अद्वैतवादिनोऽपि तेषां नये सृष्टे: पूर्वमिदं जगत् असत् अस्तित्वशून्यमासीत्, एवमसत: अतत्वभूतात् सत् सत्तामात्रं जायते। ।।श्री:।।

इमं पक्षं खण्डयति—

कुतस्तु खलु सोम्यैवꣳस्यादिति
होवाच कथमसत: सज्जायेतेति।
सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।।२।।

हे सोम्य! यदुक्तं तस्मात् असत: सज्जायत एवम् अनेन प्रकारेण कुत: स्यात् कथं संभवेत् यदि कारणे कार्यं तिष्ठति तदैवाविर्भवति, नहि बालुकाभ्यो जायमानं कोऽपि शृणोतीक्षुरसं, न वा पाटलपुष्पेभ्य: पङ्कजपरागा: प्रादुर्भवन्ति। यत् असत: सर्वाभावरूपात् सज्जायेत सत् एवपरमात्मन: सज्जीव: जायते इति जीवपरमात्मनोभिदासिद्धैव। सोम्य! अग्रे सत् आसीत् किं तत् एकमेवाद्वितीयं स्वजातीयविजातीय स्वगतभेदशून्यत्वे सति सकलोपमावर्जितम् इत्यनेन सत्कार्यवाद: अविकृतपरिणामवादश्चापि सूचित:। विवर्तवादे न किमपिप्रमाणमुपलभामहे, ''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'' इत्यादिशास्त्रवचनानुरोधेन सर्वेषामपि मन्त्राणां परिणामवादविषयत्वात् इत्यनेन विवर्तवादाडम्बरमहाप्रासादोभूमिसात्कृत:। ।।श्री:।।

अथ सृष्टि प्रक्रियां वर्णयति।

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत तत्तेज ऐक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत। तस्माद्यत्र क्व च शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यायो जायन्ते।।३।।

तत् सत् परमात्मभूतं वस्तु ऐक्षत अपश्यत् अव्याहितेन ज्ञानेन पूर्वकल्पसर्गं समन्वभवत् इति भावः। "सूर्याचन्द्रम सौधाता यथापूर्वमकल्पयत्" इति श्रुतेः। अथ सर्गं निरीक्ष्य समकल्पयत् सङ्कल्पाकारमाह साम्प्रतमामेकं तस्मात् प्रत्येक जीवस्य तद् तद् भोग्यपदार्थानां च साक्षात् चिकिर्षया प्रतिशरीरमात्मनं परिकल्प्य बहुस्यां बहु भवेयम्। किं तद् बहुत्वम् आरोपितम् उताहो पारमार्थिकं नारोपितमित्याह प्रजायेय प्रकर्षेण जन्मगृह्णियाम् प्राकर्षं च जीवानां शुभाशुभानां साक्षाद् दिदृक्षया प्रतिशरीरं प्रत्येक जीवात्मना सह कर्मबन्धननिरूपेक्षत्वे सति जीवविकारनिर्लेपत्वे सति च स्वकमन्तर्यामिरूपं विधाय प्रतिहृदयदेशं मन्दिरिकृत्य साक्षीभूय निजस्यावतरणं प्रजायेय इति कथनेन जीवानां प्रतिशरीरं प्रतिभोग्यपदार्थं च भगवतोऽन्तर्याम्यवतारः। सूच्यते। अथ जन्मने निजं शरीरं असृजत् निजं जीवस्य च द्वयोः कथं? इति चेत् भगवतो वैलक्षण्यमेतत् यत् भगवदीयं शरीरं सदपि जीवाः स्वकमेव मन्यमानाः तत्र ममत्वं कुर्वते। वस्तुतस्तु निजमन्दिररूपेण भगवता पदार्थानां रचनां व्यधायि निजावच्छेदकरूपेण वा तत्तत् पदार्थावच्छिन्नं एवं "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशद्" इति श्रुत्यन्तरात्। असृजत् पूर्वमित्यत् आह तत्तेजः असृजत् पुनस्तेजोवच्छिन्नं चैतन्यं सत् पूर्ववद् आत्मनो बहु चिकीर्षया प्राकर्षेण जिजनिषया तद् अपः असृजत् जलानि व्यरीरचत् तदेव निदर्शयति, तस्मात् जलानां तेजस्सम्भवात् एव पुरुषः प्राणी यत्र क्वापि यस्मिन् कस्मिन्नपि स्थाने काले वा सोचति सोकजवारि विमुञ्चति नेत्राभ्यां स्वेदते च प्रस्वेदविन्दून् बिभर्ति तत्र अपः जलानि यज्जायन्ते नेत्रयोः देहे च दृश्यन्ते तत्तेजसः एव जेजसस्सकासादेव अधि अधिकृत्य जायन्ते।। श्रीः।।

सत् सदेव चेतयते चकास्ति च इदमेवान्तर्यामिप्रकरणे वृहदारण्यके श्रुतिराह। एवं अवच्छिन्नं चैतन्यं सत् किमसृजत् इत्यत् आह—

ता आप ऐक्षन्तः बह्व्यःस्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त। तस्माद्यत्र क्वच वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवत्यद्भ्य एव तदध्यन्नाद्यं जायते।।४।।

एवमेव ता आपः अधिष्ठानाभिप्रायेण बहुवचनम्। सदाधिष्ठिताः ऐक्षन्त पूर्वसर्गज्ञानपूर्वकं सङ्कल्पमकुर्वते इति भावः। किम्? अत आह बह्व्यः बहु शरीरावच्छिन्ना स्याम भवेम प्रजायेमहि प्रतिशरीरमात्मनः एकैकम् रूपं परिकल्पयेमहि इत्थं सञ्चिन्त्य अन्नमसृजन्त अदनीयं पदार्थं तदाधारशक्तिं पृथिवीं च व्यरीरचन्। तदेव निदर्शयति यतो हि जलादन्नं तस्माद् यत्र कुत्राऽपि वर्षति तद्वर्षणादेव भूयिष्ठमन्नं जायते अधिकमन्नमुत्पद्यते, अत एव अद्भ्यः जलेभ्य एव अन्नाद्यं भोग्यपदार्थः जायते प्रादुर्भवति। वस्तुतस्तु अबवच्छिन्नचैतन्यं सत्तत्वमेव अन्नाद्यमरचयत् इति हार्दम्, इत्थं त्रिः इक्षण क्रियाप्रयोगात् शाङ्ख्य स्वीकृतायाः प्रधाननाम्नः प्रकृते जगत् कारणत्वं श्रुतिरेव निराचकार। न खलु जडभूतायां प्रकृतौ ईक्षणं सङ्गच्छते। ननु तैत्तरीये "तस्माद् वा एतस्माद्वा आत्मन् आकाशः सम्भूत आकाशाद् वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथ्वी" इत्यादि श्रुतौ तेजसः प्राक् आकशवायवोः सर्गः प्रादर्शि। अत्र प्रथमं तेजस्सर्जनमुक्त्वा वदतो व्याघातं विधाय कथं विरूद्धम् उच्यते नैतद्दूषणं यतो हि नैवात्र सृष्टिक्रमो विवक्षितः अथवा तेजशब्दः आकाशवायूपलक्षणं यद्वा तेजः असृजत् इत्यत्र सृजधातु गुणाधानं रूपः तथा च पूर्वं शब्दगुणकमाकाशं रचयित्वा तद् गुणं च वायोः निवेश्य तं विरच्य आकाशवायुगुणो शब्दस्पर्शो तेजसि निधाय रूपं गुणाधिकं तद् विधत्ते इति भावः यद्वा अत्र त्रिवृत्करणसिद्धान्त एव निरूप्यते पञ्चीकरणसिद्धान्तमूलं तु मृग्यम्। ।।श्रीः।।

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि षष्ठाध्याये द्वितीयखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।

"श्री राघवःशन्तनोतु"

तृतीयः खण्डः

अथ नभोवायूपलक्षकाणां सत्सृष्टानां तेजोऽवन्नानां सर्गवर्णनानन्तरं पारिशेष्येण पश्चाद् भावि सृष्टिक्रमं निरूपयति।

तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि
भवन्त्याण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति।।१।।

तेषाम् एभिसृष्टानाम् एषां पूर्वदृश्यमानानां भूनानां त्रीणि एव नैव चत्वारि न वा पञ्च किं तर्हि? त्रीत्वसंख्या बोध्यानि बीजानि कारणानि भवन्ति कानि तानि? इत्यद् आह अण्डाज्जायन्ते इति अण्डजा: त एव प्रयोजने भूता यस्य तदाण्डजं यत्तु अण्डमेव प्रयोजनं कथं न उक्तमं? इति पूर्वपक्षं समुत्थाप्य निरर्थकमुत्तरजालं प्रस्तुतं तदनर्गलं ग्रन्थविस्तारचिकीर्षया बिडम्बितम्। यत्तु अण्डजमेव अण्डजमिति स्वार्थप्रत्ययान्तं साधितं तदपि शाब्दिकसिद्धान्तानाभिज्ञतयावान्तमं। जीवजं जीवा जरायवः तेभ्यः जातं जीवजम् उद्भिद्या जातमिति उद्भिज्यं: तम् उद्भद्भ्य: जातं वा अत्र स्वेदजानामप्यन्तरभाव:इमानि त्रीण्येव बीजानि भवन्ति ।।श्रीः।।

अथ जगतोनामरूपाणां व्याकरणमाह।

सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन
जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति।।२।।

सा इयं सन्नाम्नि परमात्मसंज्ञा देवता स्त्रिलीङ्गनिर्देशस्तु भगवतोवात्सल्योत्कर्षोचित-मातृत्वप्रदर्शनाय मातर एव हि वात्सल्यं समधिम्। विजृम्भते ऐक्षत दृष्ट्वा व्यचारयत् हन्त इत्याश्चर्ये प्रसन्नतायां च अहमेव तिस्र देवता तेजोजलान्नरूपा: अहं तिस्र देवता इत्यस्य मदभिन्न सदभिधानचैतन्यावच्छिन्ना इति भाव:। अथ अहम् इमा: तिस्र देवता: तेजोजलपृथ्वीनाम्नी कर्मभूता: द्वितीयान्तव्यपदेश्या: अनेन मया सह नित्यं वर्तमानेन मम नित्येन सख्या जीवेन प्राणधारणसमर्थेन आत्मना अणुना चैतन्येन अत्र "वृद्धो यूना तत्त्वक्षणश्चेदेव विशेष:" पाणिनी अष्टाध्यायी ९-२-६६ इति सूत्र इव सह शब्दप्रयोगमन्तरेणाऽपि साहर्थकद्योतिका तृतीया। जीवेन आत्मना इति व्यस्त समानाधिकरण-पदद्वयप्रयोगस्तु स्पष्टप्रतिपत्तये जीवात्मना इह समासे तु सन्देह: स्यात्।

जीवस्य आत्मा जीवात्मा जीवधारको वा आत्मा जीवात्मा जीवाय वा आत्मा जीवात्मा इत्यादे: जीवेनात्मन: कथने तु जीवसंज्ञेन आत्मना इति फलितार्थ:। अत्र अहमिति पदोपादानात् सति परमात्मन्येव प्रवेशक्रियाकर्तृत्वं प्रवेशानुकूलव्यापाराश्रयत्वं वा सहार्थकद्योतकस्तु अप्रधान एव "सह युक्तेऽप्रधाने" इति पाणिनी निर्देशात्। एवम् अहम् परमात्मभूतासदाख्यादेवता अनेन निजसुहृदा जीवात्मना सह इमा: तेजप्रभृति: तिस्र देवता त्रिसंख्याका दैवीशक्ती: अनुप्रविश्य आशामानुकूल्यरक्षणपूर्वकं प्रविष्टा भूत्वा जगतो नामरूपाणि रामदासादि नामानि मानवादिरूपाणि व्याकरवाणि विस्पष्टं प्रस्तवानि इति अनेन व्याख्यानेन प्रच्छन्न बौद्धकल्पित: जीवप्रतिबिम्बवाद: पावकेन तूलमिव भस्मसात्कृत:। न खलु परमात्मा कदाप्येकाकी रमते स: एकाकी नारमत" इति श्रुते:। अत एव विनयपत्रिकायाम् गोस्वामी तुलसीदासाजगौ

तैं निज कर्म जाल जहां घेरो श्रीहरिसङ्ग तज्यो तहि तेरो।

विनय पत्रिका १३६ ।।श्री:।।

अथ कथं व्याकरवाणि इत्यत् आह—

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति
सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता
अनेनैव जीवेनात्मनानुप्रविश्य
नामरूपे व्याकरोत्।।३।।

तासां तेजो जलान्नवरूणाम् अन्यतमाम् एकैकां त्रिवृतं प्रत्येकस्यार्धांशेन इतरयोश्च चतुर्थेन चतुथेनांशेन युक्तां कृत्वा सृष्टिरचयेयम्।

नैकेनतेजसा न केवलाभिरद्भि: न केवलेनान्नेन तदुपलाक्षितपार्थिवांशेन वा स्त्रष्टुं शक्यते। सृष्टि: इति इत्थं विभाव्य ता: एकैकां विवृतं विधाय जगते नामरूपे व्याकरोत् समुद्भावयत्। कथं व्याकरोत्? इत्यत आह संकल्पोत्थं सा श्रुति चर्चिता इयं त्रिकाल सत्या सती देवता तिस्र: निजांशभूता: देवता: अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य अन्तर्यामिरूपा इमे नामरूपे व्याकरोत् अत्रेदमवगन्तव्यं यत् "तत्तेजोऽसृजत् तदपोऽसृजत् ता आपोन्नमसृजन्त" इति श्रुतिनिर्देशात् तेजोजलान्नानां तु सर्जनमवगम्यते किन्तु नैतस्य जीवस्यात्मन: कुत्रापि एतत् सर्जनस्य श्रुतिनिर्दिष्टाभावात्। ।।श्री:।।

अथ त्रिवृतं प्रपञ्चयति—

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोद्यथा नुखलु सोम्येमास्तिस्रो देवतास्त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति।।४।।

अथ सैव विलक्षणसृष्टिनिर्माणनिपुणा परमात्मभूता देवता तासां पूर्वोक्तानां तेजः प्रवृत्तीनां देवतानां मध्ये एकैकां एकामेकां त्रिवृतं तत्त्वत्रयोपेतां अकरोत्। हे सोम्य! यथा इमाः तिस्र देवता एकैका त्रिवृत त्रीणि वृणुते इति त्रिवृत् भवति तत् तत्प्रकारं मे मम सकाशात् विजानीहि विशेषेण जानी हि।

इति च्छान्दोग्योपनिषदि षष्ठाध्याये तृतीयखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यम् सम्पूर्णम्।

''श्री राघवःशन्तनोतु''

चतुर्थः खण्डः

एवं उदाहरणद्वारेण जगतीनामरूपयोरमिथ्यात्वं साधयति।

यदग्ने रोहितꣳ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्।।१।।

यथा अग्निः त्रीणि रूपाणि तानिमिलित्वा अग्निरिति कथ्यते पृथकत्वे सति तेजोजलान्नानामेव रूपाणि एतस्य रोहितं रूपं तत्तेजसः यत्शुक्लं श्वेतवर्णं तत् अपां यत् कृष्णं श्यामं वर्णं तत् अन्नस्य, एवं त्रयाणां अंशभूतेषु सत्सु त्रिषु रूपेषु अग्नौ किमवशिष्टम्? अत आह अग्नित्वमेव तत्वमेव आपागात् अपगतम् एवम् अग्निः इति विकारस्तु वाचारम्भणं नामधेयं वाक् विषयमात्रं नामः अग्नेः त्रीणि रूपाणि लोहितशुक्लकृष्णानि तेजोजलान्नानामेव इति एव एतावदेव सत्यम्। एवं सति परमात्मनि ज्ञाते तत्कार्यं जातं जगत् स्वयमेव विज्ञातं स्यात्।।श्रीः।।

भूय: त्रिभिर्मन्त्रैरनयादित्या आदित्यचन्द्रविद्युत्सु त्रयाणां रूपाणां तेजोजलान्नानां सम्बन्धिनां निश्चायनं कृत्वा आदित्यचन्द्रविद्युन्नामान्यसत्यत्वेन प्रमाणयति।

यदादित्यस्य रोहितछ्वरूपं तेजसस्तद्रूपं
यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं
तदन्नस्यापागादादित्यादादित्यत्वं वाचारम्भणं
विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्।।२।।

यच्चन्द्रमसो रोहितछ्वरूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं
तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागाच्चन्द्राच्चन्द्रत्वं
वाचारम्भणं विकारो नामधेयं
त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्।।३।।

यद् विद्युतो रोहितꣳ रूपं तेजसस्तद्रूपं
यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागाद्विद्युतो
विद्युत्वं वाचारम्भणं विकारो
नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्।।४।।

आदित्यात् सूर्यात् आदित्यत्वं सूर्यगुण: अपागात् निर्गत: अर्थात् त्रयाणां व्यतिरेकेण सूर्यस्य चन्द्रस्य विद्युतो वा न किमपि पृथगस्तित्वम्। आदित्य: चन्द्र: विद्युत् इति विकारस्तु वाचारम्भणं वाक्विषयं नामधेयं वस्तुत: तेजो जलान्नानि व्यतिरिच्य न किमपि सत्यतया समवशिष्यते इति भाव:। तथा च ''आदित्यचन्दविद्युत्सु तेजोरूपं हि रोहितम्। शुक्लं रूपमपामाहु कृष्णमन्नस्य वै तनु: ।।श्री:।।

फलश्रुतिमाह—

एतद्ध स्म वै तद्विद्वाꣳस आहु:
पूर्वे महाशाला महाश्रोत्रिया न नोऽद्य
कश्चनाश्रुतममतमविज्ञातमुदाहरिष्यतीति
ह्येभ्यो विदाञ्चक्रु:।।५।।

एतत् तत् इदं श्रुतिप्रसिद्धं त्रिवृद्रहस्यं

ह निश्चयेन स्म पूर्वमेव विद्वांसः ज्ञातवन्तः पूर्वे अस्मत् पूर्ववर्तिनः महाश्रोत्रिया "श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते" इति सूत्रेण छन्दोऽधीते इत्यस्य श्रोतृ श्रोत्रिय इति निपातनम् "श्रोत्रियो वेदपारगः" इति स्मृतिः "श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं" मु॰ उ॰ १-२-११ इति च श्रुत्यन्तरम्। महान्तश्च ते श्रोत्रियाश्च इति महाश्रोत्रियाः महत्यशालां येषां पञ्चयज्ञ वलिवैश्वदेवैः पूजनीयगृहाः गृहमेधिन आहुः यत् नः अस्मत् सम्बन्धि किमपि नः अस्माकं कुलेषु वाक्किमपि अश्रुतं श्रुतव्यतिरिक्तं अमतं मनन विषयीकृतातिरिक्तम् अविज्ञातं विज्ञानविषये बहिर्भूतं इति कश्चन अस्मत् कुटुम्बस्य कोऽपि कमपि नोदाहरिष्यति नोदाहरणरूपेण प्रस्तोष्यति। यतो हि एभ्यः त्रिवृत्कृतेभ्यः तेजोजलान्नेभ्यः ते सर्वं विदाञ्चक्रुः ज्ञातवन्तः। अर्थात् सत्यत्वेन सति विज्ञाते तत् परिणाभिभूततेजोऽवन्नानि तत्परिणामभूतसकलं प्रपञ्चजातानि च स्वयमेव विज्ञातानि भवन्ति। इदमेव सत परमात्मनः ज्ञानं ज्ञानम् तत्परिणामप्रपंचज्ञानं च विज्ञानम्। इदमेव हृदि निधाय भगवान् गीतायां द्विः सस्मार—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्षाम्यशेषत गीता ७-२

"ज्ञानं विज्ञान सहितं" गीता २-१ ।।श्रीः।।

ते किं विदाञ्चक्रुः इति प्रपञ्चायति—

यदु रोहितभिवाभूदिति तेजसस्तद्रूपमिति
तद्विदाञ्चक्रुर्यदु शुक्लमिवाभूदित्यपाः
रूपमिति तद्विदक्रुर्यदु कृष्णमिवाभूदित्यन्नस्य
रूपमिति तद् विदांचक्रुः।।६।।

एवम् अग्नयादित्यचन्द्रविद्युतष्विवसर्वत्र त्रिवृद्रहस्यज्ञाः अस्मत् पूर्वपुरुषाः यदपि रोहितं रक्तमिवासीत्। तत्तेजसः तेजसम्बन्धिरूपं नैवान्यदीयं यदपि शुक्लमिव ददृशुः तत् अपां जलसम्बन्धिरूपं, यदपि कृष्णकालो वर्णरूपं तदन्नस्यैव न त्वन्यदीयम् इत्येव विदाञ्चक्रुः एभ्योतिरिक्तामन्यां सत्तां नाङ्गिचक्रुरिति तात्पर्यम्। यथा किमपि रोहितं वस्तुदृष्टम् तदा अर्धं तेजो मयं चतुर्थांशं चतुर्थांशं जलमयमन्नमयं च तेजः प्राचुर्येण तयोस्तिरोहितत्वात् रोहितत्वस्य उत्कटत्वम् एवमन्यत्राप्युह्यम्।।श्रीः।।

विज्ञातमपि संहरति—

यद्विज्ञातमिवाभूदित्येतासामेव देवतानाꣳसमास इति तद्विदाञ्चक्रुर्यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति।।७।।

एवमेव त्रयाणां रूपनिर्धारणेन यदपि नामरूपा सत्यत्वेन विज्ञातमेव अभूत्। तत् एतासां देवतानां तेजोजलान्नरूपाणां समासः त्रिवृत्करणं इति ते विदाञ्चक्रुः हे सोम्य! श्वेतकेतो इमाः तिस्रदेवता तेजः आपः अन्नम् इति पुरुषं प्राप्य जीवसखं परमात्मानामुपेत्य तल्लब्धचेतनाः यथा एकैका एकैक सह त्रिवृत्त्रिवृज्जायते तद् रहस्यं मे मम सन्निधौ विजानीहि विशेषेण जानीहि इति इत्थमुपदेष्टुं प्रतिजानीत आरुणिः ।।श्रीः।।

इति च्छान्दोग्योपनिषादे षष्ठाध्याये चतुर्थखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।

''श्री राघवः शन्तनोतु''

पञ्चमः खण्डः

अथानुनादीनां त्रिवृत्करणं परिणामं प्रपञ्चयति—

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य
यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति
यो मध्यमस्तन्माꣳसं योऽणिष्ठस्तन्मनः।।१।।

एवम् अशितं भुक्तमन्नं त्रेधा विधीयते ''संख्यायाविधार्थेधा'' इति सूत्रेण त्रिशब्दात् विद्यार्थे धा प्रत्ययः। तस्य यः स्थविष्ठ धातु अतिशयेन स्थूलोऽशः तदेव पुरीषं मलमेहनरूपेण परिणभ्यते। इह मध्यम अंश स एव रस रक्तरूपः सन् मांसं भवति, यश्च अणिष्ठः अतिशयेनाणुः स एव मननावच्छिन्न चैतन्यमयं मनः भवति। इत्यनेन श्रुत्यंशेन मनसः सादित्वं सूचयता तस्य परैस्विकृतनित्यत्वं निराकरोति अतएव श्रीभागवते—

वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः। भागवत १०-२२-१ इति भगवान् वादरायणिरवादीत् ।।श्रीः।।

अथापां विकारं वर्णयति—

आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते तासां यः
स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति यो
मध्यमस्तल्लोहितं योऽणिष्ठः स प्राणः।।२।।

एवमेव पीताः आपः जलानि त्रेधा विधीयन्ते, तासाम् अतिशयेन स्थूलः मूत्रं मध्यम् लोहितं रुधिरम्, अणिष्ठः अतिशयेनाणुः अपाम् अंश प्राणः प्राणविग्रहः सन् परिणमति।।श्रीः।।

अथ तेजः परिणामं वर्णयति—

तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो
धातुस्तदस्थि भवति यो मध्यमः स मज्जायोऽणिष्ठः
सा वाक्।।३।।

एवं घृततैलादिरूपेण अशितं भुक्तं तेजः त्रेधा विधीयते तस्य स्थूलतमो भागः अस्थि मध्यमः मज्जा अणुतमश्च वाक्रूपेण परिणमति सारांशश्चायम्—

तेजोऽवन्नास्थविष्ठानि मलमूत्रास्थिसंज्ञया।
मांशलोहितः मज्जाश्च मध्यमानि भवन्त्युत।।
अणिष्ठानि च वै तेषां मनः प्राण गिरस्मृता।
परिणाम यथा शास्त्रं त्रिवृत्करणभोगतः।।

अणिष्ठ परिणामानि भूयो निर्दिशति—

अन्नमयः हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी
वागिति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति
तथा सोम्येति होवाच।।४।।

"विकारार्थे च मयटि", षष्ठलन्तात् अपां मय इति स्यात् अत्र बाहुलकात् अपामित्यस्य आपो इत्यादेशः एवं प्राणः जलस्याणुत्वम् परिणामः तेजोमयि तेजस एव इति तेजोमयि तेजः परिणामभूता वा वाणी। अथ श्वेतकेतुः भूय जिज्ञासते भगवान् पूजनीयचरणः मां पुनः विज्ञापयतु एतद्रहस्यं संशतुः तथा इति कथयित्वा पुनरुपदेष्टुं आरुणिः उवाच प्रतिजग्यौ।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि षष्ठाध्याये पञ्चमखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।

"श्री राघवः शन्तनोतु"

षष्ठः खण्डः

अथ अन्नजलतेजसाम् अणिष्ठांशाः कथं मनः प्राणः वाक्संज्ञा लभन्ते इति दधिसर्पिदृष्टान्तेन श्वेतकेतुं आरुणिर्बोधयति।

दध्नः सोम्य मथ्यमानस्य योऽणिमा
स ऊर्ध्वः समुदीषति तत्सर्पिर्भवति।।१।।

हे सोम्य! दध्नः मथ्यमानस्य मन्थदण्डेन विलोड्यमानस्य अणिमा अतिशयेन अणुरंशः यः ऊर्ध्वः ऊर्ध्वम् ऊर्ध्वे वा अत्र ऊर्ध्वमित्यव्ययस्य ऊर्ध्व इति सप्तम्यन्तस्य वा अमः "ङि विभक्तेश्च सोपाम् स्वलुप" इत्यनेन स्वादेशे पुल्लिङ्गविपर्ययेण सोरुत्वे विसर्गे ऊर्ध्वः उपरिष्टात् इत्यर्थः। यत् समुदीषति समुद्गच्छति समुदेति इति प्रयोक्तव्ये अशुकागमः इट् च छान्दसौ तदेव सर्पिः भवति नवनीतं सत् सर्पिष्ट्वेन परिणमति।।श्रीः।।

एवमेवान्नाब् तेजसाम् अणिमांशाः यथा क्रमं मनः प्राण वाक्परिणामं गच्छन्ति। इति त्रिभिर्मन्त्रैदार्ष्टान्तियति।

एवमेव खलु सोम्यान्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा
स ऊर्ध्वः समुदीषति तन्मनो भवति।।२।।

अपाꣳ सोम्य पीयमानानां योऽणिमा स ऊर्ध्वः
समुदीषति स प्राणो भवति।।३।।

तेजसः सोम्याश्यमानस्य योऽणिमा
स ऊर्ध्वः समुदीषति सा वाग्भवति।।४।।

एवमेव अनेनैव प्रकारेण अस्य मनस्य भूज्यमानस्य अन्नस्य अणिमासूक्ष्मांश अन्नं भवति। एवमेव पीयमानानां पानविषयीक्रियमाणानाम् अपां जलानां अणिमा प्राणरूपेण परिणमति। एवमेव तेजसः अश्य मानस्य सूक्ष्मांशः वाक्रूपेण परिणतो भवति, अत्र सर्वत्र परिणाम एव उदाहृतः स च विकारः विशेषणे न तु विवर्तवादः।।श्रीः।।

अथ प्रकरणमुपसंहरति—

अन्नंमयहि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति
भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच।।५।।

एवमेव दध्नि सर्पिरेव मनः अन्ने अन्नं सति प्राणोऽप्सु आपः सति वाक् तेजसि तेजश्च सति इति दार्ष्टान्तिकनिदर्शनेन सत्कार्यवादः साधितः। सत् देवता कथम् अवक्रीयमाणा सति तत् तत् परिणामं लभत इति सिद्धान्तमनवगच्छन् भूय एवेत्यादि पृच्छति पिता च तथेत्यादि प्रतिजानीते।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि षष्ठाध्याये षष्ठखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।

''श्री राघवः शन्तनोतु''

सप्तमः खण्डः

अथ षोडशकलामयं पुरुषमुपदिशति—

षोडशकलः सोम्य पुरुषः पञ्चदशाहानि माशीः
काममपः पिबापोपयः प्राणो न पिबतो विच्छेत्स्यत
इति।।१।।

हे सोम्य! पुरुषः षोडशकलः तत्र प्राणः जलमयः एतदहं कथं जानीयाम्? इति जिज्ञासमानम् आह इमानि पञ्चदश पञ्चदशसंख्याकानि आहानि दिनानि यावत् मा आशीः मा अश्नीयाः कामं यथेच्छं अपः जलानि पिव एवम् अपः पिवतः जलान्याचामतः

तव प्राणो न व्यच्छेत्स्यत् न विच्छिन्नो भविष्यति यतो हि आपोमय: जलमय: प्राण:।।श्री:।।

अथ श्वेतकेतो दशामाह—

स ह पञ्चदशाहानि नाशाथ हैनमुपससाद किं ब्रवीमि भो इत्यृचः सोम्य यजूꣳषि सामानीति स होवाच न वै मा प्रतिभान्ति भो इति।।२।।

अनन्तरं स: पञ्चदशाहानि यथोक्तदिनानि न आशनभोजनं कृतवान्, अथ षोडशे दिने एवं निज पितरम् उपससाद गत: अपृच्छत् भगवन् किं ब्रवीमि तेनोक्तम् ऋच: यजूंषि सामानि ब्रूहि स उक्तवान् किं ब्रवीमि मां न प्रतिभान्ति मम स्मृतिं कथं नायान्ति इति।।श्री:।।

अथ पितुरुपदेशमाह—

तꣳ होवाच यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यैकोऽङ्गारः खद्योतमात्रः परिशिष्टः स्यात्तेन ततोऽपि नबहु दहेदेवꣳसोम्य ते षोडशानां कलानामेका कलातिशिष्टा स्यात्तयैतर्हि वेदान्नानुभवत्यशानाथ मे विज्ञास्यसीति।।३।।

तं पिता: उवाच यथा महत: महीयश: अभ्याहितस्य इन्धनप्रज्वलितस्य खद्योतमात्र: खद्योत: प्रमाणं यस्य अत्र "प्रमाणं द्वयसज् दध्नज् मात्र च:" इत्यनेन मात्रच् प्रत्यय:। स एक अङ्गार: स्फुलिङ्ग ततोऽपि अधिकतर: सन् न दहति तथैव एका अतिशिष्टा कला पञ्चदशक्षीणा: अत: वेदान् न अनुभवसे असान भोजनं कुरु अनेन विज्ञापयिष्यसि इति।।श्री:।।

अनन्तरं किमभूत् इत्याह—

स हाशाथ हैनमुपससाद तꣳह यत्किं च पप्रच्छ सर्वꣳह प्रतिपेदे।।४।।

अनन्तरं सः आश भोजनं कृतवान् पुनरागतः तं यत्किञ्चिद् पप्रच्छ पिता तत्सर्वं प्रतिपेदे उत्तरं दत्तवान्।।श्रीः।।

अथ पिता दृष्टान्तेन उपदेशमुपसंहरति—

तꣳ होवाच यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यैकमङ्गारं खद्योतमात्रं परिशिष्टं तं तृणैरुपसमाधाय प्राज्वलयेत्तेन ततोऽपि बहु दहेत्।।५।।

एवꣳ सोम्य ते षोडशानां कलानामेका कलातिशिष्टाभूत्सान्नेनोप-समाहिता प्राज्वाली तयैतर्हि वेदाननुभवस्यन्नमयꣳहि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति।।६।।

तं पिता उवाच हे सोम्य! यथा महतः अग्नेः समिन्धस्य परिशिष्टम् एकमङ्गारं तृणैः अलातैः समुपनिधाय आवृत्य प्रज्वालयेत् तदा सः पूर्वासु पक्षपादपि बहु दहेत् दग्धुं प्रभवति तथैव एकावशिष्टा तौ कला भोजनमयेन तृणेनोपचिता अतस्त्वं सर्वान् वेदान् अनुभवसि तस्मात् अन्नमयं मनः, आपोमयः प्राणः तेजोमयी वाक् इति पित्रोक्तं सिद्धान्तं स विजज्ञौ विशेषं ज्ञातवान् द्विरुक्तिरादरार्थाः।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि षष्ठाध्याये सप्तमखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।

श्रीराघवः शन्तनोतु

अष्टमः खण्डः

अथ सुषुप्तिकाले जीवः किं दशाको भवति इति स्वपुत्रायोपदिदिक्षुः पुनरुपक्रमते।

उद्दालको हारुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम स-

ता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनꣳ स्वपितीत्याचक्षते स्वꣳ ह्यपीतो भवति।।१।।

ह निश्चयेन आरुणि: अरुणस्य गोत्रापत्यं पुमान् आरुणि: अरुण पुत्र: उद्दालक: एतन्नाम्ना प्रसिद्ध: श्वेतकेतुं श्वेत: ब्रह्मज्ञानेन धवलीकृत: ऊर्ध्वगामीमनोरूपोध्वजो यस्य तथाभूत: तं पुत्रं नरकात् त्रातुं क्षमं सुतम् उवाच सोम्य हे सोमार्ह वस्तुतस्तु सोमशब्दस्य द्वावर्थौ प्रसिद्धौ, एक: यज्ञे सोमलतारूप:, अपर: अपरश्चन्द्ररूप: पूर्वार्थस्तु मया बहुषु व्याख्यात: साम्प्रतमपरमर्थं व्याचक्ष्ये। चन्द्रपक्षे सोमशब्दं व्युत्पादयन्ति प्राञ्च: उमया सह वर्तमान: सोम: शिव: सोमोऽस्ति मण्डकतया आधारो यस्य स: सोम:, वयं तु सूयते सुधां य: स: सोम: स तु रामचन्द्ररेव। अत: एव—

पुष्णामि चौषधी: सर्वा: सोमोभूत्वा रसात्मक:।

(गीता १५-१३)

तं श्रीरामरूपं सोममर्हति इति सोम्य:, अथवा रामनामैव सोम: यथा स्मृतं मानसे श्रीमद्गोस्वामीतुलसीदासचरणै:—

राका रजनि भगति तव राम नाम सोइ सोम।
अपर नाम उडुगन विमल बसहु भगत उर व्योम।।

(मानस ३-४२क)

अथवा "सोमो राजा अष्माकं ब्राह्मणानां" इति श्रुत्यन्तरात् "सोमो राजा विद्वान्" इति श्रुतेश्च। सोमेन चन्द्रेण रामचन्द्रेण अनुगृहित: कृपापात्री कृत: इति सोम्य: तत्सम्बुद्धौ हे सोम्य भो भगवत् कृपाभाजन! साम्प्रतं स्वप्नान्तं स्वप्नस्य शयनस्य सुषुप्ते: अन्तं सिद्धान्तं मे मम सकाशात् विजानीहि समवगच्छ यत्तु प्राञ्च: अन्तशब्दं मध्यपरतयाव्याचक्षते, एवं स्वप्न: अन्ते मध्य यस्य तथाभूतं तदनुचितं स्वप्नशब्द: सुषुप्ते: प्रागवस्थाबोधकोऽपि सुषुप्तिबोधक: अत:एव स्वप्नमेव स्वप्न: "स्वपोनङ्" इत्यनेन भावे नङ् प्रत्यय:। तस्मात् "शीङ् स्वप्ने" इति सङ्गच्छते पाणिनीयधातुपाठ:। ननु कीदृश: स: षष्ठ्यन्तपदार्थ:? इत्यत् आह यत्र यस्मिन् स्वप्ने सुषुप्तिकाले एतत् पुरुष: एतस्य परमात्मन: पुत्रीभूतपुरुष: एतत् पुरुष: परमात्मपुत्रत्वविवक्षयैव एष: पुरुष: इति नोक्त्वा

समास आश्रितः इत्यनेनापि स्वरूपतो जीवब्रह्म ऐक्यवादः परास्तः स्वपिति शयनं करोति तदा सता परमात्मना सह सम्पन्नो भवति सङ्गच्छते एवमर्थं स्पष्टयितुं लोकप्रसिद्धिमाह अतएव एनं स्वपिति इति क्रियया: जना आचक्षते। निद्राति इति न कथयन्ति कथम्? स्वपितिशब्देऽपि इश्वरेच्छा रूप सरस्वती विवक्षितभावबोधनं सामर्थ्यात्। शयनकाले जीवः स्वं निजं आत्मीयं परमात्मानं न्यायदृष्ट्वा द्रव्यत्वेन निज ज्ञातिभूतं भक्तदृष्ट्या स्वं निजं परमधनम् अपीतः निश्चयेन प्राप्त भवति, अतएव स्वपिति इति कथ्यते। हिनिश्चयेन स्वं निजमात्मवत् प्रियं आत्मीयं द्रव्यत्वेन निजज्ञातिं निजं धनं च परमात्मानम् अपीतः प्राप्त भवति अतः शयनकाले परमानन्दोनुभूयते। किन्तु जीवस्य दौर्भाग्यमेतत् यत्।

सङ्गच्छते तेन यदा तु कामः तदा सः जागर्ति गृहीत बोधः।
यदा तु रामेण सः सङ्गतोऽस्ति तदा स्वपीत्येष विडम्बनैषा।।श्रीः।।

अथ मनो गतिमाह—

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धनꣳ हि सोम्य मन इति।।२।।

शकुनिदृष्टान्ते मनसः प्राणाधारतां निरूपयति। यथा येन प्रकारेण सूत्रेण प्रबद्धः शकुनिः पक्षी दिशं दिशं पतित्वा गत्वा कुत्रापि आयतनमाधारं अलब्ध्वा अप्राप्य बन्धनं पिञ्जरात्मकम् उपश्रयते, तथैव मनः दिशं दिशं दिशोपलक्षितं संसारं पतित्वा पतङ्ग इव निपत्य भुक्त्वा च प्राणबन्धनम् उपश्रयते प्राणोः बन्धनं यस्य तथाभूतं मनः भवति।।श्रीः।।

अथ क्षुत्पिपासादि दृष्टान्तेन संसाराङ्कुरस्य समूलतां वर्णयति—

अशनापिपासे मे सोम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषोऽशिशिषति नामाप एव तदशितं नयन्ते

तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तदप आचक्षतेऽशनायेति तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतितꣳ सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यतीति।।३।।

अशनमशपचादित्वाद् अच् प्रत्ययः अशं अशितं पुरुषेण भुक्तं पदार्थं नयन्ति पाकं प्रापयन्ति इति अशनाया आपः अशनाया सन्ति यस्यां साशनाया बुभुक्षा, पातुमिच्छा पिपासा ते मम सकाशात् विजानीहि। उपपत्तिमाह यथालोके गवां नेतारं गोनायम्, अश्वानां नायकमश्वनायं, पुरुषान् नयन्तं पुरुषनाय इति कथयन्ति तथैव पुरुषः यत् अशशिषति भोक्तुमिहते तदापः नयन्ति अतः इमापि अशनाय इति कथ्यन्ते। तत् एव अपां सकाशात् एतत् शुङ्गं देहरूपम् अङ्कुरं उत्पतितं भवति इदं मूलं नास्ति।।श्रीः।।

एवं शुङ्गोत्पत्तिं निरूप्य क्रमेण सन्मूलतां साधयति—

तस्य क्व मूलꣳ स्यादन्यत्रान्नादेवमेव खलु सोम्यान्नेन शुङ्गेनापोमूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः।।४।।

सोम्य! तस्य शुङ्गस्य अन्नात् अन्यत्र क्व मूलं स्यात् एवम् अन्नेन मूलेन अपः जलानि अन्विच्छ मार्गय एवं अद्भिः शुङ्गेन अङ्कुरेण तद् हेतोभूतं तेजः तेजसा तन्मूलं सत् अन्विच्छ नाजीहि, इमाः प्रजाः सन्मूलाः सत् मूलं यासां ता सदायतनाः सदाधाराः सत्प्रतिष्ठाः सदेव प्रतिष्ठा यासां ताः एवं सतो जाताः सताधारिताः सति विलीनाश्च।।श्रीः।।

अथ पिपासां निरूपयति—

अथ यत्रैतत्पुरुषः पिपासति नाम तेज एव तत्पीतं नयते तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तत्तेज आचष्ट उदन्येति तत्रैतदेव शुङ्गमुत्पतितꣳ सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यतीति।।५।।

अथ यत् पुरुषः पिपासति तत्पीतं जलं तेजः नयति परिणामयति, अतः गोनायादिवत्। तेजः उदन्यः कथ्यते उदकं नयति इत्युदन्यः एवं तेजसा शुङ्गमुत्पतितमिदं अमूलं कथं भविष्यति।।श्रीः।।

अथ क्रमेण सद्देवताया जगत् कारणत्वमाह—

तस्य क्व मूलꣳ स्यादन्यत्राद्भ्योऽद्भिः तेजो मूलमन्विच्छ सोम्य शुङ्गेन तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठा यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तदुक्तं पुरस्तादेव भवत्यस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्।।६।।

हे सोम्य! अद्भिरुत्पादितेन शुङ्गेन तेजः मूलमन्विच्छ तेन सत् अनेनैव सद्देवता मूलेन जगतः समूलता सायतनता सत्प्रतिष्ठा च अथ पुरुषं प्राप्य देवता त्रयस्य त्रिवृत्वं पुरस्तात् उक्तम् अनुपदमेव कथितम्। एवं संसारयात्रां निर्वर्त्य प्रयतः प्रकर्षेण गच्छतः प्रयति इति प्रयन् तस्य प्रयतः इति विग्रहः पुरुषस्य वाक्मनसि विलीयते, मनः प्राणे, प्राणश्च तेजसि तेजश्च तस्यां सदाख्यायां परदेवतायां सम्पद्यते। ननु "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" छा॰ उ॰ ६-२-३ इति श्रुत्या जीवात्मना सह सतः शरीरे प्रवेश उक्तः। तर्हि जीवस्य लयः कथं न उक्तः? इति चेत् शृणु सृष्टस्य लयो भवति तेजोजलान्नानि तन्मयाश्च वाक्प्राणमनोविशेषाः तन्मयं च शुङ्गरूपं शरीरम् इदं सृष्टिजातं सकारणं लीयते जीवस्तु नैव परमात्मनः सृष्टिः अतो एतस्य न लयः। अतो जीवात्मना सम्पन्नता नोक्ताः।।श्रीः।।

एवम् जीवस्य परमात्मनश्च नित्यत्वं साहचर्यं च प्रतिपादयति—

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच।।७।।

एवं सदाख्यायां परदेवतायां सर्वेषु विलीनेष्वपि सत्सु यः अवशिष्यते स एव एषः श्रुतिप्रसिद्धः अणिमाः परमात्मापेक्षया अतिशयेनाणुः सर्वप्रलयेऽपि यस्य न प्रलयोभूत् स एव जीवात्मा एतस्यैव आत्म्यं आत्मनः इदं भोग्यरूपम् इदं सर्वं प्रपञ्चं तत् सद्रूपदैवतमेव सत्यं, सः आत्मा यः प्रलयेऽपि न नाशमगच्छत्। हे श्वेतकेतो तत्त्वं तदेवात्मतत्वं त्वमसि त्वं देहेन्द्रियमनोबुद्धिव्यतिरिक्तः विशुद्धचेतनघनः भगवतोदास-भूतः आत्माऽसि। अथवा एषः अणिमा भगवद्दासभूतजीवात्मा इदं सर्वम् एतद् भोग्यं तत् सत्यं सद्रूपं स एव एतस्य जीवात्मोऽपि आत्मा अधिष्ठाता परमात्मा, हे श्वेतकेतो त्वं तदसि तस्य असि तच्छब्दस्य त्वं शब्देन सह पञ्चधा समासयस्ते आत्मा तस्य त्वम् असि तत्पुत्रत्वं भवसि, तेन त्वम् असि, तस्मै त्वम् असि, तस्मात् त्वमसि, तस्मिन् त्वम् असि, एवं जीवात्मा परमात्मा विवरणं श्रुत्वा श्वेतकेतुः सिद्धान्तमनवगच्छन् सङ्कमान आह, एवं विधं परमात्मानं जीवात्मानं च कथमेहं न ज्ञातुं प्रभवामि? इत्यत् आह भगवान् पूज्यचरणः एतद् विषयं भूयः विज्ञापयतु। यत् सुषुप्तो सद्रूपेण परमात्मना सङ्गतोऽपि जीवः कथं न जानातीति आरुणिः तथा इति विज्ञापयतुमुवाच प्रतिशुश्राव।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि षष्ठाध्याये अष्टमखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।

''श्रीराघवः शन्तनोतु''

नवमः खण्डः

ननु सुषुप्तौ यो जीवात्मानं निरन्तरं मिलति यश्च परमानन्दरूपः तं जीवात्मानो कथन्न जानन्ति कथं वा निजागमनावधिभूतत्वेन परमात्मानं नावगच्छन्ति इति जिज्ञासां श्वेतकेतोः मधुमक्षिका दृष्टान्तेन शमयितुमुपक्रमते यथेत्यादि—

यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणाꣳ रसान्समवहारमेकताꣳ रसं गमयन्ति।।१।।

हे सोम्य! यथा येन प्रकारेण मधुकृतः मधुकुर्वन्तीति मधुकृतः मधुमक्षिकाः मधुमाध्वीं निस्तिष्ठन्ति उत्पादयन्ति धातूनामनेकार्थत्वात् निपूर्वकस्थाधातोरपि जन्मानुकूल-

व्यापारानुकूलव्यापारोऽर्थ:। कथं मधुनिष्पादयन्ति? इत्यत आह ते च नानात्ययानां नाना अनेक: अत्यय: स्वभाव: येषां ते नानात्यया: तेषां नानात्ययानां अनेकगतीनां नैकप्रकारफलकानां वृक्षाणां तरुणां फल्गुमहतां रसान् सारान् समवहारं णमुलन्तमेतत्। न च कथन्न द्वित्वमिति वाच्यम्? "छन्दसि बहुलम्" इत्यनेन तन्निषेधत्। तथा च समवहारमित्यस्य समवहृत्य समवहृत्य वृक्षाणां सारभूतभागं पीत्वापीत्वेति भाव:। एकतां पुनर्वान्तिविषयं कृत्वा एकभावं तत्तद्वृक्षरसवैलक्षण्यद्योतकस्वादप्रध्वंसाभावं तद्रूपं रसं मधुरसं गमयन्ति रसरूपतां नयन्ति।।श्री:।।

दृष्टान्तं निगमयति—

ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्यमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति सम्पद्यामह इति।।२।।

हे सोम्य! अनेकवृक्षेभ्य: समानीता: मधुत्वमापादिता: ते रसा: यथा तत्र मधुकृतसंन्निधाने मधुकृत्मुखतो वान्तिधिकरणे अहममुष्य अस्य वृक्षस्य रस: आम्रस्य वा पनसस्य वा मिरिचस्य वा द्राक्षायावा वृक्षस्य रसोऽस्मि इति विवेकम् एकीभावेसति पृथक्करणज्ञानं न लभन्ते न प्राप्नुवन्ति। तथैवेमा: दृश्यमाना: प्रजा: जीवभूता: प्रकृतय: सति परमात्मनि संपद्यप्रलीय वयमनेकप्रकृतय: बद्धमुक्तनित्यस्वरूपा: विभिन्नस्वभावा: प्रजा: परमात्मनि संपद्यामहे इति न विदन्ति।।श्री:।।

अविवेकपरिणाममाह—

त इह व्याघ्रो वा सिꣳहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दꣳशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदा भवन्ति।।३।।

यतो हि ते सति संपद्यमानमात्मानं न विवेक्तुं प्रभवन्ति, न वा आधाराधेययो: वैलक्षण्यविवेकमवकलयन्ति। अतएव इह लोके व्याघ्र: विघाताय आजिघ्रति इति व्याघ्र: ईषत् सिंहान्न्यूनो हिंस्रव: जन्तु: सिंह: मृगेन्द्र: केशरी वृक: सृकालतो ज्यायान्

स्फारितमुखोगवादिवतसघाती पशु: वराह: वन्यसूकर: कीट: क्रमि: पतङ्ग: पक्षी दीपमित्रो वा पतनशीलकीटाणु: मसक: मत्सर: य: कर्णसमीपेगु ञ्जित्वा पृष्ठमांसं खादति। दंश: यो वर्षाकाले यो गोमयादि वृतस्थाने पशून् दशति, रक्तभोजी कीट: एवं यद्यद् प्रकारवाची द्विरुक्तो यच्छब्द: निकृष्टयोनिबहुत्वसूचक: उपदर्शितानामष्टानां वर्गतोऽपि तत्सजातीया: यावन्तोऽपि पापिष्ठ योनिविशेषा: भवन्ति संभवन्ति ब्रह्मसृष्टौ तत् तद्योनिसमुत्पन्ना: आ आभीक्ष्ण्येन भवन्ति। अत्रेदं विवेक्तव्यं यत् प्रजाशब्द: संतति प्रकृतिपर: ''प्रजासंततिप्रकृत्यो:'' इति कोषात्। जीवमात्रं भगवत: संतति न खलु पिता पुत्रयो: स्वरूपत एकत्वं साधयितुं शक्यते। तथैव जीवब्रह्मणोरैक्यं दुर्वारमेव (सति संपद्य सति संपद्यामहे) छा॰ ३.६.९.२ इति द्वि:श्रुति: संपत्तिक्रियां प्रति सदाधारतां प्रजाधेयतां च वर्णयति। नहि खलु जीवब्रह्मणोरैक्ये द्वैतपर्यवसायी आधाराधेयभावो घटयितुं शक्यते। दृष्टान्तोऽपि गमयत्येतमेवार्थं मधुकृत: अनेकतोवृक्षेभ्य: रसानाहृत्य एकतां नयन्ति तथैव परमात्मा अनेकत्र स्वकर्मवशात् विकीर्णान् जीवान् रसोपमानान् तत्तच्छारीरवृक्षेभ्य: यमरूपदशनै: समुपसंहृत्य कालरूपे निजमुखे गृहीत्वा प्रलयकाले एकतां निजोदरनिवासहेतो: रसं सत्तामात्रसंज्ञां नयति। वस्तुतस्तु सर्वे जीवा अनेक एव, किन्तु यथा रसानां परस्परवैलक्षण्यज्ञानाभाव: एवमेव जीवा अपि एकीभूता नात्मवैलक्षण्यं विवेक्तुमर्हन्ति। अतएव व्याघ्रादि पापिष्ठयोनिषु जायन्ते श्रुति: सुस्पष्टं निरूपयति यत् पृथक्सत्ताया: ज्ञानाभाव एव जीवानां निकृष्टयोनिजनननियामक: इति स्पष्टम् अद्वैतवादावलम्बिनामधोगतिनियामकम्। यदि ते निजागमनावधिं व्याज्ञास्यन्त तदानाजनिष्यन्त निकृष्टयोनिषु नन्वसंगतमेतत् एकीभावज्ञानपरिणामत: व्याघ्रादियोनिरुक्ताजीवस्य किन्तु गीतासु पृथक्त्वाभिन्नज्ञानं कथं राजसमुक्तं यथा—

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथक्विधान्—

वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्।। (गी.अ. १८।२१)

एवमुभयत: पाशारज्जुरिति चेन्न तव परमात्मन: सह जीवेन संबन्धत: पृथक्त्वनिराशेनादोषात्। अतएव

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव (गी.७.७)

इति सूत्रमणिदृष्टान्तेन भगवतैव भेदमूलकाधाराधेयभाव: प्रतिपादित:। न खल्वेकस्मिन्नेव धर्मणि प्रतियोग्यनुयोगिद्वित्वनिष्ठसूत्रमणित्वप्रकाराधाराधेयभाव: संगन्तुं

शक्यते। आशयोऽयं यत् अनेकेभ्य: स्थानेभ्य आगता: प्रजा: रसा इव भग्नचेतनाका:, अतएव निरस्तसेव्यसेवकभावमूलकभजनसंस्कारा: सूदूरत एवानास्वादित-रघुपतिपदपद्मपरागरागरसा: आत्मसंभाविता: स्तब्धा: भगवद्विमुखमलीमसमानसा: व्याघ्राद्यासुरीं योनिं लभन्ते इति भाव:। तथोक्तं गीतासु—

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः।।
तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।।
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्।।

एकीभावे हि विज्ञाते (गीता १६,१८,१९,२०)

भक्तिः स्वादो विहन्यते। तामन्तरेण कश्चिद्यात् दुर्धर्षं भवबन्धनम्।।

इत्यनेन प्रच्छन्नबौद्धकल्पिताद्वैतवादमेघाडम्बरं प्रभञ्जनेनेव निकृत्य निरस्तम्।।श्री:।।

दृष्टान्तमुपसंहरति—

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ सआत्मा तत्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच।।४।।

एवं य: एतावामणीयान् अणिमा यं सर्वे ज्ञातुं न प्रभवन्ति, स एष: आत्मा परमात्मा एतस्यैव इदं सर्वम् आत्म्यं आत्मीयं तदेव सत्यं सत् सदेव सत्यं, हे श्वेतकेतो! त्वमपि तस्य असि तच्छब्द: लुप्तषष्ठीक:। ननु कथन्न प्रथमान्त:?तस्मिन् पक्षे स्वीकृते सत्यनावश्यककल्पनात्रयविडम्बना, यतोहि तच्छब्द: परोक्षत्वावच्छिन्नचैतन्यपर:। त्वं शब्दश्च प्रत्यक्षत्वावच्छिन्नप्रत्यगभिन्नचैतन्यपर:। न खलु परोक्षत्वप्रत्यक्षत्वयो: विरुद्धकालावच्छिन्नयो: द्यावापृथिव्ययोरिव संभवत्येकत्वं, अतएव पदयो: सामानाधिकरण्यं लक्षलक्षणभाव: विशेषणविशेष्यभावश्चेति नभ:पुष्पायमानं

समाधानत्रयं प्रजल्पितं तत् सर्वमनर्गलम्। यदुक्तं पदयोः सामानाधिकरण्यं तदसंगतं, सामानाधिकरण्यं नामसमानविभक्तिकत्वं तन्नात्र तच्छब्दस्य लुप्तषष्ठन्त्यत्वात्। न वा समानलिङ्गत्वं समानविभक्तिकत्वे हि तच्छब्दस्य विधेयत्वेन आयुष्मान् भव इत्यादिवत्। त्वं तदसीति स्यात् न वा लक्ष्यलक्षणभावः कथयितुं शक्यः। अनुपपन्ने हि तात्पर्ये तस्य प्रसक्तिः अद्वैतमेव तात्पर्यं श्रुतीनाम् इति नैव सर्वसम्मतसिद्धान्तः। नहि कतिपयेषु चिदुलूकेषु दिने रात्रिघोषणायां कोऽपि सुधी रात्रिव्यवहाराय कल्पते तस्मात् तात्पर्यानुपपत्यभावात् नैव लक्षणालौकिकवाक्येषु हि तात्पर्यानुपपत्तिः, श्रुतिर्भगवतो निःश्वासभूता। नहि त्वं भगवान् यः श्रुतीनां तात्पर्यं निर्धारयितुं प्रभवेत्। वैयाकरणानां नयेतु लक्षणा स्वीकृतैव नहि श्रुतिर्हि वेदः वेदो हि व्याकरणमुखः नहि मुखमन्तरेण चरणादिकं वक्तुं प्रभवति, तस्माच्छ्रुति व्याख्याने वयं वैयाकरणाः अस्मदीयोराद्धान्तश्चेति प्रमाणम्। नेदं साहित्यं यत्र लक्षणाप्रमाणं भवतु, यदुक्तं विशेषणविशेष्यभावश्चेति तदपि प्रमत्तप्रलपितमेव।

विशेषणविशेष्ये समानालिङ्गे एव भवताम् इति नैव राजाज्ञा, न वा शास्त्रीयनिर्देशः षष्ठ्यन्तमपि विशेषणं भवति तृतीयापि किं बहुना व्यधिकरणं विशेषणं बहुशो दृष्टमिह भूतले घटो नास्ति इत्यत्र सप्तम्यन्तस्यापि विशेषणत्वेन स्वीकृतत्वात्। ननु सप्तम्यन्तं चेद् विशेषणम्? तर्हि सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ विशेषणत्वेन सप्तम्यन्तस्यापि क्राडीकृतत्वात् सत्यपि विशेषणपदे किमभिप्रायकं सप्तमीपदम् इति चेत् सप्तमीपदं व्यर्थीभूय व्यधिकरणबहुव्रीहि ज्ञापयति, तेन कण्ठे काल इत्यादि सिध्यति, तस्मात् तच्छब्दस्य बुद्धिस्थत्वपरामर्शकत्वे सति अणुभूतजीवात्मार्थः।

एवं हे श्वेतकेतो! त्वं तत् सर्वव्यापी आत्मा असि अथवा तत् सत्यमित्यत्र तन्निर्दिष्ट सतः मित्रं पुत्रोआसीत् पुत्रोवाऽसि। ननु सुप्तोत्थितः सन् जनः पूर्वसंस्कारं न विस्मरति प्रत्युत प्रबोधसमकालमेव तस्य सर्वे पूर्वसंस्काराः प्रतिबुद्ध्यन्ते, कथं वयं नावगच्छामः परमात्मानमिति बीजमलभमानो जिज्ञासते भगवान् पूजनीयतातपादः इमं सिद्धान्तं मां भूयएव एवकारोप्यर्थः पुनरपि विज्ञापयतु। प्रार्थनायां लोट् कृपया उपदिशतु इति प्रार्थये आनन्दमयत्वात् परमात्मनः तदभ्यासे नानुभवन्नालस्यं निष्प्रमादमारुणिरुवाच तथा एवमस्तु।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि षष्ठाध्याये नवमखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं संपूर्णम्।

''श्रीराघवः शन्तनोतु''

दशमः खण्डः

अथ दशमे खण्डे नदीसमुद्रदृष्टान्तेन सिद्धान्तं निरूपयति मन्त्रद्वयेन—

इमाः सोम्य नद्यः पुरस्तात्प्राच्यः स्यन्दन्ते पश्चात्प्रतीच्यस्ताः समुद्रात्समुद्रमेवापियन्ति स समुद्र एव भवति ता यथा तत्र न विदुरियमहमस्मीति।।१।।

एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सत आगच्छामह आगम्य न विदुः सत आगच्छाम इति त इह व्याघ्रो वा सिꣳहो वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दꣳशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदा भवन्ति।।२।।

हे सोम्य! यथा पुरस्तात् अग्रतः स्यन्दमानाः प्राच्यः पुरो वाहिन्यः गंगादयः पश्चात् स्यन्दमानाः प्रतीच्यः पश्चिमवाहिन्यः सिन्ध्वाद्याः समुद्रात् निर्गत्य मेघमाध्यमेन तद्वृष्टजलेन लब्धाकाराः पुनः धारासारशतसहस्रैः समुद्रमेव सागरमेव अपियन्ति संगच्छन्ते, तासां तदितिरिक्तनिवासाभावात्। तथैव खलु निश्चयेन ताः इयमहं इति निजं नाम रूपं च न विदन्ति निजं नामरूपश्च विनाशयन्ति इति नोक्तम्। किं तर्हि? जानन्ति नहि तस्मिन्नगाधे महासागरे फल्गुनदीनां कुत्र सन्निधानं, तर्हि किं भवति? समुद्रः भवति प्राधान्येन समुद्रः प्रत्यक्षतो दृश्यते, पुनः समुद्रात् नद्यः पूर्यन्ते पुनश्च तस्मिन् विलीयन्ते, यथा च समुद्रो नदीसत्तां नैव भक्तुं पारयति तथैव परमेश्वरोऽपि जीवसत्तां न तिरोधापयितुं प्रभवति। समुद्रोपजीव्या हि नदी तथैव भगवदुपजीव्यो हि जीवः समुद्र इव आगाधो भगवान्। यथोक्तं वाल्मीकिना—

सर्वदाभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः। (वा.रा. बाल १.१६)

तत्र प्रतिरोमकोटिकोटिब्रह्माण्डानि को जानीयात्, को जीवः किं देशीयः किन्नामा, एवमेव सोम्य प्रजाः इमाः बद्धाः सतः परमात्मनः आगम्य संसारमासाद्य सांसारिकप्रपञ्चविस्मृतनिजस्वरूपाः न विदन्ति, यत् सतआगच्छामः इमं संसारं परमात्मनः

सकाशादागच्छामः, पश्चात् तत्रैव गमिष्यामः इति न जानन्ति। अतएव व्याघ्रादि दंशपर्यन्ताः योनिः आसुरीः प्राप्नुवन्ति। अनेनैव दृष्टान्तेन विशिष्टाद्वैतवादः समर्थितः, यथा समुद्रं गच्छन्त्यो नद्यः तिरोहित नामरूपा भवन्ति, तथैव परमात्मानं प्रप्य जीवाः तिरोहितनामरूपत्वात् परमात्मविशिष्टाः। यथा सतीषु शताधिकासु नदीषु समुद्र इत्येव कथ्यते, तथैव सत्स्वपि जीवसंकुलेषु परमात्मैव कथ्यते। अत एव अस्यैवाध्यायस्य द्वितीयखण्डे "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इति श्रुतिः संगच्छते। अनया रीत्या तच्छब्दः तदात्मकाभिप्रायः तत्त्वमसि तदात्मा त्वमसि, तच्छरीरं त्वमसि वा, इति तात्पर्यकम्॥श्रीः॥

दृष्टान्तं निगमयति—

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच॥३॥

एवं गुणगणः यः अणिमा समुद्रवदगाधस्य स एव आत्मा सर्वव्यापकः, इदं सर्वं संसारजातं एतदात्म्यं एतत् स्वरूपं "आत्मा शरीरे जीवे च" इति कोषात्। आत्माशरीरमात्मैव आत्म्यम् एतस्य आत्म्यम् एतदात्म्यं तदेव विशिष्टं अद्वैतं सत्यं परमार्थः। हे श्वेतकेतो! त्वं तस्य नियम्यः असि, ननु एतावत् सन्निकृष्टं परमात्मानं जीवाः कथं न जानन्ति? अतः जिज्ञासते भूयः विज्ञापयतु आरुणिश्च तथा एवमेव करिष्यामि इति प्रतिजानीते॥श्रीः॥

इति छान्दोग्योपनिषदि षष्ठाध्यायेदशमखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं संपूर्णम्।
॥श्रीराघवः शन्तनोतु॥

एकादशः खण्डः

अथ परमात्मसत्वे जीवसत्ता जीवसत्वे च जगत्सत्तेति वृक्षदृष्टान्तमाह। दृष्टान्तोऽयम् मन्त्रद्वयान्वयी

"अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेद्यो मध्येऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेद्योऽग्रेऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेत्स एष जीवेनात्मनानुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति॥१॥

अस्य यदेकाꣳ शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति द्वितीयां जहात्यथ सा शुष्यति तृतीयां जहान्यथ सा शुष्यति सर्वं जहाति सर्वः शुष्यति।।५।।

हे सोम्य! निजसमक्षं वर्तमानमिमं वृक्षं पश्यसि, अस्य महतः विशालस्य वृक्षस्य मूले यदि कोऽपि कुठारेण हन्यात् तदा सः जीवन् जीवनं धारयन् स्रवेत् रसः श्रावं कुर्यात्। यदि कोऽपि मध्ये अभ्याहन्यात् तस्मिन् कालेऽपि सः तथैव हरितः पल्लवः च्यवेत् रसम्, एवमेव अग्रे कोऽपि हन्यात् तदपि स्रवेदेव किन्तु जीवति एवमेव पेपीयमानः पादाभ्यां पिबन् जलं तिष्ठति। कथं जीवेन आत्मनानुप्रभूतः जीवेन सह परमात्मनः अनुप्राणितः। परन्तु यदा जीवः एकं शाखां जहाति तदा सा शुष्यति। एवं द्वितीयां तृतीयां यां यां त्यजति जीवः सा शुष्यति एवमेव यदि सर्वावच्छेदेन जहाति तदा सर्वः शुष्यति।।श्रीः।।

दृष्टान्तं निगमयति—

एवमेव खलु सोम्य विद्धीति होवाच जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच।।३।।

हे सोम्य! यथा जीवात्मनि सति यत्किञ्चिदवच्छेदेन छिन्नोऽपि वृक्षस्तिष्ठति, किन्तु जीवे जहति न तिष्ठति क्षणमपि। तथैवेदं शरीरमपि जीवे निर्गच्छति म्रियते जीवे तिष्ठति तिष्ठति, य एवं गुणगणः एषु अणिमा अति सूक्ष्मः स एव आत्मा सर्वव्यापी परमात्मा, त्वमपि तस्यासि। इति समुपदिष्टोऽपि भूयः कथयति नाहं अवगच्छामि यत् सूक्ष्मात् स्थूलं कथं जायते तं बोधयितुं भूयः प्रतिजानिते।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि षष्ठाध्याये एकादशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

द्वादशः खण्डः

अथ न्यग्रोधफलदृष्टान्तेन सूक्ष्मात् स्थूलोत्पत्तिं निदर्शयति।

न्यग्रोधफलमत आहरेतीदं भगव इति भिन्द्धीति भिन्नं भगव इति किमत्र पश्यसीत्यण्व्य इवेमा धाना भगव इत्यासामङ्गैकां भिन्द्धीति भिन्ना भगव इति किमत्र पश्यसीति न किञ्चन भगव इति।।१।।

हे सोम! अत: तौ पुरत: वर्तमानात् अस्मात् वटवृक्षात् इदं न्यग्रोधफलं न्यग्रोधस्य वटस्य फलं आहर आनय, त्यादिष्ट: आहृत्य न्यवेदयत् भगव इदमाहृतम् आनीतं पुनरादिशत् पिता इदं भिन्धी स्फोटय, तथा कृत्वा न्यवेदयत् भिन्नं स्फोटितं तदापृच्छत् अत्र किं पृच्छसि उदतीतरत् अत्र आण्व्य धानात् लग्भ्य: कणिका पश्यामि विजानामि। पुनरुक्तवान् इमाम् एकैकां भिन्द्धी, भित्वा कथितवान् भिन्ना पुनरपृच्छत् अत्र भिन्नाया अणुधानायां किम् पश्यसि न किमपि दार्ष्टान्तिमाह।।श्री:।।

तꣳ होवाच यं वै सोम्यैतमणिमानं न निभालयस एतस्य वै सोम्यैषोऽणिम्न एवं महान्यग्रोधस्तिष्ठति श्रद्धत्स्व सोम्येति।।२।।

अथ तं श्वेतकेतुं उवाच पिता हे सोम्य! यमेतमणिमानमणु: भूतंन निभालयसे निकटस्थमपि न दृष्ट्या गोचरयसि एतस्य परमात्म सखस्य जीवस्य इव स्थूलरूप: विशेष: तिष्ठति वटवृक्ष: सोम्य श्रद्धत्स्व आस्तिकबुद्ध्या विचारय।।श्री:।।

प्रकरणमुपसंहरति—

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳस आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच।।३।।

एवं भूत: अणुरपि महज्जनक: स: आत्मा आप्नोति व्याप्नोति चराचरम्। तथा भूत: इदं सर्वं नामरूपात्मकं जगत् एतदात्म्यं एतस्य स्थूलं रूपमेव। यथोक्तं वाल्मिकीना—

"जगत्सर्वं शरीरं ते" तत्सत्यं तथ्यं तत्त्वमसि तस्यैव सर्वाधारस्य सम्बन्धिभूतस्त्वम्। ननु महतो वृक्षस्य अणुर्धानात उपलभ्यते, किन्तु जगत्युपलब्धे तन्मूलभूतं सत् कथं नोपलभ्यते? इति जिज्ञासा बीजं भगवन् मां भूय विज्ञापयतु इति प्रार्थयमानं स: श्वेतकेतुं तथेति प्रतिज्ञाय लवणदृष्टान्तेनाह।।श्री:।।

इति छान्दोग्योपनिषदि षष्ठाध्याये द्वादशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।

।।श्रीराघव: शन्तनोतु।।

त्रयोदश: खण्ड:

अथ लवणदृष्टान्तेन जगत्प्रविष्टं सत् निदर्शयति—

लवणमेतदुदकेऽवधायाथ मा प्रातरुपसीदथा इति स ह तथा चकार तद्धहोवाच यद्दोषा लवणमुदकेऽबाधा अङ्ग तदाहरेति तद्धावमृश्य न विवेद।।१।।

सोम्य! यत्त्वमप्राक्षी: जगतो मूलं सत् कथं न दृश्यते? जगति तस्येदं उत्तरं परमात्मा जगत्सृष्ट्वा जगदेव समनुप्रविष्ट: "तत्सृष्ट्वा तददेवानुप्राविशत्" इति श्रुते:। कथमेतत् विजानीयाम? इति लवणदृष्टान्तमाह— यथा लवणे जलं प्रविष्टं तद्रूपतां गतं नेत्राभ्यां न दृश्यते। किं तर्हि? तद्रशनायानुभूयते तथैव परमात्माऽपि लवणमेव जगत्प्रविष्ट रसनं एव भगवन्नामरूपलीलाधामसमास्वादनरसीक: परं प्रेमरूप: परभक्त्या समवगम्यते। तदेव सरलीकृत्य बोधयति, तत् सत् उदके अद्य लवणं निक्षिप्य स्व: प्रात: माम् उपसीदशा तत्त्वबुभूत्सया आगच्छे:। स: तथा चकार लवणं जले निक्षिप्य प्रात: लवणयुक्तजलभाजने न समागत: पिता कथयत् वत्स जले दोषा रात्रीवाचकोऽव्यय शब्दोऽयं रात्रौ उदके यत् लवणं सैन्धवमाद्या निक्षिप्तवानसि तत् आहर आनय, इत्युक्त: जले लवणं क्षारम् अवमृश्य अन्विश्य न विवेद।।श्री:।।

दार्ष्टान्तयति—

यथा विलीनमेवाङ्गास्यान्तादाचामेति कथमिति लवणमिति मध्यादाचामेति कथमिति लवणमित्यन्तादाचामेति कथमिति लवणमित्यभिप्राश्यैतदथ मोपसीदथा इति तद्ध तथा चकार तच्छश्वत्संवर्तते तछ्ंहोकवाचात्र वाव किल सत्सोम्य न निभालयसेऽत्रैव किलेति।।२।।

तमारुणिराह इदम् आदितः आचामः पिब किमस्ति मध्ये अन्ते च किमस्ति सः उक्तवान् लवणम् आरुणिरकथयत! इदं प्राश्य दूरे निक्षिप्य उपसीदथ अत्र आदरार्थे बहुवचनम् उपसीदेति भावः। तत्र लवणं शश्वत् समवर्तते तिष्ठति किन्तु त्वं चक्षुषा न निभालयसं न द्रष्टुं शक्नोषि। तथैव जले लवणमेव वर्तमानं सर्वहृदयान्तर्यामिनं न पश्यति इदं तु रसनास्थानभक्तिगम्यम्।।श्रीः।।

प्रकरणमुपसंहरति—

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳसर्वं तत्सत्यꣳस आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच।।३।।

एवं जले लवणमिव समस्ते जगति तिरोहित ऐश्वर्यं साक्षिरूपेण विद्यमानं सत् एतदेव सत्यं स एव आत्मा सर्वः प्राणिनां जीवनरूपः। श्वेतकेतो तत्त्वमसि तस्य दासः त्वमसि, एवं सः भूयो जिज्ञासांचक्रे लवणमिव प्रच्छन्न महात्म्यतया विद्यमानं तं केनोपायान्तरेण ज्ञातुमहं प्रभवेयम्। इति भूय एव भगवन् मां विज्ञापयतु अतः स्थानान्तरादानितपुरुषदृष्टान्तेनाह यथा कश्चन पुरुषः पिहितनेत्रः निजस्थानात् आनित पुनर्जनैर्निदर्शितवर्त्मा गन्तव्यं लभते तथैवायं मोहनसंसारमानितः आज्ञानान्धिकृतः ज्ञानचक्षुः कारुण्यमूर्तिना आचार्येण सन्दर्शितभक्तिमार्गः सन् निज गन्तव्यं प्राप्नोति, तस्मात् तत् प्राप्तौ सद्‌गुरुपासत्तिरेव उपायः।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि षष्ठाध्याये त्रयोदशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।

।।श्रीराघाः शन्तनोतु।।

चतुर्दशः खण्डः

अन्यत्तानितं पुरुषदृष्टान्तं वितृणोति।

यथा सोम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत्स यथा तत्र प्राङ्वोदङ्वाऽधराङ्वा प्रत्यङ्वा प्रध्मायीताभिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्टः।।१।।

हे सोम्य! यथा गन्धारेभ्यः गान्धारदेशेभ्यः कमपि पुरुषं कृतापराधं राजभयः देशनिर्वासनरूपः दण्डेन योजयन्तःअभिपिनद्धाक्षं पट्टिकया अभिपिनद्धे पिहिते अक्षिणी नेत्रे यस्य तथाभूतम् अतिजने जनान् अतीतम् अतिजनं तस्मिन् विसृजेत् त्यजति, सः पिहित नेत्रः प्राक् पूर्वमुखः उदङ् उत्तरे अधरङ् दक्षिणे, प्रत्यङ् पश्चिमे प्राध्मायित ध्माशब्दे शङ्ख इव चित्कार पुरःसरं क्रन्दते। अहं पिनद्धाक्षः अत्र विशिष्टः कोऽपि मार्गं निर्दिशतु नेत्रपट्टिकां च निरस्यतु।।श्रीः।।

दृष्टान्तशेषमाह—

तस्य यथाभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां दिशं गन्धारा एतां दिशं व्रजेति स ग्रामाद्ग्रामं पृच्छन्पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसम्पद्येतैव-मेवेहाचार्यवान्पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति।।२।।

अनन्तरं कोऽपि कारुणिकः तस्य अभिनहनं नेत्रपट्टिकां प्रमुच्य लब्धनेत्रं निर्दिशति, एतां दिशं गन्धारा एतां दिशं ब्रज अथ ग्रामात् ग्रामं सर्वान् पृच्छन् स्वयमपि पण्डितः निज प्रतिभयादपि मार्गमनुसन्दधान मेधावी जननिर्देशं अविस्मरन् गान्धारं उपसम्पद्यते प्राप्नोति। तथैव इहापि गन्धं सम्बन्धम् आरान्तीति गन्धाराः गन्धारस्थानीयाः साकेतलोकविशेषाः तेभ्य एव प्रमादात् त्यक्तभगवत् भजनम् अत एव मोहबद्धनेत्रं तत्

आनीय जनातीते विसृजन्ति विकारा:। अनन्तरं कोऽपि आचार्यः तं क्रन्दन्तं निरीक्ष्य अज्ञानपट्टिकां विमुच्य भगवद्धाममार्गं निर्दिशति, ग्रामात् ग्रामं भगवदीयधामभूतं तीर्थं गच्छन् पुनः महात्मनः शास्त्राणि च पृच्छन् पण्डित सदसद्विवेककुशलः मेधावी शास्त्रज्ञानसम्पन्नः भगवन्तं प्राप्नोति। आचार्यवान् आचार्ये प्राशस्त्यञ्च भगवन्नामस्वरूपभक्ति भागीरथीविगाहन विमलीकृतमानसत्वरूपम्। एतादृिक् पुरुषः साधकः परमात्मानं वेद जानाति, तावदेव तस्य चिरं विलम्बः यावत् सः अहं मोक्ष्ये मुक्तो भवामि बन्धनतः सम्पत्स्ये भगवच्छरणागतिं विधास्ये इति सङ्कल्पो न कुर्यते।।श्रीः।।

प्रकरणमुपसंहरति—

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳसर्वं तत्सत्यꣳस आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच।।३।।

एवं आचार्यकृपां प्राप्य परमेश्वर एव अणिमादिगुणविशिष्टः स आत्मा निखिलजीवनाधारतत्त्वं तस्य सेवकस्त्वं क्रमं जिज्ञासते कथं सत् सम्पद्येय? आरुणिः तथेति प्रतिजानीते।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि षष्ठाध्याये चतुर्दशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

पंचदशः खण्ड

अथ मुमूर्षुपुरुषदृष्टान्तेन सत् सम्पत्तिक्रमं वर्णयति—

पुरुषꣳ सोम्योतोपतापिनं ज्ञातयः पर्युपासते जानासि मां जानासि मामिति। तस्य यावन्न वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायां तावज्जानाति।।१।।

हे सोम्य! यथा उपतापिनं पुरुषमुपताप: प्राणघातकज्वर: सोऽस्त्यस्येत्युपतापीतं आसन्नमरणं पुरुषं ज्ञातय: कुटुम्बिन: पर्युपासते, पृच्छन्ति मां जानासि मां जानासि, एष प्रश्नाकार अस्मासु कतममपि परिचिनोसि, एवं तस्य वाक् यावन् मनसि न लीयते मन: प्राणे न सम्पद्यते प्राणस्तेजसि तेजश्च परदेवतायां सति न सम्पद्यते तावज्जानाति।।श्री:।।

दृष्टान्तशेषमाह—

अथ यदास्य वाङ्मनसि सम्पद्यते मन: प्राणे प्राणस्तेजसि तेज: परस्यां देवतायामथ न जानाति।।२।।

एवं यदा तस्य मुमूर्षो: वाणि मनसि, मन: प्राणे, प्राणश्च तेजसि, तेजश्च परस्यां देवतायां सम्पद्यते तदा स: किमपि न जानाति। मुमूर्षोरिव मुमूक्षो: अपि दशा: सोऽपि तावत् एव जगत् जानाति यावत्तस्य वाङ्मनस: प्राण: तेजांसि जगत् प्रपञ्चे तिष्ठति। यदि वाक् भगवन्मय, मनसि मन: भगवत् समर्पिते प्राण: भगवच्चरणारविन्दचिन्तन-समिद्धप्रभे तेजसि अत्र तेजश्शब्दश्चेतनरूप: एवं चेतनात्मकं तेजश्च भगवत् ध्यानचिन्तनव्यापारं प्रभुप्रेमाकारं परस्यां देवतायां श्रीसीतारामनाम धेयायांसम्पद्यते, तदा न जानाति किमपि सम्पूर्णं जगत् विस्मरति। यथा चाह भगवाच्छुकाचार्य: श्रीभागवते दशमे—

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिका:।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरु:।।

भागवत् १०-३०-४४।।श्री:।।

प्रकरणमुपसंहरति।

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳसर्वं तत्सत्यꣳस आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच।।३।।

एवं गुण: य: श्रुतिभिर्गीतं स एष अणिमा अणु: जीवात्मा परमात्मा च जीवात्मपक्षे तदेव अणुरूपस्तं परमात्मपक्षे च तस्य कृपापात्रं त्वं, तर्हि किमन्तरम्? मुमुर्षुर्मुमुक्षो:? इति जिज्ञासते मां भूय: विज्ञापयतु स: तथा इति प्रतिजानीते।।श्री:।।

इति छान्दोग्योपनिषदि षष्ठाध्याये पञ्चदशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

षोडशः खण्डः

अथ पुरुषपरशुग्रहणदृष्टान्तेन द्वयोरन्तरमाह—

पुरुषꣳसोम्योत हस्तगृहीतमानयन्त्यपहार्षीत्स्तेयमकार्षीत्परशुस्तस्मै तपतेति स यदि तस्य कर्ता भवति तत एवानृतमात्मानं कुरुते सोऽनृताभिसन्धोऽनृतेनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स दह्यतेऽथ हन्यते।।१।।

हे सोम्य! यथा कश्चित् हृतधनं भटा: हस्तगृहीतं हस्तयो: गृहीत: हस्तगृहीत तं हस्तगृहीतं गृहीत हस्तमानयन्ति, अयं धनं अपहार्षीत् अचूचुरत्। "अड्भावरछान्दस:" अयं स्तेयं चौर्यकर्म अकार्षीत्, स: नाहं अचूचुरम्। किं प्रमाणम्? इत्यादिप्रलपति तदा ते राजा व्यवस्थापयति अस्मै अत्र तादर्थ्ये चतुर्थी। एतदर्थन् अथवा उपपद चतुर्थी इमं परीक्षितुं परशुं तपत परष्वधं ऊष्णीं कुरुत तदा स: अनृताभिसन्ध: असत्यसन्धान: आत्मानमनृतेन असत्यभाषणेन गोपयित्वा परशुं प्रतिगृह्णाति स्पृशति दह्यते ज्वलति, अनन्तरं हन्यते यदि चौरस्य कर्ता भवति।।श्री:।।

यदि चौरस्य न कर्ता भवति तस्य प्रतिक्रियामाह—

अथ यदि तस्या कर्ता भवति तत एव सत्यमात्मानं कुरुते स सत्याभिसन्धः सत्येनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स न दह्यतेऽथ मुच्यते।।२।।

यदि सः चौरस्य न कर्ता भवति तदा आत्मानं सत्यं कुरुते एवं सत्यमभिसन्धते इति सत्याभिसन्धः सः सत्येन आत्मामानमन्तर्धाय कवचेन इव च्छादयित्वा परशुं प्रति गृह्णाति न दह्यते, न ज्वलति, अतः विमुच्यते मुक्तो भवति। एवमेव कर्तृत्वाभिमान-रहितः सत्यं परमात्मानं चिन्तयन् मुक्तो भवति॥श्रीः॥

अध्यायमुपसंहरति—

स यथा तत्र नादाह्येतैतदात्म्यमिदꣳसर्वं तत्सत्यꣳस आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति॥३॥

सः यथा एन सत्येन न दह्यते तस्यैव आत्मभूतसिदं सर्वं तदेव सत्यं स आत्मा परमेश्वरः तच्चिन्तनेन विद्वान् न पुनरावर्तते। श्वेतकेतो! तत्त्वमसि तस्य परमात्मनः सेवकः सखा दासः पुत्रः कृपापात्रं नियम्यस्त्वं जीवात्मभूत भवसि इति श्रुत्वा श्वेतकेतुः विजज्ञौ परमात्मतत्त्वं विज्ञातवान् द्विरुक्तिरादरार्थाः अध्यायसमाप्तिसूचिका च।

इह नवभिः खण्डैः आरुणिरुद्दालकः जीवात्मपरमात्मनोः शरीरिशरीरभावमेव नवकृत्वः "तत्त्वमसीति" समुपदिदेश। अत्र "विधिकरणसमानाधिकरणे" इति मतद्वयम्। विधिकरणे पञ्चधा समासः, तेन त्वमसि, तस्मै त्वमसि, तस्मात् त्वमसि, तस्य त्वमसि, तस्मिस्त्वमसि इति। सामानाधिकरणे च शरीरिशरीरभावप्रतिपत्तौ तत्त्वमसि तदात्मकस्त्वमसि तच्छरीरं त्वमसि वा॥श्रीः॥

यं षष्ठाब्दमथाब्दसुन्दरतनुं श्रीचक्रवर्तीमुदाः।
राजा पङ्क्तिरथो रथैः परिवृतो दिव्यं महं योजयन्।
सानन्दं व्रतबन्धभव्यविधया यज्ञोपवीतान्यूतम्।
चक्रे तं रघुसिंधु षोडशकलं षष्ठे स्तुवे राघवम्॥

इति श्रीचित्रकूटवास्तव्यसर्वाम्नायश्रीतुलसीपीठाधीश्वरश्रीमज्जगद्गुरु-श्रीरामानन्दाचार्यश्रीरामभद्राचार्यकृतौछान्दोग्योपनिषदिषष्ठेऽध्याये श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।

॥श्रीराघवः शन्तनोतु॥

श्रीराघवो विजयतेतराम

श्रीरामानन्दाचार्याय नमः

सप्तमः अध्यायः

प्रथमः खण्डः

मंगलाचरणम्

सप्तानामपि पूर्वजं गुणनिधिं सप्तभ्य ईर्ष्यं परम्।
यं ज्ञातुं प्रभवन्ति नो नरवरं सप्तापि सामान्यतः।।१।।

तं तामिस्रहरं तमालवपुषं ताम्राक्षमात्तेषुधिं।
सीतानेत्रचकोरचारुशशिनं भूमानमीडे हरिम्।।२।।

षष्ठे यं सत् समुच्चार्य सानन्दं श्रुतयो जगुः,
षड्विंशत्या च शकलैः सप्तमेऽपि तमूचिरे।
सामान्येन विशेषस्य ग्रहणं शास्त्रसम्मतम्।
तामेव रीतिमाश्रित्य सप्तमोऽध्याय ईर्यते।।३।।

यथारुह्य क्रमेणासौ सोपानानां परम्पराम्।
ताटागं तोयमाप्नोति स एवात्र क्रमः स्थितः।।४।।

सनत्कुमारदेवर्षिसंवादच्छलतोऽधुना।
ब्रह्मविद्या महत्वं हि प्रतिमन्त्रं महीयते।।५।।

नारदः पूर्णकामोऽपि शास्त्रज्ञोऽपि विवित्सया।
सनत्कुमारं शरणं गत इत्येव गौरवम्।।६।।

नामोपाशनमारभ्य यावदाशा समर्चनम्।
सप्तद्विगुणितैः खण्डैः सोपपत्युपवृंहणैः।।७।।

शाखाचन्द्रीयन्यायेन पारम्पर्यप्रयोगतः।
अध्यारोपापवादाभ्यां भूयोभूमानिरूपितः।।८।।

आपञ्चदशमारभ्य यावदन्तं यथाश्रुतम्।
सामान्यप्रतिषेधेन व्याख्यातं हि विवित्सितम्।।९।।

सत्यस्वरूपो भूमा हि सुखात्मामृतविग्रहः।
निश्चयप्रतिपत्युभ्यां श्रुत्या सम्यक् विवेचितः।।१०।।

ॐ अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदस्तꣳ होवाच यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति स होवाच।।१।।

ॐ इति मंगलाचरणं ह निश्चयेन अधीहि भगवः इत्याकारकं मन्त्रं पठन्। मन्त्रस्यार्थः भगवन् मा मध्यापय। नारदः नराय हितं नारं ज्ञानं तद्द्यति यशतथाभूतः, नरे भवं नारं तद् द्यति खण्डयति इति नारदः एतादृक गुणसम्पन्नः प्रशान्तात्मा देवर्षिरपि समस्तशास्त्रपारंगतोऽपि ब्रह्मबोधमन्तरेण संतोषमलभमानः सनत्कुमारमुपससाद। तं शास्त्राध्ययनचिकीर्षया स्वमुपसन्नं देवर्षिं प्राह सनत्कुमारः यदवेत्थ यदपि जानीषे तेन तद्वर्णनपुरःसरं मामुपसीद मम समीपमागच्छ। ततः ऊर्ध्वं ते तुभ्यं वक्ष्यामि इति सनत्कुमारः तद्ज्ञान सीमा चिखण्डयिषया निर्दिशत्।।श्रीः।।

अथ नारदः निजज्ञानं शूच्या श्रावयति—

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदꣳ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याꣳ सर्पदेवजन-विद्यामेतद्भगवोऽध्येमि।।२।।

हे भगवः! ऋग्वेदमृचां वेदं ऋग्वेदमध्येमि "ईङ्" अध्ययने इत्यधिपूर्वकस्य उत्तमपुरुषैकवचनरूपम्। अध्येमि साधिकारं स्मरामि। यजुर्वेदं यजुषां वेदः यजुर्वेदः तं

कर्मकाण्डात्मकम्। सामवेदं साम्नां उद्‌गीथ प्रभृतीनां ज्ञेयानां वेदः सामवेदः तं सामवेदं गीतात्मकम्। आथर्वणं युद्धवर्णनमंत्रसंकलनात्मकमथर्वणा प्रोक्तं आथर्वणं वेदं चतुर्थम् एवं इतिहासपुराणं इतिहासो वाल्मीकीयरामायणं, महाभारतं च पुराणानि मत्स्यादिभागवतान्तानि नन्वेषां रचनाकृदनुरोधेन तत्सादित्वं सादित्वं श्रुतिरनादिः तत्कथं द्वयोः सामञ्जस्यमिति चेत् श्रुतावमीशां चर्चयैव तदनादित्वसिद्धेः। न चानादि रचनाकृतामनुपपतिरिति वाच्यं कथावस्तुनामनादित्वेन तन्निबन्धपरदेववाणी छंदसां सादित्वेन च कथानुपूर्वी वैलक्षण्येन द्वयोरपि सामञ्जस्येनादोषात्। इतिहासौ च पुराणानि च तेषां समाहारः इतिहासपुराणं रामायणं महाभारतम्। पञ्चमं वेदवेद्मि अतएव "इतिहासपुराणं च पञ्चमोवेद उच्यते" इति भारतवचनं संगच्छते। वेदानां वेदं पञ्चानामपि वेदानां वेद-मुखत्वेन प्रतिपादकं व्याकरणम्। अतएव चतुर्दशसूत्री विवर्णप्रसङ्गे प्राह प्राञ्जलिः पतञ्जलिः— सोऽयमक्षरसमाम्नायः ब्रह्मराशिः पुष्पितः फलितश्चन्द्रतारकवत्। अतएव च पाणिनीय शिक्षा वचनं (येनाक्षरसामाम्नायमधिगम्यमहेश्वरात् कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः पा॰ शि॰ १) एवमेवाह (इति माहेश्वराणि सूत्राणि) इत्यस्य व्याख्यां कुर्वन् नागेशोऽपि लघुशब्देन्दुशेखरे (आनुपूर्वीश्रुतिरेषा लघुशब्देन्दुशेखरसंज्ञा प्रकरण)।। पित्र्य ं पित्रिभ्यो हितं पित्र्यं श्राद्धकल्पं, दैवं देवशास्त्रं, शशिं गणितशास्त्रं, देवम् औत्पातिकमित्यपि, निधिं-सामुद्रिक शास्त्रं, वाकोवाक्यं-न्यायशास्त्रं वाकः पूर्वप्रयुक्तं पाण्याः वाक्यं प्रयुक्तमुत्तरम्। वाक् युद्धरूपं। **देवविद्यां** संस्कृतभाषां, **ब्रह्मविद्यां** ब्रह्मणः वेदस्य प्रतिपादनीं शिक्षाकल्पनिरुक्त रूपां। **भूतविद्यां**-भौतिकशास्त्र, **एकायनं**-राजनीतिं। **क्षत्रविद्यां**-क्षत्राणां क्षत्रियाणां विद्यां-धनुर्वेदं। **नक्षत्रविद्यां**-नक्षत्रसम्बन्धिनी विद्यां ज्योतिषशास्त्रं, **सर्पदेवजनविद्यां**-सर्पनिरोधशास्त्रसङ्गीतशास्त्रं हे भगवः! एतत् इदं सर्वम् अध्येमि जानामि।।श्रीः।।

अथ, **"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।**
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः"।।

गीता ४-३४

इतिस्मृतेः। **सद्‌गुरुपसत्ति** निदर्शकविनयाकारमाहः। सोऽहं इत्यादि—

सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतꣳ ह्येव
मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं

भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति तꣳ होवाच यद्वै किञ्चैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत्।।३।।

हे भगवन्! एतां समस्तां विद्यामधित्यापि अहं नारदः मन्त्रवित् मन्त्रं वेत्ति इति मन्त्रवित् केवलं मन्त्रज्ञाता नैव मन्त्रार्थज्ञाता मन्त्रार्थज्ञानमन्तरेण आत्मज्ञानं न सम्भवति। तात्पर्यमेतत् यत् आनुपूर्व्या वेदश्रुतिः प्राप्तवानस्मि। मन्त्रान् विन्दति इति मन्त्रवित् पिञ्जरगत शुक इव मन्त्रमात्रं रटामि न च तदर्थं चिन्तयामि मन्त्रा हि श्रुतयः , मन्त्रार्थो हि परमेश्वरः नात्मवित् आत्मा परमात्मा, आत्मा जीवात्मा, आत्मा च इति आत्मानौ तौ वेत्तीति आत्मवित् न वेत्तीत्यनात्मवित्, आत्म परमात्मस्वरूपं सेवकसेव्यभावात्मकं न जानामि इति तात्पर्यम्। ह निश्चयेन भगवद्दृशेभ्यः भवद्दृशेभ्यो महात्मभ्यः सकाशात् मे मया नारदेन एवम् अनेन कारेण श्रुतं समाकर्णितं यत् तरति शोकमात्मवित् आत्मानौ जीवात्मपरमात्मानौ वेत्ति सेवकसेव्यसम्बन्धमयो जानाति सः परमात्म्येष्टदैवतः शोकं तरति अपारं शोकसागरं निस्तरति लब्धपारं करोति। किन्तु अहं शोचामि अगाधशोकसागरे निमग्नोऽस्मि तत् तस्मात् भगवान् प्रथमः भगवदवतारः यथोक्तं श्रीभागवते—

स एव प्रथमं देवः कौमारं सर्गमास्थितः।
चचार दुश्चरं ब्रह्मा ब्रह्मचर्यमखण्डितम्।।

—भागवत १-३-६

मामेवं शोचन्तं नारदं शोकसागरनिमग्नं शोकस्य सागररूपस्य दुःखस्य पारं तीरौ तारयतु करोतु। इति इत्थं प्रार्थितः सन् सनत्कुमार तमुवाच यत् त्वं यदेतत् अध्यगीष्ठा तत् नाम एव शब्दमात्रं नामशब्दोऽत्र व्याकरणचर्चितघटपटादि डित्थडवित्थादि व्युत्पन्नाव्युत्पन्नप्रातिपदिकरूपशब्दपरः, नैव परमार्थपरः। व्याकरणेऽपि स्फोटय एव गीयत्वेन निर्णीतः नात्र नामशब्दो भगवद् विधान श्रीरामाद्यर्थकः।।श्रीः।।

अथ साधुशब्दरूपः नाम्नः व्यपकत्वं निरूपयति।

नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणिश्चतुर्थ इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः पित्र्यो राशिर्दैवो

निधिर्वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्या ब्रह्मविद्या भूतविद्या नक्षत्रविद्या सर्वदेवजनविद्यया नामैवैतन्नामोपास्स्वेति।।४।।

ऋग्वेदमारभ्य देवजनविद्यापर्यन्तं नामैव शब्दमात्रं वर्तते इतिहासपुराणः अन्यपदार्थतया जहत्क्लीवत्वविशेषणमिदं वेदस्य। एवं इतिहासः पुराणं यस्मिन् सः इतिहासः पुराणः, एकायनम् एकनयनं मार्गः यस्मिन् तथाभूतं, दैवः उत्पातः निधिः सामदृकज्ञानं देवविद्या देवभाषाः, सर्पदेवजनविद्या सर्पः वासुक्यादि तस्य विद्या, देवजनः किन्नरायक्षाश्च एतेषां विद्या सङ्गीतविद्या इदं सर्वं नामैव शब्दमात्रं तयोः नामः ब्रह्मबुद्ध्या उपास्व भजस्व।।श्रीः।।

फलफलश्रुतिमाह—

स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो नाम ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो नाम्नो भूय इति नाम्नो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति।।५।।

एवं नाम ब्रह्मः 'शब्दो ब्रह्मैव' इति बुद्ध्यात्। यः शब्दमुपास्ते सः नाम्नः यावत् गतं येषु येषु लोकेषु नाम्नः गतं नाम सम्बन्धिनी गति व्याप्तिर्वा तेषु तेषु लोकेषु तस्य कामचारः स्वेच्छाचारो भवति। यः नाम ब्रह्मेत्युपास्ते एतत् फलश्रवणेनापि न लुब्धो भूत्वा, नारदः पप्रच्छ भगवः हे भगवन्! नाम्नःशब्दात् भूयः अधिकतरमपि अस्ति, सनत्कुमार उवाच अस्त्येव नारद प्राहः तर्हि नैतेन फलश्रवणेन स्वल्पफलकं नामोपाशिष्ये, किं तर्हि? एतस्मात् भूयो फलवति तत्त्वे मे जिज्ञासा तदेव कृपया मां ब्रवीतु।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये प्रथमखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

द्वितीयः खण्डः

अथ वागुपासनं निरूपयति—

वाग्वाव नाम्नो भूयसी वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति यजुर्वेदꣳ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳराशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यां दिवं च पृथिवीं च वायुं चाकाशं चापश्च तेजश्च देवाꣳश्चꣳ मनुष्याꣳच पशूꣳश्च वयाꣳसि च तृणवनस्पतीꣳ ज्छवापदान्याकीटपतङ्गपिपीलिकं धर्मं चाधर्मं सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं च यद्वै वाङ्नाभविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्न सत्यं नानृतं न साधु नासाधु न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञो वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्वेति।।१।।

वाव निश्चयेन नाम्नः मन्त्रिर्दिष्टोपास्य नामापेक्षया वाक् वाणी भूयसी अधिकतरा भूयस्त्वे हेतुं प्रपञ्चयति। वाक् ऋग्वेदं वागेव विज्ञापयति ज्ञानविषयतां नयति, एवमेव ऋग्वेदमारभ्य देवजनविद्यापर्यन्तं त्वज्ज्ञातम् आकाशादि पञ्चभूतानि देवमनुष्यतिर्यक्योनिः हृदयज्ञं सुन्दरं 'हृदयज्ञो मनोज्ञश्च सुन्दरः सुभगः रुचिः'' इति कोषात् अहृदयज्ञं असुन्दरं, धर्मं वेदविहितकर्मानुष्ठानजनितादृष्टरूपमधर्मं तद्विपरीतं, सत्यं यथार्थभाषणम्, अनृतं व्यलीकं, साधु उचितम् असाधु अनुचितं, इदं सर्वं वागेव विज्ञापयति, यदि वाग् नाभविष्यत् तर्हि किमपि नाव्यज्ञापयिष्यत्। यथोक्तं वाक्यपदीये—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भाषते।।

(वाक्यपदार्थब्रह्मकाण्ड) तस्मात् वाचमेव ब्रह्मदृष्ट्योपास्व।।श्रीः।।

फलश्रुतिं निर्दिशति—

स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्वाचो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो वाचो भूय इति वाचो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति।।२।।

एवं यः वाचं ब्रह्मेति ब्रह्मभावनया उपास्ते स यावद्वाचोगतं वाण्याः गतिं यावत् वाग्गोचराणां लोकानामस्य कामचारो भवति। फलश्रुतितोऽपि न लोभितो नारदः वाचोऽपि भूयस्तत्वं जिज्ञासते, सनत्कुमारः प्राह-अस्ति वाचोऽपि भूयः किमपि नारदः भगवान्तद् ब्रवीतु यतो हि साम्प्रतं नाल्पे मे मनो रमते परम्परया यत्र भूयस्त्वात् व्यस्यति भवान् तदेवोपाषिष्ये इति हार्दं नारदीयम्।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये द्वितीयखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं संपूर्णम्।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

तृतीयः खण्डः

अथ मन उपासनां निरूपयति—

मनो वाव वाचो भूयो यथा वै द्वे वामलके द्वे वा कोले द्वौ वाक्षौ मुष्टिरनुभवत्येवं वाचं च नाम च मनोऽनुभवति स यदा मनसा मनस्यति मन्त्रानधीयीयेत्यथाधीते कर्माणि कुर्वीयेत्यथ कुरुते पुत्रांश्च पशूंश्चेच्छेयेत्यथेच्छत इमं च लोकममुं चेच्छेयेत्यथेच्छते मनो ह्यात्मा मनो हि लोको मनो हि ब्रह्म मन उपास्वेति।।१।।

मनो हि वाचो भूयः अधिकतरमुपपत्तिमाह-जीवो यत्किंचिद् मनस्यति तदेव कुरुते यथा शास्त्राणि अधीयीय शास्त्राध्ययनं कुर्यां इति चिन्तयते तदा शास्त्राण्यधीते

कर्माणि कुर्वीय इति अभिलषति तदा तानि कुरुते। एवम् इच्छीय इति पुत्रपशून् अध्यवस्यति तदा तदर्थे यतते अत: मन आत्मा जीवनं मनो लोक: मनोमयोऽयं संसार: मनसो ध्यानव्यापारत्वात् ध्यानस्य च वासनायतनतया तन्मूलत्वाच्च संसारस्य तस्मान् मन एव ब्रह्मबुद्ध्योपास्व।।श्री:।।

फलश्रुतिं ततोऽप्यधिकतरस्य नारदजिज्ञासां निरूपयति—

स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्मनसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो मनो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो मनसो भूय इति मनसो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति।।२।।

यो वै मन: ब्रह्मत्वेनोपास्ते तस्य मनस: गतं गतिं यावत् मनोगोचरलोकपर्यन्तं कामचार: कामानां संचरणं भवति। मनोगोचरलोकतोऽपि न लोभमापादितो नारद: ततोऽपि भूयस्तत्वं पप्रच्छ सनत्कुमारोऽपि अस्तीति प्रत्यवोचत् तद्ज्ञातुं ब्रवीतु अतिप्रार्थयते देवर्षि:।।श्री:।।

इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये तृतीयखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं संपूर्णम्।

।।श्रीराघव: शन्तनोतु।।

चतुर्थ: खण्ड:

अथ संकल्पोपासनां वर्णयति—

संङ्कल्पो वाव मनसो भूयान्यदा वै संङ्कल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति तामु नाम्नीरयति नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि।।१।।

सङ्कल्प: मनस: भूयान् अधिकतर: उपपत्तिमाह-यदा संङ्कल्पयते अध्यवसायं करोति तदा मनस्यति ध्यायति तदेव वाचं वाणिम् ईरयति वदति। तां नाम्नि शब्दविषये

निश्चयेन ईरयति प्रयुङ्क्ते नाम्नि शब्द एव मन्त्रा: कर्मप्रतिपादका: एकं क्रियावेशेषणमेतत् एकीभावमापाद्यन्ते।।श्री:।।

तत् परिशेषमाह—

तानि ह वा एतानि सङ्कल्पैकायनानि संङ्कल्पात्मकानि सङ्कल्पे प्रतिष्ठितानि समक्लृपतां द्यावापृथिवी समकल्पेतां वायुश्चाकाशं च समकल्पन्तामा पश्च तेजश्च तेषाꣳसंक्लृप्त्यै वर्षꣳ सङ्कल्पते वर्षस्य संक्लृप्त्या अन्नꣳ सङ्कल्पतेऽन्नस्य प्राणा: संकल्पन्ते प्राणानाꣳ संक्लृप्त्यै मन्त्रा: सङ्कल्पन्ते मन्त्राणाꣳ सङ्क्लृप्त्यै कर्माणि संङ्कल्पन्ते कर्मणाꣳसङ्क्लृप्त्यै लोक: संकल्पते लोकस्य सङ्क्लृप्त्यै सर्व ꣳ सङ्कल्पते स एष सङ्कल्प: सङ्कल्पमुपास्स्वेति।।२।।

तानि कर्माणि संङ्कल्पायिकायनानि, सङ्कल्प: एकयनं गति: येषां तथाभूतानि सङ्कल्पैकगतीनि, सङ्कल्प: आत्मा येषां तानि संकल्पकात्मकानि संङ्कल्पाधाराणीति भाव:। प्रत्येकं कर्मण: संङ्कल्प एव आधारो भवति एवं सङ्कल्पे प्रतिष्ठितानि लब्धप्रतिष्ठानि द्यावापृथिवी द्यौ: पृथिवी च इति द्यावापृथिव्यौ ''सुपां सुलुक्'' इत्यनेन पूर्वसवर्णदीर्घे, द्यावा पृथिवी समकल्पेतां सङ्कल्पमकुरुतां एवं वायु: आकाशं समकल्पयतां सङ्कल्पं कृतवती आप: समकल्पयन्तां सङ्कल्पं कुर्वन्ति स्म। तेजोऽपि तथाऽकरोत्, तेषां द्यावा पृथिवी वाय्वाकाशजलतेजसां सङ्क्लृप्ते सङ्कल्पसिद्धये वर्षं समकल्पयत्। तत् सङ्कल्पसिद्ध्यै अन्नं समकल्पयत्, एवमेव अन्नस्य सङ्कल्पसिद्धये प्राणा: संङ्कल्पन्ते सङ्कल्पं कुर्वन्ति। तेषां सिद्धये कर्माणि कर्मणां सिद्ध्यै लोका: सङ्कल्पन्ते, तेषां सङ्क्लृप्त्यै सर्व: संङ्कल्पते चराचर: सङ्कल्पमयो भवति तस्मात् सङ्कल्पमेव ब्रह्मधियोपास्व।।श्री:।।

अथ सङ्कल्पोपासनफलमाह—

स यः सङ्कल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते क्लृप्तान् वै स लोकान्ध्रुवान्ध्रुवः प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानोऽभिसिध्यति। यावत्सङ्कल्पस्य गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति यः सङ्कल्पं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः सङ्कल्पाद्भूय इति संकल्पाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति।।३।।

एवं यः सङ्कल्पं ब्रह्मधिया उपास्ते सः सङ्क्लृप्तान् सङ्कल्पसिद्धान् ध्रुवान् अन्य लोकापेक्षया शाश्वतान् अव्यधमानान् व्यथारहितान् लोकान् कर्दमादिरिव व्यथाशून्यः ध्रुवः प्रतिष्ठितो भवति। तद्गोचरलोकपर्यन्तं कर्दमादेरिवास्य कामचारो भवति। सङ्कल्पोपासन-फलनिदर्शनप्रसङ्गस्तु श्रीभागवते देवहूतिकर्दमविहारप्रघट्टके द्रष्टव्यः एतत् सङ्कल्पसिद्धलोकसुखेनापि न प्रलोभनमानीतो भगवत्कृपानीतो भक्तिमसृणित हृदयनवनीतो भगवान्नारदः ततोऽपि भूयस्त्वे जिज्ञासाञ्चक्रे सनत्कुमारेण अस्तीत्याश्वासितः ब्रवीतु इति प्रार्थयते।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये चतुर्थखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

पञ्चमः खण्डः

अथ चित्तं प्राधान्यं निरूपयति—

चित्तं वाव सङ्कल्पाद्भूयो यदा वै चेतयतेऽथ सङ्कल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति तामु नाम्नीरयति नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि।।१।।

चित्तं सङ्कल्पात् सङ्कल्पमुपेक्ष भूयः अधिकतरं भवति, चित्तं नाम चतुर्थमन्तःकरणम्। ननु मनोबुध्यहंकारचित्तमीति चत्वार्यन्तःकरणानि परन्त्वत्र मनसोव्यतिरिक्तः सङ्कल्पः श्रुत्येवोक्तः, तर्हि पञ्चभविष्यन्त्यन्तःकरणानि? नैतद्दूषणम्। सांख्यसिद्धान्तो नान्तरङ्गदर्शनं श्रुतेः अतस्तत्सिद्धान्ते सङ्कल्पात्मकं मनः इति सिद्धान्तितम्, परन्तु वेदान्तं नाम परमान्तरङ्गदर्शनं श्रुतिमूलकम् अतएवेदमौपनिषदं कथ्यते। सांख्ये चित्तस्यापि मनस्यन्तर्भावः न वेदान्ते यतो हि मनसः संङ्कल्पः सङ्कल्पा च चित्तं भूयस्त्वेन प्रतिपादितम्। अतो हेतोश्चित्तं पृथगन्तःकरणं मनसः सङ्कल्पस्य भूयस्त्वे न तस्मिन् तस्यान्तर्भावः सङ्कल्पो नाम बुध्यध्यवसायविशेष इति मे प्रतिभाति। एवं सङ्कल्पापेक्षया चित्तस्य भूयस्त्वं यदा चेतयते सम्यक् चिन्तनं करोति तदनुसङ्कल्पं तदनुमनस्यनं तदनुमन्त्रे कर्मणमेकिभवनं भवतीति श्रुतिहार्दम्।।श्रीः।।

उपपत्तिपारिशेष्यमाह—

तानि ह वा एतानि चित्तैकायनानि चित्तात्मानि चित्ते प्रतिष्ठितानि तस्माद्यद्यपि बहुविदचित्तो भवति नायमस्तीत्येवैनमाहुर्यदयं वेद यद्वा अयं विद्वान्नेत्थमचित्तः स्यादित्यथ यद्यल्पविच्चित्तवान्भवति तस्मा एवोत शुश्रूषन्ते चित्तꣳह्येवैषामेकायनं चित्तमात्मा चित्तं प्रतिष्ठा चित्तमुपास्स्वेति।।२।।

तानि सङ्कल्पादीनि चित्तैकायनानि केवलचित्तगतिकानि, चित्तात्मानि चित्तमेव आत्मा उत्पत्तिस्थानं येषां तथाभूतानि चित्त एव प्रतिष्ठितानि। यद्यपि कोऽपि बहुवित् बहु समधिकं वेत्ति यस्तथाभूतोऽपि यदि अचित्तः अस्पष्टगुणचित्तः तदा लोके अयं न किमपि वेद इति व्यवहरन्ति। कथमिति चेदाह, यदि बहुवित् तर्हि कथमचित्तः यतो चित्तस्ततो न विद्वान्, यदि चित्तवान्सन्न विद्वान् तदापि तस्मै तदर्थं सर्वे सुश्रूष्यन्ते सेवन्ते द्वितीयार्थे वा चतुर्थी। अतएव येषां सङ्कल्पादीनां चित्रमेकायनं चित्तमेव आत्मा जीवितं जनानां चित्तं प्रतिष्ठा सर्वेषामधिष्ठानं तस्मात् चित्तमेव ब्रह्मत्वेनोपास्व।।श्रीः।।

चित्रोपासनफलश्रुतिं, ततो भूयसि श्रीनारदजिज्ञासितं प्रस्तावयति,

स यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते चित्तान्वै स लोकान् ध्रुवान्ध्रुवः प्रतिष्ठितान्प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिद्धति। यावच्चित्तस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवश्चित्ताद्भूय इति चित्ताद्वाव भूयोस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति।।३।।

एवं यो ब्रह्मबुद्ध्या चित्तमुपास्ते स चित्तान् चेतनामयान् शेषं समानम्। अथ चित्रलोकतोऽपि विरतिं लभमानो नारदः प्राह, भगवः भगानि सन्त्यस्मिन् इति भगवस् तत् सम्बुद्धौ हे भगवः! हे पूज्यचरण! एवं ध्रुवत्वप्रतिष्ठात्वविशिष्टलोकप्रदातुः चित्रादपि भूयः अधिकतरं किमप्युपास्यमस्ति सनत्कुमारः प्राह अस्ति चित्ताद्भूयः उपास्यं, नारदः प्रार्थयते भगवान् मे कृपया तत् ब्रवीतु समुपदिशतु इति शब्दः निवेदनसूचकः। ननु सर्वं जानन्नपि सनत्कुमारः कथं नारदाय पूर्वमेव न भूमानमुपादिशत् किमर्थमेतावदनुधावनमचकिरत्? इति चेन्मैवम्।दुरूहविषयो हि क्रमशो बोद्ध्यमानो बुद्धिमनुषज्ञते। अल्पबलस्य पयः पिबतो बालकस्य मातुः शनैः शनैर्दुग्धदानवत् रुग्णस्य रोगचिकीर्षणा क्रमश ओषधि प्रयोगवच्च।।श्रीः।।

इति छान्दोग्यमुपनिषदि सप्तमाध्याये पञ्चमखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

षष्ठः खण्डः

अथ ध्यानं वर्णयति, ध्यानं नाम निजाराध्यपरमेश्वरनामरूपलीलाधाम्नां मनसि पौनःपुन्येन प्रेमप्रवणतया स्मरणम्। तत् प्रपञ्चयति—

ध्यानं वाव चित्ताद्भूयो ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्षं ध्यायतीव द्यौर्ध्यायन्तीवापो ध्यायन्तीव पर्वता ध्यायन्तीव देवमनुष्यास्तस्माद्य

इह मनुष्याणां महत्तां प्राप्नुवन्ति ध्यानापादांशा इवैव ते भवन्त्यथ येऽल्पाः कलहिनः पिशुना उपवादिनस्तेऽथ ये प्रभवो ध्याना पादांशा इवैव ते भवन्ति ध्यानमुपास्स्वेति।।१।।

चित्तात् ध्यानं भूयः अस्य संज्ञानफलरूपत्वात् तद्विस्तारमाह। ध्यायतीव पृथिवी इत्यारभ्य ध्यायन्तीव देवमनुष्या इत्यन्तेन पृथिव्यादयो हि भगवद्विभूतयः तेषाम् अचलत्वं स्थिरत्वं प्रतिष्ठा च भगवद्ध्यानबलेनैव अतोऽत्र इव शब्दः एव परकः। यत्तु प्राचीनैः पृथिवी ध्यायतीव ध्यानं कुर्वाणा इव निश्चला दृश्यते इति व्याख्यातं तदसंगतं, न च तत्र जडत्वात् ध्यानं कथमुपपन्नम्? इति वाच्यं वेदे पृथिव्या देवत्वेन स्वीकारात् तत्र विशुद्धचेतनत्वमुपपत्तेः। यथोक्तं मन्त्रवरणे, **ॐ पृथिवी त्वया धृता लोका देवि त्वं विष्णुणा धृता। त्वं च धारय मां देवि पवित्रं कुरु चासनम्।।**

न खलु जडत्वे श्रुत्युक्तप्रार्थनादिसंगच्छेत एवं पृथिवी ध्यायत्येव आन्तरिक्षम् आपः जलानि पर्वताः तदभिमानदेवताः देवाः मनुष्याश्च सर्वे दण्डकविपिनविहारिणं मैथिलां मनोहारिणं श्रीमन्दाकिनां पुलिनललितलीलाकारिणं वल्कलवसनधारिणं श्रीचित्रकूटचारिणं श्रीरामाभिधेयं ब्रह्म सर्वे प्रेमप्रवणचेतसा ध्यायन्त्येव अतएव अचलाः। तस्माद् ये मनुष्याणां मध्ये महत्तां प्राप्नुवन्ति महत्वं लभन्ते। ते ध्यानापादांशाः ध्यानस्य आपादः लाभः ध्यानापादः तस्य अंशः येषु ते ध्यानापादांशा, इव इवार्थस्तु यदि कदाचित् ते भगवद्ध्यानस्य सामग्रेणांशं प्राप्नुयुः। तदा तु स्वर्गापवर्गमपि त्रीणि कृत्य गणयेयुः भगवद्ध्यानपराः। यथोक्तं वृत्रासुरेण श्रीभागवते—

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धिरपुनर्भवं वा समञ्जसत्वाविरहय्यकांक्षे।।

(भागवत ६/११/२५)

तथैव श्रीमानसेऽपि भुषुण्डि प्राह श्रीगरुडं प्रति—

सोई सुख लवलेश बारक जिमि सपने लहयो
ते नहि गनहिं खगेस ब्रह्म सुखहिं सज्जन
सुमति। (मानस ७/८८/ख)

अथ ये अल्पा: "प्रथमचरमतयाल्पार्ध कतिपयनेमाश्च" अष्टाध्यायी १/१/३४।।

इत्यनेन सर्वनामसंज्ञा विकल्पे स्यभावे पूर्वसवर्णादिकार्यम्। क्षुद्राः क्षुद्रत्वं च भगवच्चरणारविन्दनखमणिचन्द्रचन्द्रिकापीयूषपानरूपध्यानपराङ्मुखत्वेन, तथोक्तं मानसे श्रीशिवेन,

सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि रोइ विषय अनुरागी।।

(मानस ३/३३/४)

ते महत्वं न लभन्ते यतो न ध्यायन्ति परमेश्वरम्। तर्हि कीदृशास्ते? कलहिनः क्रीयमाणकलहाः पिशुनाः परकथनसूचकाः उपवादिनः परापवादिनिरताः भवन्ति, ये च प्रभवः एतद् दोषनिरसनसमर्थः तेऽपि ध्यानापादांशा एव तस्माद् ध्यानमेव ब्रह्मबुद्ध्या उपास्व। यद्यपि ध्यानं उपासनाप्रकारः ध्येय उपास्यो भवति अतः पूर्वं फलश्रुत्या नारदं ध्यानलब्धलोकेन लोभयति, निर्लोभं च दृष्ट्वा ततो भूयसि जिज्ञासायै प्रवर्तयति।।श्रीः।।

फलश्रुतिमाह—

स यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्ध्यानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो ध्यानाद्भूय इति ध्यानाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति।।२।।

एवं यः कश्चन ध्यानं भगवद्चरणारविन्दयो पौनःपुन्येन स्मरणाम् उपास्ते स यावद् ध्यानस्य गतिः तत्र तेषु ध्यानगोचरेषु लोकेषु यथाकामचारः कामम् अनतिक्रम्य इति यथा कामं यथाकामं चरतीति यथाकामचारः यथैच्छविहरणलब्धगतिः एतद्फलं श्रुत्वापि नारदस्य मनोलोभं न प्रविवेश, यतो हि स तु स्वयमेव सकललोकेष्वव्याहतगतिः परिभ्रमत्येव। किमतो वैशिष्ट्यमिति ध्यानतो भूयस्ते जिज्ञासांश्चक्रे अस्त्यतो भूयः किमपीति समाश्वासतः सनत्कुमारेण तच्छ्रोतुकामः ब्रवीत्विति प्रार्थयते।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये षष्ठे खण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

सप्तमः खण्डः

अथ ध्यानाद् विज्ञानं भूयस्त्वेन व्याख्याति। ननु श्रीगीतासु "**ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते**" (गीता १२-१२) इत्युक्तम्। अत्र च ध्यानाद्विज्ञानं भूयस्त्वेन प्रतिपाद्यते इति महदसमञ्जसं श्रुतिस्मृत्योः? नैतद्दूषणं विषयभेदात् ज्ञानविज्ञानयोर्हि विषयभेदः अथ किं नाम ज्ञानम्? किं वा विज्ञानमिति चेदत्र प्राञ्चः ज्ञानम् आत्मानात्मविवेकः, विज्ञानं शास्त्रार्थज्ञानं तन्न मे विचारसहम्। शास्त्रज्ञानात् परमात्मज्ञानस्य श्रेयस्त्वं मा विद्वत्पामरप्रसिद्धं, वेरुपसर्गस्य च वैशिष्ठ्यमपि सार्वजनीनं तथा हि विशिष्टं विशिष्टाद्वैतसम्मतं ज्ञानं विशिष्टाद्वैतज्ञानम् अतो ज्ञानाद् विज्ञानं श्रेय इति शब्दार्थः तन्मते यदि शास्त्रज्ञानं विज्ञानम् आत्मज्ञानं च ज्ञानं तर्हि किं आत्मज्ञानात् शास्त्रज्ञानं विशिष्टम्? यदि नहि तर्हि "वि" उपसर्गस्य प्रयोजनं तैरेवालप्यतां निष्प्रयोजनं चेत् वि उपसर्गोपादानं तर्हि श्रुतिस्मृतिविरोधः परिह्रियताम्। विषयभेदमन्तरेण ज्ञानविज्ञानयोः श्रुतिस्मृतिविरोधोविधात्रापि परिहर्तुं न शक्यस्तेषां का कथा, तस्मात् ज्ञानं शास्त्रसद्गुरुकृपया संसारनिःसारत्वविवेकः। विज्ञानं हि विशिष्टं ज्ञानं तच्च विस्मृतनिःसारसंसारसम्बन्धत्वे सति परमात्मपरमाराध्यत्वनिश्चयवत्वे सति सेवकसेव्यभावेन परमात्मसम्बन्धद्रढीकरणविवेकः, इदं विज्ञानमेव ध्यानाद्भूयस्त्वेन प्रतिपादयितुमुपक्रमते। विज्ञानमित्यादि—

विज्ञानं वाव ध्यानाद्भूयो विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदꣳ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳराशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्या ꣳ सर्पदेवजनविद्यां दिवं च पृथिवीं च वायुं चाकाशं चापश्च तेजश्च देवाꣳश्च मनुष्याꣳश्च पशूꣳश्च वयाꣳसि च तृणवनस्पतीञ्छ्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलिकं धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं चान्नं चरसं चेमं च लोकममुं च विज्ञानेनैव विजानाति विज्ञानमुपास्स्वेति।।१।।

वाव शब्दौ निश्चयार्थौ विज्ञानं वाव विज्ञानमेव शास्त्रत परमात्मज्ञानं परमात्मना सह आत्मनः सेव्यसेवकभावसम्बन्धदृढीकरणम्। ध्यानात् भूयः श्रेयः कथम्? तेन विज्ञानेनैव ऋग्वेदं विजानाति, पित्र्यं पितृणा इदम् "पितुर्यत्" इत्यनेन यत् प्रत्ययः, पितृं श्राद्धकल्पं देवानां इदं दैवं देवोत्पातज्ञानम्, राशिं-गणितं वाको वाक्य-न्यायशास्त्रम्, एकायनं-एकनयनं निश्चयः यस्मिन् तदेकायनं नीतिशास्त्रम्, देवविद्यां-देवानां विद्या देवविद्या निरुक्तं संस्कृत भाषाः वा, ब्रह्मविद्यां ब्रह्मणः वेदस्य प्रतिपादनसमर्थां शिक्षा कल्पनिरुक्तः छन्दो रूपां भूतविद्यां भूतप्रेतनिग्रहक्षमः तन्त्रविद्यां, क्षत्रविद्यां-युद्धकलां, सर्पविद्यां-पिङ्गलसर्पेण भाषितां पिङ्गलाख्याम्, अथवा सर्पविषनिग्रहः क्षमां गारुडिं विद्यां, दिवं स्वर्गं एवमादीनि सर्वाणि भूतानि धर्माधर्मौ साधु असाधु सर्वं विज्ञानेनैव जानाति, अत एव षष्ठोक्तं भगवत् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति। एतादृशं विज्ञानं ब्रह्मधिया समुपास्व।।श्रीः।।

फलश्रुतिमाह—

स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते विज्ञानवतो वै स लोकाञ्ज्ञानवतोऽभिसिध्यति यावद्विज्ञानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो विज्ञानाद्भूय इति विज्ञानाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति।।२।।

एवं ब्रह्मबुद्ध्या विज्ञानमुपासिनो विज्ञानवतः परमात्मज्ञानयुक्तान्, ज्ञानवतः जगत् क्षणभङ्गुरत्वज्ञानयुक्तान् अभिसिध्यति। अनेन लोभेनापि प्रलोभ्यमानो न विचलित-मनाः नारदः ततोऽपि भूयसि जिज्ञासाञ्चक्रे सनत्कुमारोऽस्तीति आश्वासयामास, ब्रवीतु इति नारदो प्रार्थयाञ्चक्रे।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये सप्तमखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

अष्टमः खण्डः

अथ बलं विज्ञानादपि भूयस्त्वेन बलं प्रतिपादयति अत्र बलं परमात्मविज्ञान-लब्धाभयरूपां भगवत्कृपा बलं वा यथोक्तम्—

बलं बलबतां चाहं कामरागविवर्जितम्।गीता ७-११

बलं वाव विज्ञानाद्भूयोऽपि ह शतं विज्ञानवतामेको बलवानाकम्पयते। स यदा वली भवत्यथोत्थाता भवत्युतिष्ठन् परिचरिता भवति परिचरन्नुपसत्ता भवत्युपसीदन् द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवति। बलेन वै पृथिवी तिष्ठति बलेनान्तरिक्षं बलेन धौर्बलेन पर्वता बलेन देवमनुष्या बलेन पशवश्च वयांःसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलिकं बलेन लोकस्तिष्ठति बलमुपास्स्वेति।।१।।

बलं विज्ञानाद् भूयः अधिकतरं शतं विज्ञानवतः एकमेकः बलवान्, आकम्पयते चालयते यदा बली भवति भगवत्कृपाबलो भवति। तदा उत्थाता भवति परमार्थायाग्रेसरो भवति। उतिष्ठन् उपसत्ता भवति, गुरुसन्निधिं गन्तुकामाः भवति, उपसीदन् तत्त्वबोधाय गुरुसमीपे तिष्ठन् श्रोता भवति श्रवणाधिकारं प्राप्नोति, मन्ता भवति मननाधिकारी जायते, अनन्तरं विज्ञाता भवति विज्ञानपात्रतां गच्छति किं बहुना बलेनैव पृथिवी तिष्ठति एवमन्तरिक्षादयः तस्मात् बलमेव ब्रह्मदृष्ट्या उपास्व।।श्रीः।।

फलश्रुतिमाह—

स यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्बलस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो बलं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो बलाद्भूय इति बलाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति।।२।।

बलोपासनां कुर्वन् बलगोचरलोकेषु कामचारवान् भवति, येषु लोभोऽपि नारदं नालोभयत् तदा नारदः ततो भूयसि जिज्ञांसाञ्चक्रेः सनत्कुमारश्च उपदेष्टुं प्रतिज्ञातवान्।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये अष्टमखण्डे श्रीवाघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

नवमः खण्डः

अथान्नं बलतोऽपि भूयस्त्वेन वर्णयति—

अन्नं वाव बलाद्भूयस्तस्माद्यद्यपि दशरात्रीर्नाश्नीयाद्यद्युह जीवेद-थवाद्रष्टाश्रोतामन्ताबोद्धाकर्ताविज्ञाता भवत्यथान्नस्यायै द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवत्यन्नमुपास्स्वेति।।१।।

अन्नं बलतः श्रेयः, कथम्? यदि कोऽपि दशरात्रीः दशरात्री पर्यन्तं नाश्नीयात् तदा पूर्वं तु जीवनमसम्भवं यदि कथञ्चित् जीवेत् तदा अश्रोता अद्रष्टा एवं सर्वत्र अकाराप्रश्लेष्टव्य, श्रवणमननकर्तृत्वविज्ञातृत्वद्यभाववान् भवति। अन्नस्य आये प्राप्तौ श्रवणादिवान् भवति अतः अन्नं ब्रह्मदृष्ट्या उपास्व।।श्रीः।।

फलश्रुतिमाह—

स योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽन्नवतो वै स लोकान्पानवतोऽभिसिध्यति यावदन्नस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽन्नाद्भूय इत्यन्नाद् वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति।।२।।

एवम् अन्नोपासनं कुर्वन् अन्नं पानवतः लोकान् प्राप्नोति, अन्नगोचरलोकेषु कामानुसारं विहरति अस्माल्लोभादपि विरज्यमानो नारदो जिज्ञासते ततो भूयसि अतः सनत्कुमारः ततोऽपि श्रेयः समुपदिशति।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये नवमखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

दशमः खण्डः

अथ जलमन्नतो भूयस्त्वेन निर्दिशति—

आपो वावान्नाद्भूयस्यस्तस्माद्यदा सुवृष्टिर्न भवति व्याधीयन्ते प्राणा अन्नं कनीयो भविष्यतीत्यथ यदा सुवृष्टिर्भवत्यानन्दिनः प्राणा भवन्त्यन्नं बहु भविष्यतीत्याप एवेमा मूर्ता येयं पृथिवी यदन्तरिक्षं यद् द्यौर्यत्पर्वता यद्देवमनुष्या यत्पशवश्च वयाꣳसि च तृणवनष्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्ग-पिपीलिकमाप एवेमा मूर्ता अप उपास्स्वेति।।१।।

आपः जलानि अन्नात् अदनीपात् भूयस्यः श्रेयस्यः यतो हेतुमाह-यदा सुवृष्टिः शोभनवर्षणं न भवति तदा प्राणाः प्रकर्षेण अनन्ति जीवन्ति इति प्राणाः प्राणिनः अथवा प्राणाः सन्ति येषां ते प्राणाः, व्याधीयन्ते व्याधिग्रस्ता भवन्ति। अन्नं कनीयः अल्पतरं भविष्यति, अत्र लडर्थे लृट् भवतीत्यर्थः। यदा सुवृष्टिर्भवति तदा प्राणाः जीवा आनन्दिनः आनन्दशीला भवन्ति, अन्नं च बहु भवति। किं बहुना आप एव मूर्ता प्रजाः पृथिव्यादयः स्वापदानि हिंस्रपशवः कीटाश्च पतङ्गाश्च पिपीलिकाश्च इति कीटपतङ्गपिपीलिकं तदभिव्याप्य वयांसि पक्षिणः एवम् अमूर्ता सूक्ष्मः तस्मात् अप एव ब्रह्मबुद्ध्या उपास्स्व।।श्रीः।।

आपोपासना फलश्रुतिमाह—

स योऽपो ब्रह्मेत्युपास्त आप्नोति सर्वान्कामाꣳस्तृप्तिमान् भवति यावदपां गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽपो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽद्भ्यो भूय इत्यद्भ्यो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति।।२।।

यः अपः ब्रह्मदृष्ट्या उपास्ते सः सर्वान् कामान् मनोभिलषितान् आप्नोति। एवं अप गोचरलोकेषु तृप्तः सन् विहरति यथेच्छं, यतल्लोभतोऽपि निर्वृण्णो देवर्षिः ततोऽप्यधिकतरे जिज्ञासते स्म, तद् विरतिं विलोक्य सनत्कुमारः जलतोऽप्युत्कृष्ट तत्त्वमस्ति इति निरदिशत् तज्ज्ञानाय नारदः ब्रवीत्विति प्रार्थयाञ्चक्रे।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये दशमखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

एकादशः खण्डः

अथ तेजो भूयस्त्वं वर्णयति—

तेजो वावाद्भ्यो भूयस्तद्वा एतद्वायुमागृह्याकाशमभितपति तदाहुर्निशोचति नितपति वर्षिष्यति वा इति तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाथापः सृजते तदेतदूर्ध्वाभिश्च तिरश्चीभिश्च विद्युद्भिराह्लादाश्चरन्ति तस्मादाहुर्विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा इति तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाऽथापः सृजते तेज उपास्स्वेति।।१।।

तेजः अद्भ्यः जलेभ्यः भूयः अधिकतरं, तेजः वायुम् आगृह्य निगृह्य आकाशं नभोमंडलम्अभितपति ऊष्णं करोति। अत एव जनाः आहुः निशोचति बहूष्मा भवति,

अतः वर्षिष्यति मेघ इति शेषः। तत् तस्मात् पूर्वं तेजः दर्शयित्वा आत्मान अपः सृजते जलं रचयति, एवमूर्ध्वाभिः उपरिगताभिः तिरश्चीनाभिश्च परिवृताः विद्युद्भिः ह्रादाः मेघाश्चरन्ति तेजोमयशंपासंयुतत्वादिति भावः तस्मात् तेज एव ब्रह्मबुद्ध्या उपास्व इति भावः।।श्रीः।।

अथ फलश्रुतिमाह—

स यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते तेजस्वी वै स तेजस्वतो लोकान्भास्वतोऽपहततमस्कानभिसिध्यति यावत्तेजसो गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति। यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवस्तेजसो भूय इति तेजसो वाव भूयोस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति।।२।।

यः तेजसो ब्रह्मभावेनोपासनं कुरुते स भास्वतः प्रकाशमानान् अपहततमस्कान् अपहतं विनाशितं तमः येषां तथाभूतान् लोकान् तेजस्वी सन् गतं प्रशरणं यावत् अस्य यथाकामचारः यथेच्छगमनं भवति सूर्यचन्द्रात्मकं तेजो यावत्भासयते तावदेव अयं गच्छति, तस्मात् बहिर्भूते भगवद्धाम्नि नास्य गतिः, तत्र तेजसः प्रसरणासंभवात्। नं तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमाविद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः (कठ॰ १.३.१३) इतिश्रुतेः।

न तद्भासयते सूर्योनशशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।

(गीता॰ १५.६)

इति स्मृतेश्च। एवं तेजोमयलोकं प्राप्यापि नाकृष्टो नारदः, जिज्ञासते ततो भूयसि अस्तीति तेजसो भूयः किमपीति सनत्कुमारः प्राह तद्वेत्तुं नारदोऽपि भगवान् ब्रवीतु इति प्रार्थयाञ्चक्रे।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये एकादशखण्डे श्रीराघवकृपाभभाष्यं संपूर्णम्।।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

द्वादशः खण्डः

अथाकाशं तेजसो भूयत्वेन प्रतिपादयति—

आकाशो वाव तेजसो भूयानाकाशे वै सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राण्यग्नि-राकाशेनाह्वयत्याकाशेन शृणोत्याकाशेन प्रतिशृणोत्याकाशे रमत आकाशेन रमत आकाशे जायत आकाशमभिजायत आकाशमुपास्स्वेति।।१।।

आकाश: एव तेजसो भूयान् उत्कृष्टतर:, ननु अन्नत: जलं जलतस्तेज: इत्युत्कृष्टतरत्वक्रमेण तेजसोवायोर्भूयस्त्वं कथन्नोक्तम्? वायुं तेज आगृह्णाति "वायुमागृह्य" (छा० दो० उ० ७.११.१ इतिश्रुते:) तस्मात् तेज उत्पादकं सदपि तन्नियन्तुमशक्यत्वात्। न तस्मात् भूय:, अत आकाशभूयस्त्वं, आधारआधेयाद्भूयान् भवति इत्युपपादयति। उभौ सूर्याचन्द्रमसौ सूर्यश्च चन्द्रमाश्च इति सूर्याचन्द्रमसौ देवताद्वन्द्वे इत्यनेन अनङ्। विद्युत् नक्षत्राणि चपलातारका: अग्नि: इमे सर्वे तेजोमया: आकाश एव सन्ति एवं तेजोमयीवाक् (छान्दो० उ० ६.४.३) इतिश्रुते:। तेजोमयवागीधकरणेन आकाशे नाह्वयति आकारयति, परस्परमाकाशेन शब्दगुणेन कर्णविवरवर्तिना शृणोति तेनैव प्रतिशृणोति तेजोमयशब्दस्याकाशगुणत्वमेव तेजोभूयस्त्वं तस्मिन् प्रमाणयति, एवम् आकाशे रमते क्रीडति आकाशे न रमते आकाश एव न जायते अभिजायते च अंकुरात्मना तस्मादाकाशमेव ब्रह्मबुद्ध्या समुपास्व।।श्री:।।

अथ फलश्रुतिमाह—

स य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्त आकाशवतो वै स लोकान्प्रकाशवतोऽसम्बाधानुरुगायवतोऽभिसिध्यति यावदाकाशस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव आकाशाद्भूय इत्याकाशाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति।।२।।

एवमाकाशमुपासीनः आकाशवतः अवकाशयुक्तान् प्रकाशवतः तेजः सहितत्वेन परमप्रकाशमानान् असम्बाधान् जनसम्मर्दवर्जितान् बाधारहितान् वा लोकानभिसिध्यति, तस्य आकाशस्य गतिं यावत् यथेच्छचरणं भवति। अस्मादप्युपरमन् नारदोऽतो भूयसि तत्वे जिज्ञासते स्म, एतेषामपि लोकानां ससीमत्वात्। अथ सनत्कुमारः ततोऽपि भूयसे स्मरतत्वाय संकेतयति तं विज्ञातुञ्चानुरुन्धे देवर्षिः ब्रवीत्विति।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये द्वादशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं संपूर्णम्।।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

त्रयोदशः खण्डः

अथ स्मरतत्वं निरूपयति— स्मरणं स्मरः पचादित्वात् अच्। उपास्यमानोऽयं जगद्विस्मरणपूर्वकः भगवन्नामरूपलीलाधामस्मृत्याकारः कारामिमां विहिनस्ति—

स्मरो वावाकाशाद्भूयस्तस्माद्यद्यपि बहव आसीरन्नस्मरन्तो नैव ते कञ्चन शृणुयुर्न मन्वीरन्न विजानीरन् यदा वाव ते स्मरेयुरथ शृणुयुरथ मन्वीरन्नथ विजानीरन् स्मरेण वैपुत्रान्विजानाति स्मरेण पशून् स्मरमुपास्स्वेति।।१।।

स्मरः स्मरणम् आकाशाद्भूयः भूयानिति वक्तव्ये भूय इति निर्देशस्तु "व्यत्ययो बहुलम्" इति सूत्रेण क्लीबत्वम्। व्यत्त्ययात् कथं स्मरः उत्कृष्टतरः इत्युच्यते? कुत्रचित् बहवः जनाः आसीरन् तिष्ठेयुः यदि न स्मरेयुः तर्हि न शृणुयुः नवामन्वीरन् स्मरणमनना भाववन्तो भवेयुरिति भावः तदसत्वे च तदवन्तो भवेयुः स्मरेण स्मरणेनैव पुत्रान्पशून् भगवच्चरित्रादिकं विजानाति अतस्मरमेव ब्रह्मबुद्ध्या उपास्व।।श्रीः।।

फलश्रुतिमाह—

स यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्ते यावत्स्मरस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति

भगवः स्मराद्भूय इति स्मराद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति।।२।।

एवं स्मरमुपासीनो यावत्स्मरणगोचरं।
यथेच्छचारी स्याल्लोकादतो नैव प्रलोभितः।।
ततो भूयसि जिज्ञासाञ्चक्रे देवर्षिरादरात्।
सनत्कुमारोस्त्याहेति सोऽनुरुन्धे ब्रवीत्विति।। श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये त्रयोदशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं संपूर्णम्।।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

चतुर्दशः खण्डः

अथाशां वर्णयति—

आशा वाव स्मराद्भूयस्याशेद्धो वै स्मरो मन्त्रानधीते कर्माणि कुरुते पुत्रांश्च पशूंश्चेच्छत इमं च लोकममुं येच्छत आशामुपास्स्वेति।।१।।

आशा स्मरादपि भूयसी उत्कृष्टतरा, यतोहि आशया इद्धः आशेद्धः आशया समृद्धमनाः स्मरः स्मरणशीलः मन्त्रानधीते परलोकाशयैव मन्त्रग्रामं पठति, एवं तद्विहितकर्माणि कुरुते आशयैव शुभपरिणामस्य पुत्रान्पशून् लोकं परलोकं येच्छीत अभिलषति। तस्मादाशामेव ब्रह्मबुद्ध्या उपास्व ब्रह्मभावनापन्ना सती एषैवाशा परिकलित श्रीमद्राघवेन्द्र शरन्मृगाङ्कमुखसंदर्शनाभिलाषा भग्नसकलभीषणभवपाशा नाशाय कल्प्स्यते दुरन्तभवबन्धननाशाय।।श्रीः।।

अथ फलश्रुतिमाह—

स य आशां ब्रह्मेत्यु पस्त आशयास्य सर्वे कामाः समृद्ध्यन्त्यमोघाः हास्याशिषो भवन्ति यावदाशाया गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति य आशां ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव आशाया भूय इत्याशाया वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति।।२।।

आशां ब्रह्मेत्युपासीनस्य आशयैव ब्रह्मभूतया सर्वे कामा मनोऽभिलषितपदार्थाः समृद्ध्यन्ति समृद्धाः भवन्ति। अमोघाः आशिषः सफलाः शुभाकांक्षाः एवम् आशागोचरलोकेषु तस्य यथेच्छगमनं, इतोऽपि न लोभवशीभूतो नारदस्ततोऽपि भूयसि जिज्ञासते। भगवः इत्यादिना सनत्सुमारः आशाया अपि समधिकं श्रेष्ठं किमपि अस्ति इति प्राह नारदः भगवान् तदेव ब्रवीतु इति प्रार्थयते स्म।

इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये चतुर्दशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं संपूर्णम्।।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

पञ्चदशः खण्डः

अथ पञ्चदशप्राणतत्वं निरूपयति—

प्राणो वा आशाया भूयान्यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन्प्राणे सर्वꣳ समर्पितम्। प्राणः प्राणेन याति प्राणः प्राणं ददाति प्राणाय ददाति। प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः।।१।।

प्राणः आशाया अप्यपेक्षया प्राणः भूयान् उत्कृष्टतः यथा अराः रथस्य नाभौ समर्पिताः तथैव इदं सर्वं चराचरं प्राणे समर्पितमाश्रितं, प्राणेनैव जीवनभूतेन प्राणः प्राणति इति प्राणः, प्राणवान् याति संसारयात्रां करोति प्राणाः प्राणाय प्राणभृते ददाति

प्राण एव माता पिता भ्राताष्वसा आचार्यो ब्राह्मण: वात्सल्यपालकत्वरक्षकत्वममत्व-ज्ञानदातृत्वपूज्यत्व विशिष्ट: प्राण एव। प्राणमन्तरेण सकलव्यवहारानुपपत्ते:।।श्री:।।

प्राणत्वमुपपादयति—

स यदि पितरं वा मातरं वा भ्रातरं वा स्वसारं वाचार्यं वा ब्राह्मणं वा किञ्चिद्भृशमिव प्रत्याह धिक्त्वास्त्वित्येवैनमाहुः पितृहा वै त्वमसि मातृहा वै त्वमसि भ्रातृहा वै त्वमसि स्वसृहा वै त्वमस्याचार्यहा वै त्वमसि ब्राह्मणहा वै त्वमसीति।।२।।

यदि कदाचित् कोऽपि मातृपित्र्यादीन् प्रति भृशं कठोरमाह तदाधिक्कारे पितृहा इत्यादि कथयित्वा तं धिक्कुर्वन्ति। मातरं हन्ति इतिमातृहा प्राणवत्स्वेतेषु कठोरवाक्येऽपि तन्मरण समक्लेशो भवति।।श्री:।।

तद्व्यतिरेकपरिणाममाह—

अथ यद्यप्येनानुत्क्रान्तप्राणाञ्छूलेन समासं व्यतिषंदहेन्नैवैनं ब्रूयुः पितृहासीति नमातृहासीति न भ्रातृहासीति न स्वसृहासीति नाचार्यहासीति न ब्राह्मणहासीति।।३।।

अथ यदि उत्क्रान्तप्राणा उत्क्रान्त: प्राण: येषां तथाभूतान् प्राणरहितान् यदि शूलेनापि समासं छिन्नं छिन्नं कृत्वा व्यतिषंदहेत् व्यस्तं कृत्वा वा भस्मसात् कुर्यात्, तथापि कोऽपि मातृहा इत्यादि न कथयति तस्मान्मातृपित्रित्यादि निर्देश: प्राणसत्वएव।।श्री:।।

प्रकरणपरिशेषमाह—

प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति तं

चेद्ब्रूयुरतिवाद्यसीत्यतिवाद्यस्मीति ब्रूयान्नापह्नुवीत।।४।।

ह निश्चयेन प्राणः एव एतानि नामादीन्याशापर्यन्तानि भवति, एतान्यभिव्याप्य वर्तते। एतेषां तत्रैव गन्तव्यत्वात् तस्मात् प्राणमयानि एतानि पश्यन् प्राणमेव मुख्यं मन्वानः अतिवादी भवति वादं तत्वबुभुत्साम् अतिक्रामति तच्छीलः यदि कोऽपि एनम् अतिवादीतिक थयति तदायं न अपह्नुवीत न गोपयेत्।।श्रीः।।

इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये पञ्चदशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं संपूर्णम्।।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

षोडशः खण्डः

एवं वादाति क्रमणकथां श्रुत्वा प्राणमेव परमं तत्वं मन्वानः आत्मानञ्चातिवादिनं विनिश्चित्वानो यदा तत्वबुभुत्सातो विरंस्यन् न कामपि जिज्ञासामाविश्चकार विनिश्चिकाय यत्—

ऋग्वेदादिनामैव नाम ब्रह्मेति विश्रुतं।
नामतोभूयसी वाणी वाचो भूयो मनः श्रुतम्।।
संकल्पो मनसो भूयान् चित्तं भूयस्ततः श्रुतम्।
विज्ञानं च ततो भूयस्तस्माद्ध्यानमुदाहृतम्।
भूयस्तस्माद्बलं भूयः अन्नं भूयः ततः स्मृतम्।
तत आपस्तु भूयस्य ततो भूयस्तु तैजसम्।।
आकाशस्तु ततो भूयः ततो भूयस्मरः स्मृतः।
आशा च भूयसी तस्मात् भूयान्प्राणः ततः श्रुतः।।
प्राण एव परं तत्वं नातोभूयोऽस्ति किञ्चन।
तं जानन्नतिवादी स्यात् जिज्ञासात उपारमत्।।

एवं शिष्यं नारदं सद्ग्राहयितुं षोडशं नामादि प्राणान्ततः सर्वतोऽपि सूक्ष्मतरं सत्यं समुपदिदिक्षुराह—

एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानीति सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति सत्यं भगवो विजिज्ञास इति।।१।।

सनत्कुमारः प्राह-वत्स नारद! प्राणोपासनेनैव त्वमात्मानमतिवादिनं मन्यसे जिज्ञासातश्च व्यरंशीः नैतत्पर्याप्तम्। एषः यः पुरुषः अतिवदति स तु सत्येन सदेव सत्यं तेन परमात्मना समनुगृह्णता अतिवदति। तर्हि कथमुक्तं भवतैव यत् **एष एवं पश्यन् मन्वानोऽति वादी भवति** (छान्दोग्य उप० ७/१५/४) इति नाभिप्रायं मदीयं समवगतवान् भवान् सर्वेषां स्थूलानां नामाद्याशान्तानां पदार्थानामपेक्षया प्राणो भूयान्। किन्तु सत्यं ततोऽपि भूयः सर्वतो भूयिष्ठं सत्यम्। ननु पूर्वत्र सनत्कुमारेणैव प्राणतो भूयः सत्यमिति कथं नोक्तम्? अतिवादतो पूर्वेभ्यः चतुर्दशलोकेभ्यः प्रत्येकफलश्रुतिनिदर्शनावसाने नारदं निर्लोभं जिज्ञासमानं च निरीक्ष्य त्वरितमेव ततो भूयांसि तत्वानि प्राह किन्त्वतिवादेन लोभितं प्रशान्तजिज्ञासं प्रति सनत्कुमारः कथं ब्रूयात् **नापृष्ठः कस्यचित् ब्रूयात्** इति स्मृतेः। साम्प्रतं कथं ब्रवीति इति चेत्? अतिवादमेव परं लक्ष्यं मन्यमानस्य सत्यं समयागतस्य नारदस्य अवशिष्टैकमात्रसोपानातिक्रमस्य समधिकहितचिकीर्षया नारदकारुण्यवशंवदो भगवान् सद्गुरुमौलिमणिः सनत्कुमारः सत्यमेव परमं लक्ष्यं निर्दिधारयिषन् सत्येनेति अतिवाद हेतुं परं लक्ष्यमाह। तदा नारदो भग्नलोभसोपानः सत्यं जिज्ञासमान आह, भगवः अहं सत्येनैव अतिवदानि इच्छार्थे लोट्। सत्येन हेतुना अतिवदितुमिच्छामि इत्युक्तः सनत्कुमारः प्राह, तर्हि सत्यं विजिज्ञासितव्यम्, अधुना यावत् असत्यमेव जिज्ञासितवान् असि। तर्हि प्रथममेव नारदं कथं न न्यषेधीत् सनत्कुमारः? असत्यनिदर्शनेन सत्यं दर्शितं भवति शाखादर्शनेन चन्द्रदर्शनमत एव प्राह श्रीहरिः **उपायाशिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः। असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते।।** (वाक्यपदीय

वाक्यकाण्ड) एवं समुदितजिज्ञासो नारदः प्रार्थयत्-भगवः। सत्यं विजिज्ञासे सत्यविषयिणीं जिज्ञासां करोमि। इति शब्दः जिज्ञासाकारसूचकः।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये षोडशे खण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

सप्तदशः खण्डः

तस्यापि सत्यस्य जिज्ञासाया पूर्वं कानिचित् जिज्ञासितव्यानि सन्ति, यानि द्वाविंशखण्डं यावत् क्रमशो निरूपयिष्यन् तत्प्रथममाध्यममाह, न प्रथमं सत्यमेव प्रत्युत् तदन्तरङ्गंभूतं विज्ञानमुपपत्तिमाह—

यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदति नाविजाननसत्यं वदति विजानन्नैव सत्यं वदति विज्ञानं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति विज्ञानं भगवो विजिज्ञास इति।।१।।

वै निश्चयेन यदा कोऽपि सदेव सत्यं सद्भ्यो हितं वा सत्यं सताम् इदं सम्बन्धिभूतं सेव्यं सत्यं वदति व्याख्याति **वदस्थैर्ये** निजहृदये स्थिरं करोति। तदा विजानन्नेव विज्ञानविषयं कुर्वन्नेव सत्यं वदति, अविजानन् यदि स्वयमेव परमात्मानं निजसेव्यत्वेन नाध्यवस्थिति नाध्यवस्यति तदा ततोऽसत्यभूतान् पावकादीनेव सत्यत्वेन व्याख्याति। यदा विजानाति त्रिवृत् करणमाध्यमेन त्रयाणां रूपाणामेकीभावम् अग्नित्वं व्यस्तेषु तेषु नाग्निन वा परमार्थतस्तानि इति विज्ञानविधिजानन्सत्यं वक्ष्यति। तस्मात् सत्यसहकारी सत्यपूर्वरूपं वा विज्ञानं विजिज्ञासितव्यं स तथैव प्रतिजानीते।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये सप्तदशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

अष्टादशः खण्डः

अथ मतेर्जिज्ञासितत्वं निरूपयति—

यदा वै मनुतेऽथ विजानाति नामत्वा विजानाति मत्वैव विजानाति मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति। मतिं भगवो विजिज्ञास इति।।१।।

यदा कोऽपि मनुते मननं करोति तदैव विजानाति विज्ञानवान् भवति, अमत्वा मननमकृत्वा न विजानाति न विज्ञानवान् भवति। अतो निश्चितं मत्वैव विजानाति मननं कृत्वैव विज्ञानवान् भवति। मतिस्त्वेव तु शब्दो हेत्वनुवादकः यतो हि विज्ञानं नामननपूर्वकं तस्माद्त्तदुपलब्धये मतिः विजिज्ञासितव्या विशेषजिज्ञासाविषयीकरणीया। नारदस्तथैव जिज्ञासां प्रतिजानीते। एवं सत्योपलब्धये विज्ञानं विज्ञानोपलब्धये च मननापरपर्याया मतिः अपेक्ष्यते।।श्रीः।।

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये अष्टादशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

एकोनविंशः खण्डः

अथ किं मूलिकामतिरित्याह—

यदा वै श्रद्दधात्यथ मनुते नाश्रद्दधन्मनुते श्रद्दधदेव मनुते श्रद्धा त्वेव विजिज्ञासितव्येति। श्रद्धां भगवो विजिज्ञास इति।।१।।

श्रद्धा नाम आस्तिकबुद्धिः यदा श्रद्दधाति लोकपरलोकयोः आस्तिकबुद्धिं करोति तैदव मनुते श्रुतविषयाणां मननं कुरुते, तदैव विजानाति। तदैव सत्यं वदति तदैवातिवादी भवति। अश्रद्दधत् अश्रद्धालुः न मनुते नैव श्रौतार्थमभ्यसति। किं तर्हि? श्रद्दधदेव

मनुते आस्तिकबुद्धिं कुर्वाण एव श्रुतमभ्यसति, तु अतो हेतोः मननोपलब्धये श्रद्धैव विजिज्ञासितव्या तथेति प्रतिज्ञाय तामेव जिज्ञासते।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये एकोनविंशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

विंशः खण्डः

अथ किं पूर्विका श्रद्धा इत्यत आह निष्ठैव श्रुतिविहितः देवतायां समाराध्यत्व निश्चयोनिष्ठा—

यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्दधाति नानिस्तिष्ठञ्छ्रद्दधाति
निस्तिष्ठन्नेव श्रद्दधाति निष्ठा त्वेव विजिज्ञासितव्येति।
निष्ठां भगवो विजिज्ञास इति।।१।।

निष्ठाया पूर्वभावो हि श्रद्धा प्राप्तावपेक्ष्यते।
अनिस्तिष्ठन् कथं श्रद्धां कुर्यात् तस्माद्धि विद्धि ताम्।।

नारदः तामेव जिज्ञासते। एवं सत्योपलब्धये विज्ञानं, तदुपलब्धये मननं, तदुपलब्धये श्रद्धाः तदुपलब्धये च निष्ठेति क्रमः, निष्ठा नाम परमाराध्यदेवतायां मनसोऽवधान-निश्चयः।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये विंशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

एकविंशः खण्डः

अथ किं पूर्विका निष्ठा इति वर्णयति—

यदा वै करोत्यथ निस्तिष्ठति नाकृत्वा निस्तिष्ठति
कृत्वैव निस्तिष्ठति कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति।
कृतिं भगवो विजिज्ञास इति।।१।।

कृतिर्नाम भगवन्नामरूपलीलाधामरससमुचितसत्सङ्ग सद्गुरोपसत्तिपूर्वकभागवत-धर्मानुष्ठानम्। यदा करोति तदैव निस्तिष्ठति, ज्ञेयवस्तुनि निश्चयपूर्वकमास्थावान् भवति। तदनुकूलमाचरणमकृत्वा न निस्तिष्ठति, तदभावे श्रद्धारहित: तन्मूलकमननाभावे विज्ञानविहितो: नैव सत्यं प्रतिपत्त्वं प्रभवति। ततो कृति: विजिज्ञासितव्या, नारदस्तथैव विजिज्ञासां प्रतिशृणोति।।श्री:।।

इति छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये एकविंशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

द्वाविंशः खण्डः

अथ कृति: किं मूलिका? इत्यत आह—

यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति नासुखं लब्ध्वा करोति सुखमेव लब्ध्वा करोति सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति सुखं भगवो विजिज्ञास इति।।१।।

यदा कोऽपि सुखं लभते तदैव करोति यदि भोजनेन क्षुच्छान्तिरूपं सुखं न लभेत तदा पामरोऽपि भोजनकरणे न प्रवर्तेत। अत: सर्वेऽपि प्राणी परिणामसुखार्थमेव कर्म करोति। एवम् अलब्ध्वा सुखं न कोऽपि कर्म करोति। किं तर्हि:? करणकालेऽपि सुखमनुभवति तत्समकालमेव कर्म करोति। अत: सर्वव्यापारसाधकं सुखमेव विजिज्ञासितव्यम्। एवं नारद: प्राह: भगवन् सुखं विजिज्ञासे इति जिज्ञासाप्रकार-सूचकम्।।श्री:।।

इति छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये द्वाविंशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

त्रयोविंशः खण्डः

एवम्—

पूर्वं कृतिस्ततो निष्ठा, ततश्श्रद्धा ततो मतिः।
ततो विज्ञानमित्याहुः ततः सत्यं समश्नुते।।
सुखार्थ वै कृतिर्नूनं, सुखं भूमा इहोच्यते।
सत्यादित्वचोभूमान्तं जिज्ञासाष्टकमीरितम्।।

एवं भूमैव सुखदिमेव जिज्ञासितव्यम्, इदमेव सत्यमे तस्मिन् ज्ञाते कृतिः तदनुनिष्ठाः तदनुश्रद्धाः तदनुमतिः तदनुविज्ञानं तदनुसत्यं सत्ये ज्ञाते न किमपि विजिज्ञासितव्यमवशिष्यते इति हार्दम्। अथ मुख्यं जिज्ञास्यं वृणोति अस्मिन् ज्ञाते सुखं ज्ञातं तदनु कृत्यादयः षट् स्वयमेव ज्ञाताः भविष्यन्ति। अतः तदेव निरूपयति—

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति। भूमानं भगवो विजिज्ञास इति।।१।।

वै निश्चयेन यः भूमा अतिशयेन बहु यस्मिन्नकोऽप्यधिकतरः स एव निरस्त-समस्तदूषणोरणनिहतखरदूषणो लङ्काधिष्ठितविभीषणो मैथिलीहृदयभूषणो रघुवंशभूषणो भगवान् श्रीराम एव परब्रह्म भूमा, स एव सुखं भूम्नि निरवध्येव सुखम्। अल्पे सावधिके जगति सुखं न अस्ति न विद्यते। तस्मात् भूमैव सुखम्। अनुकूलवेद-नीयत्वात्, तु अत एव भूमा एव नान्यः जिज्ञासितव्यः जिज्ञासाविषयः कर्तव्यः। नारदः प्राहः भगवः भूमानम् एव निरतिशयं सुखं विजिज्ञासे विशेषेण ज्ञातुमिच्छामि विज्ञाते हि सत्यमनुभविष्यते तदाहं परमार्थतोऽति वदिष्यामि।।श्रीः।।

इति छन्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये त्रयोविंशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

चतुर्विंशः खण्डः

अथ भूम्नः स्वरूपं प्रतिपादयति—

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति सभूमाथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्। स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति। स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति।।१।।

यत्र यस्मिन् भूम्नि साक्षात्कृते सति प्रमाता ततः अन्यन्न पश्यति, सर्वत्र भगवन्तमेव पश्यति यथोक्तं मानसे—

सरग नरक अपवर्ग समाना
जहं तहं दीख धरे धनुबाणा

—मानस २-१३१-७

यत्र च नान्यत् शृणोति श्रोता, यत्र च नान्यद्विजानाति तमेव विज्ञानविषयी करोति विज्ञाता, सः एव भूमा। अत्र क्रियापदेन कर्ता आक्षिप्यते। यत्र शब्दश्च सप्तम्यन्तः एवं द्रष्टादृश्यश्रोतृश्रव्यविज्ञातविज्ञेयविभागस्य स्पष्टं सिद्धत्वात् जीवब्रह्मणोर्द्वैतं स्वरूपतः सिद्धम्। अन्यच्छब्दः भूमावधिकव्यावृत्तिप्रतिषेधवाचकः, स एव भूमा यत्र द्रष्टा स एव दृश्यते, श्रोत्रा स एव श्रूयते, विज्ञात्रा स एव विज्ञायते। अथ ततो विलक्षणो यः जीवः तदल्पं तल्लक्षणं करोति। यत्र अन्यज्जानाति, अन्यच्छृणोति, अन्यत्पश्यति तदल्पम् इत्थं ततोदन्यदर्शन् श्रवणविज्ञानाभावयुक्ते परमात्मनि भूमत्वात् सुखं तद्वज्जीवे अल्पत्वाद् दुःखम् इत्यनेन जीवब्रह्मणोर्भिदा स्पष्टमुक्ता यदुक्तं द्वैते संसारेवन्धनं तन्न, वस्तुतस्तु द्वैते सेवकसेव्यभावेन भवबन्धनभञ्जनमेवं विधः यः भूमा निरतिशयसुखस्वरूपः तदमृतं मृतभिन्नम्। अथ एतद्व्यतिरिक्तं यत् अल्पं तत् मर्त्यं मरणधर्मोपेतं शरीरावच्छेदेन। एवं विज्ञातभूमास्वरूपः। नारद प्राहहे भगवः सः भूमासुखामृतस्वरूपः कस्मिन् प्रतिष्ठितकुत्र लब्धप्रतिष्ठस्तिष्ठति। इति इत्थं पृष्ठः सनत्कुमारः प्राह-स्वे महिम्नि निज महिममयविभूतिषु पृथिव्यादिषु भक्तहृदयेषु साकेतगोलोकवैकुण्ठादिषु। किं पूर्णतया उताहो अंशेन?

अंशेनेत्याह पूर्णतया नैव अत आह यदि वा पूर्णताभिप्रायेण तु न महिम्नि सर्वाधारत्वात् सः कुत्रापि न प्रतिष्ठितः, इति उत्तरसमाप्तिसूचना॥श्रीः॥

भगवन्महिमानमाह—

गोअश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यं दासभार्यं क्षेत्राणयायतनानीति नाहमेवं ब्रवीमि ब्रवीमीति होवाचान्यो ह्यन्यस्मिन्प्रतिष्ठित इति॥२॥

इह अस्मिन् लोके गोअश्वं गवाम् अश्वानां च समाहारः, हस्तिसहितं हिरण्यं सुवर्णंक्षेत्राणि भूमिपरिसराणि आयतनानि इत्येव महिमा आचक्षते। अहमेव न ब्रवीमि। यतो हि इमानि फल्गूनि भगवच्छरीराणि च अन्यः अन्यस्मिन् प्रतिष्ठितो भवति, गवादयोऽपि भगवद्रूपाणि कुत्र तर्हि? भक्तहृदयेषु भगवान् प्रतिष्ठापूर्वकं तिष्ठति॥श्रीः॥

इति छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये चतुर्विंशः खण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्॥

॥श्रीराघवः शन्तनोतु॥

पञ्चविंशः खण्डः

अथो भूम्नः सर्वत्र सद्भावप्रतिपादनपुरःसरं देशविशेषप्रतिष्ठां निरष्यति। तर्हि किं स्वेमहिम्नीति श्रुतिवाक्यमप्रमाणमिति चेत्? न स्वे महिम्नीति रामकृष्णादिसगुणरूपाभिप्रायेण न महिम्नीति सर्वव्यापकत्वाभिप्रायेण इत्युभयं समञ्जसम्—

स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स पश्चात्स पुरस्तात्स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदꣳ सर्वमित्यथातोऽहङ्कारादेश एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदꣳ सर्वमिति॥१॥

स: सर्वत्र अधस्तात् नीचैः उपरिष्टात् उपरि पश्चात् पश्चिमे, पुरस्तात् पूर्वस्मिन् विभागे, दक्षिणतः दक्षिणस्यां दिशि, उत्तरतः उत्तरे वामे इदं सर्वं चराचरं स एव परमात्मा स्वस्वरूपभूतं निर्माय तिष्ठति, अतएव तस्य अहङ्कारादेशः अहमित्यादि।।श्रीः।।

अथ आत्मादेशं तद् ज्ञानफलं तद्विपर्ययं च प्राह—

अथात आत्मादेश एव आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदꣳ सर्वमिति। स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। अथ येऽन्यथातो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषाꣳ सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति।।२।।

एवमेव आत्मादेशः, आत्मशब्दः परमात्मपरः आप्नोति व्याप्नोति इति व्युत्पत्तेः। अधः ऊर्ध्वं चतसृषु दिक्षु सर्वत्र आत्मैव इदं चराचरम् आत्मैव आत्मनः परमात्मनः परिणामभूतम्। एवम् पश्यन् मन्वानः विजानन् श्रवणमननविज्ञानेन स्वातिरिक्तं सर्वत्र परमात्मभावं विभावयन् आत्मरतिः आत्मनि परमात्मनि रतिः रमणं यस्य तथा भवति, आत्मक्रीडः, आत्मना परमात्मना सह क्रीडति विहरति साकेतलोके यः सः आत्मक्रीडः आत्म इव मिथुनं सहचारी यस्य, अथवा आत्मा परमात्मा पुनश्चात्मा, जीवात्मा तयोः आत्मनोः मिथुनं मङ्गलमयमिलनसुखं यस्मिन् तथाभूतम्। एवम् आत्मानन्दः जीवात्मा परमात्मा संयोगजनितआनन्दः यस्मिन् तथाभूतः, स्वराट् स्वानां वशीकृतानामिन्द्रियाणां राजा, अथवा स्वेन परमात्मना हेतुभूतेन राजते दिव्यतः इति स्वराट्। तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारः ये एतद् अन्यत् विपरीतं जानन्ति ते अन्यराजानः अन्ये कामक्रोधादयः राजानः शासका येषां तथाभूताः, तेषां कुत्रापि कामगमनं न भवति, अत्रैव जायन्ते म्रियन्ते। तेषां लोकापि क्षय्याः पाप्मना कुठारभूतेन क्षेत्तुं शक्या ये लोकाः येषां ते क्षय्यलोकाः।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये पञ्चविंशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

षड्विंशः खण्डः

अथ आत्मज्ञानफलं वर्णयति—

तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आशात्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मत आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्नमात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यानात्मतश्चित्तमात्मतः सङ्कल्प आत्मतो मन आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मन्त्रा आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेदꣳ सर्वमिति।।१।।

एवम् आत्मभूतस्य श्रवणमननविज्ञानवतः आत्मत एव आत्मनः सकाशादेव पूर्वोक्ताः प्राणाशास्मरतेजोजलान्नबलविज्ञानचित्रसङ्कल्पमनोवाङ्नाममन्त्रकर्माणि इदं सर्वम् आत्मनः सकाशादेव सम्पद्यते।।श्रीः।।

फलश्रुतिं वर्णयति—

तदेष श्लोको न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताꣳ सर्वꣳह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश इति। स एकधा त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादशः स्मृतः शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विꣳशतिराहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षस्तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान्सनत्कुमारस्तꣳ स्कन्द इत्याचक्षते तꣳ स्कन्द इत्याचक्षते।।२।।

एवं पश्यतीति पश्यः सर्वमात्मत्वेन पश्यन् विद्वान् मत्युं प्राणवियोगंरोगान् त्रिविधांस्तापान्, दुःखतां प्रतिकूलवेदनीयतां न पश्यति। सर्वं पश्यति सर्वशः, सर्वेभ्यः

सर्वमाप्नोति, स एव एकधा जीवः भगवत्सेवकरूपः, त्रिधा पृथिवी जलतेजोमयः, पञ्चधा पञ्चभूतात्मा सप्तधा सप्तधात्ववच्छिन्नः नवधा भगवत्सेवोपयोगि-नवद्वारशरीरावच्छिन्नः पुनः एकादशः समनस्कदशेन्द्रियः सम्पन्नः भगवद्गुणगणा स्वादोपयोगिशरीरः, चकारेण बुद्ध्यहङ्कारचेतोऽवच्छिन्नः, स्मृतः भगवता निजपरिकरार्थं पौनःपुन्येन स्मृतिपथं नीतः। विंशतिः पञ्चभूतपञ्चप्राण पञ्चतन्मात्रपुरुषार्थचतुष्टये भगवद् भजनेति विंशतिसंख्यासम्पन्नः, शतं दशसहस्रं सहस्र नाडी संयुतः सहस्राणि अनन्तरूपाणि भगवत् सेवापयोगीनि बिभर्ति। भगवत् सेवार्थं शुद्धिक्रममाह-आहारशुद्धौ आहरन्ति मनः इति आहाराः इन्द्रियाणि, यथोक्तं गीतासु—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावभिवाम्भसि

गीता २-६७

तेषामिन्द्रियाणां शुद्धिः भगवत् सेवोपयोगेन, तथा हि— चक्षुषो रूपदर्शनेन श्रोत्रस्य कथाश्रवणेन, नासायाः भगवदर्पितपुष्पपरिमलघ्राणेन, त्वचः भगवत् पदपद्मस्पर्शनेन, रसनायाः भगवन्नैवेद्यभोजनेन, वाचो भगवद् गुणगानेन, हस्तयोः भगवन्निमित्तकर्मानुष्ठानेन, पादयोः भगवद् धामगमनेन, पायूपस्थयोः भगवद्भजनप्रतिबन्धक-मलमूत्रविसर्जनेन, मनसः भगवद् विग्रहध्यानेन, बुद्धेर्भगवद् गुणगणाध्यवसायेन, अहङ्कारस्य भगवत्स्वामित्वाभिमानेन, चेतसो भगवच्चरणारविन्दचिन्तनेन, एवमाहारशुद्धौ आहाराणां चतुर्विधानां भक्ष्यादीनां भगवन्नैवेद्यसमर्पणरूपशुद्धौ शास्त्रविहितभोजनप्रतिक्रिया जनितपुण्येन शुद्धौ सत्त्वरूपभावस्य शुद्धिर्जायते। अथवा सीदति परमात्मना सह तिष्ठति हृदये यः सः सत्त्वः जीवात्मा तस्य शुद्धिः सत्त्वशुद्धौ, ध्रुवास्मृतिः भगवद् भक्तिरूपा भवति अविच्छिन्नभगवच्चरणारविन्दध्यानस्मृतिलम्भे स्मृतेः लम्भः भगवच्चरणारविन्दसन्निधानमिति स्मृतिलम्भः तस्मिन् सति सर्वग्रन्थीनां त्रिगुणात्मिकानां विकारात्मिकानां च प्रमोक्ष्य सार्वकालिको विनाशः, इदं मृदितकषायाय मृदिताः विनाशिताः कषायाः कामक्रोधादयो यस्य सः मृदितकषायः तस्मै नारदाय तमसः अज्ञानस्य पारम् अज्ञानसागरस्य तटं भगवान् षडैश्वर्यसम्पन्नः सनत्कुमारः दर्शयति निदर्शयामास। सः सनत्कुमारः स्कन्दः स्कन्दयति कामक्रोधादीन् नाशयति इति स्कन्दः आचक्षते तं विद्वांसः कथयन्ति द्विरुक्तिरादरार्था अध्यायसमाप्तिसूचिका च।।श्रीः।।

यत्पादपाथोजपरागराग मधुव्रतो नारद आप्तबोधः।।
अज्ञानसिन्धोश्च जगाम पारं सनत्कुमाराय नमोऽस्तु तस्मै।।

इति छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये षड्विंशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

इति श्रीचित्रकूटनिवासिसर्वाम्नायश्रीतुलसीपीठाधीश्वरश्रीमज्जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामभद्राचार्यमहाराजप्रणीते श्रीराघवकृपाभाष्येछान्दोग्योपनिषदिसप्तमाध्यायः सम्पूर्णः।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

अष्टमोऽध्यायः

।।प्रथमः खण्डः।।

प्रभुरपहतपाप्मा विज्वरो यो विमृत्यु-
र्नृपतिरथविशोको योऽजिघित्सोऽपिपासः।
गुणनिधिरभिरामः सत्यकामः स रामो
जयति जगदधीशः सत्यसङ्कल्प एषः।।

समस्तकल्याणगुणाभिरामः संसारपाथोधिविपद्विरामः।
लोकाभिरामोऽवतु पूर्णकामः सीताभिरामः सगुणः स रामः।।

निर्गुणं सगुणं ब्रह्म यं सदा श्रुतयो जगुः।
तमष्टमेष्टसंयुक्तं मुक्त्वा नांशरणं श्रये ।।

अथषष्ठसप्तमयोः श्रुतिभिरनेकाभिरुपपत्तिभिः नव कृत्वः श्वेतकेतूपदेशच्छलेन "तत्वमसि श्वेतकेतो" इति नवधा समाम्नातमन्त्रेण **"यो वै भूमा तत्सुखं"** (छ. उ. ७,२३,१) "यो वैभूमातदमृतम" (छा. उ. ७,२४,१) इत्यादि ब्रह्मस्वरूप प्रतिपादनपरैर्नैकश्रुतिसकलैः सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तै.उ. २.४.१) इत्यादिभिश्च श्रुतिभिः यो निरस्तसमस्तहेयगुणप्रत्यनीकत्वेन समनन्तसमस्तप्रणतश्रेयोविधित्सु सौन्दर्यैश्वर्यमाधुर्यशौर्यसौशील्यसारव्यसौलभ्यवात्सल्यपतितपावनत्वदीनबन्धुत्वप्रभृतिलोकोत्तरदिव्यगुणानां नित्याश्रयत्वेन प्रत्यपादि। तमेव भूयोऽष्टमे तमालनीलं हृदयदेशे समाराध्यत्वेन महितप्रतिष्ठं प्रमाणयितुं श्रुतिरारभते प्रपाठकंमष्टमम्। ननु सर्वव्यापकस्य भगवतः आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मापश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदः सर्वमिति। (छान्दोग्य उपनिषत् ७.२५.२) इत्यादिश्रुतेः। सर्वमयस्य हृदयैकदेशपरिकल्पनायां श्रुतेरप्रामाण्यपूर्वकव्यापकत्व व्या घातापत्तिरिति चेन्न **"अणोरणीयान् महतोमहीयान् आत्मास्य जन्तुर्निहितोगुहायां तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान् महिमानमात्मनः"** (कठ १.२.२०) इत्यादिश्रुतेः। सकलविरुद्धधर्माश्रयत्वेन भगवत्येककालावच्छेदेन व्यापकत्वव्याव्यत्वेतिपरस्परविरुद्ध-धर्मद्वयवत्वनिधानत्वेनादोषात्। अत एव पठन्ति यत्सर्वतः पाणिपादंअशब्दमस्पर्श मरूपमव्ययं तदपि निजैश्वर्येण पुरुषाकृतिमणीयसीं विधाय जनानां हृदये तिष्ठति—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संन्निविष्टः"

(कठ-१.३.१३)

अतएव श्रीभागवतेऽपि गर्भस्थपरीक्षिद्रक्षाप्रसंगे भगवान् बादरायणोऽपि संस्मरति—

अंङ्गुष्ठमात्रममलं स्फुरत्पुरटमौलिनं।
अपीच्यदर्शनं श्यामं तडिद्वाससमच्युतम्।।

(भागवत १.१२.८)

श्रुतिप्रमाणितयोरपि ब्रह्मणोनिर्गुणसगुणरूपयो: सगुणस्यैवान्यतरस्य रूपस्य निर्गुणाज्यायस्त्वं भूय: प्रतिपादितं श्रुतिभि:। अत एव पूर्वमणोरणीयान् अणो: जीवादपि अणीयान् अणुतर: सगुण: जीवस्य हृद्देशनिवासार्ह:, स एव निर्गुण: सन् महत: महत्तत्वादपि महद्भूताद्वा ब्रह्मण: महतोविष्णोर्वा महीयान् महत्तर: इति श्रुति:। गरीयस्त्वेन निर्गुणब्रह्मापेक्षया प्राथम्येन सगुणब्रह्मस्मृतिपथमनयत्। यत्तु प्रजजल्पु:प्रच्छन्नबौद्धा:- यद्यपि सत्सम्य-क्प्रत्ययैकविषयं निर्गुणं चात्मतत्वं तथापि मन्दबुद्धीनां गुणवत्वस्येष्टत्वात्सत्यकामादिगुणवत्वं च वक्तव्यम्- (छा.उ. अष्टम अध्याय खण्ड-१- शाङ्करभाष्य अवतरणिका) तत्तु दुराग्रहग्रहग्रस्तविक्षिप्तमस्तिष्कत्रिदोषजनितल्पितमिव नादरास्पदं हास्यास्पदञ्च सत्सम्यक् प्रत्ययैकविषयमिति अनावश्यकं वमता आत्मन्येव महात्मबुद्धि: समारोपि।

वस्तुतस्तु नेति नेतीति वादिनीनां श्रुतीनामप्यनिर्वचनीयतया यद्दुरवगमं तस्मिन् एकतरभावारोपणं प्रकामं दु:साहसं "निर्गुणं गुणभोक्तृ च" (श्वे. ४.१४ गीता- १३.१४) इति श्रुतिस्मृतिभ्यां समानाकारेणैव वाक्येन निर्गुणस्यापि भगवतो गुणवत्ता सुस्पष्टं प्रतिपादिता।

पूर्वं विचार्यतेऽयं पक्ष:, यत् किं नाम निर्गुणं सगुणञ्च निरूपसर्गस्य निर्गमनरूपेऽर्थे स्वीकृते निर्गता: गुणा: यस्मात् तन्निर्गुणं व्युत्पत्तावस्यां भगवति पूर्वगुणाश्रयत्वं सिद्धमेव विद्यमानस्यैव निर्गमनं भवति न ह्यविद्यमानस्यखपुष्पादेर्निर्गमनं साधयितुं शक्यं विधात्रापि, भगवति विद्यमानानां गुणानां निर्गमनं त एव चिकीर्षेयु:, ये भवादृशा: परमेश्वरं मन्यमानमनसो भवेयु: न वयं तादृशा: यदि चेत् निष्क्रान्तागुणायस्मात् तन्निर्गुणामिति त्युत्पत्तिश्चिकीर्षिता तथापि दोषस्तदवस्थ एव एकमेव वस्तु मस्तिष्कं नाम तदेव मुण्डं कथय कपालं वा समानमेवोऽभयं निर्गमननिष्क्रमणं, यदि चेत् कथञ्चित् साधुत्वविक्षयागमनक्रमणरूपार्थम् अविवक्षित्व सिसाधयिषसि तत्राऽपि गुणानां निष्क्रमणप्रयोजनं वाच्यम्। त्वन्मते ब्रह्मातिरिक्तसत्ताया: स्वीकाराभावे ब्रह्मातिरिक्तवस्तुव्यतिरिक्तेन ब्रह्मणोनिष्क्रम्य निर्गम्य वा कुत्र गमिष्यन्ति ते गुणा: तस्मात् अवध्यवधिमतो: साहचर्यानियमात् त्वन्मते च द्वित्वं कल्पयितुमशक्यत्वात्

पञ्चम्यर्थलापनं मसकस्य सुमेरूश्रृङ्गधारणमिव सर्वथैव दुष्करं कार्यम्। अपरश्च चेतनश्चेतनादग्च्छति पूर्वमिदं निर्धारणीयं त्वया यद्गुणाश्चेतना:जडा: वा यदि जडा: तर्हि निर्गन्तुं न शक्या:, नहि कुड्यं भूतलाद् गच्छति न वा वृक्षमलवालं जिहासति, यदि चेतनास्तर्हि समागतस्त्वत् प्राणघातको द्वैतवाद:, यस्मात् सिंहाद्गौरिव बिभेसि तस्मात् निजाधिष्ठितशाखाच्छेदमिव निजसिद्धान्तमेव कथं जिघांससि?

अथ चेत् गुणान्निष्क्रान्त: निर्गुण: इति व्युत्पत्तिं कृत्वा परमात्मन्येव निर्गमनादिकं साध्येत, तदप्यनुचितं, शब्दमर्यादाघातश्च शब्द प्रमाणका: वयं न त्वं द्वितीयया सह क्रान्ताद्यर्थे अत्यादय: समस्यन्ते, न तु निरादय: उपसर्गपाठे निर:पश्चात् अति: पठित: तथाहि निर अष्टम: अति: षोडश: इति द्विगुणितव्यवधानंअतिरादिरेषां ते अत्यादय:, अतिमारभ्य तत: पश्चात् पठिता: न चोपसर्गगणपाठ: अस्मदादिकृते इति वाच्यं "प्रादय:" इतिसूत्रे पाणिनिनैव उपसर्गपाठकरणस्य संकेतितत्वात्। यदि चेत् निरुपसर्ग: अत्यर्थक: इति चेत् तदपि न अतेर्निरियोग्यताविरहात् नहि वह्निना सिञ्चति इतिवाक्येन कोऽपि मन्दधीरपि वह्नौ शेकयोग्यतामध्यवस्यति का कथा त्वादृशस्य सर्वज्ञमानिमुकुटमणे:। अथ चेत् निरादय: क्रान्त्याद्यर्थे पंचम्या इति वार्तिकबलेन "कुगतिप्रादय:" इतिसूत्रेण समास:। एवं निष्कौषाम्बि: इति वत्, गुणेभ्यो निष्क्रान्तं निर्गुणामिति विगृह्येत तथापि दोषस्तदवस्थ एव स्वावधिकान्यनिष्ठप्रतियोग्यभावात्, सर्वदैव सर्वदेशवृत्तित्वाच्च त्वदीयं ब्रह्म कं हास्यति कं प्रति वा गमिष्यति इति चेत् साधुत्व प्रक्रियार्थमिदम्। न विवक्षितो निरर्थस्तदा तु पूर्ववदेवापत्ति: अवध्यवधिमत् वैलक्षण्यासंभवरूपानहि एक एव चैत्र: स्वस्मात् स्वं गच्छेत् अवध्यवधिमतो पार्थक्यस्य शास्त्रतो लोकानुभवतश्च सिद्धत्वात् न हि कोऽपि प्रयत्नशतैरपि निजद्रुतचण्डवेगभग्नभूरिभीषणश्रृङ्गमालं भागीरथीप्रवाहं प्रतीपयेत् तस्मात् भवत्स्वीकृतं भगवन् निर्गुणत्वं विडम्बनामात्रम्। एवं केन प्रकारेण त्वया निर्गुणशब्द: व्युत्पादयितुं शक्यते। ब्राह्मणो निर्धर्मत्वं, गुणरहितत्वं च शून्यवादिनां त्वया गृहीतम्। अथ श्रुतिभि: प्रतिपादितं निर्गुणकिमिति चेत्? "श्रृणु-निरुपमा: गुणा: यस्य तन्निर्गुणं" तथा च निगुणत्वनाम तुल्यधर्मावच्छिन्नानवच्छिन्नगुणप्रतियोगिक्-नित्याधारवत्वम्। ननु यदि भगवतो नोपमा निरुपमाश्च भगवदीया गुणा: तर्हि 'समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव' इत्याद्यार्ष वाक्यानि व्याकुप्येरन्? इति चेन्न हीनोपमा एवैता:। अवाङ्मनसगोचरस्य परमेश्वरस्य कथंचित् साधारणोजनस्तत्वं बुध्येत इति कृत्वा बुबोधयिषया शाखाचन्द्रन्यायेन प्रादेशमात्रनिदर्शनमेतत्। अथवा इवार्थस्समुद्रादौ न तु भगवति, एवम् उपमानं कौसल्यानन्दवर्धन: उपमेया समुद्रादय: तद्यथा

सच सर्वगुणोपेता कौसल्यानन्दवर्धनः।
समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव।।
विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत् प्रियदर्शनः।
कालाग्निसदृशः क्रोधे क्षमया पृथ्वी समः।।
धनदेन समस्त्यागे सत्ये धर्म इवापरः।

—वा.रा.बा.का. १ (१७,१८,१९)

इति प्रघट्टके कथ्यमानम् उपमाष्टकम् उपमानेषु न्यूनतां द्योतयति, अथवा राममेव उपमानं मत्वा उपमेयैरुपमानोत्कर्षवर्धनं। तथाहि स कौसल्यानन्दवर्धनः इव गांभीर्ये समुद्रः, सोमवत् प्रियं दर्शनं यस्य तथाभूतः। अत्रापि अभेदो वत्यर्थः अर्थात् सोमाभिन्नं प्रियं दर्शनं दधानो भगवान्। यद्वा सोमः चन्द्रः अस्त्यस्य आभूषणरूपः सः सोमवान् भगवान् शंकरः सोमवते भगवते शंकराय प्रियं दर्शनं यस्य सः सोमवत् प्रियदर्शनः। यथोक्तं मानसकृद्भिः—

जासु सनेह सकोच बस राम प्रगट भे आइ।
जे हर हिय नयनन्हि कबहुँ निरखे नहि अघाई।।

(मानस २।२१०)

श्रीगीतरामायणेऽपि—श्रीगोस्वामितुलसीदासचरणाः आमतन्ति अहल्योद्धारप्रसंगे—

निगम अगम मूरति महेश-मति जुवति वराइ बरी।
सो मूरति भइ जान नयन पथ, इक टक ते न टरी।।

(गीतावली रामायण बा. ५७)

एवमेव धैर्येण, धैर्यरूपगुणेन स इव हिमवान् हिमाचलः, भगवत् सदृश इति भावः। विष्णुना सदृशो वीर्ये, वीर्ये पराक्रमे, विष्णुना असदृशः न समः प्रत्युत् तेन विष्णुरेव समः। उपमेयापेक्षयोपमानस्योत्कृष्टतरत्वात्। एवं क्रोधे क्रोधविषये कालाग्निरेव सदृशो येन स कालाग्नि सदृशः। क्रोधे- कालाग्निरेव कथंचित् एतद् सादृश्यं गन्तुं शक्नोति। एवमेव क्षमया अत्र विषयार्थेतृतीया। केन नियमेनेतिचेत् ''प्रकृत्यादिभ्यउपसंख्यानम्'' तथाहि क्षमया, क्षमाविषये पृथ्वीसमः पृथिवीसमासदृशा येन। अर्थात् क्षमायामेतस्य पृथ्वीव्यामेव सादृश्यं नैवान्यउपमेयः। धनदेन समस्त्यागे धनदेन इत्यत्र न तृतीया यत्तु त्यागे दाने धनदेन समः कुबेरेण सदृशः इति प्राचीनैर्व्याख्यातं तदसंगतं, कुबेरदानस्य कुत्राप्यप्रसिद्धे। अत एव रघुकाव्ये आक्रमणविधया कुबेराद्धनं समचीकमद्रधुः 'निष्क्रष्टुमर्थं चकमे कुबेरात्' (रघुवंशमहाकाव्य-५।२५) नहि दानशीलः

धनाध्यक्षो भवति लोके, आयमाध्यमेन धनसंचयनियुक्तःसन् कथं व्ययं कुर्यात्, आयप्राणं हि धनं, व्ययसारो हि दानी, तस्मात् धनदेन इति तृतीया असंगता। वस्तुतस्तु धनदस्य कुबेरस्य इनः स्वामी इति धनदेनः शंकरः स एव समः येन अर्थात् त्यागे श्रीरामेण कथंचित् धनदस्य स्वामी शंकर एव सादृश्यं घटयितुं शक्नोति नान्यः। तथोक्तं विभीषणशरणागतिप्रसंगे श्रीमानसे श्रीमद्गोस्वामितुलसीदासर्यैः—

जो सम्पति शिव रावनहिं दीन्ह दिये दश माथ।
सोई सम्पदा विभीषणहिं सकुचि दीन्ह रघुनाथ।।

(मानस ५।४९।ख)

एवमेव सत्ये सैव अपरः द्वितीयः कः? इति चेत् धर्म एव। एवं सर्वाः उपमाः परमात्मानमनिर्वचयीयतयैव बोधयन्ति। अनिर्वचनीयत्वं च यत् किंचित् वक्तुमर्हत्वेसति निःशेषेण वक्तुमनर्हत्वम् इत्यसकृदवोचाम इति समञ्जसम्। तस्मात् ''न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः (श्वेताश्वतर ३।९)'' इति श्रुतिरपि मानम्। यद्वा निरस्ताः दूरीकृताः गुणाः भक्ताननुकूलाः क्रौर्यादयो येन तन्निर्गुणम्। भगवान् तानेव गुणानालम्बते यैर्भक्तानां सुखावहता। अथवा निरुपद्रवाः गुणाः यस्य तन्निर्गुणं, भगवदीय गुणेषु न कोऽप्युपद्रवः अत एव परमहंसपरिव्राजकाचार्यानप्याकर्षन्ति।

हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः।
अध्यगान् महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः।।

(भाग. १।७।११)

महदाख्यानमित्यत्र महतां महापुरुषाणां भगवत् कृपाभाजनीभवताम् आख्यानानि यस्मिन् तत् इति समासः करणीयः। एवमेव जयदेवोऽप्याह 'प्रसन्नराघवे'—

'कवीनां को दोषः स च गुण गणानामवगुणः।।

अथवा निःशेषाः गुणाः यस्मिन् तन्निर्गुणं, समस्ताः गुणाः भगवन्तमेव समाश्रयन्ते ''निर्गुणं मां गुणाः सर्वे भजन्ते निरपेक्षकम्'' (भागवत ९।४/६७)। निःशेषत्वं च प्रकटितसमग्रमहिमत्वेन अन्यत्र गुणाः सामग्र्येण न तिष्ठन्ति, भगवन्तं विना, क्षोदिष्ठानां जीवानां सामग्र्येण तेषां धारणे सामर्थ्याभावात्। अथवा निःसामान्याः निरस्तसाधारण्याः गुणाः यस्मिन् तन्निर्गुणं भगवतो लोकोत्तरगुणगणनिधानत्वात्, साधारणसौन्दर्यमिव किं भगवतोऽपि? यद्दृष्ट्वा स्वयमेव विसिस्मिये। तथोक्तं श्रीउद्धवेन भागवते—

यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम्।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परंपदं भूषणभूषणाङ्गम्।।

(भागवत ३।२।१२)

यथोक्तं मानसेऽपि श्रीभुशुण्डिना—

रूप राशि नृप अजिरबिहारी। नाचहि निज प्रतिबिम्ब निहारी।।

(मानस ७।७७।८)

अथवा निरस्ता अन्तः सीमा विनाशो वा यैस्ते निरन्ताः, निरन्ताः गुणाः यस्य तन्निर्गुणम्। भगवतः गुणानामन्तो नास्ति ''विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममेरजश्ंसि'' ऋग्वेद विष्णु सूक्ते

श्रीमानसेऽपि,

''राम अनन्त अनन्त गुणानि जनम करम अनन्त नामानि''

मानस ७-५२-३

अथवा निरन्तराः भगवता सह व्यवधानशून्यतया संयुक्ताः निरन्तराः निरस्तभेदाः गुणाः यस्मिन् तन्निर्गुणं, गुणाः क्षणमपि भगवन्तं न जहति तदतिरिक्तं तेषामधिष्ठा नाभावात्। एवं भगवतः गुणोऽपि प्रत्येकं भगवद्रूप एव गुणगुणिनोश्च समवायः सर्वतन्त्रसिद्धः, वात्सल्यादयः भगवन्तं न जिहासन्ति भगवानपि तान् न जिहासति। अथवा निरतिशयाः गुणाः यस्य तन्निर्गुणम्, अथवा निश्चिताः प्रणतोद्धारकृतनिश्चयाः गुणाः यस्य तन्निर्गुणं भगवतः गुणैरेव पतितपावनत्वादिभिः भक्तानां उद्धारः क्रियते। अथवा निःश्रेयस्कराः गुणाः यस्मिन् यस्य वा तन्निर्गुणं भगवद्गुणगणैरेव श्रेयो विधीयते श्रेयोऽर्थिनाम्। अथवा निर्लीनाः गुणाः यस्मिन् तन्निर्गुणं सर्वे गुणाः सौन्दर्यादयः भगवत्यवनिर्लीयन्ते। अथवा निष्क्रान्ताः निर्गता वा भक्तकल्याणार्थं गुणाः यस्मात् तन्निर्गुणं भक्तं भगवद्गुणाः यत्किञ्चित्तया समागत्य सनाथयन्ति एवं भूतं निर्गुणं ब्रह्म न तु गुणैर्विहीनं ''निर्गुणं गुण भोक्तृ च'' इत्यत्र निस्तिरोहिता भगवतो गुणाः अत एव निर्गुणत्वमाहु। एवं गुणानामदर्शनेन गुणवर्जितमित्याचक्षते। वस्तुतस्तु निर्गुणः सगुणयोर्मध्ये न कश्चन भेदः स च भाति यथा परिस्थिति गुणानां तिरोधानसमवधानवैलक्षण्येन न हि एकस्मिन्काल एव भगवदनन्तगुणानां प्राकट्येन जीवकल्याणं भवति। न वा शक्यास्ति प्रकटयितुं भगवत इव तेषामप्यनन्तत्वात्। यथा

मिथिलामण्डपे सौन्दर्यं प्राकट्यं रसावहम्। एवं रुद्रत्वप्राकट्यं क्लेशवहं युद्धकाले त्वेतद् विपरीतम् अतः यो गुणस्तिरोहितस्तं प्रति निर्गुणत्वं भगवतः, यश्च प्रकटितमाहात्म्यश्च समुपस्थापितः तं प्रति सगुणत्वं एवमुभयं समञ्जसम् तस्मान्निर्गुणं सगुणाज्यायः इति कथनमनुचितम्। वस्तुतस्तु एकमेव ब्रह्म रूपद्वयावच्छिन्नं, अतः आह गोस्वामी तुलसीदासः—

अगुण हि सगुण हि नहि कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा।
अगुण अरूप अलख अज जोई। भक्त प्रेम वश सगुण सो होई।।
जो गुणरहित सगुण सो कैसे। जल हिम उपल विलग नहिं जैसे।।

(मानस १-११६-१-२-३)

वस्तुतस्तु निर्गुणात् सगुणं ज्यायः भक्तकल्याणकरत्वात् सुलभत्वात् शुभगत्वाच्च इत्येव निश्चितम्। श्रीगीतासु भगवताः द्वादशाध्यायस्य प्रारम्भे तथाहि अर्जुनेन विश्वरूपदर्शनानन्तरम् अव्यक्तसगुणपासकयार्मध्ये कतरः श्रेयान्?

एवं सतत युक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः।।

तदा भगवता निर्गुणोपासकापेक्षया। सगुणोपासकस्यैव उत्कृष्टा प्रतिपादिता। मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।।

श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ता तमा मताः।। गीता १२-२

एवमेव भगवता निर्गुणोपासने क्लेशोऽपि प्रादर्शि दुर्लभत्वं च प्रतिपादितम् देहवताम्।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।। गीता १२-५

किं बहुना विदेहोऽपि योगिराज जनकः समाकृष्टो बभूव सगुणसाकारकौसल्याकुमार-श्रीराम दर्शनेन। यथोक्तं मानसे स्वयं जनकराजेनैव—

''इन्हहि विलोकत अति अनुरागा।
बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा।।'' मानस १-२१६-५

यत्तु विजल्पितमात्मतत्वं निर्गुणमेव गुणास्तुमायिकाह तन्महदनुचितं नहि मिथ्या भूतमाया परमप्रकाशरूपं ब्रह्म सवलयितुं शक्नोति। अतो भगवत आयुधभूषणवसनानीव तल्लोकोत्तरगुणा अपि दिव्याश्चिन्मया नित्याश्च। एवं भजनीय तत्त्वं सगुण ब्रह्मैव वस्तुतो गुणानन्तरेण परमात्मनोऽपि न तादृशि शोभा या भक्त नयन लोभिनी। अत: मानसकार: श्रीराघवेन्द्रवचनछलेन चतुर्थे सोपाने सुस्पष्टमाह—

फूले कमल सोह सर कैसा।
निर्गुण ब्रह्म सगुण भा जैसा।। मानस ४-१६-२

यथा सारसं कमलं निर्मलेन परिमलेन निरस्त सकलमलेन भ्रमरमावर्जयति स्वाभिमुखं तथैव भगवतो गुणोऽपि कमलमिव निज प्रभावेण भ्रमरमेव त्यक्त गृहां परिभ्रमन्तं सन्तं झटित्यावर्जयति तटागाभिमुखं एवमर्थं समर्थयति रावणवधमहाकाव्ये भट्टी—

न तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजम्, न पङ्कजं तद्ययदलीनषट्पदम्।
न षट् पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलम्, न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः।।

यदुप्युक्तं "तथापि मन्दबुद्धीनां गुणवत्त्वस्येष्टत्त्वात्सत्यकामादिगुणवत्त्वं च वक्तव्यम्" इति तदप्यसङ्गतम्। नहि मन्दधीयस्तोषयितु श्रुतीरलीकं वदिष्यति अनेन तस्यामप्रामाण्यापत्ते: भगवत: सगुणत्वप्रतिपादनाय सहस्रश: श्रुतय: बद्धपरिकरा: तर्जयन्ति प्रक्षन्नशून्यवादिन: अनुपमेव अपहतपाप्मादय: अष्टौ गुणा: उच्यन्ते। किमिमेवऽलिका: किं काऽपि माता विषाय स्पृह्यन्तं बालं तं तोषयितुकामा अनिष्टं कालकूटं पायिष्यति, गुणवत्त्वं यदनिष्टं अभविष्यात् तदा भूतार्थवादिनी श्रुति: तान् नावक्ष्यत्। यदुक्तं मन्दधीनां गुणवत्वस्येष्टत्वात् तत्तु महदनर्थावहम्। भगवतो गुणवत्त्वं तु सकलपरमहंस परिव्राजकपरमाचार्यवीतरागयोगीन्द्रवर्यश्रीमच्छुकाचार्यपादानामपि इष्टम्। तद्यथा—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतो गुणोहरि।। भागवत् १-७-१०

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान्।। भागवत २-१-९

हन्त शुकाचार्यसदृशा: परमहंसपरिव्राजकमुकुटमणय: भवत्गुरूणामपि पूज्यचरणा: श्रीराघवमाधवरूपसगुणब्रह्मगुणगणपीयूषपानलम्पटधियोमन्दीधय: त्वमेव महात्मशिरोमणि:

बुद्धिवाचस्पति: नहि ते दोष:। अह: कलिकालस्य महिमा एवं गुणवत्वं शास्त्रसिद्धं सगुणं ब्रह्मैव भजनीयं तथा चाह अत्रत्यैव करुणहृदया माताश्रुति:। पश्यनिर्मत्सरस्तां

श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्येऽश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंम्भवामीत्यभि-सम्भवामीति।। (छान्दोग्य उपनिषद् ८.१३.१)

अस्यान्वय: अहं श्यामात् शबलं प्रपद्ये शबलात् श्यामं प्रपद्ये अश्व: रोमाणि इव पापं विधूय राहो मुखात् प्रमुच्य चन्द्र इव अकृतं शरीरं धूत्वा कृतात्मा ब्रह्मलोकं अभिसंभवामि अभिसंभवामि इति।

एतस्य शब्दार्थ:—अहं साधक: श्यामात् नीलजलधरश्यामं सीताभिरामं श्यामवर्णाविच्छिन्नं श्रीरामं प्रसाद्य शबलं जगदवच्छिन्नं त्वदुक्तं निर्गुणं ब्रह्मशबलत्वं च तव दु:खबोधत्वेन स्वाश्रयोपकाराक्षमत्वेन पुनर्शबलात् शबलं निर्गुणं ब्रह्मविहाय श्यामं मोक्षेच्छामपि त्यक्त्वा श्यामं निकामश्यामसुन्दरं समरसमितदसकंधरं नव जलधरबन्धुरं धनुर्धरं श्रीरामं प्रपद्ये शरणं ब्रजामि। यत्तुशमशब्दस्य त्वया हार्दमिति व्याख्यायते, तत्तु तावकीनं हठप्रलपितं नहि कोऽपि मन्दधी: सागरशब्दस्य कमलरूपार्थं मन्येत। विना त्वां पंडितमानिनं, एवं श्यामाङ्ग श्रीरामं प्रपन्न: अश्वैव रोमाणि पापं विधूय राहो: मुखात् चन्द्र इव विवेकतो भग्नसिरस: संसारात् प्रमुच्य मुक्तो भूत्वा कृतात्मा कृतकृत्य: शरीरं पाञ्चभौतिकं धूत्वा समाप्य ब्रह्मलोकं साकेतं अभिसंभवामि संपद्ये। अनेन त्वदुक्त निर्गुणवादमहाटवी दवाग्निनेव विभूतिभूषणभूमिसात् कृता।

अथ प्रकृतमनुसराम:—

हरि: ॐ अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे
दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्न-
न्तराकाशस्तास्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं
तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ।।१।।

हरि: नीलपीतश्रीसीतारामो शरीराभावच्छिन्नसगुणब्रह्मरूप: सीताभिराम श्रीराम:, ॐ भक्तरक्षणसमर्थ: निर्गुण ब्रह्म वा, इति द्वयो: ब्रह्मणो स्मरणं कृत्वा हृदयोपासना वर्णनं प्रारभ्यते। इयमेव दहर विद्यापि कथ्यते, अथ सप्तमाध्याये निष्कर्षरूपेण प्रतिपादितस्य भूम्न: कुत्रोपासना क्रियताम्? इति जिज्ञासापामाह: स्वयं कारुणिक श्रुति: प्रच्छन्नस्य पत्युस्थानं हितचिकीर्षया पुत्रेभ्यो मातेव अस्मिन् एतस्मिन् शास्त्र सद्गुरु कृपापूते ब्रह्मपुरे ब्रह्मनिवासाय समुचितपुरे नवद्वारात्मके शरीरे पूरोपमे आत्ममाहाराजा शासिते

यत् योगप्रसिद्धं इदं एतत् अतिसन्निकृष्टं दहरं स्वल्पाकारं पुण्डरीकं तन्मयशक्यतावच्छेदका रूप:, पुण्डरीकमयं कमलनिर्मितं इति भाव:। वेश्म गृहं परमात्ममन्दिरं तस्मिन् य: आकाश: अन्तरा कमलगृहमध्ये विराजमान: आकाश इव श्याम: **''आकाश शरीरं ब्रह्म''** तैत्तरीय उ.२.५।

तदन्त: तस्य कमलगृहस्य मध्ये अन्वेष्टव्यं क्लीवत्वं छान्दसाल्लिङ्गव्यत्ययात्। अन्वेष्ठव्य इति भाव:। नान्यत्र गन्तव्यं एकाग्रमनसा हृदयकमले भगवान् अन्वेष्टव्य:, आकाश श्याम तदेव विजिज्ञासितव्यं इति स एवं विषयजिज्ञासा करणीया इति ।।श्री:।।

अथ गुरुशिष्यप्रश्नपरम्परया विषयं सरलं करोति—

तं चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं
पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः
किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं तद्वाव
विजिज्ञासितव्यमिति स ब्रूयात्।।२।।

एवं हृदये पुण्डरीकगत परमात्मानं जीवात्मा कथं पश्येत् इति के शिष्या: ब्रूयु: पृच्छेयु: यदस्मिन्ब्रह्मपुरे शरीरे अल्पतरं पुण्डरीकं तत्राप्यल्पतर: आकाश: तस्याऽपि अन्त: किं वर्तते? यत् अन्वेष्टव्यं यस्यान्वेषणम् कार्यम्?।।श्री:।।

अथ तदन्त: किं विद्यते? इत्यत आह—

यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे
अस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च
वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति
यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितमिति ।।३।।

अयं आकाश: यावान् यत्प्रमाणक: तथैव हृदयाकाशेऽपि अस्मिन्नेव द्यावापृथिवी स्वर्गलोको मर्त्यलोक: अग्नि: वायु: सूर्य: चन्द्रमा नक्षत्राणि ग्रहा: इह लोके यत् अस्ति विद्यते, य: नास्ति परोक्षं वर्तते तत्सर्वं अस्मिन् समाहितं इति तात्पर्यम्।।श्री:।।

भूय: प्रश्नपरिशेषमाह—.

तं चेद्ब्रूयुरस्मिꣳश्चेदिदं ब्रह्मपुरे
सर्वꣳसमाहितꣳसर्वाणि च भूतानि सर्वे च

कामा यदैतज्जरा वाप्नोति प्रध्वंसते
वा किं ततोऽतिशिष्यत इति।।४।।

तं शिष्याच्चेद् पृच्छेयुः यद् अस्मिन्ब्रह्मपुरे आकाशसहितानि सर्वाणि भूतानि सर्वे कामाः इदं सम्पूर्णं प्रपञ्च समाहितम्। तर्हि यदा इदं शरीरं जरा आप्नोति वृद्धावस्था भवति एवं प्रध्वंसते नष्टं जायते तर्हि किं अतिशिष्यते किं अवशिष्टं भवति।।श्रीः।।

अथ शिष्यस्य प्रश्नोत्तरं ददाति—

स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यत एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन्कामाः समाहिता एष आत्मापहत पाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पो यथा ह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति यथानुशासनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति यं जनपदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति।।५।।

सः ब्रूयात् इत्थमुत्तरयेत् यत् अस्य शरीरस्य जरया इदं न जीर्यते आकाशनामकं ब्रह्म अस्य वधेन शरीरस्य नाशेनापि इदं लौकिकशरीरपरिच्छेदशून्यतया न हन्यते न हिंस्यते, एतत् सत्यं परमार्थतः ब्रह्मपुरं ब्रह्ममन्दिररूपां अर्थात् स्वयमेव मन्दिरं स्वयमेव देवता, एषः आत्मा परमात्मा अपहत पात्मा अपहतानि पाप्मानि प्रणतानां पातकनि येन तथा भूतः विजरः जरारहितः पापक्षये तदभावात्, विमृत्युः मृत्युरहितः विजरः निजचरणविमुखानां जरा यस्मात् सः विजरः, विमृत्युः विमुखानां विद्विषां च मृत्युरूप, विशोकः विगतशोकः विद्विड् शोकश्च, अविजिधत्सः न विशेषम् अत्तुं इच्छति अथवा अविजिधित्सः नैव विमुखैर्दत्तं अत्तुमिच्छति, अपिपासः प्रीतिरहित दत्तं जलं न पातुमिच्छति, अथवा स्वयमेव क्षुप्तिपासेच्छारहितः। भक्तदत्तं अश्नाति पिवति च अत एव

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।।

(गीता ९-२६)

इति भगवत् वचनं सङ्गच्छते।

सत्यकामः सत्याः अमोघाः कामाः इच्छाः यस्य सः सत्यकामः अथवा सद्भ्यो हितं सत्यं तदेव कामयते। सत्य सङ्कल्पः सत्यः अवितथसङ्कल्पः अद्ध्यवशायः यस्य

एवं यथा प्रजा: राजा अनुशास्ति तथैव सर्वा: प्रजा: सर्वकामा: इमं अन्वाविशन्ति प्रविशन्ति।

यथानुशासनम् अनुशासनमनतिक्रम्य यं यं अन्तं प्रान्तं जनपदं वा कामयन्ते तद् तद् व्रजन्ति तमेवमात्मानं आश्रित्य उपजीवन्ति तिष्ठन्ति॥श्री:॥

परिशेषगतिमाह—

तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते तद्य इहात्मानमननुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवत्यथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति॥६॥

तत् तस्मात् यथा इह अस्मिन् लोके कर्मचित: कर्मभि: समर्जित: लोक: अदृष्ट-परिणाम: क्षीयते नश्यति तथैव अमुत्र स्वर्गलोके पुण्येन जित: पुष्पजित: पुण्य प्राप्त: लोक: स्वर्गाख्य क्षीयते भोगावशानो भवति। अत: ये आत्मानं परमात्मानं अननुविद्य अज्ञात्वा एतानि सत्यान् कामान् व्रजन्ति तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो न भवति। ये च इममात्मानं अनुविद्य विदित्वा लब्ध्वा वा व्रजन्ति तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति स्वेच्छाचरणं जायते॥श्री:॥

इति छान्दोग्योपनिषदि अष्टमाध्याये प्रथमखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।

॥ श्रीराघवः शन्तनोतु ॥

द्वितीयः खण्डः

अथ दहराख्यहृदयकमलब्रह्मोपासना फलमाह—

स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन सम्पन्नो महीयते॥१॥

स: दहर ब्रह्मोपासक: यदि पितृलोककाम: पितृलोकं कामयते इति पितृलोककाम तथा भूतो भवति, तर्हि अस्य सङ्कल्पेनैव पितर: अर्यमादय: समुपतिष्ठन्ति, तं सेवमानास्तत्तनयन्ति स: पितृलोकेन सम्पन्न: भवति पश्चाद् ब्रह्मैव प्राप्नोति॥श्री:॥

अथापर फलमाह:—

अथ यदि मातृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य मातरः
समुत्तिष्ठन्ति तेन मातृलोकेन सम्पन्नो महीयते।।२।।

मातृलोककामं गौर्यादयो लोकमातरः नयन्ति तं मातृलोकेन सम्पन्नः स महीयते ब्रह्मोपासनमहिमानं अनुभवति।।श्रीः।।

अथ यदि भ्रातृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य भ्रातरः
समुत्तिष्ठन्ति तेन भ्रातृलोकेन सम्पन्नो महीयते।।३।।
अथ यदि स्वसृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य स्वसारः
समुत्तिष्ठन्ति तेन स्वसृलोकेन सम्पन्नो महीयते।।४।।

ब्रह्मज्ञस्य जगतीतले कुटुम्बेष्वासक्तस्य परलोके तत्तत् सुखं दातुं तद्रूपा देवताः समुपतिष्ठन्ति, यथा भ्रातृलोककामस्य भ्रातृरूपाः देवताः, स्वसृलोककामस्य स्वसृभूताः देवताः समुपतिष्ठन्ति।।श्रीः।।

अथ यदि सखिलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य सखायः
समुपतिष्ठन्ति तेन सखिलोके सम्पन्नो महीयते।।५।।
अथ यदि गन्धमाल्यलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य
गन्धमाल्ये समुत्तिष्ठस्तेन गन्धमाल्यलोकेन सम्पन्नो महीयते।।६।।

एवमेव एतस्य सखिलोककामस्य मित्रलोकं जिगमिषतः सङ्कल्पबलेनैव देवाः सखायः भूत्वा समुपतिष्ठन्ति। एवं गन्धमाल्यमिच्छतः एतत् सङ्कल्पेन निर्मिते गन्धमाल्ये समुपस्थिते भवतः।।श्रीः।।

अथ यद्यन्नपानलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्यान्नपाने
समुत्तिष्ठतस्तेनान्नपानलोकेन सम्पन्नो महीयते।।७।।
अथ यदि गीतवादित्रलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य
गीतवादित्रे समुत्तिष्ठतस्तेन गीतवादित्रलोकेन सम्पन्नो महीयते।।८।।

एवमेव अन्नं भक्ष्य भोज्य लेह्य चोष्य भेदाच्चतुर्विधं पानं पेयपदार्थाः सोमरसादि पीयूषान्तः तत्सम्बन्धिं लोककामयतः एते स्वयमुपतिष्ठतः।

एवमेव गीतवाद्य सम्बन्धि गन्धर्वलोकं कामयत
सङ्कल्प निर्मिते गीत वादित्रे समुपतिष्ठतः समुपस्थिते भवतः ।।

अथ यदि स्त्रीलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य स्त्रियः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्त्रीलोकेन सम्पन्नो महीयते।।९।।

यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं कामयते सोऽस्य सङ्कल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते।।१०।।

एवमेव स्त्रीलोककामस्य सङ्कल्पनिर्मिताः स्त्रियं सेवां विदधति एवमेव यं यं अन्तं लोकं कामयते यं यं च कामं सर्वेऽपि एतस्य सङ्कल्पेनोपस्थितो भवति। तेन सम्पन्नो महिमानं अनु भवति। अथ किमनेन तत्तल्लोकनिर्देशपरफलप्रतिपादकप्रकरणेन यथा एतत् फलप्रलोभितः सामान्यजीवोऽपि दहर ब्रह्मोपास्तां पश्चात् वासनाशेष फलं भुक्त्वा परब्रह्मैव प्राप्नोतु—

यथा माता कट्वौषधं न पिबेत बालाय मोदकं दत्वा तल्लोभतः प्रवर्तयति तत्पाने मोदकदानलोभस्तु ओषधिपाने बालकप्रवृत्तये मुख्यं फलं रोगनाशः, तथैव इहापि मातृलोकमारभ्य स्त्रीलोकपर्यन्तदानं तु ब्रह्मोपासना प्रवृत्तये मुख्यं फलं ब्रह्मप्राप्तिरेव, प्रौढानां कृते इमे लोका न लोभविषयीकरणीयाः येषु लोभे परमात्मप्राप्तिर्विलम्बिता भवति इति वैराग्यार्थमपि।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि अष्टमाध्याये द्वितीयखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

तृतीयः खण्डः

अथ तृतीयखण्डे अनृतपिहितसत्योपासनं वर्णयति ननु ज्योतिस्वरूपस्य सत्यस्य किमर्थममृतपिधानमिति चेदुच्यते आलङ्कारिकं कथनमेतत् तात्पर्यं त्वन्यदेव किं तत्? समाकर्ण्य श्रुतिमिदं चिकथयिषति यत् प्रत्यक्षतः यथा दुग्धं केनचिद्पिधानेन पिहितं भवति तथैव सत्यस्य परमात्मनः स्वरूपमपि असत्येन नाशवता संसारेण नाशवत् कामनासमूहेन च पिहितं, अत इदं निराकृत्य कामांस्त्यक्त्वैव जीवोरामं ब्रह्मलभते इति हार्दम्—

त इमे सत्यकामा अनृतापिधानास्तेषाꣳसत्यानाꣳसताम-नृतमपिधानं यो यो ह्यस्येतः प्रैति न तमिह दर्शनाय लभते।।१।।

ते इमे पूर्वोक्ता: सत्या: कामा: सत्संबन्धिन: कामा: कि भूता:? अत आह अनृतापिधाना अनृतं असत्यं पिधानं आवरणं येषां तथाभूता: एवमेव तेषां सत्यानां कामानां यत् अमृतं अपिधानं तेनैव हेतुना सतां मध्ये य: इत: प्रैति ब्रह्मलोकं प्रति प्रतिष्ठते स प्रथमं तं परमात्मानं दर्शनाय न लभते। असत्य व्यवहितत्वात् तस्मादिदं दूरीकरणीयं ''हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखं तत्वम् पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये'' (ईश. १५) इति श्रुते:।।श्री:।।

दृष्टान्तं निगमयति—

अथ ये चास्येह जीवा ये च ते प्रेता यच्चान्यदिच्छन्न लभते सर्वं तदत्र गत्वा विन्दतेऽत्र ह्यस्यैते सत्याः कामा अनृतापिधानास्तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः।।२।।

अथ अनन्तरं अस्य ब्रह्मज्ञसंबन्धिन: जीवन्ति प्राणान्धारयन्ति इति जीवा: च प्रेता: प्रकर्षेणेता: यान् इच्छन् दिदृक्षमाणोऽपि इह न लभते तानपि दहरे विन्दति। तत्र असत्या: कथं लभ्यन्ते? अतो दृष्टन्तयति-यथा अक्षेत्रज्ञा: न क्षेत्रं जानन्ति तथाभूता: हिरण्यनिधिं न लब्ध्वा उपरि उपरि तस्योपरिष्टादेव भ्रमन्ति किन्तु विन्देयु: नहि एवमेव इमा: प्रजा: तत्रापि अनृतेषु बन्धुबान्धवेषु रममाणा: अहरह: प्रतिदिनं सुषुप्तौ गच्छन्त्योऽपि अनृतेन प्रत्यूढा: क्षणभंगुरजगत्संबन्धिशक्ता: ब्रह्मलोकं न लभन्ते। तस्मात् परिहृत्य जगतसंबन्धिनोऽसत्यान् शाश्वतं संबन्धिनं श्रीरामं ब्रह्म वृणीतेति हार्दम् ।।श्री:।।

फलश्रुतिमाह—

स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तꣳहृद्यमिति तस्माद्धृदयमहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति।।३।।

स आत्मादूरे नास्ति प्रत्युत हृदि एव, तस्यैव हृद: आत्मसत्वात् हृद्यं हृदयसंबन्धि हृद्यं सुन्दरं वा निरुक्तं अर्थानुकूलविग्रह:, अयं आत्मा हृदये तस्मात् हृदि अयं इति समुदायो यस्मिन् तद्हृदयं, एवं वित् परमात्मानं हृदयनिवासिनं जानन् साधक: अहरह: प्रतिदिनं स्वर्गं गच्छति द्वित्वस्य तात्पर्यम् यस्मिन्नपि कस्मिन् समये।।श्री:।।

अथ ब्रह्मज्ञगतिं निरूपयति—

अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति।।४।।

अथ अनन्तरं यः पूर्वोक्तसाधकः परमात्मानं हृदिस्थं जानाति सः सम्प्रसादः, सम्यक्प्रसीदति इति सम्प्रसादः इति प्राञ्च वस्तुतस्तु हृदिस्थस्यैव परमात्मनः सम्यक्प्रसादः परमानुग्रहः यस्मिन् स सम्प्रसादः, ''मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्। (गीता. १८,५७) इति स्मृतेः। अस्मात्शरीरात् समुत्थाय शरीरभावं तन्निमित्तसम्बन्धिनश्च विस्मृत्य इति भावः। स्वेन रूपेण सेवकसेव्यभाव संबन्धनिबन्धनेन भगवतो नित्यपरिकरात्मना परंज्योतिः साकेताधिपतिं परमात्मानं उपसंपद्य सामीप्यमुक्तिविधया समधिगम्य ईशः आत्मा निरस्तदेहेन्द्रियमनोबुद्धिभावः भगवत् कैंकर्यपरायणः आत्मैव अणिमा विशुद्धजीवात्मा संपद्यते। इति ह निश्चयेन श्रुतिः उवाच। प्राप्यं किम्? इत्यत आह एतत् अमृतं अमृतवन्मधुरं अभयं, अथवा जीवात्मनो विशेषणमिदं मृतभिन्नं भयशून्यञ्च स्वभावं प्रतिपद्यते। किं नाम उपास्यस्य? इत्यत आह तस्य ब्रह्मणः सत्यं नाम उपासनार्हम्।।श्रीः।।

अथ सत्यनामनिरुक्तमाह, सत् इयं इति शब्दद्वयेन इकारं तिरोधाप्य सत्यमिति निष्पद्यते सद्देवतास्त्रीलिङ्गावच्छिन्ना तदर्थं इयमिति तदनुकूलविशेषणं त्रिभिरक्षरै किं किं लभ्यते? इत्यत आह—

तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि सतीयमिति तद्यत्सत्तदमृतमथ यत्ति तन्मर्त्यमथ यद्यं तेनोभे यच्छति यदनेनोभे यच्छति तस्माद्यमहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति।।५।।

तानि सत्यं शब्दे त्रीण्यक्षराणि तद्दर्शयति सत् इयम् तत्र, यत्, सत्, तत् अमृतं मरणाभावं यच्छति ददातीत्यमृतं यं अमृतमृतञ्च उभयं ददाति एवं विद् अहरहः स्वर्गं गच्छति।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि अष्टमाध्याये तृतीयखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं संपूर्णम्।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

चतुर्थः खण्डः

अथ सेतुरूपं परमात्मानं विवेचयति। सेतुर्हि अतिक्रमणनिरोधाय सरित्सागरपाराय जलमज्जनतोनिवारणाय च प्रभवति भगवान् तस्य नाम रूपं चरित्रं इमे सर्वे सेतवः। अथोक्तं श्रीमानसे—

नाथ नाम तव सेतु नर चढि भवसागर तरहिं।।

अतिनागर भवसागरसेतुः त्रातु सदा दिनकरकुलकेतुः।।

करत चरित नर अनुहरत संसृति सागरसेतु।।

स्वयमेव श्रुतिं पालयतिश्रुतिसेतुपालक राम तुम जगदीश माया जानकी।

(मानस-६.सो.२.) (मा. ३,११,१४) (मा. २, ८७) (मा. २,१२६।)

अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाय नैतꣳ सेतुमहोरात्रे तरतो न जरान मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतꣳ सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्तेऽपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः।।१।।

साम्प्रतं ब्रह्मब्रह्मलोकयोरैक्यं निरूपयन्ती श्रुतिः प्राह—अथ उपासनायाः अन्योऽपि क्रमः, यः आत्मा हृदयपुण्डरीक उपास्यते स एषः लोकानां जनानां असंभेदाय परस्परकलहभेदवारणाय विधृतिः विशेषेण धरतीति विधृतिः विशिष्टाधृतिर्धारणक्रिया वा यस्य तथाभूतः, एवं अगाधभवसागरसंतरणाय अयमेव भक्तानां कृते सेतुः पुलं अनुल्लंघनीयत्वात् इमं अहोरात्रे न तरतः नातिक्रामतः, एवमेव जरावृद्धावस्थामृत्युः मरणं शोकः इष्ट वियोगजनितदुःखं सुकृतं पुण्यं दुष्कृतं पापं इमे सर्वेऽपि इमं न तरन्ति। सर्वे पाप्मानः पातकविशेषाः अतः निर्वन्तन्ते अक्लेशयित्वैवास्मान् निवृत्ताः भवन्ति सिनोति तटद्वयं बध्नाति इति सेतुः। एषः अपहतपाप्मा निरस्तपातकः एष एव ब्रह्मलोकः साकेताख्यः।।श्रीः।।

सेतुतरणफलमाह—

तस्माद्वा एतꣳ सेतुं तीर्त्वाऽन्धः सन्ननन्धो भवति विद्धः सन्नविद्धो भवत्युपतापी सन्ननुपतापी भवति तस्माद्वा

एतꣳसेतुं तीर्त्वापि नक्तमहरेवाभिनिष्पद्यते सकृद्विभातो ह्येवैष ब्रह्मलोकः।।२।।

तस्मात् अपहतपाप्मत्वात् एतं सेतुं तीर्त्वा उल्लंघ्य विशुद्धभक्त्या वशीकृत्य अन्धः नष्टविवेकदृष्टिरपि अनन्धो भवति सूरदासादिवत्। यथोक्तं सूरसागरे—

चरणकमल बंदौ हरिराइ

जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै अँधे को सब कुछ दरसाइ।

बहिरो सुनै मूक पुनि बालै रंक चलै सिर छत्र धराई।

सूरदास स्वामी करुणामय बारबार बंदौ तेहि पाइ।

(सूरसागर १.१)

विद्धः पूर्वं शरतक्षतेऽपि अविद्धो भवति—

ब्रह्मप्राप्यं यथा श्रीभीष्मः—

इदमाश्चर्यमासीच्च मध्ये तेषां महात्मनाम्।
सहितैर्ऋषिभिः सर्वैस्तदा व्यासादिभिः प्रभो।।
यद्यन्मुञ्चति गात्रं हि स शान्तनुसुतस्तदा।
तत्तद् विशल्यं भवति योगयुक्तस्य तस्य वै।।

(म.भा. अ.प. १६८-३-४)

एवं नक्तं अहरेव निष्पद्यते अन्धकारोऽपि प्रकाशतां गच्छति इति भावः। यतो हि एष ब्रह्मलोकः सकृत् सदैव विभातः प्रकाशमयः ब्रह्मलोकः, अथवा असकृद्विभातः निरन्तरं प्रकाशमानः।।श्रीः।।

परिशेषमाह—

तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष-ब्रह्मलोकस्तेषाꣳसर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।।३।।

तत् तस्मात् ये ब्रह्मचर्येण इन्द्रियनिग्रहपूर्वकधातुनिरोधेन ब्रह्मलोकं अनुविन्दन्ति प्राप्नुवन्ति, तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति यथेच्छचारो भवति।

इति छान्दोग्योपनिषदि अष्टमाध्याये चतुर्थखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं संपूर्णम्।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

पञ्चमः खण्डः

अथ यज्ञे ब्रह्मचर्यभावनां निरूपयति—

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तदब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दतेऽथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्टात्मानमनुविन्दते।।१।।

अथ यदि यज्ञः इति जनाः आचक्षते कथयन्ति तद् ब्रह्मचर्यमैव यतो हि यज्ञशब्दस्य विपर्ययेण यो ज्ञाता एवं अनेन ज्ञात्वा परमात्मानं विन्दते एवं यत् इष्टं तदपि ब्रह्मचर्यम्। यतो हि ब्रह्मचर्येणैव आत्मानं इष्ट्वा पूजयित्वा अनुविन्दते प्राप्नोति।।श्रीः।।

अथ सत्रायण मौनयोरपि ब्रह्मचर्यत्वमाहः—

अथ यत्सत्रायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव सत आत्मनस्त्राणं विन्दतेऽथ यन्मौनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येवात्मानमनुविद्य मनुते।।२।।

एवं सत्रायणं ब्रह्मचर्यं उपपत्तिमाह सत्रायणशब्दस्य व्युत्पत्तिश्चेत्थम् त्राणं त्रा सतस्त्रा इति सत्रा तं अयति प्राप्नोति येन तत् सत्रायणम्, एवमेव ब्रह्मचर्येण सत् वस्तुना आत्मानः विकारेभ्यः स्त्राणं प्राप्नोति, एवं मौनमपि ब्रह्मचर्यं यतो हि मनुते इति मुनि तस्य भावः मौनं मननकर्म ब्रह्मचर्येण ब्रह्मं ज्ञात्वा मनुते तत्समानत्त्वात् तदपि ब्रह्मचर्यम् ।।श्रीः।।

अथ अपरामपि ब्रह्मचर्यभावना निदर्शयति—

अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तदेष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दतेऽथ यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्तदरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि तदैरं मदीयꣳसरस्तदश्वत्थः सोमसवनस्तदपराजिता पूर्वब्रह्मणः प्रभुविमितꣳहिरण्मयम्।।३।।

अथ यत् अनाशकायनं इति जना आचक्षते तद् ब्रह्मचर्यं एव कथम्? तदुच्यते यत् अनाशकायनं न भवति नाशो यस्य सः अनाशकः नाशरहितः आत्मा, तं अयति येन तद् अनाशकायनम् ब्रह्मचर्यणैव अविनाशिनमात्मानं विन्दति। एवं अरः ण्यः इमौ

द्वौ समुद्रौ यस्मिन् तद् अरण्यं ब्रह्मलोकः तं अरण्यं अयति येन तत् अरण्यायनं, यतो हि इतः मर्त्यलोकात् तृतीयस्यां मर्त्यलोकमारभ्य तृत्त्वसंख्या बोद्धयायां अरः ण्यः इति द्वौ महारणौ सागरौ अयिरमदीयम् अन्नमयं पानमयं च। सरोवरं अश्वत्थः पिप्पलीवृक्षः, सोमसवनः अमृतस्रावी, एवं देवानां अपराजिता पुः तथा प्रभुविमितं प्रभुणा निर्मितं हिरण्मयं कनकमयं मण्डपम्।।श्रीः।।

फलश्रुतिशेषमाह—

तद्य एवैतावरं च ण्यं चार्णवौ ब्रह्मलोके ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषाꣳ सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।।४।।

ये ब्रह्मचर्येण वसुमिथुनधर्मत्यागेन अरौ ण्यं इति महासागरौ विन्दति सः ब्रह्मलोके साकेते तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारः इच्छाचारो जायते।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि अष्टमाध्याये तृतीयखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं संपूर्णम्।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

षष्ठः खण्डः

अथ नाडीमाध्यमेन ब्रह्मोपासनं निरूपयति।

अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येत्यसौ वा आदित्यः पिङ्गल एष शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहितः।।१।।

अथ हृदयस्य नाड्यः अनिम्नः सूक्ष्मस्य पिङ्गलत्वप्रभृतिवर्णविशिष्टस्य सन्ति स एष आदित्यः पिङ्गलत्वादिवर्णविशिष्टोऽस्ति।।श्रीः।।

दृष्टान्तेन सिद्धान्तं स्पष्टयति—

तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमं चामुं चैवमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमं चामुं चामुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु नाडीसु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः।।२।।

यथा एक: महापथ: महंश्चासौ पन्थाश्च इति महापथ इमं अमुं च मार्गं आतत: सम्बध्य व्याप्त:, तथैव आदित्यश्च रश्मय: इमं लोकं अमुं परलोकं च व्याप्य आतता: ता: अमुष्मात् आदित्यात् प्रतायन्ते विस्तृता: भवन्ति, पुनर्नाडीषु सृता:, एवं ताभ्य: प्रतापमान: अस्मिन् आदित्ये सृप्ता: गता: एवं नाडीद्वारेणैव जीवं सूर्यरश्मय: आदित्यमभिनयन्ति अज्ञानिनां परावर्तनं ज्ञानिनां चापुनरावृत्तिरिति विवेक:।।श्री:।।

अथ ज्ञानिनो गतीमाह:—

तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति तं न कश्चन पाप्मा स्पृशति तेजसा हि तदा सम्पन्नो भवति।।३।।

यत्र एतत् येषु जीव: सुषुप्त: भगवत् स्नेहसमाधिसुखे निद्रित: समस्त: पूर्णतां गत: सम्प्रसन्न: निर्विकारसुखे निद्रित: समस्त: पूर्णतां गत: सम्प्रसन्न: निर्विकार तदा आसु नाडीषु पिङ्गलादिषु सृप्त: भवति प्राप्यते, तेजसा सम्पन्नो भवति योज्यते एनं कश्चन कोऽपि पाप्मा। ब्रह्मलोकप्रतिबन्धक: न स्पृशति न परामृशति।।श्री:।।

अथ मरणदशां वर्णयति—

अथ यत्रैतदबलिमानं नीतो भवति तमभित आसीना आहुर्जानासि माँ जानासि मामिति स यावदस्माच्छरीरादनुत्क्रान्तो भवति तावज्जानाति।।४।।

यदा अबलिमानं नास्ति बलं यस्मिन् सोऽबल: अबलस्य भाव अबलिमा, तं अबलिमानं बलाभावप्रयोज्य मरणसामीप्यं नीत: प्राप्त: तदा ये अभित: आसीना पुत्रादय: ते पृच्छन्ति मां जानासि शरीरं यावत् न उत्क्रान्त: तावज्जानाति परिचिनोति।।श्री:।।

आनन्तरीक दशां वर्णयति—

अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्व-माक्रमते स ओमिति वा होद्वामीयते स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छत्येतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम्।।५।।

अथ यत्र यदा एतच्छदीरात् उत्क्रामति गच्छति तदा एतै: रश्मिभि: किरणै: सौरै: ऊर्ध्वं आक्रम्यते, स ओम् इति उच्चै: मीयते शब्दं करोति। अनन्तरं यावत्

प्रमाणं कालं वा मनः क्षिप्येत् वेगेन गच्छेत् तदेव वेगेन आदित्यं सूर्यं गच्छति, इदमेव लोकद्वारं लोकयोः इह लोक परलोकयोः द्वारं विदषाम् ब्रह्मज्ञानां प्रपदनं प्रपद्यन्ते ब्रह्मलोकं येन तत् प्रपदनं ब्रह्मलोक प्रापकम्, अविदुषाम् अज्ञानिनाम् निरोधः निरुध्यन्ते येन तथाभूतः।।श्रीः।।

अथ प्रकरणमुपसंहरति—

तदेष श्लोकः। शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति।।६।।

व्याख्यात चरापि श्रुतिरयं पुनर्व्याख्यायते हृदयस्य शतं चैका एकोत्तरशतसंख्याः नाड्यो भवन्ति, तासां मध्ये एका सुषुम्ना मूर्धानम् अभिनिःसृता मस्तकद्वारमभिव्याप्य निर्गता तया ऊर्ध्वं आयन् ब्रह्मरन्ध्रेण गच्छन् अमृतत्वं अमृतभावं भगवतोनित्यकिङ्कर-स्वरूपं एति प्राप्नोति। अन्याः इतो व्यतिरिक्ता नाड्यः विश्वं उत्क्रमणे सर्वत्र योनिषु गमने निमित्ती भवन्ति। द्विरुक्तिः प्रकरणसमाप्तिसूचिका।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि अष्टमाध्याये षष्ठे खण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

सप्तमः खण्डः

अथेतः यावत् द्वादश खण्डं षड्भिशकलैः षडैश्वर्यसम्पन्नस्य आत्माभिधेयस्य परमात्मनो भगवतः समनुसन्धानं स्पष्टयितुं विरोचनेन्द्रप्रजापतिसंवादयुक्ता आख्यायिकात्मिका मनोहरतमा परिचर्चा प्रारभ्यते। देवराज इन्द्रः दैत्यराजश्च विरोचनः

द्वावपि विख्यातबलवीर्यवैभवौ त्रीणि कृतपराभवो समुल्लीलङ्घिसितभवौ प्रजापति सम्भवौ आत्मतत्त्वं समनुसन्धातुं प्रजापतिमुपाषेदतु तत्र च प्रकरणचतुष्टयकलेवराः आत्ममीमांसा।

प्रजापतिवचनमवतारयति—

य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको-ऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वा꣡ꣳश्च लोकानाप्नोति सर्वा꣡ꣳश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीहि ह प्रजापतिरुवाच।।१।।

एवं अपहतवाप्मत्वादि व्याख्यात चर गुणाष्टक संयुक्तः यः आत्मा स एव हृदयकमले अन्वेष्टव्यः परिमार्गितव्यः, विजिज्ञासितव्यः अन्वेषणेऽनुपलब्धो महापुरुषानुपसद्य विशेषेण जिज्ञासनीयः, चः आत्मानं अनुविद्य अनुकूल्येन लब्ध्वा वस्तुतस्तु अनुविद्य इत्यस्य समुपाश्रितङ् कृत्वा इत्यर्थः। विजानाति विज्ञानविषयी करोति।

भक्त्या मामभिजानाति (गी. १८-५५ इति स्मृतेः।)

इति प्रजापतिः उवाच प्रजापतिर्नाम कस्यपः न तु ब्रह्म।।श्रीः।।

अथ इन्द्रविरोचनोपसत्तिमवतारयति—

तद्धोभये देवासुरा अनुबुबुधिरे ते होचुर्हन्त तमात्मानमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वा꣡ꣳश्च लोकानाप्नोति सर्वा꣡ꣳश्च कामानितीन्द्रो हैव देवानामभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणां तौ हासं विदानावेव समित्पाणी प्रजापतिसकाशमाजग्मतुः।।२।।

तत् प्रजापत्युक्तात्मलक्षणं जज्ञकामप्राप्तीं च देवासुराः देवैःसहिता असुरा अनुबुबुधिरे कथंचित् ज्ञातवन्तः। नन्वत्र कथं नैकवद् भावः क्लीवत्वं च? तथा हि सूत्रं येषां च विरोधः शाश्वतिकः समुचितम् पृष्टम्। अत्र आत्मलक्षणश्रवणेन सञ्जात पुण्य-पुञ्जतः उभयेषां विस्मृतसात्विकविरोधत्वात् तन्मूलकक्लीवत्वैकभावाप्रसक्ते दोषपरिहारः। ते ऊचुः मन्त्रयाञ्चक्रुः हन्त आश्चर्ये विस्मये च यमनुविद्य आराध्यत्वेन ज्ञात्वा सर्वान् लोकान् कामांश्च आप्नोति तमात्मानं अपहत पाप्मत्वादि वसुलक्षणं लक्षितमन्विच्छामः मृगयामः। इत्थम् विचार्य समस्तदेवानां प्रतिनिधि इन्द्रः, असुराणां राजा विरोचनो द्वावपि स्व स्ववर्गकल्याणाय ज्ञातुं निश्चिक्कितु। देवानां मध्ये इन्द्रः प्रवव्राज जगाम, असुराणां मध्ये विरोचनः द्वावपि असंविदानौ ब्रह्मतत्वं न जानन्तौ समित्पाणी विद्यार्थिवेषौ प्रजापतिसकाशं कश्यपसविधे आजग्मतुः।।श्रीः।।

अथ तयोः उपसत्तिप्रकारमाहः—

तौ ह द्वात्रिंꣳशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतुस्तौ ह प्रजापतिरुवाच किमिच्छन्ताववास्तमिति तौ होचतुर्य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वाꣳश्च लोकानाप्नोति सर्वाꣳश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति भगवतो वचो वेदयन्ते तमिच्छन्ताववास्तमिति।।३।।

तौ द्वात्रिंशत् वर्षाणि ब्रह्मचर्यम् उषतु ब्रह्मचर्यव्रतनियमेन अवसतां अथ प्रजापतिः तयोरागमनकारणमपृच्छत् किमिच्छान्तावित्यादि, तदा तावुचतुः प्रजापतिवाक्यमनुवदन्तौ यः आत्मा भवदुक्तः तमिच्छन्तौ आवां ब्रह्मचर्यं अवास्तां व्यत्ययात् प्रथम पुरुष द्विवचनम्।।श्रीः।।

अथ शिष्ययोग्यतानुसारं परम्परया वर्णयत्यात्मतत्त्वं—

तौ ह प्रजापतिरुवाच य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेत्यथ योऽयं भगवोऽप्सु परिख्यायते यश्चायमादर्शे कतम एष इत्येष उ एवैषु सर्वेष्वन्तेषु परिख्यायत इति होवाच।।४।।

कश्यपः तावुवाच, यः एषः अतिसन्निकृष्टपुरुषः अक्ष्णि नेत्रे दृश्यते योगिभिः एष आत्मा परमात्मा इदमेव अमृतं मरणवर्जितम्, अभयम् भयशून्यं, ब्रह्म अतिशयेन वृहत् एतच्छ्रुत्वा तौ निजपक्षं प्रदर्शयन्तौ प्राहतुः, भगवः भवतु नाम अक्ष्णि दृष्टपुरुषः किन्तु यः अप्सु जलेषु परिव्यायते प्रतिविम्ब्यते आदर्शे च कतमः आत्मा प्रजापतिरवदत् एष एव अक्ष्णि दृश्यमानः सर्वेषु अन्तेषु चराचरेषु परिख्यायते अत्र आत्म प्रतीतिर्वस्तुतो नात्मा नायमात्मा, छायामात्र सः किन्तु अस्मिन्नेवात्मबुद्धिं कुर्वन्तौ समतुष्यतां इन्द्रविरोचनौ।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि अष्टमाध्याये सप्तमखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

अष्टमः खण्डः

एवं पूर्वपक्षं न कुर्वन्तौ असद् ग्राहिणौ शिष्यौ प्राहः प्रजापतिः।

उदशराव आत्मानमवेक्ष्य यदात्मनो न विजानीथस्तन्मे प्रब्रूतमिति तौ होदशरावेऽवेक्षाञ्चक्राते तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति तौ होचतुः सर्वमेवेदमां वां भगव आत्मानं पश्याव आलोमभ्य आनखेभ्यः प्रतिरूपमिति।।१।।

उदकस्य शरावे पात्रे आत्मानं वीक्ष्य यदि आत्मनः विषये न विजानीथ तन्मां पृच्छथ, ते तथा चक्राते पुनः पृष्टौ उक्तवन्तौ यत् नखतः शिरः पर्यन्तं लोमादिमन्तं आत्मानं प्रतिरूपम् पश्यावः।।श्रीः।।

प्रजापतिरभिप्रायः यत् उदकशरावे आत्मन च्छायां दृष्ट्वा ततः उरी करिष्यत् आत्मबुद्धिं यतो हि छाया पुरुषो नापहत पाप्मत्वादि लक्षणविशिष्टः अतः साध्वलङ्कारकरणाय आदिष्टौ अनेनास्य परिवर्तनेन कदाचित् एतस्मात् अपरिवर्तनीयं विलक्षणो विज्ञास्यते इति—.

तौ ह प्रजापतिरुवाच साध्वलङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षेथामिति तौ ह साध्वलङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोशरावेऽवेक्षाञ्चत्क्राते तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति।।२।।

प्रजापतिना आदिष्टौ सुवसनौ शोभनवस्त्रधारिणौ साध्वलङ्कृतौ शोभनालङ्कारौ परिष्कृतौ स्मश्रुनखलोमादिकौ उदशरावे विक्ष्येथां पश्यतम् तथा कृतवन्तौ किं पश्यथः? इति प्रजापतिरपृच्छत्।।श्रीः।।

अथ तयोरुत्तरमाह—

तौ होचतुर्यथैवेदमावां भगवः साध्वलङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ स्व एवमेवेमौ भगवः साध्वलङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृतावित्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तौ ह शान्तहृदयौ प्रवव्रजतुः।।३।।

तावुक्तवन्तौ यथा आवां अलङ्कारवसनपरिष्कारयुक्तौ तथेमावपि, प्रजापतिरुवाच एष आत्मा अमृतत्त्वादियुक्तः किं प्रजापतिरसत्यमवोचत्? न हि दृष्टान्तं यथा एकेव पुरुषः अनलङ्कृतः अन्यादृक् अलङ्कृतश्च अपर इव दृश्यते, तथैव जीवात्मापि शरीरवसनगुणभूषणसंस्कारपरिष्करणवैलक्षण्येन बाल इवाजरठ इति विभिन्नाकारो दृश्यते, किन्तु तौ देहमेव मन्वानावात्मानौ शान्तहृदयौ गतौ।

"नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्" इति नियमात् जानन्नप्यसद् ग्राहिणौ प्रजापतिरपृष्टो नावोचत्।।श्रीः।।

अथ प्रजापतेर्देवानां विरोचनस्य च विपरीतज्ञानमाह—

तौ हान्वीक्ष्य प्रजापतिरुवाचानुपलभ्यात्मानमननुविद्य व्रजतो यतर एतदुपनिषदो भविष्यन्ति देवा वाऽसुरा वा ते पराभविष्यन्तीति स ह शान्तहृदय एव विरोचनोऽसुराञ्जगाम तेभ्यो हैतामुपनिषदं प्रोवाचात्मैवेह महय्य आत्मा परिचर्य आत्मानमेवेह महयन्नात्मानं परिचरन्नुभौ लोकाववाप्नोतीमं चामुं चेति।।४।।

अथ दूरं गच्छन्तौ तौ अन्वीक्ष्य खिन्नमनाः प्रजापतिरुवाच यत् इन्द्र विरोचनौ अपहतपाप्मादि लक्षणां आत्मतत्त्वं अनुपलभ्य अननुविद्य असाक्षात् कृत्य प्रतीतज्ञानौ व्रजेतां, यतरे अहोवत देवाः असुरा वा एतदुपनिषद् एषैव उपनिषद् आत्मज्ञप्तृ एषाम् तथाभूताः पराभविष्यन्ति तथापि श्रुतवन्तौ विरोचनस्तु इमामेव विपरीतबोधां उपनिषदं तामेव समचिख्यपत्। यत् इह आत्मेव महय्य शरीरमेव पूज्यं आत्मैव परिचर्य सेवनीयः इमं पूजयन् परिचरन् सेवमानः इमं अमुं च लोकं प्राप्नोति।।श्रीः।।

असद् ज्ञान परिणाममाह:—

तस्मादप्यद्येहाददानमश्रद्दधानमयजमानमाहुरासुरो वतेत्यसुराणा ᳪ᳭ ह्येषोपनिषत्प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेनालङ्कारेणेति सᳪ᳭स्कुर्वन्त्येतेन ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्ते।।५।।

तस्मात् विपरीतज्ञानादेव अद्यापि साम्प्रतमपि इह लोके अददानं दानं न कुर्वन्तं अश्रद्धधानं श्रद्धाहीनं भवन्तं अयजमानं यज्ञं न कुर्वन्तं, आसुरः असुसु प्राणेषु तदवति

देहे च रमन्ते इति असुरा: तेषु भव आसुर इति आहु असुराणामेव इयमुपनिषत् प्रेतस्य इदं शरीरमेव भोजनेन वसनेन अलङ्कारैश्च संस्कुर्वन्ति मण्डशन्ति। अत एव शवं मण्डयन्त: परलोकं जेष्यन्ते इति ते समध्यवष्यन्ति।।श्री:।।

इति छान्दोग्योपनिषदि अष्टमाध्याये अष्टमखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

नवमः खण्डः

अथ इन्द्रस्य ब्रह्मविचारणामाह—

अथ हेन्द्रोऽप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श यथैव खल्वयमस्मिञ्छरीरे साध्वलङ्कृते साध्वलङ्कृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति।।१।।

अथ इन्द्र: सात्त्विकविचारतया चिन्तयन्नात्मानं एतद्भयं भीतिं ददर्श, यत् यथा बिम्बे अलङ्कृते प्रतिबिम्बोऽलङ्कृत: सुवसने सुवसन: एवमेव अन्धे अन्ध: स्रामे नासिकादि स्रामिणि श्राम: परिवृक्णे हस्तादौ छिन्ने छिन्न: एवं शरीरे नष्टे नष्टोऽपि भविष्यति विनश्यतीत्यस्य विनंक्षति इत्यर्थ: निकटनाशसम्भावनया वर्तमानसामीप्ये लट्।।श्री:।।

अथेन्द्रस्य पुनरुपसत्यमाह—

नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति स समित्पाणिः पुनरेयाय त ँ् ह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः सार्धं विरोचनेन किमिच्छन् पुनरागम इति स होवाच यथैव खल्वयं भगवोऽस्मिञ्छरीरे साध्वलङ्कृते साध्वलङ्कृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृतः एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे

परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति।।२।।

अत्राहं भोग्यं फलं न पश्यामि, अतः भूयः परावृत्य समित्पाणिः येयाय उपसन्नः प्रजापतिम् तमागमनकारणं पृष्ठः सन् पूर्ववदुवाच यथेत्यादि।।श्रीः।।

अथ प्रजापतिरुवाच—

एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि वसापराणि द्वात्रिंशतं वर्षाणीति स हापराणि द्वात्रिंशतं वर्षाण्युवास तस्मै होवाच।।३।।

हे मघवन्! एषः पक्षः एवमेव छायापुरुषो देहो वानात्मा द्वात्रिंशत् वर्षं ब्रह्मचर्यं वस अनुत्तिष्ठ तदनु तं व्याख्यास्यामि, तथैव कृतवतेन्द्रे द्वात्रिंशत् वर्षानन्तरं तस्मै प्रजापतिरुवाच इति सारांशः।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिदि अष्टमाध्याये नवमखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

दशमः खण्डः

अथेन्द्रं प्रति स्वप्नपुरुषमुपदिशति—

य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज सहाप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श तद्यद्यःशरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति यदि स्राममस्रामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति।।१।।

यः एषः स्वप्ने महीयमानश्चरति जाग्रतप्रपञ्चैरकृष्यमानतैव महीयमानता एष एव अभयत्वादि विशिष्ट आत्मा इति शान्तहृदयजिज्ञासः प्रगतः, किन्तु देवानप्राप्यैव मध्ये मार्गं भयं ददर्श भयाकारमाह यद्यपि स्वाप्नपुरुषः जाग्रतप्रपञ्चैर्न दुष्यते तथैव अस्मिन्नन्धेतस्य नान्धत्वं अस्मिन् स्रामत्वादुक्ते तस्मिन् न तथात्वं एतद्दोषेण न दुष्यति तस्मात् उदकशरावपुरुषतः किमप्यस्मिन्नधिकतरम्।।श्रीः।।

तथापि किमनुपपन्नमित्यत आह—

न वधेनास्य हन्यते न स्राभ्येण स्रामो घ्नन्ति त्वेवैनं विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव नाहमत्र भोग्यं पश्यामिति।।२।।

अस्य शरीरस्य वधेन हिंसनेन अयं न हन्यते अस्य स्राम्येण स्रावेण न स्रामः जाग्रदवस्थामतीतत्वात्, परन्तु स्वप्नपुरुषमपि धनन्तीव हिंसन्तीव विच्छादयन्तीव अतेव अप्रियवेत्ता इव प्रियाः प्रियं जानन्यथा रोदितीव रोदनं कुर्वाण इव च भवति। अतो नात्र भोग्यं पश्यामि, यतो हि अपहतपाप्मत्वाविलक्षणं नात्र घटते।।श्रीः।।

अथेन्द्रस्यपुनरुपसत्यमाह—

स समित्पाणिः पुनरेयाय त ँ्ह प्रजापति उवाच मघवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः किमिच्छन्पुनरागम इति स होवाच तद्यद्यपीदं भगवः शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति यदि स्राममस्रामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति।।३।।

एवं समृद्ध जिज्ञासः समित्पाणिः भूयः प्रजापतिमुपसन्नः कथं पुनरागमः इति हेतुं पृष्टः यथापूर्वमन्ववदत्।।श्रीः।।

अनुवादशेषं प्रजापत्युपदेशञ्चाह—

न वधेनास्य हन्यते नास्य स्राम्येण स्रामो घ्नन्ति त्वेवैनं विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव नाहमत्र भोग्यं पश्यामीत्येवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि वसापराणि द्वात्रिँ्शतं वर्षाणीति स हाऽपराणि द्वात्रिँ्शतं वर्षाण्युवास तस्मै होवाच।।४।।

नावधेनेत्यारभ्य नात्रभोगं पश्यामि एतदन्तोऽनुवादशेषः व्याख्यात चरः, एतच्छ्रुत्वा प्रजापतिराह मघवन्! एवमेव एषः बद्धः दुःखादिकं आरोपयति पुनः द्वात्रिंशत् वर्षं ब्रह्मचर्यं वश तथा कृतवतीन्द्रे प्रजापतिरुवाच।।श्रीः।।

इति छान्दोग्योपनिषदि अष्टमाध्याये दशमखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

एकादशः खण्डः

अथ सुषुप्तिपुरुषमुपदिशति—

तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः
स्वप्नं न विजानात्येष आत्मेति
होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति स ह
शान्तहृदयः प्रवव्राज स हाप्राप्यैव
देवानेतद्भयं ददर्श नाह खल्वयमेवꣳ
सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो
एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति
नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ।।१।।

यत्र एतत् सुषुप्तः निद्रितः सन् आत्मानं न विजानाति, एष आत्मा इति प्रजानन् इन्द्रः मध्ये भयं ददर्श यत् अयमपि पूर्व आत्मानं न विजानाति अतः विनाशं उपैति, अतो विमृत्युत्वलक्षणविरहात् नायं यथार्थ आत्मा।

अतः पुनरुपसीदति—

स समित्पाणिः पुनरेयाय तꣳ ह प्रजापतिरुवाच
मघवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः किमिच्छन्पुनरागम इति
स होवाच नाहं खल्वयं भगव एवꣳ सम्प्रत्यात्मानं
जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवा-
पीतो भवति नाहमत्रभोग्यं पश्यामीति ।।२।।

पुनरुपसन्नः समित्पाणिः किमिच्छन्पुनरागम इति प्रजापतिना पृष्टः पूर्ववदन्ववदत्।।श्रीः।।

अथ इन्द्रस्य भूयो ब्रह्मचर्यवासं प्रजापत्युपदेशं च वर्णयति—

एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते
भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्माद्वसाऽपराणि
पञ्च वर्षाणीति स हापराणि पञ्च वर्षाण्युवास
तान्येकशतꣳ सम्पेदुरेतत्तद्यदाहुरेकशतꣳ ह वै वर्षाणि
मघवान्प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास तस्मै होवाच ।।३।।

हे मघवन्! एवमेव एष पक्ष: अस्मात् अन्यत्र न किमपि अधुना तव प्रतिबन्धकोऽपि अल्पीयान् अत: पञ्च वर्षाणि ब्रह्मचर्येण वस एवं एकाधिकशतं वर्षाणि इन्द्रोब्रह्मचर्यमुवास प्रजापतौ इत्याहु: तदवसाने तस्मै इन्द्राय प्रजापति: प्राह।।श्री:।।

इति च्छान्दोग्योपनिषदि अष्टमाध्याये एकादशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं संपूर्णम्।।

।। श्री राघवः शन्तनोतु ।।

द्वादशः खण्डः

अथ आत्मन: पारमार्थ्यं वर्णयति—

मघवन्मर्त्यं वा इदꣳशरीरमात्तं मृत्युना तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानमात्तो वै स शरीरः प्रियाप्रियाभ्यां न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ।।१।।

मघवन् हे इन्द्र! इदं शरीरं वाव निश्चयेन मर्त्यं मरणधर्मावच्छिन्नं मृत्युना यमेन आत्तं गृहीतं अशरीरस्य देहरहितस्य अमृतस्य मरणधर्मवर्जितस्य आत्मन: जीवात्मन: अधिष्ठानं सशरीर: शरीरमुक्त: प्रियाप्रियाभ्यां आत्त: गृहीत: शरीरावच्छिन्नमेव प्रियाप्रिययो गृह्णीत: सशरीरस्य सत: देहभावापन्नस्य प्रियाप्रिययो: तन्मूलकशुभाशुभयो: अपहति: विनाशो। न अशरीरं अननुभूतशरीरधर्मं प्रियाप्रिये अनुकूलप्रतिकूले न स्पृशत: न शबलयत:।

अशरीराणां दृष्टान्तमाह—

अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत् स्तनयित्नुरशरीराण्येतानि तद्यथैतान्यमुष्मादाकाशात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते ।।२।।

यथा शरीररहितानि वायुघनविद्युतगर्जितानि आकाशात् समुत्थाय स्वेन रूपेण परं ज्योति:अभिनिष्पद्यन्ते प्राप्नुवन्ति।।श्रीः।।

दृष्टान्तमुपसंहरति—

एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमपुरुषः स तत्र पर्येति जक्षन्क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनꣳ स्मरन्निदꣳशरीरꣳ स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः ।।३।।

एवमेव एष जीवात्मा भगवत् कृपाप्रसादः अस्मात् शरीरात् उत्थाय भजनबलेन विस्मरणेनोत्थितो भूत्वा परं ज्योतिः श्रीरामाख्यं ब्रह्म उपसंपद्य समीपतः प्राप्य स्वेन रूपेण नित्यदासात्मना निष्पद्यते, जगत्सम्बन्धविस्मरणेन निष्पन्नो भवति। पश्चात् यच्छत् ददत् स्त्रीभि:यानैः क्रीडन्नपि इदं शरीरं उपजनं जन्मनिमित्तं न स्मरति केवलमात्मानं दासमनुभवति। यथोक्तं सुतीक्ष्णेन श्रीमानसे—

अस अभिमान जाइजनि भोरे ।
मैं सेवक रघुपति पति मोरे ।।श्रीः।।

(मा. ३।११।२१।)

एवं शब्दादीनुपदर्शयति आत्मसङ्कल्पसिद्धान्—

अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणमथ यो वे देदमभिव्याहराणीति स आत्माभिव्याहाराय वागथ यो वेदेदꣳ शृणवानीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम् ।।४।।

अथ अनन्तरं महाकाशमनु विषण्णं समुपलक्षितं स चाक्षुषः पुरुषः तस्य दर्शनाय चक्षुः यदेव जिघ्रीत तदघ्राणां यदा व्याहराणि इतीच्छति तदा व्याहाराय भाषणाय वाक्, यदा शृण्वति इति श्रोतुमिच्छति तदेव श्रोत्रं भवति।।श्रीः।।

अथ: मनस: सङ्कल्पमाह—

अथयो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा
मनोऽस्य दैवं चक्षुः स वा एष एतेन
दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते ।।५।।

एवं शब्दस्पर्शवचनादीनां ज्ञानमुक्त्वा मन आह पूर्वत्र अथ अनन्तरं य: आत्मा मन्वानि इति वेद स एवात्मा मन: अस्य चक्षु: नेत्रं अनेन सर्वान् कामान् पश्यति।।श्री:।।

प्रकरणं समाप्तं करोति—

य एते ब्रह्मलोके तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मत्तेषां
सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः स सर्वाꣳश्च
लोकानाप्नोति सर्वाꣳश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य
विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच ।।६।।

ब्रह्मलोके ये देवा: ते एतं आत्मानं उपास्ते सेवन्ते, एवं तेषां सर्वे कामा: आत्ता: अनेन एवं य: आत्मानं अनुविद्य उपास्य विजानाति स सर्वान् कामान् विजानाति इति प्रजापति: इन्द्राय उवाच। अत्रेदमवधेयं यदिन्द्र: प्रजापतिसकाशात् चतुरात्मतत्वमधिजज्ञे, तत्र त्रि: भयं ददर्श, शरीरावच्छिन्नत्वात् अन्तिमेऽभयम्। वस्तुतस्तु प्रजापतिर्वारत्रयं यथाक्रमं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्येन अवस्थात्रयेण समवच्छिन्नं आत्मानं निर्दिदेश। अन्तिमे अवस्थात्रयातीतं निरस्त पाञ्चभौतिकशारीरसम्बन्धं स्वीकृतभगवन्नित्यकैङ्कर्यानुबन्धं विगलितविश्वविषादं सम्प्रसादं नित्यमात्मानं समुपदिश्य पुरन्दरमभयं चकार प्रजापति: इत्येव विशिष्टाद्वैतवादराद्धान्त: श्रुतिसम्मत:। यत्तु जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिसमवच्छिन्नो जीवात्मा, तूर्यस्तु परमात्मैव, न सावस्था जीवात्मन: तदनर्गलं, अत्रत्य श्रुतिविरोधात्। तथा च श्रुति: 'एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरूपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' छा. ८.१२.३, अत्र विभावयत्तु सुधिय:, सम्प्रसाद: कर्ता स एव आत्मा, परंज्योति: कर्म स एव परमात्मा तं परम ज्योतिस्वरूपं परमात्मानमुपसंपद्यमानोऽपि न स्वं रूपं जहाति। अत आह— '**अस्मात् शरीरात् समुत्थाय**' शरीरं तत्संबन्धिनश्च व्यक्त्वा परं ज्योति: परमात्मानं उपसंपद्य सामीप्यमुक्तिविधया प्राप्य पुनश्च तस्य परमात्मनो भगवतो रामचन्द्रस्य समनुमत्य स्वेन रूपेण वास्तवेन नित्य भगवत् कैङ्कर्योपयोगिना चतुर्भुजेण रूपेण करणीभूतेन अभिनिष्पद्यते अभीष्टतया योज्यते।

इदमेवाह भगवान् बादरायणः ब्रह्मसूत्रे, यथा— '**भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च**' ब्र.सू. ४.४.२१, तात्पर्यमेतत् यत् परं ज्योतिरूपसंद्यापि स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यमानो जीवात्मा यं न परमात्मा भवति, न वा परमात्मा समानो भवति। '**स उत्तमः पुरुषः**' इत्यस्य तात्पर्यं यत् भोगेषु उत्तमपुरुषेण सह तस्य समानता, अन्यथा स्वेन रूपेण इति नोक्तं स्यात्। अत एव भगवान् व्यासः कथयति—'**जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च**' ब्र.सू. ४-४-१७ तस्मात् जटायुः भौतिकं गृध्रशरीरं त्यक्त्वा स्वेन चतुर्भुजरूपेणाभिनिष्पद्यमानो न जहौ जीवात्मभावम्। अत आह मानसकारः —

गीध देह तजी धरी हरिरूपा ।
भूषन बहु पट पीत अनूपा ।।
श्याम गात विशाल भुज चारी ।
अस्तुति करत नयन भरि वारी ।।

मानस ३-३२-१,२

इत्येव श्रौतारोद्धान्तः।।श्रीः।।

इति च्छान्दोग्योपनिषदि अष्टमाध्याये द्वादशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

त्रयोदशखण्डः

मन्त्राम्नायमाह—

श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्येऽश्व
इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव
राहोर्मुखात्प्रमुच्यधूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा
ब्रह्मलोकमभिसम्भवामीत्यभिसम्भवामीति ।।१।।

मन्त्रोऽयं अष्टमाध्यायभूमिकायामेव सगुणनिरूपणप्रसंगे व्याख्यातः।।श्रीः।।

इति च्छान्दोग्योपनिषदि अष्टमाध्याये त्रयोदशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

चतुर्दशः खण्डः

अथ आत्मानुभवमभिव्यनक्ति—

आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म तदमृतꣳ स आत्मा प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशां यशोऽहमनुप्रापत्सि स हाहं यशसां यशः श्वेतमदत्कमदत्कꣳश्वेतं लिन्दुमाभिगां लिन्दुमभिगाम्।।१।।

नामरूपयो: व्याकृतयो: निर्वहिता निर्वहणकर्त्ताता ते नामरूपे यदन्तरा यस्य ध्ये स आत्मा तदेवामृतं ब्रह्म प्रजापते: सभागृहं प्रविश्य अहं आत्मा अहमेव ब्राह्मणक्षत्रिय-वैश्यानां यश: सम्प्रपद्ये यत् अददकं दन्तहीनं श्वेतं लिन्दु स्त्रीचिह्नं तत्राभ्यगाम् न प्राप्नुयाम्।।श्री:।।

इति च्छान्दोग्योपनिषदि अष्टमाध्याये चतुर्दशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

पञ्चदशः खण्डः

अथफलश्रुतिमाह—

तद्धैतद्ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्य आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यताविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्याहिꣳसन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते।।१।।

तद्ब्रह्मोपदेशं ब्रह्माप्रजापतये 'कश्यप: मनवे वैवश्वताय, वैवश्वत: प्रजाभ्य:' एवं परम्पराप्राप्तं आचार्यकुलात् अधीत्य समावर्तनविधया कुटुम्बेषु अनासक्त: पवित्रे देशे

स्वाध्यायं अधीयानः निजशाखा वेदं पठन् सर्वान् धार्मिकान् विदधत् यावदायुः तीर्थेभ्यः यज्ञेभ्यः अन्यत्र हिंसां न कुर्वन् ब्रह्मलोकं सम्प्रपद्यते न च पुनरावर्तते पुनरागमनं न करोति।।श्री।।

नीलतामरसश्यमरामो राजीवलोचनः। विशिष्टाद्वैतमव्यग्रं राघवः शन्तनोतु नः।
छान्दोग्योऽपनिषद्ग्रन्थे विशिष्टाद्वैतलक्षणं श्रीराघवकृपाभाष्यं रामभद्रोऽभ्यभाषत।।

इति च्छान्दोग्योपनिषदि अष्टमाध्याये पञ्चदशखण्डे श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।।

।। श्रीराघवः शनेतनोतु ।।

।। श्रीमद्राघवो विजयतेतराम् ।।

।। श्रीमते रामानन्दाचार्याय नमः ।।

छान्दोग्योपनिषद् पर

श्रीराघवकृपाभाष्य

श्रीछान्दोग्योपनिषद् का
पदवाक्यप्रमाणपारावारीण-
कवितार्किकचूडामणि वाचस्पति-
श्रीजगद्गुरुरामानन्दाचार्य स्वामि रामभद्राचार्य-
प्रणीत श्रीमज्जगद्गुरुरामानन्दाचार्यसम्प्रदायानुसारि
विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त-प्रतिपादक श्रीराघवकृपाभाष्य ।।

।। श्रीमद्राघवो विजयतेतराम् ।।

।। श्रीमते रामानन्दाचार्याय नमः ।।

छान्दोग्योपनिषद् पर

श्रीराघवकृपाभाष्य

।। मंगलाचरणम् ।।

नवीनघनसौभगो भगवता स्मरध्वंसिना,
सदैव परिपूजितो भवभयापहः श्रीहरिः ।
शिशुः प्रणतरञ्जनः कुशलकोशलामण्डनो,
मदीय हृदयाजिरे विहरतु सदा राघवः ।।१।।

बिभ्रन्मारकतीं विभां विधुमुखो विद्योतमानो नमन्,
नाकाधीशशतार्चिताङ्घ्रिकमलो लोलल्लसद्वालकः ।
कौसल्यासुरवल्लिका प्रसवभूर्भूनन्दिनीवल्लभो,
भास्वद्भासुर-भाल-भाल-विभवः श्रीराघवश्चिंत्यते ।।२।।

यच्चानिवर्चनीयमद्वयमजं वेदान्तवेद्यं शिवं,
शान्तं शात्वतसाधितं शुचि सतां यत् स्वानुभूत्यास्पदम् ।
भावातीतमगोचरं किल गिरां वर्धिष्णु तत्वं परम्,
सीताराममयं चलाघनमहस्तद्ब्रह्म नित्यं नुमः ।।३।।

केचिन्नरं केऽपि परं तथान्ये तत्वं परे धर्ममयं भजन्ते ।
वयं त्वयोध्यापतिभाग्यसिन्धुनवोडुपं राघवमामनामः ।।४।।

वन्दारुवृन्दास्पदपारिजातं वृन्दारकाकीर्तितकम्रकीर्तिम्।
तं जातरूपाचलचारुलक्ष्मीं वन्दामहे वानरवारणेन्द्रम्॥५॥

अनालस्या वश्या निजनिगमबाणे सुमनसा,
समर्चन्त्यो भक्त्या निजपतिमलं ब्रह्मपरमम्।
विधुन्वन्त्यो नृणां निविडतिमिराज्ञानरजनीं,
जयन्तीड्या दिव्याः श्रुतय इदमा मादृशसुखाः॥६॥

नमामि परया भक्त्या देशिकं पौण्यसादनिम्।
यत्करुणाकटाक्षेण मूढोऽहं वस्तुतां गतः॥७॥

नत्वाथ वाल्मीकिनवावतारं,
गोस्वामिनं वैष्णवपुङ्गवांश्च।
छान्दोग्यमन्त्रेषु च रामभद्रा-
चार्योविपश्चिद् प्रगृणामि भाष्यम्॥८॥

सुमिर गनप गिरिजेश राम लक्ष्मण अरु सीता।
रामानन्दाचार्य जगद्गुरु आद्य पुनीता॥
हुलसी नन्दन बंदि विशिष्टाद्वैत मनोहर।
राघव कृपा भाष्य वेदान्त विशद सुसुमाकर॥
छान्दोग्योपनिषद विमल गुरुपद रज निजसिर धरौं।
रामभद्र आचार्य अब राष्ट्रगिरा सादर करौं॥

सम्बन्ध– अब परिपूर्णतम परमेश्वर श्री सीताराम जी के चरणाविन्द-मकरन्दरस के समास्वादन की इच्छा से मैं सभी वैष्णवों तथा विद्वानों की समस्त पारमार्थिक जिज्ञासाओं का समाधान करने की आकांक्षा से श्रीरामनन्दी श्रीवैष्णवाभिमत विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त के अनुसार ही छान्दोग्य उपनिषद् पर श्रीराघवकृपाभाष्य नामक प्रामाणिक एवं परिष्कृत विवरण प्रस्तुत कर रहा हूँ। छान्दोग्योपनिषद् सामवेद की तवलकारीय शाखा के अन्तर्गत पढ़ी गयी हैं। 'छन्दयन्ति छादयन्ति वा इति छन्दांसि' 'तानि गायन्ति इति छन्दोगाः तेषाम् इयम् इति छान्दोग्या' 'बाहुलकात् इदमर्थेऽपि सञ् नीबभावः' अर्थात् जो सब के मन को ब्रह्मविचार से आह्लादित कर देते हैं और जो ब्रह्मरूपरत्न को छादन अर्थात् वस्त्र से मणि की भाँति छिपा कर रखते हैं, उन अपौरुषेय वैदिक मन्त्रों को छन्द कहते हैं। उन्हीं को गाने वाले छन्दोग हैं और उन्हीं से सम्बद्ध होने से यह उपनिषद् छान्दोग्या है। यहाँ बाहुलक से इदं के अर्थ में अण् के स्थान पर सञ् प्रत्यय एवं नीब् का

अभाव हुआ। इसका सम्बन्ध यही है कि ज्ञान से ही मुक्ति सम्भव है और गीता जी के अनुसार संसार में ज्ञान से पवित्र कोई वस्तु नहीं है। वह ज्ञान चिद् और अचिद् से विशिष्ट ब्रह्मविषयक ही होगा क्योंकि चित् (जीव) अचित् (प्रकृति) परमात्मा के विशेषण हैं और इन दोनों में शरीरशरीरिभावसम्बन्ध है। इसीलिए श्वेताश्वतर उपनिषद् ने 'त्रिविधं ब्रह्ममेतत्' कहकर ब्रह्म का शरीर होने पर भी प्रकृति और पुरुष को ब्रह्म ही कह दिया। चूँकि भगवद्भक्ति में भी भगवान् के माहात्म्यज्ञान की आवश्यकता रहती है और वह ज्ञान भगवान् की उपासना से ही प्राप्त होता है, अतः ज्ञान और उपासना के समन्वय के रूप में ही इस उपनिषद् का प्रारम्भ हुआ। यदि कहें कि ज्ञान उपासना से प्राप्त होता है। इसमें क्या प्रमाण है ? तो भगवत्गीता ही परम प्रमाण है। गीता (१८/५५) में भगवान् स्वयं कहते हैं कि– भक्त मुझे भक्ति से पूर्णरूपेण जान सकता है। वस्तुतः ज्ञान का फल उपासना है। यदि कहें कि– वेद का मध्यकाण्ड होने के कारण उपासना ज्ञान का फल नहीं हो सकती, तो इसका उत्तर यह है कि– जो उपासनाकाण्डीय उपासना है वह तो ज्ञान का फल नहीं है, परन्तु जो ज्ञानकाण्ड के अन्तर्गत आयी हुई उपासना है वह ज्ञान का फल अवश्य है। यदि कहें कि– दोनों उपासनाओं में क्या अन्तर है ? तो अन्तर है– उपासनाकाण्ड की उपासना में भिन्न-भिन्न देवताओं का निर्देश होने के कारण यह फलाभिसन्धिपूर्विका है। अर्थात् इसमें कर्मफल की आकांक्षा रहती है। परन्तु ज्ञानकाण्डीय उपासना में तो इतना तादात्म्य हो जाता है कि सेवक-सेव्य-भाव का प्राकार भी ढह जाता है। वहाँ उल्टी गंगा बहती हैं। वहाँ सेवक ही सेव्य बन जाता है। भगवान् स्वयं भक्त की सेवा करने लगते हैं 'प्रपन्नजनसेविने'। रसखान भी भावपूर्ण शब्दों में कहते हैं—

ब्रह्ममय ढूँढ़ू पुराणन कानन वेद ऋचा सुन चौगुने चायन,
देख्यो सुन्यो कबहूँ न कहूँ वह कैसो स्वरूप औ कैसो सुभायन।
ढूँढत-ढूँढत हार थक्यो रसखान बतायो न लोग लुगायन,
देख्यो दुर्‌यो कहूँ कुँज कुटीर में बैठो पलोटत राधिका पायन।।

उपासनाकाण्ड की उपासना ज्ञान के पहले होती है और ज्ञानकाण्डीय उपासना ज्ञान के पश्चात्। वस्तुतः अन्ततोगत्वा ज्ञान और उपासना एक ही हो जाते हैं। ज्ञान की पराकाष्ठा ही भक्ति है तथा भक्ति की परिसीमा ही ज्ञान। इसीलिए तैत्तरीय उपनिषद् में श्रुति ने आकाशशरीर वाले ब्रह्म की उपासना का विधान किया। 'आकाशशरीरं ब्रह्म उपास्व'। जो लोग यह कहते हैं कि– अद्वैतज्ञान से अन्यत्र आत्यन्तिकी गाति नहीं मिल सकती, तो यह कहना भी गलत है क्योंकि जीव और ब्रह्म का स्वरूप से अद्वैत

सर्वसम्मत नहीं है। यदि कहें– छान्दोग्य उपनिषद् (७/२५/२) में यह कहा गया है कि– 'जो अद्वैत से अतिरिक्त जानते हैं वे अन्य राजा के अधीन हो जाते हैं और उनके लोक क्षीण हो जाते हैं' तो इस पर यह कहना है कि– उस प्रसंग को आपने ठीक से समझा ही नहीं, वहाँ अद्वैत की कोई चर्चा ही नहीं है, वहाँ तो 'एतत्' शब्द के पंचम्यन्त से अन् आदेश और तसिल् प्रत्यय करके 'अत:' शब्द निष्पन्न हुआ। उसका अर्थ यह है कि– जो लोग ब्रह्म के सम्बन्ध में 'अत:' अर्थात् इस सेवक-सेव्य-भाव से अतिरिक्त जानते हैं अर्थात् अपने को स्वामी तथा भगवान् को सेवक मानते हैं वे अन्य राजान: अर्थात् परमात्मा से अतिरिक्त मोह रूप राजा के अधीन हो जाते हैं। इसी प्रकार 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इस मन्त्र में भी व्याधिकरण बहुव्रीहि है। अर्थात् जिसकी ब्रह्म में शरणागतरूप संस्था है वही अमृतरूप भगवद्रस का अधिकारी है। यदि कहें कि 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा०उ०७/२/२५) इस मंत्र में अद्वैत ही कहा गया है, तो ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि यहाँ आत्माशब्द परमात्मा का वाचक है तथा यहाँ षष्ठी विभक्ति का सुपांसुलुक् (७/३/४१) से षष्ठीविभक्ति का लोप हुआ है एवं गुणवृद्धि करके आत्मैवेदं शब्द निष्पन्न हुआ। इस पक्ष में अर्थ होगा– यह सब परमात्मा का ही है। यदि कहें कि– आत्मा शब्द की परमात्मा की वाचकता में क्या प्रमाण है ? तो 'आत्मा शरीरे जीवे च जीविते परमात्मनि' यह कोष ही प्रमाण है।। श्री।।

इस प्रकार यह जो भी चर-अचर दीख रहा है, वह सब परमात्मा का ही है। इस व्याख्यान से 'मैं ब्रह्म हूँ' यह सिद्धान्त पूर्णरूप से खण्डित हो गया। क्योंकि यह जीव ब्रह्म हो ही नहीं सकता। दोनों की सत्ताएँ नित्य हैं 'नित्योनित्यानां' (कठ-१/३/१२)। यदि कहें कि 'तरति शोककात्मवित्' श्रुति ने आत्मवेत्ता का ही शोक सन्तरण कहा गया है तो यहाँ का आत्मशब्द भी परमात्मार्थक है। यदि कहें इस श्रुति में आत्मावेत्ता का शोकतरण कहा गया और श्वेताश्वतर (४/१९) में श्रुति ने ब्रह्मवेतृत्व का निषेध किया 'न च तस्यास्ति वेत्ता' यह तो बड़ा असामञ्जस्य हो गया। ठीक कह रहे हो, यही असामंजस्य हमारे दर्शन बीज हैं। 'आत्मवित्' कहकर श्रुति ने यत्किंचित् आत्मवेतृत्व का विधान किया है और 'न च तस्यास्ति वेत्ता' कहकर पूर्णतया आत्मज्ञता का निषेध किया है। क्योंकि कोई भी परमात्मा को पूर्णतया नहीं जान सकता। सभी लोग परमात्मा को यत्किंचित् ही जानते हैं क्योंकि परमात्मा का पूर्णरूप से निर्वचन नहीं किया जा सकता। उसका यत्किंचित् निर्वचन ही किया जा सकता है। केनोपानिषद् में प्रथम खण्ड में श्रुति ने यही व्याख्या दी है– 'ईश्वर

मन से मनन नहीं किये जा सकते, नेत्र से देखे नहीं जा सकते, कान से सुने नहीं जा सकते, नासिका से सूँघे नहीं जा सकते, त्वक् से स्पर्श नहीं किये जा सकते'। इसीलिए श्रुति उन्हें नेति-नेति कहती हैं। वाणी जड़ है और भगवान् विशुद्धचेतनघन। इसलिए यह वाणी भगवान् को पूर्ण रूप से कैसे कह सकती है 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी'। यदि कहें कि आपके दर्शन में अद्वैत से अन्तर क्या है ? क्योंकि वहाँ भी ब्रह्म को निर्वचन के अनर्ह कहा जाता है। ऐसा न कहें, दोनों में विषय का भेद है। हमारे दर्शन में 'अद्वैत' शब्द ब्रह्म का विशेषण है और वह भी विशिष्ट है अर्थात् हमारा ब्रह्म चित् और अचित् इन दोनों से विशिष्ट है। कार्य और कारण भेद से ब्रह्म दो प्रकार का है। जब वह अन्तर्यामी रूप से जीव के साथ रहता है तब उसकी कार्यब्रह्म संज्ञा हो जाती है और जीवशरीरानवच्छिन्न साकेत, गोलोक, वैकुण्ठ-विहारी ब्रह्म कारणब्रह्म कहलाता है और ये दोनों चित् और अचित्त से विशिष्ट होते हैं। इन्हीं की एकता अर्थात् विशिष्ट दो ब्रह्मसत्ताओं का अद्वैत ही विशिष्टाद्वैत है। यहाँ श्री सीताराम विशिष्टाद्वैतरूप ब्रह्म ही प्रमेय हैं और भगवत्कृपापात्र जीव ही उस ब्रह्म का प्रमाता है। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीन इसके प्रमाण हैं। जैसा कि मैंने श्रीरामानन्दसिद्धान्तचन्द्रिका में कहा है—

प्रमेयः श्रीरामः सगुणमगुणं ब्रह्म विमलम्।
प्रमातारो जीवा भजनरसिका मैथिलिपतौ ।।

प्रमाणं प्रत्यक्षं श्रुतिवचनमेवानुमितिकम्।
गुरू रामानन्दः प्रणिगदति वेदान्तनिगमे ।।

(श्रीरामानन्दसिद्धान्तचन्द्रिका मं० ९)

यद्यपि जीव और ब्रह्म के भेद में सहस्रों श्रुतियाँ प्रमाणभूत हैं जैसे- 'द्वासुपर्णा' (मु० ३/१/१) 'छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति' (कठ० १/३/१) इत्यादि। फिर भी जहाँ अभेदपरक श्रुतियाँ हो वहाँ सम्बन्धनिबन्धन अद्वैत मानना चाहिए। क्योंकि श्रुतियों और स्मृतियों में एकत्व सम्बन्ध का पर्यायवाची है। भागवत् जी के सातवें स्कन्ध में 'सम्बन्धाद् वृष्णाया' कह कर दशवें स्कन्ध में उसी सम्बन्धशब्द का पर्यायवाची ऐक्यं कहा गया। ईशावास्योपनिपषद् की सातवीं श्रुति में भी स्पष्ट कहा गया है कि– जो ब्रह्म के साथ अपने सम्बन्ध का चिन्तन करता है उसमें शोक और मोह नहीं होते। जो कुछ लोग भेदवादिनी श्रुतियों का अपने पक्ष में समाधान न पाकर बौखलाकर उनमें बाध्य-बाधक-भाव की कल्पना कर लेते हैं यह तो बहुत ही अनुचित है। क्योंकि प्रत्येक

श्रुति नित्य है और सबमें समानरूप से एकत्वावच्छिन्न प्रमाणताच्छेदक है। किसी भी श्रुति में अप्रमाण्य नहीं देखना चाहिए। क्योंकि वह भगवान् का निःश्वास है। अतः जहाँ-जहाँ जीव और ब्रह्म में अभेद की प्रतीति हो रही हो वहाँ-वहाँ शरीरशरीरिभावसम्बन्ध से अभेद समझ लेना चाहिए, स्वरूप से कभी नहीं। हमारे यहाँ जीवात्मा चित् और परमात्मा अचित् है और यही दोनों भगवान् के शरीर हैं। इसलिए इनमें भी ब्रह्म का व्यवहार होता है। जैसे— शरीर के काले गोरे होने पर भी उसका शरीरी में व्यवहार होता है— मोहन गोरा, सोहन काला आदि। इस दर्शन में प्रकृति, जीव और ब्रह्म ये तीन तत्व हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द में तीन प्रमाण हैं। ब्रह्म प्रमेय और जीव प्रमाता है। प्रपत्ति ही हमारा योग है, विशिष्टाद्वैत ही वाद है, षड्क्षर राममन्त्र द्वादशाक्षर सीताराम मन्त्र इसमें ज्ञेय हैं। श्री सीताराम ही ध्येय हैं जीवात्मा अणु एवं बहुत हैं। हमारे यहाँ सत्कार्यवाद तथा परिणामवाद भी स्वीकृत हैं। परिणाम भगवान् के शरीरभूत प्रकृति में होता है। स्वस्वरूप, परस्वरूप, उपायस्वरूप, फलस्वरूप और विरोधिस्वरूप ये पाँच ज्ञातव्य विषय हैं। इन्हीं सब सैद्धान्तिक पक्षों का यथा अवसर स्पष्टीकरण किया जायेगा ॥ श्री ॥

॥ शान्तिपाठ ॥

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥

ॐ शान्तिः। शान्तिः॥ शान्तिः॥।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– ऋषि परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि– हे परमेश्वर! मेरे शरीर के सभी अंग, वाणी, पाँचों प्राण, नेत्र, श्रवण, आयु, बल तथा मेरी सभी इन्द्रियाँ आपके द्वारा दी हुई आध्यात्मिक शक्ति से पुष्ट हो जायें एवं उपनिषदों में प्रतिपादित, सम्पूर्ण जड़-चेतन में विराजमान, परब्रह्म परमात्मा का मैं निराकरण न करूँ। अर्थात् सभी प्राणियों को ब्रह्ममय समझकर उनका आदर करूँ, ब्रह्म भी मेरा निराकरण न करे और मुझे अपना कृपापात्र समझें। इस प्रकार परमात्मा की भक्ति में निरत मुझ साधक में उपनिषद् में कहे हुए सभी सिद्धान्त उपस्थित हो जायें। त्रिविध ताप की शान्ति के लिए त्रिरुक्ति की गयी ॥ श्री ॥

।। प्रथम अध्याय ।।

।। प्रथम खण्ड ।।

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत । ओमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम् ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– 'ओम्' इस प्रकार श्रुतिप्रसिद्ध एक अक्षर वाला प्रणव ही उद्गीथ है। इसे ही सामवेदी ऊँचे स्वर में गाते हैं। उद्गीथ उसी का व्याख्यान है। अत: इसकी उपासना करें।। श्री ।।

संगति– अब उद्गीथ की सर्वाशयता कहते हैं—

एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रसः । अपामोषधयो रस ओषधीनां पुरुषो रसः पुरुषस्य वाग्रसो, वाच ऋग्रस ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथो रसः ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– सम्पूर्ण जीवों का पृथ्वी रस अर्थात् सार है, क्योंकि प्राणी पृथ्वी पर रहते हैं। पृथ्वी का भी सार है जल, जल का सारसर्वस्व हैं ओषधियाँ और ओषधियों का सारांश यह त्रैवर्णिक मनुष्य है, उसका सार है वाणी, वाणी का सार हैं वेद मन्त्र, मन्त्रों का सार है सामवेद और सामवेद का भी उद्गीथ सारसर्वस्व है।। श्री ।।

स एष रसाना ँ् रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– पूर्व मन्त्र में जिन पृथ्वी, जल, ओषधी, पुरुष, वाणी, ऋचा, साम, उद्गीथ रसों की चर्चा की गयी है उनमें उद्गीथ आठवां परमपूज्य एवं उत्कृष्ट रस है।। श्री ।।

कतमा कतमर्क्कतमत्कतमत्साम कतमः कतम उद्गीथ इति विमृष्टं भवति ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– विषय को स्पष्ट करने के लिए प्रश्न करते हैं। ऋक्साम उद्गीथों में ऋचा का क्या आकार है ? साम का क्या स्वरूप है ? तथा उद्गीथ कैसा है ? ।। श्री ।।

वागेवर्क् प्राणः सामोमित्येतदक्षरमुद्गीथः ।
यद्वा एतन्मिथुनं यद्वाक्च प्राणश्चर्क च साम च ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब विषय को स्पष्ट करते हुए उत्तर देते

हैं– वाणी ही ऋचा है प्राण ही साम है, ओंकार उद्गीथ है। जिस प्रकार संसार में स्त्री-पुरुष के युग्म से सृष्टि की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार यहाँ भी ऋचा और साम का युग्म है तथा वाणी और प्राण का॥ श्री॥

तदेतन्मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे सꣳसृज्यते यदा वै।
मिथुनौ समागच्छत आपयतो वै तावन्योऽन्यस्य कामम्॥६॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस जटिल प्रकरण को लौकिक व्यवहार से समझाया जा रहा है। इस प्रकार ऋचा और साम का तथा वाणी और प्राण का युग्म इस अविनाशी ॐ अक्षर में समागत होता है। जिस प्रकार पति-पत्नी मिलकर अभिलाषा की पूर्ति करते हैं उसी प्रकार ऋचा, साम, वाणी तथा प्राण एक दूसरे के पूरक हैं॥ श्री॥

आपयिता ह वै कामानां भवति।
य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते॥७॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब रुचि बढ़ाने के लिए फलश्रुति कहते हैं— जो ऋचा, साम, वाणी तथा प्राण इनकी युग्मपरम्परा तथा उद्गीथरूप ओंकार को जानता है, वह सभी कामनाओं का पूरक बन जाता है॥ श्री॥

तद्वा एतदनुज्ञाक्षरं यद्धि किं चानुजानात्योमित्येव तदाह एषा एव समृद्धिर्यदनुज्ञा। समर्धयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते॥८॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार यह ओंकार अनुज्ञारूप है। अनुज्ञा का अर्थ है स्वीकृति। जैसे किसी को अनुमति देते समय व्यक्ति ओम् का उच्चारण करता है। इस प्रकार जो जानता है अर्थात् जो अनुमति और समृद्धि रूप में ओंकार का उच्चारण करता है वह सम्पूर्ण कामनाओं का भाण्डागार बन जाता है अर्थात् उसकी सभी कामनायें समृद्ध हो जाती हैं॥ श्री॥

तेनेयं त्रयी विद्या वर्तते ओमित्याश्रावयत्योमिति।
शꣳसत्योमित्युद्गाय्यत्येतस्यैवाक्षरस्यापचित्यै महिम्ना रसेन॥९॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसी ओंकार से कर्म, उपासना, ज्ञान तथा ऋक्, यजु, साम ये वेदत्रयी और विद्यात्रयी विराजमान हैं। ॐ कहकर ही आश्रावक वेदमन्त्र का श्रवण कराता है। ॐ के उच्चारण से ब्राह्मणाच्छंशी शंसन करता है ॐ कहकर उद्गाता ऊँचे स्वर में सामवेद गाता है॥ श्री॥

तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद,
नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव
विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं,
भवतीति खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति ।।१०।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– उसी ओंकार को माध्यम बनाकर, ओंकार के रस को जानने वाले तथा उसका रहस्य न जानने वाले ये दोनों ही उपासना करते हैं। परन्तु इन दोनों में बहुत अन्तर है। विद्या अर्थात् ज्ञान तथा अविद्या यानि अज्ञान ये दोनों ही आकाश और पाताल जैसे विभिन्न स्वभाव के हैं। जो व्यक्ति कोई भी कार्य विद्या अर्थात् ज्ञानपूर्वक आस्तिक बुद्धि से श्रुतिविहितपद्धति के अनुसार करता है वह वीर्यवत्तर अर्थात् उत्कृष्ट होता है। इससे सिद्ध यह हुआ कि– कोई भी कार्य ज्ञानपूर्वक करना चाहिए इसीलिए महाभारत में कहा गया है कि 'ज्ञात्वा ज्ञात्वा प्रकुर्वीत'। इसी श्रुति ने ज्ञान और कर्म का समन्वय भी कह दिया। हाँ ब्रह्मज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् फलाभिसन्धि पूर्वक किये हुए कर्म समाप्त हो जाते हैं। 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' (गीता ४/३३) अर्थात् हे अर्जुन ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् सम्पूर्ण कर्म समाप्त हो जाते हैं, परन्तु भगवदीय कर्म कभी समाप्त नहीं होते क्योंकि जीव भगवान् का सेवक है यही तो ज्ञान है और सेवक-सेव्य भाव के बोध में भगवत्कैंकर्यरूप कर्म तो रहता ही है। यही इस खण्ड का सार है।। श्री ।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर प्रथम अध्याय के प्रथम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। द्वितीय खण्ड ।।

सम्बन्ध– अब प्राण की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करने के लिए एक आख्यायिका प्रस्तुत की जा रही है। इसमें श्रुति ने प्राण को ही सबका उपास्य बताया है। यहाँ प्राण शब्द से परमपिता परमात्मा का ग्रहण है इसीलिए बादरायणाचार्य भगवान् वेदव्यास ने भी ब्रह्मसूत्र (१/१/२३) में प्राण शब्द से परमात्मा को ही परिलक्षित किया है। 'अत एव प्राणः' (ब्र०सू० १/१/२३) भगवती श्रुति ने भी 'स उ प्राणस्य प्राणः' कहकर परमात्मा को ही प्राणरूप में रेखांकित किया है।। श्री ।।

देवासुरा ह वै यत्र संयेतिर उभये प्राजापत्यास्तद्ध।
देवा उद्गीथमाजह्रुरनेनैनानभिभविष्याम इति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अति प्राचीन काल की यह घटना प्रसिद्ध है कि परस्पर विरोधी कश्यप के पुत्र देवताओं और असुरों ने एक बार उद्गीथ का अनुष्ठान किया और दोनों ही इस उद्देश्य से आशान्वित थे, हम इस उद्गीथ से अपने शत्रुओं को दबा देंगे।। श्री ।।

व्याख्या– 'देव' शब्द का असुर शब्द के साथ द्वन्द्वसमास हुआ है। चूँकि इनका परस्पर विरोध शाश्वतिक है इसलिए यहाँ भी अहिनकुलं की भाँति समाहारद्वन्द्व एकवद्भाव और नपुंसकलिङ्ग होना चाहिए परन्तु यहाँ 'व्यत्ययो बहुलम्' सूत्र से लिंग और वचन व्यत्यय होने के कारण 'देवासुराः' शब्द बन गया। जिनमें दैवी सम्पत्ति की प्रधानता है ऐसे इन्द्रादि देव ही यहाँ देव शब्द से कहे गये हैं। गीता जी के सोलहवें अध्याय में, सत्व संशुद्धि, ज्ञानयोग व्यवस्थिति, दान, दम, यज्ञ स्वाध्याय, तप, आर्जव, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपैशुन (चुगुलखेरी न करना) भूतदया, अलोलुप्त्व, मार्दव, ह्री, अचापल, तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह, अतिमानिता का अभाव ये छब्बीस दैवी गुण इन्द्रादि देवताओं में निरन्तर रहते हैं और ये दिव्यस्तवनों से भगवान् की स्तुति करते रहते हैं। इसलिए इन्हें देव कहते हैं— भागवत (१२/१३/१) में भगवान् शुक्राचार्य ने स्पष्ट कहा है कि– ब्रह्म, वरुण, इन्द्र, रुद्र, मरुत ये सभी देवगण दिव्य स्तवों से भगवान् की स्तुति करते हैं। गीता-(११/२२) में स्वयं अर्जुन कहते हैं— हे परमात्मन्! ग्यारहों रुद्र, बारहों आदित्य, आठों वसु, साध्य, सभी विश्वदेव, दो अश्विनी कुमार, उञ्चास मरुद्गण, ऊष्ण दूध का पान करने वाले पितरगण, गन्धर्व, यक्ष, असुर, सिद्ध समूह सभी विस्मित होकर आपको निहार रहे हैं और स्तुति कर रहे हैं। संस्कृत में प्राण को असु कहा जाता है उन असु अर्थात् प्राणों में रमने वाले और सुरों के विरोधी, दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य (कठोर भाषण) और अज्ञान इन छह गुणों से युक्त आसुर स्वभाव वाले लोग असुर ही कहे जाते हैं।। श्री ।।

संगति– अब क्रम से प्राणोपासना का प्रपंचन करते हैं।। श्री ।।

ते ह नासिक्यं प्राणमुद्गीथमुपासांचक्रिरे। तँ् हासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं जिघ्रति सुरभि च दुर्गन्धि च पाप्मना ह्येष विद्धः ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब देवताओं ने नासिका में रहने वाले

प्राण की उपासना की परन्तु असुरों ने उसे पाप से विद्ध कर दिया अर्थात् वह भजन से विमुख हो गया तथा लोक में सुगन्ध तथा दुर्गन्ध दोनों को सूँघने लगा यही उसका पाप है ।। श्री ।।

संगति– इस प्रकार अन्य उपासना का भी निर्देश करते हैं ।। श्री ।।

अथ ह वाचमुद्गीथमुपासांचक्रिरे
ता ँ् हासुराः पाप्मना ।
विविधुस्तस्मात्तयोभयं वदति सत्यं
चानृतं च पाप्मना ह्येषा विद्धा ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यहाँ से निराश हुए देवताओं ने उद्गीथ-रूप वाणी की ही उपासना की। फिर भी असुरों ने उसे पाप से भेद दिया और वह शब्द तथा अपशब्द दोनों बोलने लगी तब देवता चिन्तित हुए ।। श्री ।।

अथ ह चक्षुरुद्गीथमुपासांचक्रिरे । तद्धासुराः
पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं
पश्यति दर्शनीयं चादर्शनीयं
च पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब देवताओं ने चक्षुरूप उद्गीथ की उपासना की उसे भी राक्षसों ने पाप से विद्ध कर दिया इसलिए वह दर्शनीय और अदर्शनीय दोनों को देखती है क्योंकि आँख अब पाप से विद्ध हो चुकी है। उसे निहारना चाहिए था कोटि-कोटि कन्दर्प कमनीय भगवान् राम को परन्तु परिस्थिति बदल गयी और अब नेत्र की शक्ति संसार में लग गयी ।। श्री ।।

व्याख्या– भगवान् की उपासना करने वाले नेत्र जब असुरों द्वारा पाप विद्ध हो गये तब वे भगवद्दर्शन से दूर हो गये और विषयलोललोचन यह लोक राजीवलोचन भगवान् श्रीराम को भूल गया ।। श्री ।।

अथ ह श्रोत्रमुद्गीथमुपासांचक्रिरे
तद्धासुराः पाप्मना विवुधुस्तस्मात्ते-
नोभय ँ् शृणोति श्रवणीयं
चाश्रवणीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर देवताओं ने श्रवणरूप उद्गीथ की उपासना की। उसे भी असुरों ने पाप से विद्ध कर दिया। इसी से वह

श्रोतव्य और अश्रोतव्य दोनों सुनता है। क्योंकि वह पाप से विद्ध है। तात्पर्य यह है कि– पुण्य समाप्त होने के कारण कान भगवत्कथा से विमुख हो जाते हैं। साधना टूट जाती है। भले ही वह शुभ श्रवण हो या अशुभ। वैष्णव जन तो भगवत्कथा से विहीन वैकुण्ठ को भी नहीं जाते। महाराज पृथु स्वयं कहते हैं– जहाँ पर महात्माओं के मुखारविन्द से विनिश्रित आपके चरणकमल का मकरन्द न हो ऐसा वैकुण्ठ मुझे कभी नहीं चाहिए। आप तो कृपा करके आपश्री की कथा सुनने के लिए मुझे दसहजार कान दे दीजिए यही मेरे लिए वरदान हुआ॥ श्री॥

अथ ह मन उद्गीथमुपासांचक्रिरे
तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्ते-
नोभयँ संकल्पयते संकल्पनीयं
चासंकल्पनीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम्॥६॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब निराश देवताओं ने मन की उद्गीथ रूप में उपासना की, उसे भी असुरों ने पाप से विद्ध कर दिया। इसीलिए वह भगवान् की मानसी पूजा छोड़कर संसार के शुभ-अशुभ दोनों संकल्प करता है। क्योंकि वह पाप से विद्ध हो गया है॥ श्री॥

अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे।
तँ हासुरा ऋत्त्वा विदध्वंसुर्यथाश्मानमाखणमृत्वा विध्वँसेत॥७॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर प्राण, चक्षु, श्रोत्र तथा मन की असमर्थता को देखकर उदास हुए देवताओं ने जो यह सबसे मुख्य परमात्मा रूप प्राण हैं इसी की उपासना की। इसे भी असुरों ने पाप से विद्ध करना चाहा किन्तु जिस प्रकार पत्थर से टकराकर गीली मिट्टी का ढ़ेला टूट जाता है उसी प्रकार परमात्मरूप प्राण को प्राप्त कर असुर स्वयं ध्वस्त हो गये। अर्थात् प्राण आदि को पाप से विद्ध करके भी असुर प्राण को पाप से विद्ध नहीं कर पाये। क्योंकि भगवान् अपहतपाप्मा हैं अर्थात् परमात्मा पाप को नष्ट कर देते हैं पाप उन्हें नष्ट नहीं कर पाता॥ श्री॥

एवं यथाश्मानमाखणमृत्वा विध्वँसत एवँ हैव स विध्वँसते।
य एवंविदि पापं कामयते यश्चैनमभिदासति स एषोऽश्माखणः॥८॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब प्रकरण का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि– जिस प्रकार विशाल शिलाखण्ड को पाकर आखण अर्थात् कुदाल से

खोदा हुआ मिट्टी का टुकड़ा नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है उसी प्रकार यह रहस्य जानने वाले के प्रति किया गया पाप, स्वयं नष्ट हो जाता है। क्योंकि वह तो भक्त के लिए पर्वत से टकराये हुए मिट्टी के ढ़ेले के समान ही है॥ श्री॥

नैवैतेन सुरभि न दुर्गन्धि विजानात्यप-
हतपाप्मा ह्येष तेन यदश्नाति
यत्पिबति तेनेतरान् प्राणानवति एतमु
एवान्ततोऽवित्त्वोत्क्रामति व्याददात्येवान्तत इति ॥९॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसलिए यह प्राण न तो सुगन्ध-दुर्गन्ध जानता है और न ही शब्द-अपशब्द, दृश्य-अदृश्य तथा संकल्पनीय और असंकल्पनीय को भी नहीं समझता है क्योंकि अपहत पाप्मा है अर्थात् इसने पाप और पापी दोनों को समाप्त किया है, इससे यह जो खाता है जो पीता है उससे अन्य की रक्षा भी करता है। इसको जानकर अन्ततोगत्वा साधक गोपनीय भावों का विस्तार करता है॥ श्री॥

त ँ् हाङ्गिरा उद्गीथमुपासांचक्र एतमु।
एवाङ्गिरसं मन्यन्तेऽङ्गानां यद्रसः ॥१०॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्राण की सर्वप्रथम उद्गीथ रूप में महर्षि अंगिरा ने उपासना की थी इसीलिए इसे आंगिरस कहते हैं। क्योंकि यह अंगिरा का उपास्यरूप सम्बन्धी है अथवा इसके अंगों में रस है इसलिए भी यह आंगिरस है॥ श्री॥

तेन त ँ् ह बृहस्पतिरुद्गीथमुपासांचक्र एतमु।
एव बृहस्पतिं मन्यन्ते वाग्घि बृहती तस्या एष पतिः ॥११॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्राण की उद्गीथरूप में बृहस्पति ने उपासना की थी इसलिए इसको बृहस्पति कहते हैं। क्योंकि वाणी को बृहती कहा जाता है। और उसके पति होने से इसे बृहस्पति कहते हैं यहाँ 'तद्बृहताः करपत्योः चोर्देवतयोः' इस वार्तिक से'तकार' का लोप और 'सुट्' का आगम हो जाता है॥ श्री॥

तेन त ँ् हायास्य उद्गीथमुपासांचक्रु एतमु।
एवायास्यं मन्यन्त आस्याद्यदयते ॥१२॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्राण की 'आयास्य' नामक महर्षि ने उद्गीथरूप में उपासना की इसलिए उसका भी नाम आयास्य पड़ गया अथवा

यह 'आस्य' अर्थात् मुख से ही सर्वत्र गमन करता है इसलिए भी इसे आयास्य कहते हैं।। श्री ।।

तेन तँ् ह बको दाल्भ्यो विदांचकार।
सह नैमिषीयानामुद्गाता बभूव स ह स्मैभ्यः कामानागायति ।।१३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार इस प्राण के उद्गीथ उपासना रहस्य को परब्रह्मवेत्ता दाल्भ्य ने जाना और वे नैमिषी महर्षि गीत के उद्गाता बन बैठे और वे नैमिषी महर्षियों के प्रति प्राणोद्गीत रहस्य को आदरपूर्वक गाते हैं।। श्री ।।

आगाता ह वै कामानां भवति य एतदेवं।
विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्त इत्यध्यात्मम् ।।१४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार जो जानता है और प्रणव उद्गीथ की उपासना करता है वह सम्पूर्ण कामनाओं का गायक बन जाता है अर्थात् उसके कथनमात्र से साधक को सभी कामनायें मिल जाती हैं।। श्री ।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर प्रथम अध्याय के द्वितीय खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। तृतीय खण्ड ।।

सम्बन्ध– अब उद्गीथ के प्रतीकों में उपासना क्रम का निर्देश करते हुए भिन्न-भिन्न प्रतीकों में विधिरूप से उपासना का वर्णन करते हैं। उनमें सबसे पहले सूर्य में उद्गीथबुद्धि ।। श्री ।।

अथाधिदैवतं य एवासौ तपति
तमुद्गीथमुपासीतोद्यन्वा एष प्रजाभ्यः।
उद्गायति उद्यँ् स्तमोभयमपहन्त्यपहन्ता
ह वै भयस्य तमसो भवति य एवं वेद ।।१।।

रा०कृ०भा सामान्यार्थ– जो यह सूर्य तप रहे हैं, उन्हीं को उद्गीथ मानकर उपासना कर विषय बनाना चाहिए। वह उदित होकर सम्पूर्ण प्रजा का हित करते हैं और ऊँचे स्वर में सामवेद गाते हैं तथा उदित होकर सभी अंधकारों को दूर करते हैं। जो इस प्रकार जानता है वह भी लोक-परलोक दोनों के अन्धकार को दूर कर लेता है।। श्री ।।

व्याख्या– यहाँ 'अधिदैवत' शब्द 'देव' शब्द से स्वार्थ में 'तल्' तथा 'अण्' प्रत्यय करके अधि उपसर्ग के साथ अव्ययीभावसमास करके बनता है। यहाँ दो स्वार्थिक प्रत्यय करने का तात्पर्य यह है– शस्त्र विहित उपासना करने पर साधक यथेच्छ दोनों लोकों को प्राप्त कर लेता है। सूर्य की उद्गीथरूप उपासना का तात्पर्य यह है कि– सूर्य सगुणरूप भगवान् के विग्रह हैं। इन्हीं में भगवान् नारायण निवास करते हैं जैसे— 'ध्येय: सदा सवितृ-मण्डलमध्यवर्ती' इसीलिए इन्हें सूर्यनारायण कहते हैं। यहाँ सप्तमी समास है। 'सूर्ये नारायण:' अर्थात् सूर्य मण्डल में नारायण का निवास है। वस्तुतस्तु यहाँ नारायण शब्द पूर्णरूप से भगवान् का वाचक है। 'न रमते इति नर:' जो संसार के भोगों में नहीं रमते उन्हीं नरपति, चक्रवर्ति दशरथ के अयन अर्थात् निवास अयोध्या में प्रकट होने से भगवान् राम नारायण हैं। 'नरति शरणं गच्छति, नारयति शत्रून् क्षयं गमयति, न राति रामं इति नरो दशरथ:' महाराज दशरथ भगवान् राम को ही शरण रूप में स्वीकारते हैं शत्रुओं का संहार करते हैं और अपने श्रीराम को सहजता से किसी को नहीं देते ऐसे नर दशरथ के अयन में विहरण करने वाले भगवान् राम ही नारायण हैं। इसलिए रामस्तवराज में सन्तकुमार कहते हैं— 'सूर्यमण्डलमध्यस्थं रामं सीतासमन्वितम्'। यदि कहें कि इस व्याख्यान में श्रुति का क्या व्याख्यान है ? तो ईशावास्योपनिषद् के सोलहवां मन्त्र इसमें परम प्रमाण हैं। गायत्री मन्त्र में सवितुर्देवस्य कहकर श्रुति ने बहुत स्पष्ट प्रमाण प्रस्तुत किया है। यहाँ नीलस्य घटस्य की भाँति विशेषणविशेष्य षष्ठी नहीं अपितु सम्बन्ध की षष्ठी है। अर्थात् सविता याने सूर्य के ही देवता श्रीराम के श्रेष्ठ तेज का हम ध्यान करते हैं। इसलिए वाल्मीकि रामायण में भगवान् राम को सूर्य का भी सूर्य कहा गया है। वे उदित होकर सबका कल्याण करते हैं। इससे उनमें उद्गीथ की भावना करनी चाहिए ॥ श्री ॥

समान उ एवायं चासौ
चोष्णोऽयमुष्णोऽसौ स्वर इतीममाचक्षते।
स्वर इति प्रत्यास्वर इत्यमुं
तस्माद्वा एतमिममं चोद्गीथमुपासीत ॥२॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब प्राण एवं सूर्य की समानता कहते हैं। यह सूर्य एवं यह प्राणवाची परमात्मा ये दोनों ही एक दूसरे के तुल्य हैं। जैसे सूर्य का स्वभाव उष्ण है उसी प्रकार प्राण का भी। जैसे सूर्य स्वरति अर्थात् गगनमण्डल में भ्रमण करते रहते हैं उसी प्रकार प्राणरूप परमात्मा भी अन्तर्यामीरूप से प्रत्येक शरीर में गमन करते हैं। परन्तु प्राण लौट कर आ

भी जाता है अतः सूर्य की अपेक्षा इसमें प्रत्यास्वरत्व अधिक है इसलिए सूर्य प्राण एवं परमेश्वर के तीनों उपास्य हैं। वस्तुतस्तु सूर्य और प्राण ये दोनों ही परमात्मा के स्मरण के लिए प्रतीक हैं उपासनीय तो परमात्मा ही हैं।। श्री ।।

अथ खलु व्यानमेवोद्गीथमुपासीत यद्वै
प्राणिति स प्राणो यदपानिति सोऽपानाः।
अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानो यो व्यानः
सा वाक् तस्मादप्राणन्ननपानन्वाचमभिव्याहरति ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर सूक्ष्म होने के कारण व्यान को ही उद्गीथ मानकर भजना चाहिए। जो वायु को मुख और नासिका से ले जाकर शरीर को स्वस्थ्य रखता है वही प्राण है तथा जो वायु को नीचे ले जाता है वही अपान है, उन दोनों की सन्धि ही व्यान है यही वाणी है। प्राण और अपान के सहयोग से व्यान ही वाणी को बुलवाता है। इसी की उद्गीथरूप में उपासना करनी चाहिए।। श्री ।।

या वाक्सर्क्तस्मादप्राणन्ननपा-
नन्नृचमभिव्याहरति यर्क्तत्साम तस्माद-
प्राणन्ननपानन्साम गायति यत्साम स
उद्गीथस्तस्मादप्राणन्ननपानन्नुद्गायति ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो वाणी है वही ऋक् है। यह व्यान प्राण और अपान की सहायता के बिना ही वाणी का व्याहरण करता है। जो वाणी है वही साम है। व्यान श्वास क्रिया के बिना ही साम का गान करता है। जो साम है वही उद्गीथ है। वह भी प्राण और अपान की अपेक्षा के बिना ही उद्गीथ को गा लेता है इसलिए वह उपासनीय है।। श्री ।।

अतो यान्यन्यानि वीर्यवन्ति कर्माणि
यथाग्नेर्मन्थनमाजेः सरणं दृढस्य।
धनुष आयमनमप्राणन्ननपान ँ्स्तानि
करोत्येतस्य हेतोर्व्यानमेवोद्गीथमुपासीत् ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसलिए व्यान ही सबसे श्रेष्ठ है क्योंकि अग्नि का मन्थन, युद्ध के लिए प्रस्थान एवं धनुष का प्रत्यञ्चा चढ़ा कर खींचना इत्यादि जिसमें भी पराक्रमशाली कर्म हैं वे प्राण अपान की क्रिया से निरपेक्ष व्यान से ही किये जाते हैं इसलिए व्यान ही उद्गीथरूप में उपासनीय है। यहाँ 'आजि' शब्द युद्ध का वाचक है मर्यादा का नहीं।। श्री ।।

अथ खलूद्गीथाक्षराण्युपासीतोद्गीथ इति
प्राण एवोत्प्राणेन ह्युत्तिष्ठति।
वाग्गीर्वाचो ह गिर इत्या-
चक्षतेऽन्नं थमन्नेहीद ँ् सर्व ँ् स्थितम्॥६॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब उद्गीथ के अक्षरों की उपासना कहते हैं। प्राण ही उत् है क्योंकि चराचर उसी से उत्थित होता है अर्थात् सक्रिय हो जाता है। वाणी ही 'गी' है क्योंकि वही स्फोट का गिरण करती है। अन्न ही 'थ' है क्योंकि सारा संसार उसी में स्थित है। इस प्रकार उद्गीथ के अक्षर ही उपासनीय है॥ श्री॥

द्यौरेवोदन्तरिक्षं गीः पृथिवी थंमादित्य
एवोद्वायुर्गीरग्निस्थ ँ् सामवेद एवोद्यजुर्वेदो गीः ऋग्वेदस्थं
दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति
य एतान्येवं विद्वानुद्गीथाक्षराण्युपास्त उद्गीथ इति॥७॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब उद्गीथ के अक्षरों में प्रत्येक के दो-दो प्रतीक बताये जा रहे हैं। भवसागर से उत्थान करने के कारण स्वर्ग को 'उत्' कहा जाता है तथा जल आदि का वर्षण होने से अन्तरिक्ष को 'गी' और जड़-चेतन को स्थिर करने से पृथ्वी को 'थ' कहा जाता है। उसी प्रकार उत् को आदित्य तथा वायु को 'गी' तथा सब कुछ भस्मसात् करके अग्नि ही 'थ' कहलाता है॥ श्री॥

अथ खल्वाशीः समृद्धिरुपसरणानीत्युपासीत।
येन साम्ना स्तोष्यन्स्यात्तत्सामोपधावेत्॥८॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब सकाम काम करने वाले को तथा आशीः अर्थात् कर्मफल एवं समृद्धि ही जिनका 'सरण' अर्थात् गन्तव्य है उन्हें उद्गीथ की नित्य उपासना करनी चाहिए। जिससे प्रसन्न हुई कर्मसमृद्धि साधक के पास स्वयं दौड़ती-दौड़ती आ जाय और अनन्यमन से उद्गीथ का साधक ध्यान करे॥ श्री॥

यस्यामृचि तामृचं यदार्षेयं तमृषिं।
यां देवतामभिष्टोष्यन्स्यात्तां देवतामुपधावेत्॥९॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जिस ऋचा में स्तुति करनी हो उसी ऋचा का तथा जिस ऋषि के द्वारा दृष्ट मन्त्र हो उसी मन्त्र का एवं विनियोग में

जिस देवता का वर्णन हो साधक उसी देवता का ध्यान करे यही वैदिक मन्त्र की परम्परा है ॥ श्री ॥

येनच्छन्दसा स्तोष्यन्स्यात्तच्छन्द उपधावेद्येन ।
स्तोमेन स्तोष्यमाणः स्यात्त ँ् स्तोममुपधावेत् ॥१०॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जिस छन्द से स्तुति करनी हो उस छन्द का एवं जिस स्तोत्र से स्तुति कर रहा हो साधक उसका भी ध्यान कर ले। इस प्रकार ऋचा, देवता, ऋषि, छन्द तथा स्तोत्र का ध्यान किये बिना उद्गीथ का पाठ नहीं करना चाहिए ॥ श्री ॥

यां दिशमभिष्टोष्यन्स्यात्तां दिशमुपधावेत् ॥११॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जिस दिशा की ओर मुख करके स्तुति करे उसका भी ध्यान कर लेना चाहिए ॥ श्री ॥

आत्मानमन्तत उपसृत्य स्तुवीत
कामं ध्यायन्नप्रमत्तोऽभ्याशो ह ।
यदस्मै स कामः समृद्ध्येत यत्कामः
स्तुवीतेति यत्कामः स्तुवीतेति ॥१२॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार प्राण, आदित्य, व्यान, अक्षर ऋचा, ऋषि, देवता, छन्द, स्तोत्र, दिशा के ध्यान के पश्चात् अन्ततोगत्वा सांसारिक पारलौकिक तथा भगवत्प्राप्तिसम्बन्धी कामनाओं का ध्यान करता हुआ, परमेश्वर के नाम, रूप, लीला, धाम का स्मरण करता हुआ, अपने बाह्य तथा आन्तर दोषों को अपने से दूर करता हुआ, मनसा, वाचा, कर्मणा भगवान् की शरणागति स्वीकार कर, सर्वव्यापी भक्तों द्वारा समर्पित, पत्र, पुष्प, फल, जल को स्वीकार वाले, भक्तों के दर्शनार्थ सतत् गमनशील, आत्मपद वाची परमात्मा का भक्तिप्रवणचित्त होकर साधक सतत् स्मरण करे, क्योंकि वह जिस कामना के साथ भगवान् का स्तवन करता है, भगवान् उसकी उस कामना की पूर्ति कर देते हैं ॥ श्री ॥

॥ छान्दोग्योपनिषद् पर प्रथम अध्याय के तृतीय खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ॥

॥ श्रीराघवः शन्तनोतु ॥

।। चतुर्थ खण्ड ।।

सम्बन्ध– इस प्रकार परम्परा सम्बन्ध से अनेक उद्गीथ प्रतीकों की चर्चा करके अब सिद्धान्तत: प्राणउद्गीथ की चर्चा करते हैं।। श्री ।।

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति ।
ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम् ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– आदित्य आदि प्रतीकोपासना सुनकर साधक के मन में व्यामोह न हो जाय अत: श्रुति फिर मुख्यसिद्धान्त का स्मरण कराने के लिए पुन: मुख्यमन्त्र का स्मरण कराती है। ओम् एकाक्षर उद्गीथ की उपासना करनी चाहिए। 'उच्चै: गीयते इति उद्गीथं' जिसे ऊँचे स्वर में गाया जाय उसे उद्गीथ कहते हैं। अत: ओंकार को उद्गाता ऊँचे स्वर में गाता है ।। श्री ।।

देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशँ्-
स्ते छन्दोभिरच्छादयन्यदेभिरच्छादयँ्स्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– प्रणव की उद्गीथोपासना को सिद्ध करने के लिए श्रुति स्वयं एक आख्यायिका सुनती हैं। एक बार देवता मृत्यु से डरे हुए उससे बचने का उपाय सोचने लगे, फिर तो त्रयी अर्थात् ऋग्, यजु, साम इन तीनों वेदों में प्रविष्ट हो गये। उन्होंने छन्दों से अपने को ढक लिया। चूँकि इन मन्त्रों ने देवों को छादित किया इसलिए इन्हें छन्द कहा गया। यहाँ 'छन्दसि पुनर्वस्वोरेकवचनम्' (पा०आ०१/२/६१) सूत्र से छन्दस् आदेश हुआ। यहाँ 'विभ्यत:' शब्द का प्रयोग करके श्रुति ने सिद्ध किया– चूँकि देवता मृत्यु से डरते हैं इसलिए वे जीव हैं। अमृत पीकर भी जीव होने के कारण ही देवता मन्वन्तर के समाप्त होने पर मर जाते हैं। अभय और अजर तो केवल परमात्मा हैं।। श्री ।।

तानु तत्र मृत्युर्यथा मत्स्यमुदके
परिपश्येदेवं पर्यपश्यदृचि साम्नि यजुषि ।
ते नु विदित्वोर्ध्वा ऋच: साम्नो
यजुष: स्वरमेव प्राविशन् ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– किन्तु वेदत्रयी में छिपे हुये देवताओं को ढूँढते हुए मृत्यु ने उसी प्रकार देख लिया जैसे कोई मछवारा जल में छिपी

हुई मछली को देख लेता है। देवता अपने पास आये हुये उस मृत्यु को देखकर ऋग्, यजुः, साम को छोड़कर ऊपर आये और फिर स्वररूप ओंकार में प्रविष्ट हो गये। जहाँ उन्हें मृत्यु नहीं ढूँढ पाया॥ श्री॥

व्याख्या– यहाँ ओंकार के लिए 'स्वर' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'स्वेन राजते इति स्वरः' जो अपने से सुशोभित होता है उसे स्वर कहते हैं। अथवा 'स्वं राति इति स्वरः' अर्थात् जो परमात्मा को ही अर्पित कर देता है वही ओंकार स्वर है। अथवा यहाँ 'स्वर' का अर्थ है 'ज्ञाति'। 'स्वेषु रमते इति स्वरः' वेद के मन्त्र ओंकार की ज्ञाति अर्थात् विरादारी हैं इसलिए वह उनमें रमता है। अथवा 'स्व' अर्थात् परमात्मा में सबको रमाता है– उसे स्वर कहते हैं। अथवा 'स्वं परमात्मा रमते यस्मिन्' जिसमें परमात्मा ही रमण करते हैं उसे स्वर कहते हैं॥ श्री॥

यदा वा ऋचमाप्नोत्योमित्येवाति-
स्वरत्येवँ सामैवं यजुरेष उ स्वरो।
यदेतदक्षरमेतदमृतमभयं तत्प्रविश्य
देवा अमृता अभया अभवन्॥४॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जब कोई वैदिक ऋचायें कंठस्थ करता है तब वह 'ॐ' इस प्रकार उच्चारण करता है। इसी प्रकार यजुः, साम के भी ग्रहण में वैदिक ओंकार का ही उच्चारण करता है। इसलिए इसे स्वर कहते हैं। 'स्वरयते इति स्वरः' जिसका उच्चारण किया जाय वही स्वर है। अब यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि– धातु पाठ में स्वर धातु के गति, आक्षेप अर्थ कहे गये हैं फिर इसका उच्चारण अर्थ कैसे? तो इसका उत्तर यह है कि– धातु अनेकार्थक होते हैं इसीलिए 'परौभूवोऽवज्ञाने' इस सूत्र का अवज्ञान ग्रहण ही ''अनेकार्था हि धातवः'' परिभाषा का ज्ञापन करता है। यदि परिपूर्वक 'भू' धातु का अवज्ञान ही अर्थ होता तो फिर उसके ग्रहण की यहाँ आवश्यकता क्या थी। इसलिए यहाँ स्वरधातु का उच्चारण अर्थ स्वीकारने में कोई दोष नहीं है। यदि कहें कि इसमें क्या प्रमाण है? तो वर्तमान श्रुति ही। यहाँ श्रुति स्वयं स्वरति का प्रयोग करती हैं। इस प्रकार यह प्रणव अक्षर सर्वव्यापक, अभय, भयरहित तथा अमृत अर्थात् मरण धर्म से अतीत है। इसमें प्रविष्ट होकर देवता भी अभय और अमृत हो गये॥ श्री॥

स य एतदेवं विद्वानक्षरं प्रणौत्येतदेवाक्षर ँ् स्वरममृतमभयं। प्रविशति तत्प्रविश्य यदमृता देवास्तदमृतो भवति।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार जो साधक प्रणव को स्वर, अभय और अमृत जानता हुआ उसे आदरपूर्वक नमन करता है अपनी वृत्तलय के माध्यम से इसमें प्रवेश करता है वह उसी प्रकार अभय और अमृत हो जाता है जैसे देवता भयरहित और मरणवर्जित हो गये हैं॥ श्री॥

छान्दोग्योपनिषद् पर प्रथम अध्याय के चतुर्थ खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण॥

।। **श्रीराघवः शन्तनोतु** ।।

।। पञ्चम खण्ड ।।

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो
यः प्रणवः स उद्गीथ इत्यसौ।
वा आदित्य उद्गीथ एष
प्रणव ओमिति ह्येष स्वरन्नेति।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब भेदोपासना के अनन्तर उद्गीथ की अभेदोपासना कहते हैं। जो प्रणव है वही उद्गीथ है, जो उद्गीथ है वही प्रणव है क्योंकि उसी को आदर पूर्वक प्रणाम करके अजपाजप की विधि से जपा जाता है और उसी को ऊँचे स्वर में गाया जाता है। यह सूर्य ही उद्गीथ है क्योंकि वे ओम का उच्चारण करते हुए गगनमण्डल में भ्रमण करते हैं॥ श्री॥

संगति– अब समय सूर्य की किरणों में भेदोपासना का वर्णन करते हैं क्योंकि सकामी अभेद उपासना नहीं सह पाते। यद्यपि हम भी उपास्य और उपासक में स्वरूपगत भेद नहीं स्वीकारते। हाँ सम्बन्धनिबन्धनभेद अवश्य स्वीकारते हैं॥ श्री॥

एतमु एवाहमभ्यागासिषं तस्मान्मम
त्वमेकोऽसीति ह कौषीतकिः
पुत्रमुवाच रश्मी ँ्स्त्वं पर्यावर्तयद्बहवो
वै ते भविष्यन्तीत्यधिदैवतम्।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– कौषीतकी नाम के महर्षि ने अपने पुत्र से इस प्रकार कहा— हे वत्स! सर्वप्रथम मैंने ही प्रणव और उद्गीथ में अभेद बुद्धि करके तथा आदित्य तथा प्रणव में अभेद बुद्धि करके, सूर्य

नारायण के सम्मुख होकर इसे गाया था, इसीलिए तुम मेरे एकमात्र पुत्र हुए हो। इसलिए अब तुम भेद बुद्धि से सूर्य की उपासना करो जिससे तुम्हारे बहुत से पुत्र हो जायेंगे॥ श्री॥

संगति– अब मुख्य प्राण को प्रतीक मानकर उद्गीथ का वर्णन करते हैं॥ श्री॥

अथाध्यात्मं य एवायं मुख्यः।
प्राणस्तमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्येष स्वरन्नेति॥३॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब आत्मा अर्थात् शरीर के भीतर उद्गीथ उपसना का वर्णन करते हैं। जिस मुख्य प्राण की प्रथम खण्ड में चर्चा की गयी है उसी की उद्गीथ बुद्धि से उपासना करनी चाहिए। क्योंकि वह भी मुख्य उद्गीथ ओंकार का उच्चारण करता हुआ मुख और नासिका से निकलता है॥ श्री॥

एतमु एवाहमभ्यगासिषं तस्मान्मम
त्वमेकोऽसीति ह कौषीतकिः
पुत्रमुवाच प्राणाँस्त्वं भूमानमभि-
गायताद्बहवो वै मे भविष्यन्तीति॥४॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– कौषीतकि ने अपने पुत्र से कहा– मैंने इसी मुख नासिका से प्रवेश करने वाले प्राण को ही उद्गीथ के रूप में गाया इसीलिए तुम मेरे एक पुत्र हो, अब तुम सर्वसमर्थ प्राण के अभिधेय भूमा परमात्मा को ही यह संकल्प करके गावो कि– मुझ गायक के यहाँ परमेश्वर की उपासना के पुण्य से मेरे यहाँ बहुत से बालक हो जायें॥ श्री॥

संगति– अब प्राणोद्गीथ के अभेद उपासन का फल कहते हैं॥ श्री॥

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इति।
होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीथमनुसमाहरतीत्यनुसमाहरतीति॥५॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– 'जो प्रणव है वही उद्गीथ है, जो उद्गीथ है वही प्रणव है' इस प्रकार दोनों के अभेद का चिन्तन करता हुआ प्रमाद से होता अपने होतृसदन से अपने किये हुए अशुद्ध उच्चारण का प्रायश्चित्त करता है। यहाँ अनुसमाहार शब्द प्रायश्चित्त का वाचक है अर्थात् अशुद्धोच्चारण भी उद्गीथ और प्रणव की अभेद बुद्धि में दोषावह नहीं बन पाता॥ श्री॥

॥ छान्दोग्योपनिषद् पर प्रथम अध्याय के पंचम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण॥

॥ श्रीराघवः शन्तनोतु॥

।। षष्ठ खण्ड ।।

इयमेवर्गग्निः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढ ँ् साम। तस्मादृच्यध्यूढ ँ् साम गीयत इयमेव साग्निरमस्तत्साम ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यह पृथ्वी ही ऋचा है और अग्नि ही साम है। जैसे पृथ्वी में अग्नि प्रतिष्ठित है उसी प्रकार ऋचा में साम प्रतिष्ठित है। 'स' ही पृथ्वी है और 'अम' अग्नि है। अध्यूढ शब्द का प्रतिष्ठित अर्थ समझना चाहिए।। श्री।।

अन्तरिक्षमेवर्ग्वायुः साम तदेतदेतस्मामृच्यध्यूढ ँ् साम। तस्मादृच्यध्यूढ ँ् साम गीयतेऽन्तरिक्षमेव सा वायुरमस्तत्साम ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अन्तरिक्ष ही ऋचा है और वायु ही साम है। जैसे अन्तरिक्ष में वायु है उसी प्रकार ऋचा में साम प्रतिष्ठित है और इसी दृष्टि से उसका गान किया जाता है। 'स' ही अन्तरिक्ष है और 'अम' ही वायु।। श्री।।

द्यौरेवर्गादित्यः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढ ँ् साम। तस्मादृच्यध्यूढ ँ् साम गीयते द्यौरेव सादित्योऽमस्तत्साम ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– द्यौ ही ऋचा है और सूर्य ही साम हैं। ऋचा में साम प्रतिष्ठित है जैसे आकाश में सूर्य प्रतिष्ठित है। ऋचा में ही साम गाया जाता है। 'स' द्यौ है और 'अम' आदित्य।। श्री।।

नक्षत्राण्येवर्क्चन्द्रमाः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढ ँ् साम। तस्मादृच्यध्यूढ ँ् साम गीयते नक्षत्राण्येव सा चन्द्रमा अमस्तत्साम ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– नक्षत्र ही ऋचा है और चन्द्रमा ही साम है। जैसे नक्षत्रों में चन्द्रमा प्रतिष्ठित है उसी प्रकार ऋचा में साम प्रतिष्ठित है। 'स' ही नक्षत्र है और चन्द्रमा साम।। श्री।।

अथ यदेवैतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः। कृष्णं तत्साम तदेतदेस्यामृच्यध्यूढ ँ् साम तस्मादृच्यध्यूढ ँ् साम गीयते ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो सूर्य का श्वेतभाग है वही ऋचा है और जो सूर्य नारायण का नीलभाग है वही साम है। इस प्रकार ऋचा में प्रतिष्ठित साम ही गाया जाता है। 'स' ही सूर्य का शुक्ल भाग है और 'अम' नील भाग है। यद्यपि वस्तुतः भगवान् श्रीराम श्रीसीता सहित सूर्य मण्डल में विराजते हैं। सूर्य नारायण का जो श्वेतभाग है वही सीता तथा जो नील भाग है वही

भगवान् श्रीराम हैं। यदि कहें कि अन्धकार भी नीला होता है तो उसके वारण के लिए यहाँ 'पर' विशेषण दिया गया है अर्थात् नीला होकर तम 'पर' नहीं हो सकता॥ श्री॥

संगति– इस प्रकार पृथ्वी, अग्नि, द्यौ, सूर्य, नक्षत्र, चन्द्र आदि के प्रतीक वर्णन करके अब पंचम प्रतीक का फल कहते हैं॥ श्री॥

अथ यदेवैतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैव साथ
यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्सामाथ।
य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रु-
र्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः ॥६॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– सूर्य नारायण का जो शुक्ल तेज है वही 'स' है और जो उनका आकर्षक नील तेज है जो सूर्य मण्डल में स्थित श्रीरामरूप से दृष्टिगोचर होता है वही 'अम' है। इस प्रकार श्वेत नील का मिश्रण श्रीसीताराम ज्योति ही साम है। जो भगवान् सूर्य के भीतर पुरुष दिखाई पड़ता है वह सुवर्णरचित केयूरकुण्डलकटकादि अलंकार तथा सुवर्णमय पीताम्बर युक्त है तथा वह सुवर्ण के समान ज्योतिर्मय दाढ़ी से युक्त है। वास्तव में तो भगवान् का कपोल नीला ही है और उनके केश काले हैं परन्तु प्रभु श्रीरामचन्द्र के कपोल पर लटकते हुए सुवर्ण कुण्डल की कांति से उनकी दाढ़ी के बाल भी सुवर्ण दिख रहे हैं। भगवान् के केश भी काले-काले घुँघराले होने पर भी उनके कनक किरीट की सुनहली कान्ति से सुनहले दिख रहे हैं। वे प्रणव अर्थात् श्रीचरणकमल से शिरोभाग तक वे सर्वथा सुवर्ण अलंकारों से लदे हुए सुवर्ण के समान ज्योतिर्मय तथा कोटि-कोटि कन्दर्प-दर्पदलन इन्दीवरदलस्यामसुन्दर नीलवर्ण वाले हैं॥ श्री॥

संगति– अब निसर्गसुन्दर कोटिकामकमनीय परमात्मा के नेत्रकमल का श्रुति वर्णन करती हैं। क्योंकि पत्नी का सम्मोहन पति का नयन माधुर्य ही होता है॥ श्री॥

तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी
तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य
उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद ॥७॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– उन निसर्ग सुन्दर भगवान् श्रीसीताराम के प्रभातकालीन सूर्य रश्मियों से विकसित कमल के समान अरुण नेत्र हैं और

उनका 'उत्' इस प्रकार नाम है क्योंकि वे सभी पापों से ऊपर हैं। जो इस प्रकार जानता है वह भी सभी पापों से ऊपर उठ जाता है ॥ श्री ॥

व्याख्या– यह मन्त्र दार्शनिक क्षेत्र में अत्यन्त प्रसिद्ध है और अद्वैत और विशिष्टाद्वैत के मूल्यांकन का भी यह निकष है। इस पर आद्यशंकराचार्य ने अपने भाष्य में कप्यास की व्याख्या करते हुए कपि शब्द को वानर का पर्यायवाची मानकर 'आस' शब्द को निक्षेपणार्थक'अस्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय द्वारा सिद्ध करके उसका अर्थ बन्दर का गुद माना। इस प्रकार शंकराचार्य ने यह स्पष्ट कहा कि सूर्य मण्डल में स्थित भगवान् के नेत्र वानर के गुद के समान लाल है। इस पर शंकराचार्य से यह पूँछना चाहिए कि– क्या भगवान् के नेत्रों को उपमित करने के लिए सर्वज्ञ शिरोमणि श्रुति को यही न्यूनतम उपमा मिली होगी ? जिसके सौन्दर्य की कोई सीमा न हो तथा जिसकी नखमणि चन्द्रिका की एक रश्मि के एक परमाणु से करोड़ों-करोड़ों माधुर्य कल्लोलिनियाँ प्रकट होतीं हों उसके नेत्र एक असभ्य पशु के अदर्शनीय इन्द्रिय के समान लाल होंगे। वस्तुतः ऐसा चिन्तन करने में भी कोटिकल्पपर्यन्त रौरव नरक की प्राप्ति होगी, कहना तो बहुत दूर है। वास्तव में इस प्रकार की खुराफात उन्हीं को सूझती है जिन्हें कभी-भी भगवत्प्रेमअमृत का आस्वाद नहीं मिला हुआ होता। जिनके नेत्र कभी भी भगवद्रूपमाधुरी का पान नहीं किये होते। सत्य तो यह है कि 'कप्यास' शब्द की व्युत्पत्ति करते समय शंकराचार्य जी ने अव्युत्पन्न प्रातिपदिक की भूमिका निभाई। अथवा यह मधुरतम विषय उनकी नीरस बुद्धि में प्रतिबिम्बित ही नहीं हुआ। 'कप्यास' शब्द पुण्डरीक शब्द का विशेषण है। यहाँ 'क' का अर्थ है जल, सूर्य उस जल को अपनी किरणों से पीते हैं इसलिए उन्हें कपि कहा जाता है। उन कपि अर्थात् सूर्य के द्वारा विकसित होने से कप्यास शब्द का अर्थ होगा प्रातःकालीन कमल। इस प्रकार अब अर्थ होगा कि– 'भगवान् के नेत्र सूर्य की किरणों के समान विकसित प्रातःकालीन कमल के समान हैं'। अथवा यदि कपि शब्द का ही आग्रह हो तो 'कपीन् आसयति इति कप्यासम्' अर्थात् जो वानरों को भी चंचलता शून्य कर दे ऐसे ही कमल जैसे नेत्र हैं भगवान् राम के। तात्पर्य यह है कि परमात्मा श्रीराम के नेत्र ऐसे सुन्दर है जिन्हें देखकर भक्त मोहित हुए। वानर अपनी चंचलता छोड़ स्थिर हो जाते हैं। जैसा कि षष्ठसोपान में गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं– विदा लेते समय वानर भगवान् की रूप

माधुरी को निहारने में इतने मग्न हुए कि उन्होंने अपने चंचल पलकों का गिरना ही बन्द कर दिया। यथा—

कहि न सकहिं कछु प्रेम बस भरि-भरि लोचनवारि।
सनमुख चितवइ नाम तनु नयन निमेष निवारि॥

—मानस ६/११८

अथवा 'अस्यन्ते दूरीक्रियन्ते दुर्गुणा येन तत् आसम् कपीनाम् आसं कप्यासम्' अर्थात् भगवान् के नेत्र कमल ऐसे हैं कि जिन्होंने वानरों की दुर्निवार चंचलता काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि सभी दुर्गुण उनसे बाहर कर दिये। यथा—

देखी राम सकल कपि सेना। चितइ कृपा करि राजीव नैना॥
रामकृपा बल पाइ कपिन्दा। भये पच्छ जुत मनहु गिरिन्दा॥

—मानस ५/३४/२, ३

ऐसे हैं भगवान् राम के नेत्र। उनका नाम भी 'उत्' है क्योंकि भगवान् को पाप अनुबिद्ध नहीं कर पाते। इसीलिए श्रुति ने उन्हें अपहत-पाप्मा कहा॥ श्री॥

संगति— अब अन्तिम मन्त्र में भगवती श्रुति पूर्व दो मन्त्रों में वर्णित स्वरूप को और उद्गीथ के महातात्पर्य को परमात्मा में ही अंगीकार कर रही हैं॥ श्री॥

तस्यर्क्च साम च गेष्णौ तस्मादुद्गीथस्तस्मात्त्वेवोद्गातैतस्य हि गाता। स एष ये चामुष्मात्परञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां चेत्यधिदैवतम्॥८॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— उस पक्षी रूप परमात्मा के ऋग्वेद और सामवेद पंखे हैं, इनसे यह दोनों लोक में भ्रमण करता है। इसलिए यह उद्गीथ है क्योंकि यह ऊँचे स्वर में गाता है और वही परमात्मा दोनों लोकों पर शासन करते हैं और वही देवताओं की कामनाओं पर नियन्त्रण करते हैं॥ श्री॥

॥ छान्दोग्योपनिषद् पर प्रथम अध्याय के षष्ठ खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण॥

॥ श्रीराघवः शन्तनोतु॥

।। सप्तम खण्ड ।।

इसके पहले आधिदैविक उपासना का वर्णन किया जा चुका है अब आध्यात्मिक उद्गीथ उपासना का वर्णन किया जा रहा है। जिस उपासना का देवता से सम्बन्ध हो उसे अधिदैवत कहते हैं और जिसका सम्बन्ध आत्मा से हो उसे अध्यात्म कहते हैं। यहाँ 'आत्मा' शब्द शरीर का वाचक है। क्योंकि कोष में सर्वप्रथम आत्मा का शरीर ही अर्थ कहा गया है 'आत्मा शरीरे' ।। श्री ।।

अथाध्यात्मं वागेवर्क्प्राणः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढ ँ्साम ।
तस्मादृच्यध्यूढ ँ् साम गीयते वागेव सा प्राणोऽमस्तत्साम ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब आध्यात्मिक उद्गीथ उपासना का निरूपण किया जाता है। वाणी ही ऋचा है, प्राण ही साम है, जैसे वाणी में प्राण होता है उसी प्रकार ऋचा में साम प्रतिष्ठित होता है। इसीलिए वाणी को ही माध्यम बनाकर साम गाया जाता है। 'सं' ही वाणी है और 'अम' ही प्राण है ।। श्री ।।

चक्षुरेवर्गात्मा साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढ ँ् साम तस्मादृच्य-ध्यूढ ँ् साम गीयते। चक्षुरेव सात्माऽमस्तत्साम ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब चक्षु और आत्मा की ऋग्, साम की प्रतीकता कहते हैं। चक्षु ही ऋचा है और आत्मा ही साम है। ऋचा में साम प्रतिष्ठित है और चक्षु में आत्मा। 'स' ही चक्षु है और 'अम' ही आत्मा ।। श्री ।।

श्रोत्रमेवङ्मनः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढ ँ् साम ।
तस्मादृच्यध्यूढ ँ् साम गीयते श्रोत्रमेव सा मनोऽमस्तत्साम ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– श्रवणेन्द्रिय ही ऋचा है और मन ही साम है। ऋचा में ही प्रतिष्ठित साम गाया जाता है। उसी प्रकार श्रवणेन्द्रिय में प्रतिष्ठित मन ही संकल्प करता है। श्रवण ही 'स' है और मन ही 'अम' ।। श्री ।।

अथ यदेतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम
तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढ ँ् साम तस्मादृच्यध्यूढ ँ् साम गीयते।
अथ यदेवैतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैवसाऽथ
यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्साम ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– नेत्र का जो शुक्ल तेज है वही ऋग् है तथा जो आकर्षक नीलवर्ण का तेज है वही साम है। ऋचा में साम प्रतिष्ठित

है इसीलिए वह ऋचा के माध्यम से गाया जाता है। शुक्ल वर्ण ही 'स' है और नील वर्ण 'अम'॥ श्री॥

अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते
सैवर्क्तत्साम तदुक्थं तद्यजुस्तद्ब्रह्म।
तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं
यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम॥५॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर जो नेत्र में पुरुष दिखाई पड़ता है वही ऋचा है, वही साम है, वही उक्थ है, वही उद्गीथ है, वही ब्रह्म है। जो सूर्यस्थ पुरुष के पंखे हैं वही इसके, उसका जो स्वरूप है वही इसका, उसका जो नाम है वही इसका। अतः सूर्यस्थ पुरुष और नेत्रस्थ पुरुष में कोई अन्तर नहीं है॥ श्री॥

स एष ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां
चेष्टे मनुष्यकामानां चेति।
तद्य इमे वीणायां गायन्त्येतं
ते गायन्ति तस्मात्ते धनसनयः॥६॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार जो यह नेत्र में स्थित है उसके वे ही सब कार्य हैं जो सूर्यमण्डल में स्थित पुरुष के होते हैं। इसलिए वह इससे निम्न अन्तरिक्षादि लोकों का पालन करता है एवं मनुष्य सम्बन्धिनी कामनाओं पर नियंत्रण करता है। इस प्रकार जो वीणा पर इस पुरुष को गाता है वह धन-धान्य से सम्पन्न हो जाता है। यहाँ सनिशब्द का लाभ अर्थ है॥ श्री॥

अथ य एतदेवं विद्वान्साम गायत्युभौ स गायति।
सोऽमुनैव स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्ताँश्चाप्नोति देवकामाँश्च॥७॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार जो नेत्रस्थ पुरुष और सूर्यस्थ पुरुष का भेद समझकर साम गाता है, वह दोनों को गाता है क्योंकि नेत्र में भी सूर्य का निवास होता है। वह पुरुष इन्हीं सूर्यनारायण द्वारा स्वर्गादिलोकों में लाया जाता है और इससे श्रेष्ठ लोकों तथा देवोचित भोगों को प्राप्त करता है॥ श्री॥

अथानेनैव ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्ता ँ्श्चाप्नोति ।
मनुष्यकामा ँ्श्च तस्मादु हैवंविदुद्गाता ब्रूयात् ।।८।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर इसी अक्षिस्थ पुरुष की आराधना से साधक सूर्यलोक से निम्न लोकों को एवं मनुष्योचित भोगों को प्राप्त करता है। इस प्रकार जानने वाले उद्गाता को सूर्यपुरुष एवं नेत्रपुरुष इन दोनों का संशन करना चाहिए ।। श्री ।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर प्रथम अध्याय के सप्तम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। अष्टम खण्ड ।।

सम्बन्ध– इस खण्ड में उद्गीथोपासना के अनेक प्रकार प्रदर्शित किये जा रहे हैं। व्यापक होने के कारण उद्गीथ रहस्य जानने वाले तीन महर्षियों की आख्यायिका श्रुति स्वयं प्रस्तुत करती हैं। क्योंकि पुण्य पुरुषों का संकीर्तन कल्याण के लिए तथा भजन प्रतिबन्धक विघ्नों के नाश के लिए होता है ।। श्री ।।

त्रयो होद्गीथे कुशला बभूवुः शिलकः
शालावत्यश्चैकितायनो दाल्भ्यः प्रवाहणो
जैवलिरिति ते होचुरुद्गीथे वै कुशलाः
स्मो हन्तोद्गीथे कथां वदाम इति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यह इतिहास सुप्रसिद्ध है कि– किसी अति प्राचीन समय में शालावत के पुत्र शिलकणों से जीविका चलाने वाले स्वाभावानुरूप नाम वाले महर्षि शिलक तथा चेकितायन के पुत्र महर्षि दाल्भ्य एवं जीवल्क के पुत्र महर्षि प्रवाहण ये तीन महर्षि उद्गीथ विद्या में बहुत कुशल हुए। इन तीनों ने पार्श्ववर्ती लोगों से कहा– हम उद्गीथ उपासना में बहुत कुशल हैं, आप लोगों की अनुमति हो तो इसके सम्बन्ध में कुछ कहें। यह सुनकर ऋषियों ने अनुमति दे दी ।। श्री ।।

तथेति ह समुपविविशुः स ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच ।
भगवन्तावग्रे वदतां ब्राह्मणयोर्वदतोर्वाच ँ् श्रोष्यामीति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– ऐसा ही हो इस प्रकार मन्त्रणा करके तीनों उद्गीथ वेत्ता महर्षि उद्गीथ पर विचार करने के लिए सिद्ध आसन पर विराजमान हो गये। तब जैवलि के पुत्र राजर्षि प्रवाहण ने कहा– हे चैकिताय दाल्भ्य !

और हे शालाव शिलक! आप दोनों उद्गीथ पर विचार करें। मैं राजपुत्र हूँ इसलिए आप दोनों ब्राह्मणों के बोलते हुए कुछ न बोलूँगा। आप दोनों का आदर करते हुए आपश्री की वाणी सुनूँगा॥ श्री॥

स ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाच।
हन्त त्वा पृच्छानीति पृच्छेति होवाच॥३॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार प्रवाहण के कहने पर शालावत के पुत्र शिलक ने चैकितायन के पुत्र दाल्भ्य से कहा– महोदय, मैं आपसे कुछ पूँछूं? दाल्भ्य ने कहा शिलक! अवश्य पूँछें॥ श्री॥

का साम्नो गतिरिति स्वर इति होवाच
स्वरस्य का गतिरिति प्राण इति होवाच।
प्राणस्य का गतिरित्यन्नमिति होवाचान्नस्य
का गतिरित्याप इति होवाच॥४॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब शिलक के प्रश्न का अनुवाद कर रहे हैं। शिलक ने पूछा– साम का क्या आधार है? दाल्भ्य ने कहा– स्वर अर्थात् ओंकार। शिलक ने पूँछा स्वर की क्या प्रतिष्ठा है? दाल्भ्य ने कहा प्राण। क्योंकि बिना प्राण के मन्त्रों का उच्चारण नहीं किया जा सकता। शिलक ने पूँछा– प्राण की क्या गति है? दाल्भ्य ने कहा– अन्न। क्योंकि अन्न के बिना प्राण रह ही नहीं सकते। शिलक ने पूँछा– अन्न का कौन आश्रय है? दाल्भ्य ने कहा– जल॥ श्री॥

अपां का गतिरित्यसौ लोक इति होवाचामुष्य
लोकस्य का गतिरिति न स्वर्गं
लोकमतिनयेदिति होवाच स्वर्गं वयं लोकँ्
सामाभिसंस्थापयामः स्वर्गसँ्स्तावतँ् हि सामेति॥५॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– शिलक ने पूँछा– जल का कौन आश्रय है? दाल्भ्य ने अंगुली के इशारे से कहा– यह अन्तरिक्ष लोक। शिलक ने पूँछा– अन्तरिक्ष लोक की गति कौन है? दाल्भ्य ने कहा– स्वर्ग अर्थात् स्वर्गलोक में भी गाया जाने वाला साकेतलोक। स्वर्ग की गति के सम्बन्ध में प्रश्न करने की इच्छा करते हुए शिलक को दाल्भ्य ने रोक दिया– अब आगे मत पूँछो। क्योंकि स्वर्गलोक में भी गाया जानेवाला यह साकेतलोक महास्वर्ग है। 'स्वः गीयते इति स्वर्गः' इसके लिए अथर्वश्रुति में कहा गया

है 'अष्टचक्रानवद्वारा देवानां पूरयोध्या यस्यां हिरण्मयाः कोषाः' अर्थात् ब्रह्मलोक से भी ऊपर आठ चक्रों वाली अथवा अष्टचक्राकार नवद्वारों से युक्त यह अयोध्या नाम की देवाधिदेव भगवान् राम की पुरी है। जिसमें स्वर्णमय भण्डार हैं। कोई भी पुण्यफल किसी को भी इसके ऊपर नहीं ले जा सकता। यही जीव की परमगति है। इसलिए इसी साकेतलोक में अब हम सामवेद की स्थापना करते हैं। दूसरी श्रुति भी यही कह रही हैं। 'स्वर्गो लोको वै सामवेदः' साम स्वर्गसंस्तव है अर्थात् इसे महास्वर्ग साकेताधिपति श्रीसीताभिराम श्रीराम की ही स्तुति के लिए प्रयोग करना चाहिए॥ श्री॥

तँ् ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं
दाल्भ्यमुवाचाप्रतिष्ठितं वै किल ते
दाल्भ्य साम यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा ते
विपतिष्यतीति मूर्धा ते विपतेदिति ॥६॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– दाल्भ्य के उत्तर से असन्तुष्ट होकर शिलक ने कहा– हे चैकितायन पुत्र दाल्भ्य! तुम्हारा सामवेदगान प्रतिष्ठाहीन है अर्थात् इसका कोई आधार नहीं है। यदि कोई ज्ञानसम्पन्न व्यक्ति तुम्हें शाप दे-दे कि अल्पज्ञ दाल्भ्य का सिर कबन्ध से अलग हो जायेगा तो तुम्हारा सिर कबन्ध से अलग हो सकता है॥ श्री॥

हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानीति विद्धीति होवाचामुष्य लोकस्य
का गतिरित्ययं लोक इति होवाचास्य लोकस्य का गतिरिति
न प्रतिष्ठां लोकमतिनयेदिति होवाच प्रतिष्ठा वयं लोकँ्
सामाभिसँ्स्थापयामासः प्रतिष्ठासँ्स्तावँ्ह सामेति ॥७॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब दाल्भ्य ने असन्तुष्ट होकर शिलक से जिज्ञासा की कि– मैं आपसे कुछ जानने की इच्छा करता हूँ। शिलक ने कहा निश्चित जानों। दाल्भ्य ने पूँछा– स्वर्गलोक की क्या प्रतिष्ठा है? शिल ने कहा– मर्त्यलोक। क्योंकि यही कर्मभूमि है यहीं यज्ञ-होमादि करके स्वर्ग जाते हैं। इसलिए सामवेद को यहीं स्थापित करते हैं क्योंकि प्रतिष्ठा अर्थात् मर्त्यलोक में ही सामवेद का स्तवन उचित है। यहीं भगवान् के भिन्न-भिन्न अवतार होते हैं और यही कर्मभूमि भी है। 'स्वर्गो लोको वै सामवेदः' श्रुति का अर्थ है कि सामवेद स्वर्ग की भाँति श्रेष्ठ है पर उससे स्वर्ग में सामवेद की प्रतिष्ठा का कोई संकेत नहीं मिलता॥ श्री॥

त ँ ह प्रवाहणो जैवलिरुवाचान्तवद्वै किल ते
शालावत्य साम यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा।
ते विपतिष्यतीति मूर्धा ते विपतेदिति हन्ताहमेतद्
भगवतो वेदानीति विद्धीति होवाच ।।८।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– शिलक के उत्तर से असन्तुष्ट होकर जेवलपुत्र राजर्षि प्रवाहण ने कहा– शिलक ! तुम्हारा सामज्ञान अन्तवत् अर्थात् विनाशी है। क्योंकि मर्त्यलोक नित्य नहीं है। इस प्रकार क्षणभंगुर सामज्ञान से युक्त तुम को यदि कोई शाप दे देगा तो तुम्हारा सिर फट सकता है क्योंकि मर्त्यलोक का कोई भी पदार्थ नित्य नहीं होता। जिसका अन्त होता है वहाँ दुःख होता है। तब शिलक ने आदरपूर्वक कहा– तो फिर सामवेद का प्रतिष्ठा विषयक ज्ञान मैं आपश्री से ही प्राप्त करना चाहता हूँ। प्रवाहण ने कहा– पूँछो।। श्री ।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर प्रथम अध्याय के अष्टम खण्ड का श्रीराघवकृपा भाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। नवम खण्ड ।।

सम्बन्ध– इस प्रकार आठ खण्डों में अनेको प्रतीक उपासनायें कहकर उन सब का उन्हीं सकलकल्याणगुणगणनिलय चिदाकाशरूप परमात्मा में ही परमतात्पर्य निश्चित करके भगवती श्रुति प्रवाहण के मुख से नवम खण्ड में सिद्धान्तपीयूष प्रवहित कर रही हैं। क्योंकि प्रतीकोपासना यथार्थ नहीं होती। ब्रह्मसूत्र (१/४/४) में भगवान् वेदव्यास भी प्रतीकोपासना को अयथार्थ ही कहते हैं। 'न प्रतीके न हि सः'। यदि कहें यदि प्रतीकोपासना यथार्थ नहीं है तो छान्दोग्योपनिषद् के आठ खण्डों का प्रारम्भ किसलिए किया गया ? तो इसका उत्तर यह है कि– जब तक अन्य तारे नहीं देखे जाते तब तक ध्रुव के दर्शन नहीं होते। जैसा कि वाक्यपदीय के पदकाण्ड के दसवीं कारिका में आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि– शिक्षा लेने वाले बालकों के लिए उपाय उपलालन मात्र हैं। असत्य मार्ग पर खड़े होकर ही सत्य की चेष्टा की जाती है। इसलिए प्रतीक सिद्धान्त समझने के लिए इनका उपयोग है। अब नवम खण्ड में प्रवाहण वास्तविक सिद्धान्त की चर्चा करते हैं। यहाँ चर्चित होने वाला आकाशशब्द अन्तरिक्ष का वाचक नहीं परब्रह्म का वाचक है क्योंकि तैतिरीयोपनिषद् में कहा हुआ जगज्जन्मादि का करणत्वरूप ब्रह्म का लक्षण आकाश में भी मिल जाता है। इसलिए नवम खण्ड में चर्चित आकाश परब्रह्म

ही हैं ब्रह्मसूत्र (१/१/२३) में भगवान् वेदव्यास भी यही कहते हैं 'आकाश-स्तल्लिंगात्' (१/१/२३)॥ श्री॥

अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्॥१॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– शिलक ने पूँछा– इस दृश्यमान मर्त्यलोक की क्या गति है? जेवलिपुत्र प्रवाहण ने कहा– आकाश रूप परमात्मा। यहाँ पुंल्लिंग में आकाश का प्रयोग करके श्रुति ने नभवाची आकश से इस आकाश में विलक्षणता सूचित की है। नभवाची आकाश नपुंसकलिंग है। वह महाभूत तथा शब्दगुणक है और वह भगवान् की आठ अपरा प्रकृतियों में पाँचवी प्रकृति है। इससे वह परमब्रह्म वाचक नहीं बन सकता और उससे सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति भी नहीं सम्भव है। क्योंकि नभोरूप आकाश से केवल वायु की उत्पत्ति का श्रुति ने प्रमाण दिया है। 'आकाशात् वायुः' (तै०अ० २/२)। अपने सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए प्रवाहण नै०उ० में कहे हुए ब्रह्म के जगज्जन्मादिकरणत्वरूप तटस्थलक्षण का प्रकृत आकाश में संगमन करते हैं-- हे शिलक! इसी परब्रह्मरूप आकाश से सभी प्राणधारी जीव जन्म लेते हैं और प्रलयकाल में इसी आकाशाभिन्न परब्रह्म में सभी जीव अस्त हो जाते हैं इसलिए निश्चय ही यही आकाश रूप परब्रह्म इन शरीरावच्छिन्न जीवात्माओं से भी ज्यायान् अर्थात् अधिक प्रशस्य हैं और यही आकाशरूप ब्रह्म ही बद्ध, मुक्त, नित्य इन तीनों जीवात्माओं का परायण यानि परम आश्रय है॥ श्री॥

संगति– अब इसी आकाश परब्रह्म को इत्यादि मन्त्र से पर और अवर उद्गीथ रूप में श्रुति निश्चित करा रही हैं॥ श्री॥

स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः परोवरीयो हास्य। भवति परोवरीयसो ह लोकाञ्जयति य एतदेवं विद्वान्परोवरीयाँ् समुद्गीथमुपास्ते॥२॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– बृहदारण्यक (८/१४/१) में आकाश ब्रह्म का नाम कहा गया है। वहीं यह आकाश नामवाला ब्रह्म सबसे परे और अवर निर्गुण ब्रह्म से भी श्रेष्ठ हैं। इस प्रकार जो जानता है, उसका जीवन

भी सबसे परे और सबसे श्रेष्ठ हो जाता है। यही आकाशरूप ब्रह्म सभी प्रतीकों से परे और सभी अवर उद्गीथों से श्रेष्ठ हैं। वास्तव में यहाँ पर, अवर इस प्रकार अकार का विच्छेद नहीं करना चाहिए। क्योंकि ऐसा करने पर दीर्घ होकर परावरीयान् होने लगेगा। यदि छान्दसत्वात् ओंकार की कल्पना करें तो ज्ञान गौरव होगा। अत: यहाँ 'पर: वरीयान्' ऐसा विच्छेद करना चाहिए। यह ब्रह्म सबसे परे और श्रेष्ठ उद्गीथ है। वह यही आकाश नामक ब्रह्म अनन्त है इसको जानने वाले का जीवन भी माया से परे और वरिष्ठ हो जाता है। जो इस प्रकार जानकर इस परोवरीयान् उद्गीथ की उपासना करता है वह परोवरीय लोकों को जीत लेता है॥ श्री॥

संगति– अब फिर उद्गीथ उपासना में प्रतीत उत्पन्न कराने के लिए भगवती श्रुति शाण्डिल्य के वचन का उद्धरण देती हैं॥ श्री॥

तँ͘ हैतमतिधन्वा शौनक उदरशाण्डिल्या-
योक्त्वोवाच यावत्त एनं प्रजायामुद्गीथं।
वेदिष्यन्ते परोवरीयो हैभ्यस्ता-
वदस्मिंल्लोके जीवनं भविष्यति॥३॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार श्रुति प्रसिद्ध इस उद्गीथ को प्रणव-रूपधनुष सज्ज करने वाले शौनक ने, जिनके उदर में विज्ञानरूप शाण्डिल्य गोत्री जठराग्नि है ऐसे उदरशाण्डिल्य नामक महर्षि से पूर्णरूप से कहकर कहा– हे वत्स! तुम्हारी संतति परम्परा में जो भी इस उद्गीथ रहस्य को जानेगा उसका भी जीवन श्रेष्ठ और वरिष्ठ हो जायेगा॥ श्री॥

संगति– श्रुति इस फलश्रुति की व्यापकता कहती है– केवल शाण्डिल्य ही नहीं, इस प्रकार जो भी जानेगा उसका भी जीवन श्रेष्ठ होगा॥ श्री॥

तथामुष्मिँल्लोके लोक इति स य
एतदेवं विद्वानुपास्ते परोवरीय एव।
हास्यास्मिंल्लोके जीवनं भवति तथा-
मुष्मिंल्लोके लोक इति लोके लोक इति॥४॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार जो उद्गीथ की उपासना करता है उसका स्वर्गलोक में भी उत्कृष्ट जीवन होता है एवं श्रीसाकेतलोक में उसे भगवत् साक्षात्कार भी होता है॥ श्री॥

॥ छान्दोग्योपनिषद् पर प्रथम अध्याय के नवम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण॥

॥ श्रीराघव: शन्तनोतु॥

।। दशम खण्ड ।।

सम्बन्ध– इस प्रकार नव खण्डों में उद्गीथ उपासना का वर्णन किया गया। अब प्रतिहारप्रस्ताव का वर्णन आवश्यक है। क्योंकि उद्गीथरहस्य को जानता हुआ प्रतिहार ही उद्गीथगान करके यजमान का कल्याण कर सकता है। इस प्रकार तथ्य को स्पष्ट करने के लिए भगवती श्रुति स्वयं परम धार्मिक उषस्त्य और उनकी धर्मपत्नी की आख्यायिका सुना रही है।। श्री ।।

मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या सह जाययोषस्तिर्ह।
चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यह प्रसिद्ध है कि उत्तरकुरु देश के वज्रपात द्वारा नष्ट हो जने पर चक्रायण के पुत्र महर्षि उषस्ति दरिद्र का जीवन जीते हुए अपनी अल्पवयस्क पत्नी के साथ पीलवानों के गाँव में रहने लगे थे।। श्री ।।

व्याख्या– संस्कृत में वज्र को मटची कहते हैं। यहाँ जब वज्रपात होने से कुरुदेश की जीविका समाप्त हो गयी। तब उषस्ति को वह देश छोड़ना पड़ा। 'उषस्' शब्द का अर्थ प्रातः। 'उषसि भवः उषस्तिः' जिसका ज्ञान की प्रभात बेला में जन्म हुआ हो वही उषस्ति है। यद्यपि उषस्ति को ब्रह्मज्ञान नहीं है इसीलिए वे धन के अभाव में दरिद्रता का अनुभव कर रहे हैं परन्तु उनका उद्गीथ विषयक ज्ञान पूर्ण था परन्तु मन विषयासक्ति से नहीं हटा था। अल्पवयस्का नारी को आटकी कहते हैं। 'प्रकर्षेण द्राति इति प्रद्राणकः' 'द्रा' धातु यहाँ कुत्सितगमन अर्थ में प्रयुक्त है। अर्थात् उषस्ति धनाभाव के कारण हाथी पालने वाले असंस्कृत ग्राम में रहते थे। ब्रह्मवेत्ता ग्राम में नहीं रहा करते। वे तो आरण्यक होते हैं। नीति भी कहती है कि यदि मूर्खता अभीष्ट हो तो तीन दिन तक ग्राम में रह लेना चाहिए। अतः ग्राम सेवन ही उषस्ति को ब्रह्मज्ञान शून्य घोषित कर रहा है।। श्री ।।

स हेभ्यं कुल्माषान् खादन्तं बिभिक्षे तँ होवाच।
नेतोऽन्ये विद्यन्ते यच्च ये म इम उपनिहिता इति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– एक बार भ्रमण करते हुए क्षुधा से पीड़ित उषस्ति ने उबाला हुआ उड़द खाते हुए एक पीलवान को देखा और उससे अपनी भूख मिटाने के लिए जूठे उड़द माँगे। पीलवान ने कहा महानुभाव मेरे पास जितने उड़द हैं जूठे हैं इनमें अतिरिक्त मेरे पास उड़द नहीं हैं। यहाँ जूठे उड़द को ही कुलमाषशब्द से व्यवहृत किया गया है।। श्री ।।

एतेषां मे देहीति होवाच तानस्मै प्रददौ।
हन्तानुपानमित्युच्छिष्टं वै मे पीत ँ स्यादिति होवाच ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– तब उषस्ति ने कहा– भले उड़द जूठे हों परन्तु ये सब मुझे दे दो। यहाँ द्वितीया के स्थान पर षष्ठी के प्रयोग का आशय यह है कि उषस्ति ने कहा– इन्हें खाकर मैं जी सकता हूँ इसलिए जूठें होने पर भी इन्हें खाने में कोई आपत्ति नहीं है। हस्तिचालक ने जूठे उड़द उषस्ति को दे दिये और फिर कहा– भोजनान्त में अनुपानार्थ प्रयोग में आने वाला जल भी तो जूठा है उषस्ति ने कहा– इन्हें नहीं पीऊँगा क्योंकि मुझे जूठा जल पीने का पाप लगेगा।। श्री ।।

न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति न वा अजीविष्यमिमां न खादन्निति।
होवाच कामो म उदकपानमिति ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हस्तिपक ने उषस्ति से कहा– भगवन्! यह जल ले लीजिए। उषस्ति ने मना किया। हस्तिपक ने विनम्रतापूर्वक जिज्ञासा की– महोदय! जैसे यह जल जूठा है उसी प्रकार उड़द भी जूठे थे उन्हें खाने में आपको पाप नहीं लगा और जल पीने में आपको पाप क्यों लग जायेगा? उषस्ति ने शालीनता से उत्तर दिया– यदि यह उड़द मैं न खाता तो मैं यह जीवन भी धारण न कर पाता परन्तु जलपान तो मेरी इच्छा है इसको मैं रोक भी सकता हूँ। इसलिए जूठा जल पीने से उच्छिष्टभोग का प्रत्यवाय लगेगा।। श्री ।।

स ह खादित्वातिशेषाञ्जायाया आजहार साग्र।
एव सुभिक्षा बभूव तान्प्रतिगृह्य निदधौ ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर उषस्ति ने पीलवान से सारे उड़द ले लिये और प्रेम से खाया शेष अपनी पत्नी को दिया। उसने अपने पति की प्राणरक्षा के लिए रख लिया।। श्री ।।

स ह प्रातः संजिहान उवाच यद्बतान्नस्य लभेमहि।
लभेमहि धनमात्रा ँ राजासौ यक्ष्यते स मा सर्वैरार्त्विज्यैर्वृणीतेति ।।६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– उषस्ति ने प्रातःकाल जगकर शय्या छोड़ते-छोड़ते अपनी पत्नी से कहा– यदि आज मुझे अन्न मिल जाता तो मैं यहाँ से सुदूरवर्तिनी राजा की सभा में जाकर गंभीर स्वर में उद्गीथ गान करके उद्गाता और राजा को प्रभावित कर लेता। इससे राजा मेरा मुख्य आचार्य के रूप में वरण कर लेता और मेरी दरिद्रता दूर हो जाती।। श्री ।।

तं जायोवाच हन्त पत इम एव।
कुल्माषा इति तान्खादित्वामुं यज्ञं विततमेयाय ।।७।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अनन्तर उषस्ति की पत्नी आटकी ने कहा– भगवन्! कल आप द्वारा दिये उड़द मैंने नहीं खाये। यह अभी यहीं पड़े हैं। उषस्ति उन्हें ही खाकर प्रसन्नता से यज्ञ में गये।। श्री।।

तत्रोद्गातृनास्तावे स्तोष्यमाणानुपोपविवेश स ह प्रस्तोतारमुवाच ।।८।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर उषस्ति यज्ञ में आये और वहाँ स्तुति करने वाले स्थान पर उद्गाताओं के समीप बैठ गये और प्रस्तोता से बोले।। श्री।।

प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां।
चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति ।।९।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– उषस्ति ने कहा– हे प्रस्तोता! तुम्हारे प्रस्ताव में जो देवता स्थित है उसको बिना जाने अर्थात् प्रस्ताव के देवता के सम्बन्ध में न जानते हुए यदि तुम मन्त्र का प्रस्ताव करोगे तो तुम्हारा सिर फट जायेगा।। श्री।।

एवमेवोद्गातारमुवाचोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता तां।
चेदविद्वानुद्गास्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति ।।१०।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसी प्रकार उषस्ति ने उद्गाता से भी पूँछा–' यदि तुम उद्गीथ के देवता को बिना जाने उद्गीथ का उच्चारण करोगे तो तुम्हारा मस्तिष्क फट जायेगा।। श्री।।

एवमेव प्रतिहर्तारमुवाच प्रतिहर्तर्या देवता
प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्।
प्रतिहरिष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति
ते ह समारतरास्तूष्णीमासांचक्रिरे ।।११।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसी प्रकार उषस्ति ने प्रतिहर्ता से कहा– प्रतिहर्ता तुम्हारे प्रतिहार में जो देवता है उसके सम्बन्ध में न जानते हुए यदि तुम प्रतिहरण करोगे तो तुम्हारा सिर फट जायेगा। इस प्रकार उषस्ति के प्रश्न का उत्तर न देने पर प्रस्तोता, उद्गाता और प्रतिहर्त्ता ये तीनों उषस्ति के पास आकर, अपने अपराध का बोध करते हुए मौन बैठ गये।। श्री।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर प्रथम अध्याय के दशम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। एकादश खण्ड ।।

सम्बन्ध– अब ग्यारहवें खण्ड में महर्षि उषस्ति और महाराजा के संवाद का प्रारम्भ होता है। उषस्ति के किये हुए प्रश्नों का अन्य ब्राह्मणों से उत्तर न पाकर राजा उषस्ति का परिचय पूँछकर उन्हीं से उन प्रश्नों का समाधान जानना चाहते हैं।। श्री ।।

अथ हैनं यजमान उवाच भगवन्तं वा अहं।
विविदिषाणीत्युषस्तिरस्मि चाक्रायण इति होवाच ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब महाराज ने उषस्ति से पूँछा– भगवन्! क्या मैं आपके सम्बन्ध में कुछ जान सकता हूँ। इस पर उषस्ति ने कहा– मैं चक्रायण का पुत्र उषस्ति हूँ।। श्री ।।

स होवाच भगवन्तं वा अहमेभिः सर्वैरार्त्विज्यैः।
पर्यैशिषं भगवतो वा अहमवित्त्यान्यानवृषि ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– तब महाराज ने प्रसन्न होकर कहा– भगवन्! मैंने भी ऋत्विक् कर्म का सम्पादन करने के लिए आपको बहुत ढूँढ़ा। परन्तु दुर्भाग्य से आपको न पाने के पश्चात् इन ब्राह्मणों का वरण कर लिया अब ये सब निरस्त कर दिये जायेंगे और आप ही इस यज्ञ के मुख्य आचार्य होंगे। यहाँ 'वित्ति' शब्द का अर्थ उपलब्धि है।। श्री ।।

भगवाँ्स्त्वेव मे सर्वैरार्त्विज्यैरिति तथेत्यथ
तर्ह्येत एव समतिसृष्टाः स्तुवतां।
यावत्त्वेभ्यो धनं दद्यास्तावन्मम दद्या
इति तथेति ह यजमान उवाच ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर यजमान राजा ने कहा– भगवन्! इन ऋत्विजों की सामग्रियों से मैं आपका वरण करता हूँ और इन वृत ब्राह्मणों को विसर्जित कर देता हूँ। इस पर उषस्ति ने कहा– नहीं राजन्! अब प्रस्तोता, उद्गाता और प्रतिहर्ता इन तीनों ब्राह्मणों को मैंने उद्गीथ रहस्यों का उपदेश कर दिया है अब ये ही स्तुति करें परन्तु इनको जितना धन तुम दोगे उतना मुझे देना, क्योंकि स्मृति का सिद्धान्त है कि जितने से पेटभर जाय उतने ही धन का संग्रह करना चाहिए। जो अधिक की इच्छा करता है वह चोर है और दण्ड के योग्य है। इसलिए राजन्! मैं इनसे अधिक धन नहीं लूँगा। राजा ने स्वीकार कर लिया।। श्री ।।

अथ हैनं प्रस्तोतोपससाद प्रस्तोतर्या
देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेद-
विद्वान्प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतितष्यतीति
मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर उषस्ति के पास प्रष्तोता गया। उसने कहा– भगवन्! आपने मुझसे कहा था– हे प्रस्तोता! जो प्रस्ताव में स्थित देवता है उसे न जानते हुए यदि तुम स्तुति करोगे तो तुम्हारा सिर फट जायेगा तो मैं आपश्री से ही जिज्ञासा करता हूँ कि– वह देवता कौन हैं? ।। श्री ।।

प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि
प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते सैषा।
देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्
प्रास्तोष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– उषस्ति ने कहा– हे प्रस्तोता! तुम्हारे प्रस्ताव देवता प्राण अर्थात् प्राण पर्यायवाची परब्रह्म हैं। सभी प्राणी प्राण में ही प्रवेश करते हैं और सृष्टिकाल में प्राण से ही उत्पन्न होते हैं। प्रस्ताव को व्याप्त करने वाले वह यह देवता हैं। इसको न जानते हुए यदि आज तुम स्तुति करते तो मेरे कथनानुसार तत्काल तुम्हारा सिर धड़ से अलग हो जाता ।। श्री ।।

व्याख्या– यहाँ प्राणशब्द परब्रह्म का वाचक है क्योंकि तैत्तरीयोपनिषद् की ब्रह्मानन्द वल्ली में कहे हुए ब्रह्मलक्षण का लक्ष्यतावच्छेदक नासिका-मुख से निकलने वाले सामान्य प्राणवायु में नहीं घट सकता। क्योंकि सामान्य प्राणवायु जगत् के जन्मस्थितप्रलय का कारण कैसे बनेगा? जबकि यहाँ वह लक्षण प्राण में ही घटाया गया है। यदि कहें कि प्राण के परब्रह्मत्व में क्या कोई प्राचीन प्रमाण भी है? तो हाँ, महर्षि पराशरकल्पवृक्ष का ब्रह्मसूत्र ही यहाँ परम प्रमाण है। 'अतएव प्राणः' (ब्र० सू० १/१/२४) इसीलिए रामचरितमानस में कौशल्या जी कहती हैं– पूत परमप्रिय तुम सब ही के। प्राण प्राण के जीवन जी के।। (मा० अयो० ५६/६) केनोपनिषद् (१/३) में भी भगवती श्रुति कहती हैं– 'स उ प्राणस्य प्राणः' अर्थात् भगवान् प्राणों के भी प्राण हैं। यही प्राण प्रस्ताव के देवता हैं।। श्री ।।

अथ हैनमुद्गातोपससादोद्गातर्या देवतोद्गीथ-
मन्वायत्ता तां चेदविद्वानुद्गास्यसि मूर्धा।
ते विपतिष्यतीति मा भगवान-
वोचत्कतमा सा देवतेति ।।६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर उषस्ति के पास उद्गाता गया और प्रणाम करके बोला– भगवन्! मुझसे आपने कहा था कि– हे उद्गाता! जो देवता तुम्हारे उद्गीथों को व्याप्त कर रही है उसे बिना जाने हुए जो तुम उद्गीथ करोगे तो तुम्हारा सिर फट जायेगा। तो मैं जिज्ञासा करता हूँ कि– उद्गीथ के देवता कौन हैं?

व्याख्या– यहाँ भक्ति को ही उद्गीथ माना गया है। स्वयं शंकराचार्य ने अपने भाष्य में यह बात कही है। उन्हीं के वाक्य से उनका यह कथन स्वयं खंडित हो जाता है कि चारों वेदों में उपलब्ध न होते हुए भी तप के प्रभाव से महर्षि शाण्डिल्य ने प्राप्त कर लिया। यह उपनिषद् स्वयं सामवेद के तलवकारीशाखा के तृतीय अध्याय से दशम अध्याय पर्यन्त कही गयी है और इसी में उद्गीथ का वर्णन है तो क्या यह भक्तिशास्त्र सामवेद में नहीं आ गया? यथा– इस प्रसंग का शांकरभाष्य देखिये– 'उद्गीथभक्तिमनुगन्तान्वायत्ता देवा' अर्थात् उद्गीथ ही भक्ति है और देवता उसके अधीन हैं। इस प्रकार सामवेद में उपलब्ध होने पर भी भक्ति को वेदबहिर्भूत बताया जाय इससे बड़ी और हठधर्मिता क्या होगी ।। श्री ।।

आदित्य इति होवाच सर्वाणि ह वा
इमानि भूतान्यादित्यमुच्चैः सन्तं गायन्ति।
सैषा देवतोद्गीथमन्वायत्ता तां चेदविद्वानुदगास्यो
मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति ।।७।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– उषस्ति ने कहा– हे उद्गाता! उद्गीथ को व्याप्त करने वाले देवता आदित्य हैं। क्योंकि सम्पूर्ण प्राणी आकाश मण्डल में उदयाचल के ऊपर उदित होते हुए सूर्यनारायण को ही गाते हैं। यही देवता उद्गीथ में व्याप्त हैं। इसे बिना जाने हुए यदि तुम उद्गान करते तो तुम्हारा सिर फट जाता ।। श्री ।।

व्याख्या– यहाँ आदित्य शब्द भी परमात्मा का वाचक है और उद्गीथ भक्ति का ।। श्री ।।

अथ हैनं प्रतिहर्तोपससाद प्रतिहर्तर्या देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रतिहरिष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ।।८।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर उषस्ति के पास प्रतिहर्ता आया और निवेदन किया– भगवन्! आपश्री ने मुझे यह आज्ञा दी थी कि– हे प्रतिहर्ता! जो देवता प्रतिहार में विद्यमान है उसे बिना जाने हुए यदि तुम प्रतिहरण करोगे तो तुम्हारा सिर फट जायेगा, तो मैं आपश्री से ही यह जानना चाहता हूँ कि– प्रतिहार में विराजमान देवता कौन हैं? ॥ श्री ॥

अन्नमिति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि
भूतान्यन्नमेव प्रतिहरमाणानि जीवन्ति सैषा।
देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रत्यहरिष्यो
मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति तथोक्तस्य मयेति ।।९।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– उषस्ति ने कहा– हे प्रतिहर्ता! प्रतिहार का देवता अन्न ही है। क्योंकि सभी प्राणी गतिशील होते हुए अन्न के आश्रय से जीते हैं। यही देवता प्रतिहार को व्याप्त किये हुए है इसे बिना जाने हुए यदि तुम प्रतिहरण करते तो तुम्हारा सिर धड़ से अलग होकर पृथ्वी पर गिर पड़ता ॥ श्री ॥

व्याख्या– यहाँ 'अन्न' शब्द भी परब्रह्म का वाचक है। 'अत्तीति अन्नम्' अर्थात् जो सबको खा जाता है उस कालरूप ब्रह्म को अन्न कहते हैं। कठोपनिषद् में भी यमराज कहते हैं कि– ब्राह्मण क्षत्रियोपलक्षित सभी प्राणी जिसका ओदन (भात) है और मृत्यु जिसकी दाल है अर्थात् जैसे दाल से भात खाया जाता है उसी प्रकार मृत्यु को माध्यम बनाकर भगवान् सभी को खा जाते हैं (क०उ० १/२/२५)। ब्रह्मसूत्र (१/२/९) में भी भगवान् वेदव्यास कहते हैं कि– चराचर को ग्रहण करने से भगवान् को 'अत्ता' अर्थात् भोक्ता कहा गया है वस्तुतः वह कर्मफल का भोग नहीं करते। 'अत्ता चराचर ग्रहणात्' (ब्र०सू० १/२/९) मानस के पंचम सोपान में रावण से हनुमान् जी भी कहते हैं— जाके डर अति काल डराई। जो सुर असुर चराचर खाई। (मा०सु० २२/९) इस प्रकार उषस्ति ने प्रस्ताव में प्राण, उद्गीथ में आदित्य और प्रतिहार में 'अन्न' देवता की चर्चा करके प्रस्तोता, उद्गाता और प्रतिहर्ता को संतुष्ट कर दिया ॥ श्री ॥

॥ छान्दोग्योपनिषद् पर प्रथम अध्याय के एकादश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ॥

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। द्वादश खण्ड ।।

सम्बन्ध– इसके पहले दो खण्ड में दारिद्रता से जनित दुर्विपाक से पीड़ित उषस्ति की दुरवस्था का वर्णन किया गया और अन्न के अभाव में ही बुभुक्षित उषस्ति को पीलवान से जूठा उड़द भी माँगना पड़ा और बिना बुलाये राजसभा में जाना पड़ा। राजसभा में सभी ऋत्विजों को परास्तकर हठात् यज्ञ की अध्यक्षता स्वीकारनी पड़ी यह सब विष अन्न के अभाव के कारण ही तो पीना पड़ा। फिर इस प्रकार अन्न का अभाव न हो इसके लिए उद्गीथ का गान करते हैं ।। श्री ।।

अथातः शौव उद्गीथस्तद्ध बको दाल्भ्यो।
ग्लावो वा मैत्रेयः स्वाध्यायमुद्वव्राज ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर शौव अर्थात् श्वानों (कुत्तों) द्वारा साक्षात्कार किया हुआ उद्गीथ प्रस्तुत किया जाता है। उसके उध्ययन के लिए दाल्भ्य और मित्रा के पुत्र बक उपनाम वाले ग्लाव महर्षि वैदिक शाखा के अभ्यास के लिए उपयुक्त स्थल जलाशय के पास गये ।। श्री ।।

तस्मै श्वा श्वेतः प्रादुर्बभूव तमन्ये श्वान।
उपसमेत्योचुरन्नं नो भगवानागायत्वशनायाम वा इति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जब महर्षि ग्लाव वेदाध्ययन के लिए जलाशय के पास एकान्त में गये उसी समय उन्हीं का कल्याण करने के लिए श्वेत वर्ण का एक कुत्ता प्रकट हुआ और उसी के पीछे अन्य कुत्ते भी प्रकट हुए। उन्होंने श्वेत कुत्ते से प्रार्थना की— भगवन्! संसार की भुखमरी दूर करने के लिए उद्गीथ के माध्यम से गाकर हमारे लिए अन्न सुलभ करें ।। श्री ।।

व्याख्या– मैत्रेय के समक्ष प्रकट होने वाला कुत्ता दूसरा कोई नहीं था भगवान् हीं श्वेत कुत्ते का रूप धारण करके आ गये थे और देवता ही दूसरे कुत्ते के रूप में। कलियुग में भी नामदेव के समक्ष भगवान् का श्वानरूप धारण करना सर्वविदित ही है ।। श्री ।।

तान्होवाचेहैवमा प्रातरुपसमीयातेति तद्ध बको।
दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः प्रतिपालयाञ्चकार ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– तब श्वेत कुत्ते ने उत्तर दिया– ठीक है मैं आज तो अन्न के लिए उद्गीथ नहीं गाऊँगा परन्तु कल इसी समय प्रातःकाल

तुम लोग यहीं आओ और मैं तुमलोगों के लिए अन्नोद्गीथ का गान करूँगा। उन लोगों ने मान लिया और दूसरे दिन प्रातःकाल सभी कुत्ते उसी स्थान पर गये साथ ही श्वेत कुत्ते के संकेत के अनुसार दाल्भ और मित्रा के पुत्र ग्लाव भी दूसरे दिन वहाँ गये और श्वेत श्वान की प्रतीक्षा की ॥ श्री ॥

ते ह यथैवेदं बहिष्पवमानेन स्तोष्यमाणाः सँरब्धाः।
सर्पन्तीत्येवमाससृपुस्ते ह समुपविश्य हिंचक्रुः ॥४॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– दूसरे दिन प्रातःकाल ही अन्य सभी कुत्ते बहिष्पवमान नामक वैदिक स्तोत्र से अपने-अपने इष्ट देवता का स्तवन करते हुए श्वेतश्वान के पास जाकर हिंकार करके उसे अपनी उपस्थित से अवगत कराया ॥ श्री ॥

ओ३ मदा३ मों३ पिबा३
मों३ देवो वरुणः प्रजापतिः।
सविता२ न्नमिहा२ हरदन्नपतेऽ-
न्नमिहा२ हरा२ हरो३ मिति ॥५॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे सकल प्राणियों के रक्षक परमेश्वर! हम आपकी कृपा से भोजन कर रहे हैं और आप ही की कृपा से जल पी रहे हैं। हे प्रकाशनशील! सबके प्रेरक! वरुण स्वरूप भगवन्! प्रजाओं के पति! अन्न दीजिए अन्न दीजिए ॥ श्री ॥

॥ छान्दोग्योपनिषद् पर प्रथम अध्याय के द्वादश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ॥

॥ श्रीराघवः शन्तनोतु ॥

॥ त्रयोदश खण्ड ॥

सम्बन्ध– इसके पूर्व खण्ड में शौव उद्गीथ के माध्यम से अन्न उद्गीथ के अधीन सिद्ध किया गया। अब अग्रिम खण्ड में उद्गीथ के अक्षरों पर विचार करते हैं ॥ श्री ॥

अयं वाव लोको हाउकारो वायुर्हाईकारश्चन्द्रमा।
अथकारः। आत्मेहाकरोऽग्निरीकारः ॥१॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यह लोक ही हाउकार है, वायु हाईकार

है, चन्द्रमा अथकार है, आत्मा इहाकार और अग्नि इकार हैं। यही रथन्तर वामदेव्य स्तोत्र है॥ श्री॥

आदित्य ऊकारो निहव एकारो विश्वेदेवा औहोइकारः।
प्रजापतिर्हिंकारः प्राणः स्वरोऽन्नं या वाग्विराट्॥२॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– 'निहव' शब्द का अर्थ है वैदिक आह्वान। देवता और विराट से परमात्मा अभिप्रेत है। इस प्रकार आदित्य ही उकार है, निहव अर्थात् वैदिक आह्वान देवता एकार है और विश्वेदेव ही होइकार हैं, प्रजापति हिंकार हैं, प्राण ही स्वर है, या अन्न है और वाणी विराट हैं। इस प्रकार इन सात स्तोभों में सात देवताओं की धारणा कही गयी है॥ श्री॥

अनिरुक्तस्त्रयोदशः स्तोभः संचरो हुंकारः॥३॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार दो मन्त्रों में वर्णित बारह स्तोभों में निरुक्ति का वर्णन करके भगबती श्रुति ने तेरहवें स्तोभ के लिए कहा कि– यह तेरहवां स्तोभ अनिरुक्त है अर्थात् ब्रह्मस्वरूप होने से इसका निवर्चन नहीं किया जा सकता। यह हुंकार सर्वव्यापी है। सर्वत्र संचरण करता रहता है॥ श्री॥

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति।
य एतामेवँ साम्नामुपनिषदं वेदोपनिषदं वेद॥४॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो साधक पूर्वोक्त सामवेद की उपनिषद् को जानता है, उस साधक के लिए भगवती श्रुति कामधेनु की भाँति वाणी रूप दुग्ध को अर्पित कर देती हैं और जो वाणी का दोहन करता है वह अन्नवान् होता है वह दूसरों को अन्न खिलाता है। जो इस सामवेदोपनिषद् को जानता है वह साहित्य और समृद्धि से पूर्ण हो जाता है॥ श्री॥

॥ इस प्रकार छान्दोग्योपनिषद् के प्रथम अध्याय पर श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पन्न हुआ॥

॥ श्रीराघवः शन्तनोतु॥

●

।। द्वितीय अध्याय ।।

।। प्रथम खण्ड ।।

सम्बन्ध– प्रथम अध्याय में व्यस्तरूप से सामोपासना का वर्णन किया गया और 'साम' शब्द के अवयवों में भी विशेष उपासनाओं का दिग्दर्शन कराया गया। अनेक प्रतीकों के माध्यम से भिन्न-भिन्न देवताओं के स्मरण के साथ परमात्मा का स्मरण भी कराया गया। द्वितीय अध्याय में पूर्व प्रसंग का स्मरण कराती हुई भगवती श्रुति सामस्त्योपासना का निवर्चन करती है।। श्री।।

ॐ समस्तस्य खलु साम्न उपासनँ साधु।
यत्खलु साधु तत्सामेत्याचक्षते यदसाधु तदसामेति।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– ॐ यह परमात्मा का स्मरण है। अब सर्वावयव सम्पन्न सामवेद स्वरूप श्रीहरि की उपासना का वर्णन करते हैं, क्योंकि समस्त सामवेद स्वरूप श्रीहरि की उपासना साधु है। लोक में जो श्रेष्ठ होता है उसी को साम कहा जाता है। जो असाधु अर्थात् अनुचित होता है उसे असाम कहते हैं।। श्री।।

तदुताप्याहुः साम्नैनमुपागादिति साधुनैनमुपागादित्येव।
तदाहुरसाम्नैनमुपागादित्यसाधुनैनमुपागादित्येव तदाहुः।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– लोक में भी साम और साधु शब्द तुल्यार्थक देखे जाते हैं और असाम तथा असाधु शब्द भी समान अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। जैसे– यदि कोई किसी के साथ सुन्दर व्यवहार करता है तो लोग कहते हैं अमुक व्यक्ति साधु और साम व्यवहार से अमुक व्यक्ति से मिला और जब कोई अनुचित व्यवहार करता है तब लोग कहते हैं कि अमुक व्यक्ति अमुक व्यक्ति के पास असाधु या असाम रूप से आया। भारवि ने भी कहा है 'निरत्ययं साम न दानवर्जितं' मल्लिनाथ भी साम शब्द का सान्त्वना अर्थ करते हैं। अमर कोष में भी साम और शान्त्व' शब्द एक समान कहे गये हैं– 'सामशान्त्वमुभौसमौ' ।। श्री।।

अथोताप्याहुः साम नो बतेति यत्साधु भवति साधु बतेत्येव।
तदाहुरसाम नो बतेति यदसाधु भवत्यसाधु बतेत्येव तदाहुः।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अतिरिक्त लोग ऐसा भी कहते हैं कि– आज हमारे लिए साधु हुआ और यह हमारे लिए सामरूप से घटित

हुआ। जब कुछ अशुभ घटित होता है तब लोग कहते हैं आज असाम या असाधु घटित हुआ इसलिए साम शब्द साधु और शुभ अर्थ में तथा असाम शब्द असाधु और असाम अर्थ में प्रयुक्त होता है ।। श्री ।।

स य एतदेवं विद्वान्साधु सामेत्युपास्तेऽभ्याशो ह।
यदेनँ्साधवो धर्मा आ च गच्छेयुरुप च नमेयुः ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार जो कोई साधक पूर्वोक्त रीति से इस सामरहस्य को साधु और शुभरूप में समझकर उपासना करता है और उसका अभ्यास करता है, उस महापुरूष के पास सभी श्रेष्ठ धर्म और अनन्यता रूप प्रेमलक्षणाभक्ति से युक्त सभी भागवत् धर्म आदर पूर्वक आ जाते हैं और उसके निकट जाकर नमन भी कर सकते हैं ।। श्री ।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर द्वितीय अध्याय के प्रथम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। द्वितीय खण्ड ।।

सम्बन्ध– अब उपासना की पाँच विधाओं का वर्णन करने के लिए इस खण्ड का प्रारम्भ होता है ।। श्री ।।

लोकेषु पञ्चविधँ्सामोपासीत पृथिवी हिंकारः अग्निः।
प्रस्तवोऽन्तरिक्षमुद्गीथ आदित्यः प्रतिहारो द्यौर्निधनमित्यूर्ध्वेषु ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– लोक में पाँच प्रकार का साम होता है– हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन। उनमें पृथ्वी ही हिंकार है, क्योंकि दोनों में झंकृति समानरूप से होती है। अग्नि प्रस्ताव है, क्योंकि अग्नि के द्वारा देवताओं को हवि प्रस्तुत किया जाता है और प्रस्ताव द्वारा साधक देवताओं के पास अपनी भावनायें प्रस्तुत करता है। अंतरिक्ष उद्गीथ है, क्योंकि वहीं सूर्य चन्द्रमा उदित होकर गाते हुए आनन्द करते हैं। आदित्य भगवान् सूर्य ही प्रतिहार हैं, क्योंकि वे अपनी किरणों द्वारा लोक में प्रकाश का प्रतिहरण करते हैं। द्यौ निधन है, क्योंकि इसमें देवता स्थापित किये जाते हैं। सामवेद में जिन हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन इन पाँच विधाओं की चर्चा है, उनकी समानतधर्मता के आधार पर ही पृथ्वी अग्नि, अन्तरिक्ष आदित्य तथा स्वर्ग में धारण की गयी है ।। श्री ।।

अथावृत्तेषु द्यौः हिंकार आदित्यः ।
प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथोऽग्निः प्रतिहारः पृथिवी निधनम् ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब अधोलोकों में साम की धारण कहते हैं। द्यौ ही हिंकार है, क्योंकि वहाँ भी झंकृति होती है। आदित्य ही प्रस्ताव है, क्योंकि वे किरणों से प्रस्ताव की प्रस्तुति करते हैं। अन्तरिक्ष ही उद्गीथ है, क्योंकि वहीं सूर्य, चन्द्रमा आदि नक्षत्र उदित होते हैं। अग्नि ही प्रतिहार हैं, क्योंकि उनके द्वारा ही हव्यकव्य का देव-पितरों का प्रतिहरण होता है और पृथ्वी ही निधन है, क्योंकि वहीं सभी वस्तुएँ रखी जाती हैं ।। श्री ।।

कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च य एतदेवं विद्वाँल्लोकेषु पञ्चविध सामोपास्ते ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब उपासना का फल कहते हैं— जो साधक हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, निधन इन पाँच सामवेद की विधाओं को जानकर पृथ्वी आदि में धारण करके उपासना करता है, उसके लिए पृथ्वी से लेकर स्वर्ग पर्यन्त और स्वर्ग से लेकर पृथ्वी पर्यन्त सभी लोक भोग के रूप में प्रस्तुत हो जाते हैं ।। श्री ।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर द्वितीय अध्याय के द्वितीय खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। तृतीय खण्ड ।।

सम्बन्ध– पूर्वखण्ड में लोकदृष्टि से सामोपासना का वर्णन किया गया और अब वर्षा की दृष्टि से सामोपासना की पाँच विधाओं का वर्णन किया जा रहा है ।। श्री ।।

वृष्टौ पञ्चविध ँ सामोपासीत पुरो वातो हिंकारो मेघो जायते ।
स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहारः ।।१।।

उद्गृह्णाति तन्निधनं वर्षति हास्मै वर्षयति ।
ह य एतदेवं विद्वान्वृष्टौ पञ्चविध ँ सामोपास्ते ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब वर्षा की दृष्टि से उपासना का वर्णन करते हैं। वर्षा के पूर्व जो पुरवैया वायु चलता है वही हिंकार है, क्योंकि

उसमें झंकृति होती हैं। उसके अनन्तर जो मेघ उत्पन्न होता है वही प्रस्ताव है– क्योंकि वह जल प्रस्तुत करता है। जो मेघ जलवर्षण करता है वही उद्गीथ है, क्योंकि वहाँ ऊपर से मेघ जल को उगलता है और जो विजली चमकती है वही प्रतिहार है तथा वर्षा के जल को पृथ्वी उद्ग्रहण करती है वही निधन है, क्योंकि जल वहीं स्थापित होता है। इस प्रकार जानकर जो साम की उपासना करता है, उसके लिए परमात्मा सभी कामनाओं की वर्षा करते हैं और अन्य देवताओं से भी वर्षा कराते हैं।। श्री ।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर द्वितीय अध्याय के तृतीय खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। चतुर्थ खण्ड ।।

सम्बन्ध– अब चतुर्थ खण्ड में जल की दृष्टि से सामोपासना का वर्णन करते हैं।। श्री ।।

सर्वास्वप्सु पञ्चविधिँ सामोपासीत् मेघो
यत्संप्लवते स हिंकारो यद्वर्षति स प्रस्तावो।
याः प्राच्यः स्यन्दन्ते स उद्गीथो याः प्रतीच्यः
स प्रतिहारः समुद्रो निधनम् ।।१।।
न हाप्सु प्रैत्यप्सुमान्भवति य एतदेवं।
विद्वान् सर्वास्वप्सु पञ्चविधँ सामोपास्ते ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसी प्रकार तालाब, नदी, झरना, समुद्र के जल में भी साम की उपासना करनी चाहिए। उनमें मेघ ही हिंकार है, क्योंकि वह सबको जल से संप्लावित करता है और उसमें शब्द भी होता है। उसकी वर्षणक्रिया ही प्रस्ताव है, क्योंकि उससे सर्वत्र जल की प्रस्तुति होती है। पूर्वाभिमुख बहने वाली नदियाँ ही उद्गीथ हैं। यही भक्ति का स्वरूप है। अतः गंगा, यमुना, सरयू आदि को भक्ति स्वरूप माना गया है। पश्चिम वाहिनी नदियाँ ही प्रतिहार हैं, क्योंकि उनसे जल का समुद्र में प्रतिकूल अर्थात् विपरीत दिशा से प्रेषण होता है। समुद्र ही निधन है, क्योंकि सम्पूर्ण जल वही पर स्थिर हो जाता है। यहाँ ध्यान रहे निधन सामवेद का एक स्तोभ है। लोक में भले ही उसका दूसरा अर्थ किया जाता है। इस प्रकार सामवेद के रहस्य को जानकर जो सामवेद की उपासना

करता है वह जल में मरकर भी प्रेत नहीं होता और अप्सुमान् अर्थात् जल के प्रति सम्मानवान् होता है अथवा उसके जीवन में जल की कमी नहीं होती। यहाँ मतुप् प्रत्यय होने पर भी 'सुपां सुलुक्' सूत्र से 'सु' आदेश तथा पदान्त के अभाव के कारण विसर्ग न होने से अप्सुमान् शब्द बन गया ।। श्री ।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर द्वितीय अध्याय के चतुर्थ खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघव शन्तनोतु ।।

।। पंचम खण्ड ।।

सम्बन्ध– इसमें समय, ऋतुओं में सामोपासना का वर्णन करते हैं–

ऋतुषु पञ्चविधँ सामोपासीत् वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः।
प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शारत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनम् ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– ऋतुओं में भी पंचविध साम की उपासना करनी चाहिए। वसन्त ही हिंकार है, क्योंकि उसी में मालयमारूत् की झंकृति होती है। ग्रीष्म ही प्रस्ताव है, क्योंकि वही आम्र आदि फलों को प्रस्तुत करता है। वर्षा ही उद्गीथ है उसी में चातक, मोर आदि पक्षी ऊँचे स्वर से गाते हैं। उद्गीथ भगवद्भक्ति है इसीलिए गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी बर्षा को रामजी की भक्ति कहा–

वर्षा ऋतु रघुपति भगति, तुलसी सालि सुदास।
राम नाम बर बरन जुग, सावन भादौं मास ।।

–(मा० बाल०-१९)

शरद ही प्रतिहार है, क्योंकि उसी में सूर्य को जल मिलता है। हेमन्त निधन है, उसमें ठंड के कारण लोग घरों में छिप जाते हैं। शिशिर का हेमन्त में अन्तर्भाव है ।। श्री ।।

यदुदिति स उद्गीथो यत्प्रतीति स प्रतिहारो।
यदुपेति स उपद्रवो यन्नीति तन्निधनम् ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो उदित होता है उसे उद्गीथ कहते हैं। जो प्रति से प्रारम्भ होता है उसे प्रतिहार कहते हैं। जो उप उपसर्ग से प्रसिद्ध है वह उपद्रव (साम) है और जो नि से प्रारम्भ हो वही निधन है। लोक में

भले ही निधन शब्द का मरण अर्थ हो परन्तु वेद में निधन सामवेद का एक प्रकार है ।। श्री ।।

कल्पन्ते हास्मा ऋतव ऋतुमान्भवति ।
य एतदेवं विद्वानृतुषु पञ्चविध ँ् सामोपास्ते ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो इस प्रकार जानकर ऋतुओं में सामवेद की उपासना करता है सभी ऋतु उसके लिए अनुकूल रहती हैं वह श्रेष्ठ ऋतुओं से सम्पन्न रहता है ।। श्री ।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर द्वितीय अध्याय के पंचम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। षष्ठ खण्ड ।।

सम्बन्ध– अब पशु की दृष्टि से सामोपासना का वर्णन किया जाता है ।। श्री ।।

पशुषु पञ्चविध ँ् सामोपासीताजा हिंकारोऽवयः ।
प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाः प्रतिहारः पुरुषो निधनम् ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– पशुओं में भी पाँच प्रकार की सामोपासना करनी चाहिए। उनमें बकरी हिंकार है, क्योंकि हिंकार की भाँति उसमें भी झंकृति है। भेड़ प्रस्ताव है, क्योंकि वह बच्चों को प्रस्तुत करके ही चलती है। गौ उद्गीथ है, क्योंकि देवतागण भी उसका ऊँचे स्वर से गान करते हैं। उसी गौ की रक्षा करने के लिए भगवान् श्रीराम और भगवान् श्रीकृष्ण अवतार लेते हैं–

गावो मे पुरतः सन्तु गावो में सन्तु पृष्ठतः ।
गावो मे मध्यतः सन्तु गवां मध्ये वसाम्यहम् ।।

(पद्मपुराण-काशी खण्ड)

इस दृश्य का भागवत जी में बड़ा मधुर चित्रण है– भगवान् श्यामसुन्दर सायंकाल गायें चराकर श्री वृन्दावन से ब्रज की ओर लौट रहे हैं और गौवों के खुरों की धूल से उनके केशों में बंधा हुआ मयूर पिच्छ धूसरित हो रहा है। भगवान् श्रीकृष्ण ने जंगली पुष्प धारण किये हैं, उनकी चितवन बहुत मधुर है, उनका मन्द-मन्द हास मुनियों के मन को भी मोह लेता है।

वे स्वयं मुरली बजाते हुए उसमें से श्री राधारानी के श्री चरणों के नूपुर की ध्वनि निकाल रहे हैं। उनके अनुगामी ग्वाल-वाल उनकी पवित्र कीर्ति गा रहे हैं ऐसे असमूर्ध्वसौन्दर्यसम्पन्न भगवान् को दर्शन सुधा की प्यासी आखों वाली गोपियाँ इकट्ठी होकर देख रही हैं।। श्री ।।

तं गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्हं वन्यप्रसूनरूचिरेक्षणचारूहासम्।
वेणुं क्वणन्तमनुगैरनुगीतकीर्तिं गोप्यो दिदृक्षितदृशोऽभ्यगमन् समेताः ।।

(भाग० १०/१५/४२)

भगवती श्रुति भी गौ की प्रसंशा में कहती हैं– हे मनुष्यों! यह गाय भगवान् शंकर के लिए माँ तुल्य पूज्य हैं तथा ये वसुओं के लिए पुत्री के समान वात्सल्यभाजन है। यह गौ माता भगवान् सूर्य के लिए बहिन के समान आदरणीय है तथा यह अमृतरूप पंचगव्य को जन्म देती है। मैने बार-बार हिंसा करने वाले व्यक्ति से कहा कि तुम देवमाता अदिति के समान पूजनीय और अखण्डनीय निरपराध गौ माता का वध मत करो। घोड़ा ही प्रतिहार है तथा पुरुष ही निधन है। यदि स्वभाव परक व्याख्या करनी हो तो यह कहा जा सकता है कि– कुछ लोग बकरी के स्वभाव वाले और भीरू होते हैं, कुछ लोग गौ के समान सर्वगुण सम्पन्न होते हैं, कुछ लोग घोड़े के समान विद्याविनयशून्य तथा भारवाहक मात्र होते हैं। पुरुष में सबका समाहार हो जाता है।। श्री ।।

भवन्ति हास्य पशवः पशुमान्भवति।
य एतदेवं विद्वान्पशुषु पञ्चविधꣳ सामोपास्ते ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो इस प्रकार जानता हुआ पशुओं में पाँच प्रकार से साम की उपासना करता है, उसके पास बहुत से पशु होते हैं और वह प्रशस्त पशुओं का स्वामी होता है।। श्री ।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर द्वितीय अध्याय के षष्ठ खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। सप्तम खण्ड ।।

सम्बन्ध– अब प्राण में सामोपासना का वर्णन करते हैं—

प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः
सामोपासीत प्राणो हिंकारो।
वाक्प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहारो
मनो निधनं परोवरीयाँ्सि वा एतानि ।।१।।

परोवरीयो हास्य भवति परोवरीयसो
ह लोकाञ्जयति य एतदेवं।
विद्वान्प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः
सामोपास्त, इति तु पञ्चविधस्य ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यहाँ 'प्राण' शब्द शरीर के सूक्ष्म उपकरणों का वाची है। मुख नासिका से निकलने वाला वायु प्राण ही हिंकार है, क्योंकि इसमें भी झंकृति होती है। वाणी ही प्रस्ताव है, वही अर्थों को प्रकट करती है। नेत्र उद्गीथ है, उचित अंगों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। श्रवणेन्द्रिय ही प्रतिहार हैं, शब्द के माध्यम से वही आत्मा का प्रतिहरण करती है। मन ही निधन है, उसी में सबका समावेश हो जाता है ।। श्री ।।

जो इस प्रकार जानता हुआ यह परोवरीय सामोपासना कहता है, वह परोवरीय लोकों को जीत लेता है। यही प्राणों में पंचविध उषासना का फल है ।। श्री ।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर द्वितीय अध्याय के सप्तम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। अष्टम खण्ड ।।

सम्बन्ध– अब हिंकार, प्रस्ताव, आदि, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव, निधन इन सात प्रकार की सामोपासना का वाणी में ही समाहार है इसलिए जो वाणी के हुंकार आदि व्यापार हैं, उन सब में साम की अवधारणा की गयी है ।। श्री ।।

अथ सप्तविधस्य वाचि सप्तविधँ् सामोपासीत यत्किंच वाचो।
हुमिति स हिंकारो यत्प्रेति स प्रस्तावो यदेति स आदिः ।।१।।

यदुदिति सः उद्गीथो यत्प्रतीति स प्रतिहारो।
यदुपेति स उपद्रवो यन्नीति तन्निधनम्॥२॥

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति।
य एदतेवं विद्वान् वाचि सप्तविधꣳ सामोपास्ते॥३॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब वाणी में ही सात प्रकार के साम ही उपासना करनी चाहिए। जो वाणी में हुंकार है, वही हिंकार है। जो वाणी का प्रेषण है, वही प्रस्ताव है। जो वाणी की गतिशीलता है, वही आदि है। जो वाणी की उत्कृष्टता है, वही उद्गीथ है। जो वाणी की प्रतीति है, वही प्रतिहार है। जो वाणी की उपकारिता है, वही उपद्रव है और जो वाणी की अर्थग्राहकता है, वही निधन है। इस प्रकार जो जानता है, वह अपने वाङ्मय के आनन्द को प्राप्त करता है। वह अन्नवान होता है ओर दूसरों को अन्न खिलाने की क्षमता रखता है॥ श्री॥

॥ छान्दोग्योपनिषद् पर द्वितीय अध्याय के अष्टम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण॥

॥ श्रीराघवः शन्तनोतु॥

॥ नवम खण्ड ॥

सम्बन्ध– इस प्रकार पूर्व खण्डों में भिन्न-भिन्न प्रतीकों से सात सामोपासनाओं का वर्णन किया गया। अब सूर्य में ही इन सातों सामोपासनाओं की कल्पना की जा रही है॥ श्री॥

अथ खल्वमुमादित्यꣳ सप्तविधꣳ सामोपासीत सर्वदा।
समस्तेन साम मां प्रति मां प्रतीति सर्वेण समस्तेन साम॥१॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– वाणी की उपासना के अनन्तर इन सूर्य नारायण को ही सात प्रकार से साम का स्वरूप मानकर इनकी उपासना करनी चाहिए। जो सम होता है उसी को साम कहते हैं। सूर्य नारायण राजा और रंक के लिए समान रूप से प्रकाश वितरण करते हैं। लोक में भी अनुभव किया जाता है, सभी कहते हैं कि वह मेरे प्रति समान है। 'स' 'मान' शब्द जाहँ पर प्रयुक्त होते हैं उसे 'सम' कहते हैं। 'सम' शब्द से ही स्वार्थ में अण् प्रत्यय करके 'साम' बनता है और ऐसमयादि गण में पाठ होने से पदसंज्ञा से बाघ हो जाने के कारण यहाँ पर 'टि' का लोप नहीं हुआ॥ श्री॥

तस्मिन्निमानि सर्वाणि भूतान्यन्वायत्तानीति
विद्यात्तस्य यत्पुरोदयात्स हिंकारस्तदस्य।
पशवोऽन्वायत्तास्तस्मात्ते हिं कुर्वन्ति
हिंकार भाजिनो ह्येतस्य साम्नः ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– उन सूर्य नारायण के प्रकाशित होने पर ही सम्पूर्ण प्राणी उन्हीं के आधीन हो जाते हैं। उनके उदय से पूर्व जो जपापुष्प के समान अरूणरूप होता है पशु उसी का अनुगमन करते हैं। वे इसीलिए हिंकार करते हैं, क्योंकि सूर्य नारायण के हिंकाररूप से वे परिचित होते हैं ।। श्री ।।

अथ यत्प्रथमोदिते स प्रस्तावस्तदस्य
मनुष्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते।
प्रस्तुतिकामाः प्रशँ्साकामाः
प्रस्तावभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर सूर्य नारायण के उदय होने के प्रथम मुहूर्त में जो रूप होता है, उसे प्रस्ताव कहते हैं क्योंकि मनुष्य उसी साम के अधीन होते हैं इसीलिए वे प्रस्तुति और प्रशंसा चाहते हैं। प्रस्तांव के दो अर्थ होते भी हैं। किसी विषय को प्रस्तुत करना और प्रकृष्टस्तवन अर्थात् सुन्दरस्तुति को प्रस्ताव कहते है ।। श्री ।।

अथ यत्सङ्गवेलायाँ् स आदिस्तदस्य।
वयाँ्स्यन्वायत्तानि तस्मात्तन्यन्तरिक्षेऽ-
नारम्भणान्यादायात्मानं परिपतन्त्यादि-
भाजीनि ह्येतस्य साम्नः ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जिस समय गायें मिलकर चलती हैं, उसे संगववेला कहते हैं। उस समय सूर्य आदिसाम के समान होते हैं। पक्षी उनका अनुगमन करते हैं। सूर्य नारायण का आदिस्वरूप प्राप्त करने के कारण ही पक्षी निराधार आकाश में उड़ते हैं क्योंकि वे भगवान् के आदि स्वरूप से मुक्त होते हैं। अतः आदानक्रिया उनका स्वभाव बन जाती है ।। श्री ।।

अथ यत्सम्प्रति मध्यन्दिने
स उद्गीथस्तदस्य देवा।
अन्वायत्तास्तस्मात्ते सप्तमाः प्राजापत्याना-
मुद्गीथभाजिनो ह्येतस्य साम्नाः ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर इसी समय जो मध्याह्न में सूर्य भगवान् का रूप होता है वही उद्गीथ होता है। श्रेष्ठ होने के कारण देवता उसके अनुकूलतया अधीन होते हैं इसीलिए वे ब्रह्मा एवं कश्यप के वंशजों में श्रेष्ठ माने गये हैं। क्योंकि वे इस उद्गीथरूप साम का भजन करते हैं। इसी उद्गीथरूप मध्याह्न समय में भगवान् का जन्म हुआ था। इसलिए मानसकार ने कहा–

मध्य दिवस अति शीत न घामा।
पावन काल लोक विश्रामा।।श्री।।

(मानस- १/१९१/२)

अथ यदूर्ध्वं मध्यदिनात्प्रागपराह्णात्स
प्रतिहारस्तदस्य गर्भा अन्वायत्तास्तस्मात्ते।
प्रतिहृता नावपद्यन्ते प्रतिहार-
भाजिनो ह्येतस्य साम्नः ।।६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर मध्यदिन के पश्चात् और अपराह्न के पूर्व जो सूर्य नारायण का रूप होता है, उसे प्रतिहार कहते हैं। वही गर्भ का प्रतिहरण करता है। गर्भ उसके अधीन होते हैं इसीलिए वे मन के हलचल करने पर भी नीचे नहीं आते। क्योंकि वे प्रतिहार के भक्त होते हैं।। श्री ।।

अथ यदूर्ध्वमपराह्णात्प्रागस्तमयात्स
उपद्रवस्तदस्यारण्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते।
पुरुषं दृष्ट्वा कक्षँ्
श्वभ्रमित्युपद्रवन्त्युपद्रवभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ।।७।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर अपराह्न के पश्चात् एवं सूर्यास्त के पूर्व सूर्यनारायण का जो स्वरूप होता है, उसे उपद्रव कहते हैं। जंगल के पशु भी उसके अधीन होते हैं। इसीलिए वे मनुष्यों को

देखकर झड़ियों, पर्वतों या कन्दराओं में छिप जाते हैं। क्योंकि वे उपद्रव साम के भक्त होते हैं।। श्री।।

अथ यत्प्रथमास्तमिते तन्निधनं तदस्य पितरोऽन्वायत्तास्तस्मात्तान्निदधति। निधनभाजिनो ह्येतस्य साम्न एवं खल्वमुनादित्यꣳ सप्तविधꣳ सामोपास्ते।।८।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर सूर्यास्त के प्रथम संक्षिप्त-मण्डलवाला थाली के जैसा जो सूर्यनारायण का रूप होता है, उसी को निधन कहते हैं। क्योंकि वही सूर्यनारायण की किरणें संक्षिप्त की जाती हैं। पितर लोग उसके अधीन होते हैं, इसीलिए उन्हें कुशों में स्थापित किया जाता है।। श्री।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर द्वितीय अध्याय के नवम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु।।

।। दशम खण्ड ।।

सम्बन्ध– भगवान् सूर्य द्वारा काल का परिणाम होता है, उन्हीं से दिन-रात का विभाग किया जाता है, वही जगत् के मृत्यु के कारण भी है। महाभारत के वनपर्व में यक्षयुधिष्ठिरसंवाद प्रकरण में यक्ष द्वारा पूँछे गये वार्ता प्रश्न का उत्तर देते हुए महाराज युधिष्ठिर कहते हैं– रात और दिन रूप ईंधन से प्रज्जवलित सूर्यरूप अग्नि की सहायता से, चैत्र आदि महीने रूप दर्वी के परिघटन से इस महामोह रूप कड़ाहे में सम्पूर्ण प्राणियों को काल पचाता रहता है, यही वर्ता है। इसी प्रकरण को एक खण्ड में स्पष्ट करते हैं।। श्री।।

अथ खल्वात्मसंमितमतिमृत्यु सप्तविधꣳ सामोपासीत हिङ्कार इति त्र्यक्षरं प्रस्ताव इति त्र्यक्षरं तत्समम्।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर परमात्मा के समान मरण धर्म से अतीत, सात प्रकार से साम की उपासना करनी चाहिए। तन्त्रशास्त्र में भी दो अक्षर में मृत्यु और तीन अक्षरों में अमृत कहा गया है– 'द्व्यक्षरे च भवेन्मृत्युः त्र्यक्षरेऽमृतमश्नुते' अर्थात् दो अक्षर में मृत्यु और तीन अक्षर में अमृत होता है। जो यहाँ जनम लेता है उसे मरना ही पड़ता है। केवल

भगवान् श्रीसीतापतिराम मृत्युधर्म से अतीत हैं। उनके रामनाम में भी तीन ही अक्षर हैं र्, अ, म। वहाँ 'र्' से भगवान् राम, 'अ' से भगवती सीता और 'म' से लक्ष्मण कहे गये हैं। 'रकारो रामचन्द्रःस्यान् मकारो लक्ष्मणोऽस्वरात् तयोः संयोजनार्थाय सीता आकार उच्यते।' इस प्रकार राम में भी त्र्यक्षर उपासना कही गयी है। इसी क्रम में हिंकार और प्रस्ताव इन दोनों में तीन-तीन अक्षर ही कहे गये हैं। अतः ये दोनों ईश्वर के समान हैं और यही अतिमृत्यु अर्थात् मरणधर्म से ऊपर है, इनकी उपासना करनी चाहिए।। श्री।।

आदिरिति द्व्यक्षरं प्रतिहार इति चतुरक्षरं तत इहैकं तत्समम्।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार आदि साम दो अक्षर हुए। प्रतिहार के अक्षर को आदि से जोड़ देने पर दोनों तीन-तीन अक्षर हो जाते हैं और वे दोनों तीन अक्षर ईश्वर के समान हैं इसलिए आदि और प्रतिहार की श्री ईश्वर की दृष्टि से उपासना करनी चाहिए।। श्री।।

उद्गीथ इति त्र्यक्षरमुपद्रव इति चतुरक्षरं त्रिभिस्त्रिभिः।
समं भवत्यक्षरमतिशिष्यते त्र्यक्षरं तत्समम्।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– निधन साम के तीन अक्षर है। वह तो तीन अक्षर ईश्वर के समान ही है। इस प्रकार हिंकार के तीन, प्रस्ताव के तीन, आदि के दो, उद्गीथ के तीन, प्रतिहार के चार, उपद्रव के चार, निधन के तीन, कुल मिलाकर सात सामों की संख्या बाइस हुई। इनमें सात विभाग करने से प्रत्येक विभाग में तीन-तीन अक्षर होंगे और जो एक अवशिष्ट अक्षर है वही ज्ञान, गिरा, इन्द्रिय से अतीत सीतापति परब्रह्म भगवान् हैं। शेष तीन-तीन अक्षर वाले विभागों में त्रिवर्णात्मक ईश्वर की धारणा कर लेनी चाहिए।। श्री।।

एकविंशत्यादित्यमाप्नोत्येकवि ँ्शो वा इतोऽसावादित्यो।
द्वावि ँ्शेन परमादित्याज्जयति तन्नाकं तद्विशोकम्।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार सात सामों के इक्कीस अक्षरों की उपासना से साधक इक्कीस अवयवों वाले सूर्यनारायण को प्राप्त कर लेता है क्योंकि बारह महीने छः ऋतु तथा पूर्वान्ह, मध्याह्न, अपराह्न ये इक्कीस अवयव सूर्यनारायण के कहे गये हैं। इसी प्रकार बाइसवें अक्षर की सहायता से साधक उस परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेता है, जो आदित्य मण्डल से ऊपर है, जिसमें न सुख का अभाव है और न ही शोक।। श्री।।

आप्नोति हादित्यस्य जयं परो हास्यादित्यजयाज्जयो भवति य।
एतदेवं विद्वानात्मसंमितमतिमृत्युसप्तविधँ् सामोपास्ते सामोपास्ते ।।६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार जानता हुआ जो विद्वान् अतिमृत्यु रूप सात सामों की उपासना करता है, वह आदित्य मण्डल को जीत लेता है और उससे भी श्रेष्ठ परब्रह्म परमात्मा को भी प्राप्त कर लेता है।। श्री।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर द्वितीय अध्याय के दशम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु।।

।। एकादश खण्ड ।।

सम्बन्ध– अब गायत्री सम्बन्धी सामोपासना की चर्चा करते हैं। जो गाते हुए व्यक्ति को भवसागर से पार कर दे उसे गायत्री कहते हैं। गायत्री वेद माता कही जाती हैं। यहाँ इदमर्थ में अण् प्रत्यय हुआ है।। श्री।।

मनो हिंकारो वाक् प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं।
प्रतिहारः प्राणो निधनमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम्।।१।।

स य एवमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतं
वेद प्राणी भवति सर्वमायुरेति।
ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति
महान् कीर्त्या महामनाः स्यात्तद्व्रतम्।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– मन ही हिंकार है, इसी से गायत्री का चिन्तन होता है। वाक् प्रस्ताव है, इसी से गायत्री की प्रस्तुति होती है। चक्षु अर्थात् मानसचक्षु ही उद्गीथ है, इसी से भगवत् साक्षात्कार होता है क्योंकि प्राकृत नेत्र से भगवान् का साक्षात्कार नहीं होता। श्री गीता जी में भगवान् अर्जुन से कहते हैं– अर्जुन! तुम इस प्राकृत नेत्र से मुझे नहीं देख सकते इस लिए मैं तुम्हें दिव्य नेत्र देता हूँ। मेरा ऐश्वर्यपूर्ण अघटित घटनाक्रम देखो। श्रोत्र ही प्रतिहार है, उसी को माध्यम बनाकर आचार्य से गायत्री दीक्षा ली जाती है। प्राण ही निधन है, क्योंकि इसी में गायत्री निहित रहती है। इस प्रकार जो गायत्री में साम की उपासना करता है, वह प्रजाओं और पशुओं से युक्त होता है, वह यशस्वी बनता है, वह सर्वत्र पूजित होता है और वह सौ वर्ष पर्यन्त स्वच्छ जीवन जीता है।। श्री।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर द्वितीय अध्याय के एकादश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु।।

।। द्वादश खण्ड ।।

सम्बन्ध– अब रथन्तर साम की उपासना का वर्णन करते हैं। यहाँ 'रथ' शब्द भगवत्‌चरणकमल के लिए अभिप्रेत है। विनयपत्रिका में स्पष्ट कहा गया है– 'भवसिन्धुदुरस्तरजल रथं' इसकी व्युत्पत्ति है 'रथेन भगवत् चरणकमल-रथेन तरन्तु संसारसागरं येन तद्रथन्तरम्' अर्थात् जिसके द्वारा जीव भगवत्-चरणकमलरूप जलरथ की सहायता से संसारसागर से तर जाता है, उस 'साम' को रथन्तर साम कहते हैं।। श्री ।।

अभिमन्थति स हिंकारो धूमो जायते
स प्रस्तावो ज्वलति स उद्गीथोऽङ्गारा भवन्ति।
स प्रतिहार उपाशाम्यति तन्निधनँ्
सँ् शाम्यति तन्निधनमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतम् ।।१।।

स य एवमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतं वेद
ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति।
महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या
न प्रत्यङ्ङग्निमाचामेन्न निष्ठीवेत्तद्व्रतम् ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– याज्ञिक जो अग्नि का मन्थन करता है, वही हिंकार है। जो धूम उत्पन्न होता है, वही प्रस्ताव है। जो अग्नि में ज्वलन क्रिया होती है, वही उद्गीथ है क्योंकि वही अवस्था अग्नि की प्रशस्ति मानी जाती है। जो अंगार है, वही प्रतिहार है। अग्नि के बुझने की जो अवस्था वही निधन है इस प्रकार जानता हुआ जो अग्नि में प्रोत रथन्तर साम की उपासना करता है, वह कीर्ति सन्तति और पशुओं से महान् हो जाता है। वह ब्रह्मवर्चस्व सम्पन्न होकर सम्पूर्ण आयु प्रसन्नता से जीता है। उसे जलते अग्नि के समक्ष जल नहीं पीना चाहिए और अग्नि में थूकना नहीं चाहिए, यही रथन्तर साम का व्रत है।। श्री ।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर द्वितीय अध्याय के द्वादश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। त्रयोदश खण्ड ।।

सम्बन्ध– अब वामदेव्य का वर्णन करते हैं। इस साम के वामदेव ऋषि हैं इसलिए इसे वामदेव्य कहते हैं।। श्री ।।

उपमन्त्रयते स हिंकारो ज्ञपयते स प्रस्तावः
स्त्रिया सह शेते स उद्गीथः प्रति स्त्रीं।
सह शेते स प्रतिहारः कालं गच्छति तन्निधनं
पारं गच्छति तन्निधनमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतम् ।।१।।

स य एवमेतद्वामदेव्यं मिथुनं प्रोतं
वेदमिथुनां भवति मिथुनान्मिथुनात्प्रजायते।
सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया
पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या न काञ्चन परिहरेत्तद्व्रतम् ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब मिथुनधर्म में सामोपासना का वर्णन करते हैं– संतानोत्पत्ति के लिए रतिकर्म हेतु संकेतादि से पति जो अपनी धर्म पत्नी को बुलाता है, वही हिंकार है। उसे वह उस क्रिया के लिए जो अनुकूल करता है, वही प्रस्ताव है। रतिकर्म हेतु पत्नी के साथ जो पलंग पर शयन करता है, वही उद्गीथ है। पत्नी को दण्डित करने के लिए जो पृथक शय्या पर सोता है, वही प्रतिहार है। पत्नी के साथ उसकी रतिक्रीडा सामान्य निधन है। उस क्रिया की पूर्णता ही विशेष निधन है। यद्यपि सामान्यत: यह क्रिया वासनात्मक है, परन्तु पाणिगृहीत पत्नी में शुद्ध सन्तति के उत्पत्ति हेतु की गयी यह क्रिया उपासना ही है। इस प्रकार जानता हुआ जो सद्गृहस्थ मिथुनकर्म में भी वामदेव्य साम की उपासना करता है, वह अन्न-पशु-प्रजा से महान होता है। सौ वर्ष पर्यन्त स्वस्थता से जीता है। कुरूप होने पर भी अपनी पत्नी का परित्याग न करे यही वामदेव्य साम का व्रत है।। श्री ।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर द्वितीय अध्याय के त्रयोदश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। चतुर्दश खण्ड ।।

सम्बन्ध– अब चतुर्दश खण्ड में बृहत्साम की प्रस्तावना की जाती है। बृहत्साम के आधार भगवान् आदित्य हैं। जिसका खण्डन न हो सके वही भगवान् के नाम, रूप, लीला, धाम का आस्वादन ही जिसका अपरपर्याय है। ऐसी भगवत्प्रेमलक्षणा अनपायिनी परमात्मा की आसक्तिरूपा भक्ति ही अदिति है। उसी से सम्बन्धित परमेश्वर का आनन्द अथवा भजनानन्द ही आदित्य है। बृहत् साम भगवान् की विभूति है इसीलिए गीता जी में भगवान् कहते हैं– साम स्तोत्रों में बृहत साम मैं हूँ। 'बृहत् साम तथा साम्नां' (गीता- १०/३५) ।। श्री ।।

उद्यन्हिंकार उदितः प्रस्तावो मध्यन्दिन उद्गीथोऽपराह्णः ।
प्रतिहारोऽस्तं यन्निधनमेतद्बृहदादित्ये प्रोतम् ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब बृहत्साम की चर्चा करते हैं। जो सूर्य उदित हो रहे होते हैं, वही हिंकार हैं। उदित हुए सूर्य ही प्रस्ताव हैं, मध्यान्ह के सूर्य उद्गीथ हैं क्योंकि वह मध्यान्ह में पूर्ण प्रकाशित होते हैं। उसी समय भगवान् राम का जन्म हुआ और मध्यान्ह में ही एक महीने पर्यन्त जन्मोत्सव चला जैसे कि गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं–

मासदिवसकर दिवस भा मरम न जानै कोय।
रथ समेत रबि थाकेउ निसा कवन विधि होय।।

–(मा०बा० १९५)

अपराह्न के सूर्य ही प्रतिहार हैं, क्योंकि अस्त होने को उन्मुख होकर बिखरी हुई किरणों को समेटते हैं। अस्त होने वाले सूर्य निधन हैं, क्योंकि सभी किरणें उनमें सिमट जाती हैं। यही बृहत्साम सूर्यनारायण में ओत-प्रोत हैं।। श्री ।।

स य एवमेतद्बृहदादित्ये प्रोतं
वेद तेजस्व्यन्नादो भवति सर्वमायुरेति ।
ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति
महान्कीर्त्या तपन्तं न निन्देत्तद्व्रतम् ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार जो सूर्य नारायण में बृहत्साम की उपासना करता है, वह तेजस्वी होता है, वह दिव्य अन्न का भोग करता है, वह पशु प्रजा कीर्ति से महान् होता है, वह स्वच्छता पूर्वक पूर्ण

आयु जीता है। वह तपते हुए सूर्य की निन्दा न करे, यही बृहत् सामोपासक का व्रत है॥ श्री॥

॥ छान्दोग्योपनिषद् पर द्वितीय अध्याय के चर्तुदश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण॥

॥ श्रीराघवः शन्तनोतु॥

॥ पञ्चदश खण्ड ॥

सम्बन्ध– अब वैरूप सामोपासना का निरूपण किया जाता है। जिसमें अनेक रूप होते हैं उसे वैरूप कहते हैं। मेघ में अनेक रूप होते हैं वहाँ भी साम की उपासना करनी चाहिए। इसीलिए इस खण्ड का प्रारम्भ किया जा रहा है॥ श्री॥

अभ्राणि संप्लवन्ते स हिंकारो
मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति उद्गीथो।
विद्योतते स्तनयति स प्रतिहार
उद्गृह्णाति तन्निधनमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतम्॥१॥

स य एवमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतं वेद
विरूपाँ्श्च सुरूपाँ्श्च पशूनवरुन्धे सर्वमायुरेति।
ज्योग्जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति
महान्कीर्त्या वर्षन्तं न निन्देत्तद्व्रतम्॥२॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो बादल वायु के द्वारा आकाश मण्डल में भ्रमण करते हैं, यही हिंकार है। वर्षण के लिए जो काले बादल उत्पन्न होते हैं, यही प्रस्ताव है। बादलों का बरसना उद्गीथ है, बिजली का चमकना और बादल का गरजना ही प्रतिहार है और मेघ का वर्षाविरमण निधन है। इस प्रकार पर्जन्य में वैरूपसाम ओत-प्रोत है॥ श्री॥

इस प्रकार जो बादल में वैरूपसाम की उपासना करता है, वह अनेक रूप वाले और समान रूप वाले पशुओं को पशुशाला में बाँधता है। पशु, प्रजा और कीर्ति से महान् होता है। बरसते हुए मेघ की वह निन्दा न करे यही वैरूप सामोपासना का नियम है॥ श्री॥

॥ छान्दोग्योपनिषद् पर द्वितीय अध्याय के पञ्चदश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण॥

॥ श्रीराघवः शन्तनोतु॥

।। षोडश खण्ड ।।

सम्बन्ध– अब वैराजसामोपासना का प्रारम्भ किया जाता है। भगवान् को ही विराट् कहते हैं क्योंकि वे विविध रूपों में शोभित होते हैं। उन्ही के सम्बन्ध से इस साम को भी वैराज कहते हैं ।। श्री ।।

वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतम् ।।१।।

स य एवमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतं वेद विराजति प्रजया पशुभिर्ब्रह्म-वर्चसेन सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्यर्तुं न निन्देत्तद्व्रतम् ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– वसन्त ही हिंकार हैं, क्योंकि मलय समीरण का झंकार यहीं होता है। ग्रीष्म प्रस्ताव है, क्योंकि यही वर्षा को प्रस्तुत करता है। वर्षा उद्गीथ है, क्योंकि चातक आदि ही इसको ऊँचे स्वर में गाते हैं। शरत् प्रतिहार है, सूर्य नारायण द्वारा यही जल का प्रतिहरण करती है और हेमन्त ही निधन है। इसमें शैत्य का आधिक्य होने से सभी प्राणी अपने-अपने निवास स्थान में छिप जाते हैं। इस प्रकार जो ऋतुओं में वैराजसाम की उपासना करता है, वह तेज, पशु और प्रजा से सुशोभित होता है। कीर्ति, पशु और प्रजा से महान् होता है। प्रतिकूल होने पर भी ऋतुओं की उसे निन्दा नहीं करनी चाहिए, यही उसका व्रत है ।। श्री ।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर द्वितीय अध्याय के षोडश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। सप्तदश खण्ड ।।

सम्बन्ध– इस खण्ड में शक्वरी उपासना का प्रारम्भ किया जाता है। जिसके द्वारा लोकों को जीता जाता है, उसे शक्वरी उपासना कहते हैं ।। श्री ।।

पृथिवी हिंकारोऽन्तरिक्षं प्रस्तावो द्यौरुद्गीथो दिशः।
प्रतिहारः समुद्रो निधनमेताः शक्वर्यो लोकेषु प्रोताः ।।१।।

स य एवमेताः शक्वर्यो लोकेषु
प्रोता वेद लोकी भवति सर्वमायुरेति।
ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति
महान्कीर्त्या लोकान्न निन्देत्तद्व्रतम् ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– पृथ्वी ही हिंकार है, क्योंकि उसमें झंकृति होती है। अन्तरिक्ष ही प्रस्ताव है, क्योंकि उसमें नक्षत्रों की प्रस्तुति होती है। द्यौ ही उद्गीथ है, क्योंकि वह सबसे उत्कृष्ट है। दिशायें ही प्रतिहार है, क्योंकि इन्हीं के माध्यम से जीव ऊर्ध्व और अधोलोक में जाता है। समुद्र ही निधन है, क्योंकि यहाँ सम्पूर्ण जल इकट्ठा होता है। वैष्णवों की दृष्टि से यहाँ क्षीरसागर ही समुद्र है और हमारी दृष्टि से भगवान् राम ही समुद्र हैं। 'समुद्र इव गाम्भीर्ये' (वा०रा०१/१/१७) वही सम्पूर्ण जीव स्थापित होते हैं।। श्री ।।

इस प्रकार जानता हुआ जो साधक शक्वरी उपासना करता है, उसके सभी प्रशस्त लोक हो जाते है, वह पशु प्रजा और कीर्ति से महान् होता है, प्रसन्नता से पूर्ण आयु जीता है, लोकों की निन्दा न करे यही उसका व्रत है।। श्री ।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर द्वितीय अध्याय के सप्तदश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। अष्टादश खण्ड ।।

सम्बन्ध– अब रेवती सामोपासना का वर्णन किया जाता है। 'रेवृ' धातु का अर्थ है उछलकर चलना 'रेवति इति रेवती' अर्थात् उछलकर चलनेवाले पशुओं को रेवती कहते हैं। इन पशुओं में साम धारणा से उपास्य बुद्धि करनी चाहिए और इन्हें अधिक दण्ड नहीं देना चाहिए यही श्रुति का हार्द है।। श्री ।।

अजा हिंकारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाः।
प्रतिहारः पुरुषो निधनमेताः रेवत्यः पशुषु प्रोताः ।।१।।

स य एवमेता रेवत्यः पशुषु
प्रोता वेद पशुमान् भवति सर्वमायुरेति।
ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति
महान्कीर्त्या पशून्न निन्देत्तद्व्रतम् ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इनमें अजा अर्थात् बकरी ही हिंकार है,

भेड़ प्रस्ताव है, गौ उद्गीथ है, क्योंकि यह सबसे उत्कृष्ट है। स्वयं ही ऊँचे स्वर में हुंकार करके ओंकार का गान करती है। आपापररेश्वर उसकी पूजा करते हैं। अश्व ही प्रतिहार है, क्योंकि उसके द्वारा ही वस्तुएँ ले जायी जाती हैं। पुरुष ही निधन है, क्योंकि सम्पूर्ण स्वभाव उसी में निहित होते हैं ।। श्री ।।

इस प्रकार जानकर जो साधक द्रुतगामी पशुओं में साम की उपासना करता है, वह प्रशस्तपशु मान और परमात्मदर्शन की क्षमता से युक्त हो जाता है। प्रजा, पशु, कीर्ति से महान् हो जाता है। वह आनन्दपूर्वक पूर्ण आयु जीता है। वह पशुओं में भगवत्दृष्टि करके उनकी निन्दा न करे, यही उसका व्रत है ।। श्री ।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर द्वितीय अध्याय के अष्टादश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। एकोनविशति खण्ड ।।

सम्बन्ध– अब यज्ञायज्ञीय उपासना का प्रारम्भ किया जाता है। 'इज्यते इति यज्ञः' जिसकी उपासना की जाय उसे यज्ञ कहते हैं। इस व्युत्पत्ति से परमात्मा ही यज्ञ है। 'यज्ञो वै विष्णुः' यह जीव ही अयज्ञ है। इन्ही दोनों यज्ञायज्ञ से सम्बद्ध होने के कारण इसे यज्ञायज्ञीय कहते हैं। यहाँ शरीर में घृणा बुद्धि दूर करने के लिए ही इस उपासना का प्रारम्भ किया जा रहा है ।। श्री ।।

लोम हिंकारस्त्वक्प्रस्तावो मासमुद्गीथोऽस्थि।
प्रतिहारो मज्जा निधनमेतद्यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतम् ।।१।।

स य एवमेतद्यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतं वेदाङ्गी भवति
नाङ्गेन विहूर्च्छति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति।
महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या संवत्सरं।
मज्ज्ञो नाश्नीयातद्व्रतं मज्ज्ञो नाश्नीयादिति वा ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– रोम ही हिंकार है, चर्म प्रस्ताव है, मांस उद्गीथ है, अस्थि प्रतिहार है और मज्जा ही निधन नामक साम है। श्रेष्ठ होने से मांस को उद्गीथ कहा गया है ।। श्री ।।

इस प्रकार जानता हुआ जो साधक शरीर से यज्ञायज्ञीय साम की उपासना करता है, वह भगवद्भजन युक्त दिव्य अंगों से युक्त हो जाता है। किंसी भी

अंग से कुटिल नहीं होता। प्रजा पशु और कीर्ति से महान् होता है। **वह एक वर्ष पर्यन्त चर्वी बढ़ाने वाले पदार्थ सेवन न करे यही उसका व्रत है ॥ श्री ॥**

॥ छान्दोग्योपनिषद् पर द्वितीय अध्याय के एकोनविंशति खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ॥

॥ श्रीराघवः शन्तनोतु ॥

॥ विंश खण्ड ॥

अब राजन् सामोपासना का वर्णन करते हैं। जिसके द्वारा वस्तुयें दीप्त होती है उसे राजन् साम कहते हैं। दीप्ति का सम्बन्ध ज्योति से है और ज्योति अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र में रहती है। वायु अग्नि का सहायक है, इससे उसका भी समावेश किया जाता है ॥ श्री ॥

अग्निर्हिंकारो वायुः प्रस्ताव आदित्य उद्गीथो।
नक्षत्राणि प्रतिहारश्चन्द्रमा निधनमेतद्राजनं देवतासु प्रोतम् ॥१॥

स य एवमेतद्राजनं देवतासु प्रोतं वेदैता-
सामेवदेवताना ँ् सलोकता ँ् सार्ष्टिता ँ् सायुज्यं गच्छति।
सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान् प्रजया
पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या ब्राह्मणान्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥२॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अग्नि ही हिंकार है, क्योंकि यह देवताओं में सर्वप्रथम है, इसलिए वेद मन्त्रों में अग्नि की स्तुति सर्वप्रथम की गयी है। जिसे धृत से आक्त अर्थात् आक्षिप्त किया जाता है, वही अग्नि है। देवता इन्हें अपने आगे रखते हैं इसलिए यह अग्नि है। वायु प्रस्ताव है क्योंकि यही सुगन्ध फैलाता है। आदित्य अर्थात् सूर्य ही उद्गीथ है, नक्षत्र ही प्रतिहार है, क्योंकि इनसे तेज का वितरण होता है। चन्द्रमा ही निधन है, क्योंकि इन्हीं में अमृत का निवास हैं। ये पाँचो साम देवताओं में ओत-प्रोत हैं। इस प्रकार जानते हुए जो देवताओं में राजन् साम की उपासना करता है, वह देवताओं की समीपता, उनका सालोक्य देवताओं का शार्ष्ट्य एवं उनका सायुज्य प्राप्त कर लेता है और पशु, प्रजा तथा कीर्ति से महान् हो जाता है ॥ श्री ॥

॥ छान्दोग्योपनिषद् पर द्वितीय अध्याय के विंश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ॥

॥ श्रीराघवः शन्तनोतु ॥

।। एकविंश खण्ड ।।

सम्बन्ध– अब सर्वविषयक सामोपासना का वर्णन करते हैं।। श्री ।।

त्रयी विद्या हिंकारस्त्रय इमे लोकाः
प्रस्तावोऽग्निर्वायुरादित्यः स उद्गीथो ।
नक्षत्राणि वायाँ्सि मरीचयः स प्रतिहारः सर्पा गन्धर्वाः
पितरस्तन्निधनमेतत् साम सर्वस्मिन् प्रोतम् ।।१।।
स य एवमेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोतं वेद सर्वँ्ह भवति ।।२।।
तदेष श्लोको यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि ।
तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति ।।३।।
यस्तद्वेद स वेद सर्वँ् सर्वा दिशो बलिमस्मै ।
हरन्ति सर्वमस्मीत्युपासीत तद्व्रतं तद्व्रतम् ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– ऋग्, यजु, साम ये तीन विद्यायें ही हिंकार हैं। भूर्भुवः स्वः ये तीन प्रस्ताव है। अग्नि, वायु, आदित्य सर्वश्रेष्ठ होने से यही उद्गीथ हैं। नक्षत्र, चन्द्रमा और पक्षी प्रतिहार है। सर्प, गन्धर्व और पितर निधन हैं। यहाँ कुछ लोग धकार साम्य के कारण निधनत्व स्वीकारते हैं, वह प्रहेलिका मात्र है, क्योंकि सर्प और पितर शब्द में धकार नहीं है। कथंचित्, फणधर, विषधर आदि पर्यायवाची शब्दों से मान भी लिया जाय तो पितरों में तो कभी भी सम्भव नहीं है। यदि स्वधाधर कह भी दिया जाय तो शास्त्र का वचनविरोध होगा क्योंकि पर्यायवाची शब्दों में लाघव– गौरव आदि की चर्चायें नहीं की जाती है।। श्री ।।

जो इस प्रकार तीन-तीन भेदों से पाँचो सामों की सर्वत्र उपासना करता है, वह सब कुछ प्राप्त कर लेता है। जो कुछ लोग 'सर्वं भवति' शब्द का 'सर्वेश्वरो भवति' अर्थ कर लेते हैं, उनका पक्ष अत्यन्त अनुचित है क्योंकि (कठ- ३/१२) के अनुसार जीव और ब्रह्म नित्य सत्तायें है– 'नित्यो नित्यानाम्'। अपनी सत्ता को छोड़ जीव ब्रह्म कैसे बन सकता है और नित्य सत्ता का कभी विनाश होता नहीं। स्वरूपता में हमें कोई अपत्ति नहीं है परन्तु स्वरूपता भी भेदघटित होती है। समानरूपता को ही स्वरूपता कहते हैं। वह तन्निष्ठभेदत्वावच्छिन्नवती होकर तद्गतभूयोधर्मवती भी होती है। सर्वं भवित का एक और अर्थ किया जा सकता है– सर्व शब्द में अम्

सु विभक्ति का नहीं है। यहाँ तो 'सुपांसुलुक्' (सूत्र सं० ७/३/३९) से ङे विभक्ति को सु तथा उसे अम् आदेश हुआ है। अब सर्वं भवति का अर्थ होगा 'सर्वस्मै भवति' याने सबमें साम बुद्धि करके सर्वस्वरूप परमात्मा के लिए हो जाता है॥ श्री॥

जो ये तीन-तीन भेदों वाले पाँच साम है, इनसे श्रेष्ठ कुछ नहीं है। अर्थात् तीन विद्यायें, तीन तेज, तीन ज्योति, तीन उपवेद इनमें सब कुछ आ गया॥ श्री॥

इस प्रकार जो सब में सम्पूर्ण सामों की उपासना करता है, वह सब कुछ जान लेता है, सभी दिशायें उसे बल देती है, 'मैं सर्व स्वरूप ब्रह्म के लिए हूँ' इस धारणा से साधक उपासना करे यही उसका व्रत है॥ श्री॥

॥ छान्दोग्योपनिषद् पर द्वितीय अध्याय के एकविंश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण॥

॥ श्रीराघवः शन्तनोतु॥

॥ द्वाविंश खण्ड ॥

सम्बन्ध– अब बाइसवें खण्ड में उच्चारण की परम्परा का वर्णन किया गया है। इक्कीस खण्डों में साम का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया अब इस खण्ड में मन्त्र के देवता, ऋषि, उच्चारण आदि विषयों पर व्यवस्था दी जा रही है। क्योंकि स्वर अथवा वर्ण से दूषित मंत्र विवक्षित अर्थ को नहीं कहता प्रत्युत वाणी का वज्र बनकर यजमान को ही मार डालता है। जैसे स्वर के अपराध से वृत्रासुर का वध हो गया था॥ श्री॥

विनर्दि साम्नो वृणे पशव्यमित्यग्नेरुद्गीथोऽनिरुक्तः प्रजापतेर्निरुक्तः सोमस्य मृदुः श्लक्ष्णं बलवदिन्द्रस्य क्रौञ्चं बृहस्पतेरपध्वान्तं वरुणस्य तान्सर्वानेवोपसेवेत वारुणं त्वेव वर्जयेत्॥१॥

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ– साधक स्पष्टध्वनि से युक्त नर्दनशील साम का वर्णन करे। जिस मन्त्र के देवता अग्नि होते हैं, उसका उच्चारण पशुओं के लिए हितैषी एवं अनिरूक्त अर्थात् अस्पष्ट होता है। चन्द्रमा का उच्चारण कोमल तथा मृदु होता है। वायु देवता वाले मन्त्र का उच्चारण कोमल और श्रवणसुखद होता है। इन्द्र देवता का उच्चारण बलयुक्त होता है, बृहस्पति का उच्चारण क्रौञ्च पक्षी के समान होता है और वरुण का उच्चारण अपध्वान्त अर्थात नगारे की भाँति अस्पष्ट होता है। इस प्रकार

अग्नि सोम, वायु, इन्द्र, बृहस्पति के उच्चारण का अभ्यास करना चाहिए, किन्तु वरुण का उच्चारण छोड़ देना चाहिए क्योंकि उससे पुण्यजनकतावच्छेदकता नहीं हो सकती ।। श्री ।।

अमृतत्वं देवेभ्य आगायानीत्यागायेत्स्वधां पितृभ्य आशां मनुष्येभ्यस्तृणोदकं पशुभ्यः । स्वर्गं लोकं यजमानायान्नमात्मन आगायानीत्येतानि मनसा ध्यायन्नप्रमत्तः स्तुवीत ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– 'मैं देवताओं के लिए अमृत का गान करूँ एवं पितरों के लिए स्वधा का गान करूँ, मनुष्यों के लिए अभिलषित का, सुखमय दिशा का तथा भगवच्चरणाभिलाषा का आदरपूर्वक गान करूँ, पशुओं के लिए तृण और जल का आगान करूँ। यजमान के लिए स्वर्ग लोक एवं अपने लिए अन्न उत्पन्न करने हेतु उद्गीथ का गान करूँ'। इस प्रकार संकल्प करके उद्गाता को उद्गीथ का गान करना चाहिए ।। श्री ।।

सर्वे स्वरा इन्द्रस्यात्मानः सर्व ऊष्माणः प्रजापतेरात्मानः सर्वे स्पर्शा मृत्योरात्मानस्तं । यदि स्वरेषूपालभेतेन्द्रँ शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रतिवक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात् ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अकारादि सभी स्वरवर्ण इन्द्र की आत्मा हैं। श ष स ह प्रजापति के स्वरूप हैं। क से लेकर म पर्यन्त वर्ण मृत्यु के स्वरूप हैं। यदि कोई सामस्वर के उच्चारण में आक्षेप करे तो उद्गाता यह कहे कि– मैं इन्द्र की शरण में हूँ वही तुम्हें उत्तर देंगे ।। श्री ।।

अथ यद्येनमूष्मसूपालभेत प्रजापतिँ शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रतिपेक्ष्यतीत्येनं ब्रूयादथ यद्येनस्पर्शेषूपालभेत मृत्युँ शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रतिधक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात् ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यदि कोई उष्माण के विषय में उपालम्भ दे तो उद्गाता कहे कि– मैं कश्यप के शरण में हूँ, निरपराध हूँ, वे तुम्हें भस्म कर देंगे। इसी प्रकार यदि कोई स्पर्श के विषय में उपालम्भ दे तो उद्गाता कहे– मैं मृत्यु की शरण में हूँ, वह तुम्हें भस्म कर देंगे ।। श्री ।।

सर्वे स्वरा घोषवन्तो बलवन्तो वक्तव्या इन्द्रे बलं ददानीति सर्वे उष्माणोऽग्रस्ता अनिरस्ता विवृताः वक्तव्याः । प्रजापतेरात्मानं

परिददानीति सर्वे स्पर्शा लेशेनानभिनिहिता वक्तव्या मृत्योरात्मानं परिहराणीति ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– सभी स्वरों को दूसरों के सुनने योग्य तथा बलपूर्वक 'इन्द्र में अपना बल समर्पित करता हूँ' ऐसा संकल्प करके बोलना चाहिए। 'मैं प्रजापति कश्यप के लिए अपना शरीर ही समर्पित करता हूँ' ऐसा संकल्प करके य से लेकर ह पर्यन्त उष्मासंज्ञक वर्ण किसी के द्वारा ग्रस्त न करके स्पष्ट और विवृत्त बोलना चाहिए। 'मैं मृत्यु को अपनी आत्मा समर्पित करता हूँ' इस प्रकार धारण करके 'क' से लेकर 'म' पर्यन्त वर्णों को किसी वर्ण के सम्बन्ध के बिना अलग-अलग बोलना चाहिए ।। श्री ।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर द्वितीय अध्याय के द्वाविंश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। त्रयोविंश खण्ड ।।

सम्बन्ध– प्रथम अध्याय से लेकर द्वितीय अध्याय के वाइसहवें खण्ड पर्यन्त भिन्न-भिन्न प्रतीकों के अनुसार सामोपासना का वर्णन किया गया। अब यहां जिज्ञासा होती है कि– क्या प्रणव सामरूप में उपासनीय है या स्वतन्त्र रूप से ? यदि स्वतन्त्र रूप से तो उसके अवयवों में साम बुद्धि करनी चाहिए अथवा अखण्ड ओंकार में, इस पर श्रुति कहती हैं ।। श्री ।।

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसँ्स्थोऽमृतत्वमेति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– वेद प्रणिहित विधि वाक्य से उत्पन्न अपूर्व रूप धर्म के तीन विभाग हैं। श्रुति विहित दैवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, स्मृतिविहित इन पाँच यज्ञों का समूह अथवा द्रव्ययज्ञ तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ और ज्ञानयज्ञ इन गीतोक्त पाँच यज्ञों का समूह यहाँ यज्ञ पद से कहा गया है। सम्पूर्ण वैदिकवाङ्मय का कण्ठस्थीकरण अध्ययन है और यथाशक्ति विद्या धन आदि का दान यही तीन धर्म के प्रथमस्कन्ध के भेद हैं ।। श्री ।।

द्वितीयस्कन्ध है तप और तृतीय स्कन्ध है ब्रह्मचारी, जिसमें आचार्य कुल में निवास करके ब्रह्मचारी नैष्ठिक ब्रह्मचर्य द्वारा साधना से अपने को तपा डालता है। ये तीनों ही धर्म के स्कन्ध पुण्यलोक अर्थात् पुण्य समूहों से युक्त हैं। इनका दर्शन पुण्य है और ये पुण्यश्लोक शिखामणि परमात्मा के दर्शन में समर्थ हों। इनमें जो मनसा, वाचा, कर्मणा, ब्रह्मरूप राम में स्थित है अथवा जिसकी परब्रह्म श्रीराम में स्थिति है अथवा जो परब्रह्म श्रीराम को प्राप्त करने के लिए ही संसार में स्थित है वही अमृतत्व अर्थात् अमृतरूप मोक्ष भाव को अथवा भजनरस या जन्म-मरणरूप संसारबंधन के अत्यन्त अभाव को प्राप्त कर लेता है। तात्पर्य यह है कि– यज्ञ, अध्ययन और दान यह प्रवृत्तिलक्षण धर्म का स्कन्ध है और तप यह निवृत्ति धर्मस्कन्ध का लक्षण है और ब्रह्मचर्याचार्य कुलवासी यही तृतीय स्कन्ध है। जो शास्त्र पढ़कर नैष्ठिक ब्रह्मचर्य धारण करके आचार्यकुल में ही अपने को तपा डालता है वही तृतीयस्कन्ध है और यही प्रपत्तिलक्षण धर्मस्कन्ध है॥ श्री॥

व्याख्या– धर्म एक कल्पवृक्ष है। उसकी ये तीन डालियाँ हैं। यज्ञ, दान और तप ये तीनों ही बुद्धि के शाधेक है। मानस तप से मन की भी शुद्धि होती है। 'ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी' तात्पर्य यह है कि– शास्त्र में ब्रह्मचारी के दो भेद कहे गये हैं सामान्य ब्रह्मचारी और नैष्ठिक ब्रह्मचारी। सामान्य ब्रह्मचारी वह है जो अष्टवर्षीय अवस्था में आचार्य से उपनीत होकर सत्रह वर्ष पर्यन्त वेद का अध्ययन करके फिर समावर्तन संस्कार के बाद घर लौट आता है वह धर्मस्कन्ध नहीं कहा जा सकता। नैष्ठिक ब्रह्मचारी को धर्मस्कन्ध कहा गया है। उसका लक्षण श्रुति स्वयं कहती है 'आचार्य कुलवासी अत्यन्तमात्मानं अवसादयन् अर्थात् जो प्राजापत्य चान्द्रायण आदि कठोर व्रत नियमों से अपने को स्वर्ण की भाँति तपाकर दुर्बल करता हुआ ब्रह्मसाक्षात्कार तथा भगवत्कृपा की प्रतीक्षा करते हुए जीवनभर आचार्यकुल में निवास करता है वही तृतीय धर्मस्कन्ध है और उसी को नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहा जाता है। यही परम्परा श्री रामानन्दी वैरागी साधुओं की है। इन तीनों सकन्धों की विशेषता क्या है ? इस पर श्रुतिकहती हैं– यद्यपि तीनों का दर्शन पुण्यावह है तथापि इन तीनों में जो ब्रह्मसंस्थ होता है उसे अमृत सुख की प्राप्ति होती है। ब्रह्मसंस्थत्व तीनों स्कन्धों के लिए समान है। चाहे वह प्रवृत्ति परायण गृहस्थ हो चाहे निवृत्तिपरायण तपस्वी चाहे प्रपत्तिपरायण नैष्ठिक ब्रह्मचारी अथवा चाहे यज्ञाध्ययनदानशील गृहस्थ हो या तपस्वी

वानप्रस्थ अथवा नैष्ठिक ब्रह्मचारी। इनमें से कोई भी यदि भगवान् की शरणागति में है तो वह ब्रह्मसुख का भोक्ता होगा।

यहाँ जो कुछ लोगों ने कहा कि तीनों स्कन्ध तीनों आश्रमों के ग्राहक हैं और ब्रह्मसंस्थशब्द तुरीयाश्रमी संन्यासी का बोधक हैं, तो उनका यह मन्तव्य केवल स्वकल्पित संन्यासीसम्प्रदाय के पोषण के हेतु ही है। क्योंकि धर्म के तीन स्कन्ध कहे गये हैं, यदि संन्यासी उस से बर्हिर्भूत है तो क्या वह अधर्म का स्कन्ध हो गया? यदि संन्यासी ही ब्रह्मसंस्थ हो सकता है तो ब्रह्मचर्याश्रमी श्रीहनुमान जी, गृहस्थ श्रीदशरथ श्रीजनक जी एवं वानप्रस्थ वशिष्ठ आदि ब्रह्मर्षियों को ब्रह्मप्राप्ति कैसे हुई। जबकि वैदिकवाङ्मय में जितने भी ऋषियों मुनियों का नाम आता है उनमें निन्यानबे प्रतिशत वानप्रस्थी ही सुने जाते हैं। ब्रह्मसंस्थत्व सन्यासियों में ही हो इसमें क्या प्रमाण है? क्योंकि श्रुति ने चतुर्थआश्रम का तो नाम लिया नहीं है। यदि श्रुति में आश्रमधर्म की ही विवक्षा होती तो प्रथमाश्रमी होने से पहले ब्रह्मचारी का नाम लिया जाता जिसे इस मन्त्र में तृतीय स्थान पर रखा गया है। वस्तुतः यहाँ प्रवृत्तिपरायण को प्रथमस्कन्ध, निवृत्तिपरायण को द्वितीयस्कन्ध और प्रपत्तिपरायण को तृतीय-स्कन्ध कहा गया है। जो यह कहा जाता है कि– ब्रह्मज्ञान परिब्राजक में ही सम्भव है क्योंकि वहीं जगत् के मिथ्यात्व का ज्ञान होता है, तो यह भी कहना अनुचित है। पहली बात मिथ्या कोई पदार्थ नहीं है। यदि है भी तो सर्वसम्मत नहीं। ज्ञान परिब्राजक को ही हो यह कोई अनिवार्य नहीं। बाल्यावस्था में ध्रुव, प्रह्लाद आदि में संसार की असारता का निश्चय देखा गया है। गृहस्थ होकर भी महाराज जनक संसार को निःसार ही मानते रहे। वस्तुतः ज्ञान भक्ति के आधीन है जैसा कि श्वेताश्वतर के अन्तिम मंत्र में भी कहा गया है कि जिस व्यक्ति के हृदय में गुरू-गोविन्द के प्रति प्रेमलक्षणा भक्ति होती है उसी महात्मा के हृदय में उपनिषद् में कहे हुए ज्ञान सिद्धान्त प्रकाशित होते हैं। श्रीमद्भागवत में तो स्पष्ट वर्णन आया है कि श्री नारद जी की कृपा से प्रह्लाद को माँ के गर्भ में ही ज्ञान हो गया था और इसीलिए वे प्रभु में इतने तन्मय हो चुके थे कि उन्हें संसार का अनुसंधान ही भूल गया था और उन्होंने बालोचित खिलौने भी छोड़ दिये थे तथा चर-अचर, हिरण्यकशिपु के खड्ग तथा राजसभा के स्तम्भ में भी उन्हें श्रीराम के ही दर्शन हुए। जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास जी कवितावली रामायण में कहते हैं–

काढ़ि कृपान कृपा न कहूँ पितुकाल कराल विलोकन भागे।
राम कहाँ, सब ठाऊँ हैं, खम्भ में ? हाँ सुनि हाँक नृकेहरि जागे।।
बैरी विदारि भये विकराल, कहे प्रह्लाद हि के अनुरागे।
प्रीति प्रतीति बढी तुलसी, तब ते सब पाहन पूजन लागे।।
—(कवितावली– उ०का०-१२८)

अर्थात् जिसके मन में किसी कोने में कृपा नहीं थी ऐसे क्रूरकर्मा पिता हिरण्यकशिपु ने काल के समान कराल बनकर प्रह्लाद को मारने के लिए कृपाण निकाल लिया। उसे देखकर भी प्रह्लाद नहीं भागे, उसने पूँछा– तुम्हारे राम कहाँ हैं ? प्रह्लाद ने उत्तर दिया– सर्वत्र ! हिरण्यकशिपु ने कहा– क्या खम्भें में भी राम हैं ? प्रह्लाद ने विश्वास से कहा– हाँ। हिरण्यकशिपु ने कहा–वे दिखाई क्यों नहीं पड़ते ? उसकी हाँक सुनकर नृसिंह भगवान् जगे। शत्रु के वक्षस्थल को विदीर्णकर अत्यन्त भयंकर हो गये फिर प्रह्लाद के ही कहने पर शांत हुए। लोगों में प्रेम और विश्वास हुआ और तभी से लोग पत्थर की पूजा करने लगे। क्योंकि पत्थर के ही खम्भे को फाड़कर नृसिंह भगवान् प्रकट हुए थे। यदि कहें कि प्रह्लाद चरित को प्रमाण नहीं माना जायेगा तो यह कहना अनुचित है क्योंकि नृसिंह तापनीयोपनिषद् को आद्यशंकराचार्य ने भी परमप्रमाण माना है और वह भगवान् नृसिह्मावतार की घटना से जुड़ी हुई है। इसीलिए श्रुति स्मृति और पुराण सर्वत्र परमेश्वर की भक्ति का विधान है। 'आबालं हरिभक्तिः' वस्तुतः भक्ति हृदय प्रधान होती है, उसमें भी नारीहृदयप्रधान व्यक्ति में ही भक्ति का प्रादुर्भाव होता है, वह तीनों लिंगों में सम्भव है। भक्ति से ही ज्ञान होता है और ज्ञान से जगत के मिथ्यात्व का निश्चय होता है वह किसी भी वर्ण व किसी भी लिंग में हो सकता है। श्री ब्रजांगनांओं ने उद्धव जैसे ब्रह्मज्ञानी के दांत खट्टे कर दिये थे। इसलिए परिब्राजक में ही ब्रह्मज्ञान हो ऐसी कोई राजाज्ञा नहीं है।। श्री ।।

वास्तव में जहाँ भक्ति होती है वहाँ ज्ञान होता ही है, क्योंकि शुभल-क्षणा माता एवं शाश्वतपौरुष पिता की उपस्थिति में दोनों के सम्पर्क से पुत्र का जन्म न हो ऐसा सम्भव नहीं है। अतः जिसकी परब्रह्म परमात्मा श्रीराम में संस्था अर्थात् शरणागति है, वही भगवान् के अमृतत्वरूप ब्रह्मसुख को प्राप्त कर लेता है। यदि कहें कि– परिब्राजक में ही ब्रह्मसंस्थत्व होता है, तो यह पक्ष भी बहुत असंगत है क्योंकि बाल्यावस्था में ध्रुव, प्रह्लाद,

युवावस्था में गणिकादि, तृतीयावस्था में ययाति आदि तथा चतुर्थावस्था में अजामिल आदि में सन्यास के विना भी ब्रह्मसंस्था देखी गयी है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य आश्रम में हनुमान् आदि, गृहस्थ आश्रम में दशरथ कौशल्या आदि और वानप्रस्थ में सुतीक्ष्ण आदि में भी ब्रह्मसंस्थत्व देखा गया है। यदि कहें कि– हम पुराण इतिहास को प्रमाण नहीं मानते, तो आप प्रमाण मानते किसे हैं? क्योंकि इतिहास-पुराणों से ही तो वेदार्थ का उपबृंहण होता है। 'इतिहास पुराणाभ्यां वेदार्थं उपबृंहयेत् विभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मय्यसौ प्रहरेदिति' महाभारत में वेदव्यास कहते हैं कि– इतिहास और पुराणों के आख्यानों से ही वेद के अर्थ का उपबृंहण करना चाहिए। जिसने थोड़ा ही श्रवण किया है उससे वेद डरते हैं कि कहीं वह मुझपर प्रहार न कर दे। जो शंकराचार्य ने यह कहा कि– परिब्राजक अर्थात् संन्यासी ही भेदबुद्धि का अभिमर्दन करके ब्रह्मसंस्थ हो सकता है, यह भी असंगत है क्योंकि परिब्राजक न होने पर भी भगवत्कृपा के प्रभाव से बालक भी भेद बुद्धि का निरसन कर सकता है। जैसे– पाँच वर्ष की अवस्था में श्रीप्रह्लाद ने सांसारिक खिलौने छोड़कर जड़ की भाँति आचरण करते हुए श्रीकृष्ण के अनुग्रह से अपने अंतःकरण को भगवन्मय बनाकर जगत् के प्रपञ्च को ही भुला दिया था– (भा० ७/४/३७)।

वस्तुतः 'भेदप्रत्यय ब्रह्मसंस्था में बाधक बने' ऐसी कोई राजाज्ञा भी नहीं है। भेद में ही भक्ति होती है और भागवत (१२/१३/१८) के अनुसार प्राणी भक्ति से विमुख हो जाता है। यदि कहो– इस वचन को प्रमाण मान लेने पर स्वत:प्रमाणरूप श्रुतिवचन का विरोध हो जायेगा। श्रुति कहती हैं कि ज्ञान से ही मोक्ष होता है, बिना ज्ञान के मोक्ष नहीं होता– 'ज्ञानादेव ही कैवल्यं ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' अत एव स्वत:प्रमाण होने के कारण श्रुतिवचन से परत:प्रमाणरूप स्मृतिवचन का वाध हो जायेगा। इसका उत्तर यह है कि– उत्सर्ग और अपवाद में समानदेशता होने पर ही बाध्यबाधकताभाव होता है। जैसे– हरि + औ। यहाँ यण् को सवर्णदीर्घ बाँधता है, ऐसी परिस्थिति इस प्रसंग में नहीं है। यहाँ विषय भेद है। कैसा विषयभेद? अरे! तुम इतना भी नहीं जानते। भक्ति से प्राणी विमुक्त होता है और ज्ञान से मुक्त। मुक्त और विमुक्त में क्या अन्तर है? मुक्ति क्रमिक होती है और विमुक्ति सद्यः। अर्थात् प्रभु की कृपा से पश्वादि शरीर त्यागकर पुनः साधक मानव बनता है और उनमें भी चतुर्थ, तृतीय और द्वितीय वर्णों के

शरीरों को छोड़कर ब्राह्मण शरीर प्राप्त करके, नवें वर्ष में यज्ञोपवीत से संस्कृत होकर, सद्गुरु से वेदवेदांग का अध्ययन करके, भगवत्कृपा से ब्रह्मज्ञान के अनन्तर प्राणी मुक्त हो जाता है, यही उसकी क्रमिक मुक्ति है। 'सद्यो मुक्ति' इन सब साधनों के बिना ही भगवत्कृपा से गजेन्द्रादि की भाँति शीघ्र हो जाती है– यही विमुक्ति है। इसका वैशिष्ट्य यह है कि यह आत्यन्तिकी होती है। इसलिए यहाँ बाध्यबाधकभाव का प्रश्न ही नहीं। अत एव भेद और बुद्धि का उपमर्दन एकदेशीय है। ज्ञान से पाँच कोशों का विनाश शीघ्र नहीं हो पाता, परन्तु प्रेमलक्षणा भक्ति उसी प्रकार पाँचों कोशों को जला डालती है जैसे भोजन को जठराग्नि पचा देती है। अत एव निस्वार्थ प्रेमलक्षणा भगवद्भक्ति मुक्ति से भी श्रेष्ठ है। यथा–

अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा।।

–(भा० ३/२५/३३)

जो यह कहा जाता है कि– भेदबुद्धि को नष्ट करने वाला भी तब तक कर्मबन्धन से मुक्त नहीं हो पाता जब तक वह परिव्रज्या अर्थात् संन्यास नहीं लेता। यह भी कहना अत्यन्त अनुचित है। क्योंकि इससे तो तुम्हारी अभिमत एकत्वप्रतिपादक श्रुतियों में अप्रमाण्य आ जायेगा। क्योंकि तुम्हारे मत में महावाक्यों के उपदेश से उत्पन्न अभेदबुद्धि द्वारा नष्ट की हुई भेदप्रतीति ही मोक्ष देती है। वह महावाक्य कभी भी सुना जा सकता है ईंधन और अग्नि का संयोग रहने पर भी अग्नि न जले यह तो तुम जैसे बुद्धिमान ही सोच सकते हैं। क्योंकि कर्मबन्धन के विनाश के साथ जीवब्रह्म की एकता का निश्चय ही तुम्हारे सिद्धान्त में मोक्ष है और भेदबुद्धि का अभाव ही कर्मबन्धन का विश्राम है। उसी का तो अपलाप कर रहे हो। हमारे मत में तो वर्णाश्रम-विहित कर्मानुष्ठानजनित अपूर्व ही कर्मबन्धन के विनाश में हेतु है। जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं–

प्रथमहि विप्र चरन अति प्रीति।
निज निज धर्म निरत श्रुति नीति।।
एहि कर फल पुनि विषय विरागा।
तब मन धरम उपज अनुरागा।।

–(मानस- ३/१६/६,७)

जो यह कहा जाता है कि– परिब्राजक ही कर्मों से निवृत्त होकर ब्रह्मसंस्थ हो सकता है, यह भी असंगत है, क्योंकि कर्म की असंगति किसी भी वर्ण, किसी भी आश्रम और किसी भी व्यक्ति में सम्भव है। इसी छान्दोग्योपनिषद् में गृहस्थ राजाओं ने बड़े-बड़े परिब्राजकों को ब्रह्म का उपदेश दिया है। शुकदेव जैसे परिव्राजक शिरोमणि महाराज जनक जी से उपदेश लेने मिथिला गये यह कथा भी पुराणोंमें प्रसिद्ध है। इसी प्रकार रामायण, महाभारत और पुराणों में अनेक परमभागवत महानुभावों के आख्यान देखने और सुनने को मिलते हैं। इसलिए इस श्रुति का तात्पर्य यह है कि– तीनों ही धर्मस्कन्धों में जो भी कोई परब्रह्म परमात्मा में अपनी संस्थिति कर लेता है, उसी को भगवान् का अमृतत्व प्राप्त हो जाता है॥ श्री॥

यहाँ मंत्रार्थ इस प्रकार है– 'यज्ञ, स्वाध्याय, दान इनका समुच्चय धर्म का प्रथमस्कन्ध अर्थात् प्रारम्भिक शाखा है। इष्ट प्राप्ति के लिए क्लेश सहन करना और गीता जी के सत्रहवें अध्याय में कहे हुए कायिक, वाचिक, मानस् तप ही यहाँ द्वितीय स्कन्ध अर्थात् धर्म की दूसरी शाखा है। नैष्ठिकब्रह्मचर्य की विधि से भिन्न-भिन्न व्रतो नियमों द्वारा अपने शरीर को सुखाकर जीवनपर्यन्त भगवत्प्राप्ति की प्रतीक्षा करते हुए आठ प्रकार के मैथुनों को छोड़कर अविवाहित अवस्था में गुरूकुल में निवास करने वाला ब्रह्मचारी ही धर्म का तृतीय स्कन्ध है। यहाँ यह ध्यान देना चाहिए कि गृहस्थाश्रमी महानुभावों के लिए यज्ञ, स्वाध्याय और दान विक्षेप और आवरण के साधन हो सकते हैं। इसके पश्चात् निवृत्ति की इच्छा करने वाले के लिए तप करणीय होता है। तृतीयस्कन्ध इन दोनों से विलक्षण है। इस प्रकार निर्विघ्नमान, मुमुक्षु और मोक्ष प्राप्ति में लगे हुए इन तीनों कक्षाओं के साधकों के लिए ब्रह्मसंस्थ शब्द सामान्य रूप से कहा गया है। अर्थात् चारों वर्णों चारो आश्रमों में जो भी मनसा, वाचा, कर्मणा भगवान् के श्रीचरणकमल की छाया में स्थित हो जाता है, उसको अमृतत्व अर्थात् परमेश्वरपदपद्मपरागरस का आस्वादन प्राप्त हो जाता है॥ श्री॥

जो यह कहा गया कि– तप संन्यासियों के लिए उपयुक्त नहीं है क्योंकि तप कर्म का अंग है और संन्यासी ऐक्यज्ञान से कर्मबन्धन को समाप्त कर लेता है फिर वह तप क्यों करे ? यह कहना भी बहुत अनुचित है, क्योंकि श्रुति ने ब्रह्मविचार को भी तप माना है। 'यस्य ज्ञानमयं तपः' (मुण्डक- १/१/९) आलोचनार्थक तप् धातु से 'असुन्' प्रत्यय करके तपः शब्द सिद्ध

होता है। यदि संन्यासी संन्यास लेकर भी तप अर्थात् ब्रह्मविचार न करे तो उसके संन्यास से क्या लाभ? क्योंकि ब्रह्मविचार के बिना संसार से वैराग्य नहीं होगा और बैराग्य के बिना संन्यासी की हँसी होगी ही। यथा–

सब नृप भये जोग उपहाँसी। जैसे बिनु विराग संन्यासी।।

–(मानस-१/२५१/३)

जो यह कहा गया कि ब्रह्मसंस्थशब्द संन्यासी के लिए रूढ़ है– तो यह भी शब्दशास्त्र की अनभिज्ञता के कारण ही प्रलाप किया गया। जैसे अन्य रूढ़ शब्दों के निश्चित अर्थों के कोशों में प्रमाण मिलते हैं ऐसे संन्यासी अर्थ में ब्रह्मसंस्थशब्द की रूढ़ि का किसी भी कोश में प्रमाण नहीं मिलता। 'ब्रह्माणि संतिष्ठते इति ब्रह्मसंस्थ:' जो परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के लिए ही उन्हीं के चरणों में आशा लगाये संसार में स्थित रहता है वही ब्रह्मसंस्थ है और वही भगवत्साक्षात्कार का अमृतत्वसुख प्राप्त कर लेता है।। श्री।।

पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोई।
सर्वभाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोई।।

संगति– अब 'किस माध्यम से साधक ब्रह्म में स्थित हो'? इस जिज्ञासा पर कहा जाता है कि– नाम को माध्यम बनाकर। फिर जिज्ञासा होती है कि– भगवान् के नाम में किसको माध्यम बनाया जाय? तब श्रुति कहती हैं– प्रणव को। अत: प्रणव की ही उपपत्तिपूर्ण व्याख्या की जाती है।। श्री।।

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी विद्या संप्रास्रवत्तामभ्यतपत्तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि संप्रास्रवन्त भूर्भुवः स्वरिति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– प्रजापति ब्रह्मा ने चतुर्दश लोकों का ध्यान किया और अपनी समाधि से उनमें छिपी हुई ऋग्, यजुस्, साम इस विद्यात्रयी को ध्यान में देखा। फिर समाधि लगाकर प्रजापति ने इस त्रयी में छिपी भूर्, भुव:, स्व: इन तीन व्याहृतियों का ध्यान में ही साक्षात्कार किया।। श्री।।

तान्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्य ॐकारः संप्रास्रवत्तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णान्येवमोङ्कारेण सर्वा वाक् संतृण्णोङ्कार एवेद ँ सर्वमोङ्कार एवेद ँ सर्वम् ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर प्रजापति ने 'भूर्भुव: स्व:' इन तीन व्याहृतियों का ध्यान किया और इनके ध्यान करने से ब्रह्मा जी

को ओंकार का साक्षात्कार हुआ। जिस प्रकार शंकु अर्थात् पत्तों के वृन्त से सभी पत्ते व्यवस्थापित रहते हैं उसी प्रकार ओंकार से सम्पूर्ण वाङ्मय व्यवस्थित रहते हैं। सम्पूर्ण वाङ्मय ओंकार में ही व्यवस्थित है। यहाँ आदरार्थ द्विरुक्ति की गयी है॥ श्री॥

॥ छान्दोग्योपनिषद् पर द्वितीय अध्याय के त्रयोविंश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण॥

॥ श्रीराघवः शन्तनोतु॥

॥ चतुर्विंश खण्ड॥

सम्बन्ध– इस प्रकार सामोपासना में प्रणव की उपासना का वर्णन करके अब श्रुति प्रसंग से सामसवनों का वर्णन कर रही हैं॥ श्री॥

ब्रह्मवादिनो वदन्ति यद्वसूनां प्रातःसवन ँ् रुद्राणां। माध्यान्दिन ँ् सवनमादित्यानां च विश्वेषां च देवानां तृतीयसवनम्॥१॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अपने मन मन्दिर में परमात्मा को स्थिर करने वाले ब्रह्मवादी महर्षि कहते हैं कि– सामोपासना में प्रातःकालीन सवन वसुओं का होता है, मध्याह्न का सवन शंकर आदि बारह आदित्यों का और सायंकालीन विश्वेदेवा आदि देवताओं का होता है अर्थात् साम के तीनों सवन (स्नान) देव सम्बन्धी ही होते हैं॥ श्री॥

क्व तर्हि यजमानस्य लोक इति स यस्तं न विद्यात्कथं कुर्यादथ विद्वान्कुर्यात्॥२॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब जिज्ञासा की जाती है– 'तो फिर यजमान का लोक कहाँ है, जो उसे नहीं जानता वह सवन कैसे करता है? जो जानता है वही सवन करता है। प्रातःकालीन सवन करके यजमान वसुलोक को प्राप्त करता है। मध्याह्नकालीन सवन करके वह रूद्रलोक को प्राप्त करता है और सायंकालीन सवन करके यजमान आदित्यलोक और विश्वेदेवलोक प्राप्त कर लेता है। सवन जानकर ही करना चाहिए। यही यहाँ उपदेश है॥ श्री॥

पुरा प्रातरनुवाकस्योपाकरणाज्जघनेन। गार्हपत्यस्योदङ्मुख उपविश्य स वासव ँ् सामाभिगायति॥३॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यजमान प्रातःकालीन अनुवाक् के अर्थात्

अनुच्चारणीय मंत्र के उपकरण याने जपयोग के प्रथम गार्हपत्य अग्नि के पीछे उत्तरमुख करके बैठा हुआ वसुदेवता सम्बन्धी साम का गान करे॥ श्री॥

लोकद्वारमवापा ३ र्ण ३ ३ पश्येम त्वा वयँ ्रा ३ ३ ३ ३ ३ हु ३ म आ ३ ३ ज्या ३ यो ३ आ ३ २ १ १ १ इति ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे अग्नि देवता! आप भूलोंक के द्वार को खोल दें जिससे मैं राज्य अर्थात् परमप्रकाश के लिए आप को देख सकूँ। अथवा हे अग्निस्वरूप परब्रह्म परमात्मा श्रीराम। आप अपने साकेतद्वार को खोल दीजिए, जिससे आपकी कृपादीप्ति के लिए अथवा इस भूतल में रामराज्य लाने के लिए हम आपको देख सकें॥ श्री॥

अथ जुहोति नमोऽग्नये पृथिवीक्षिते लोकक्षिते लोकं मे। यजमानाय विन्दैष वे यजमानस्य लोक एतास्मि ।।५।।

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ– अब अग्नि के हवन का प्रकार कहते हैं। यजमान उपरितन मंत्र का पाठ करता हुआ हवन करे। हे अग्निदेव! आपको नमस्कार हो! हे पृथ्वी पर निवास करनेवाले! हेय लोकों में निवास करने वाले! आपको नमस्कार हो। मुझ यजमान के लिए दिव्यलोक दीजिए। मैं यजमानलोक को ही जाना चाहता हूँ॥ श्री॥

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहापजहिपरिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति। तस्मै वसवः प्रातः सवनँ ् संप्रयच्छन्ति ।।६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यजमान अपने आयु के अनन्तर 'स्वाहापजहि परिधं' अर्थात् हे भगवान्! आपको सब कुछ समर्पण, आप हमारे भजन प्रत्यवायरूप परिध को नष्ट कर दीजिए।' ऐसा कहकर शरीरत्याग करके ऊपर जाता है। उस यजमान को द्रोणादि अष्टवसु प्रातःकालीन सवन का फल दे देते हैं॥ श्री॥

पुरा माध्यन्दिनस्य सवनस्योपाकरणाज्जघनेनाग्नी-ध्रीयस्योदङ्मुख उपविश्य स रौद्रँ ् सामाभिगायति ।।७।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यजमान मध्याह्न के सवन जप के पहले दक्षिणाग्नि के पीछे बैठकर, उत्तर मुख होकर, रूद्र देवता वाले साम का गान करता है॥ श्री॥

लो ३ क द्वारमपावा ३ र्णू ३ ३ पश्येम त्वा वयं वैरा ३ ३ ३ ३ ३ ऽ ३ म आ ३ ३ ज्या ३ यो ३ आ ३ २ १ १ १ इति ।।८।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे वायु देवता! अन्तरिक्ष लोक का द्वार खोल दीजिए, जिसस मैं आप के (वायु रूप) दर्शन कर सकूँ। भगवान् शंकर को वायुरूप कहा गया है और वायु तैत्तरीयोपनिषद् के अनुसार साक्षात् ब्रह्म ही है ।। श्री ।।

अथ जुहोति नमो वायवेऽन्तरिक्षक्षिते लोकक्षिते लोकं मे।
यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्य लोक एतास्मि ।।९।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब यजमान हवन करते हुए वायु से प्रार्थना करता है– हे अन्तरिक्ष में निवास करने वाले! सम्पूर्ण लोकों का पालन करने वाले वायु देवता! आपको मेरा नमसकार है। मुझ यजमान को अन्तरिक्ष लोक को प्राप्त कराइये। मैं यजमान के लोक में जाना चाहता हूँ ।। श्री ।।

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहापजहि परिधमित्युक्त्वोत्तिष्ठति।
तस्मैरुद्रा माध्यान्दिन ँ॒ सवन ँ॒ सम्प्रयच्छन्ति ।।१०।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हवन के अनन्तर यजमान जीवनपर्यन्त अग्निहोत्र करके आयु के अनन्तर वायु के प्रति दो वाक्य निवेदन करता है। 'स्वहा अपजहि परिधं' यजमान का आशय यह है कि– हे वायुदेव! आज तक मेरे द्वारा आपकी बड़ी आराधना की गयी आज अन्तिम बार मैं आप को चारों स्वर समर्पित करता हूँ। अब आप भी भगवान् के भजन में प्रतिबन्ध करने वाले मेरे मायामोह बंधन को समाप्त कर दीजिए। ऐसा कहकर यजमान वायुरूप रूद्र को प्रसन्न करने के लिए उठकर खड़ा होता है और रूद्र देवता यजमान को मध्याह्नकालिक सवन का फल प्रदान करते हैं ।। श्री ।।

पुरा तृतीयसवनस्योपाकरणाज्जघनेनाहवनीयस्योदङ्मुख।
उपविश्य स आदित्य ँ॒ स वैश्वदेव ँ॒ सामाभिगायति ।।११।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसी प्रकार तृतीयसवन के जप के पूर्व यजमान आहवनीय अग्नि के पृष्ठभाग में उत्तराभिमुख बैठकर आदित्य देवता वाले और विश्वेदेवता वाले साम का गान करता है ।। श्री ।।

लो ३ कद्वारमपावा ३ र्णू ३ ३ पश्यम त्वा वयँ् स्वारा ३ ३ ३ ३ ३ हु ३ म् आ ३ ३ ज्या ३ यो ३ आ ३ २ १ १ १ इति ।।१२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे आदित्य! आप स्वर्गलोक का द्वार उद्घाटित कर दीजिए, जिससे हम हुंकार करते हुए परमपद प्राप्ति के लिए आप श्रीसूर्य के दर्शन कर सकें।। श्री।।

आदियमथ वैश्वदेवं लो ३ कद्वारमपावा ३ र्णू ३ ३ पश्येम त्वा वयँ् साम्रा ३ ३ ३ ३ ३ हु ३ म् आ ३ ३ यो ३ आ ३ २ १ १ १ इति ।।१३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब यजमान विश्वेदेवता से प्रार्थना करता है कि– हे विश्वेदेवा! आपलोग हमारे लिए स्वर्ग का द्वार खोल दीजिए, जिससे हम 'हुं' ध्वनि करते हुए साम्राज्य की प्राप्ति के लिए आप लोगों के दर्शन कर सकें।।श्री।।१३।।

अथ युहोति नम आदित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च देवेभ्यो। दिविक्षिद्भ्यो लोकक्षिद्भ्यो लोकं मे यजमानाय विन्दत ।।१४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब यजमान आदित्य एवं विश्वेदेव देवताओं का उद्देश्य करके अग्नि में आहुति का प्रक्षेप करता है। हे बारहों आदित्यों! हे पाँच विश्वेदेव देवताओं! आपको नमस्कार है। आप लोग मुझे दिव्यलोक की प्राप्ति कराइये। यहाँ विन्दत शब्द अन्तर्भावित पण्यर्थ में प्रयुक्त हुआ है।। श्री।।

एष वै यजमानस्य लोक एतस्म्यत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहा-पहत परिधमित्युक्त्वोत्तिष्ठति ।।१५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यह यजमान का लोक है। इसमें वर्तमान होकर यजमान कहता है– अब मैं सब कुछ आप लोगों के चरणों में समर्पित करता हूँ। आप लोग हमारी भजनप्रतिबन्धक मोहअर्गला को नष्ट कर दीजिए। इतना कहकर यजमान आदित्यों एवं विश्वेदेवों को अनुकूल करने के लिए उत्थान करता है।। श्री।।

तस्मा आदित्याश्च विश्वे च देवास्तृतीयसवनँ सम्प्रयच्छन्त्येष।
वै यज्ञस्य मात्रां वेद य ह एवं वेद य एवं वेद।।१६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– उस यजमान को द्वादशआदित्य और विश्वेदेव तृतीयसवन का फल दे देते हैं। इस प्रकार जो साधक प्रातःकालीन, मध्याह्नकालिक एवं सायंकालिक सवनों को क्रम से इनके वसु, रूद्र तथा आदित्य विश्वेदेव देवताओं को, उन तीनों के मन्त्रप्रकारों को जानता है, वह यज्ञ के रहस्य को भी जानता है।। श्री।।

इस प्रकार छान्दोग्योपनिषद के द्वितीय अध्याय के चर्तुविंश खण्ड पर
श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पन्न हुआ।।श्री।।

।। इति श्री चित्रकूट निवासी सर्वाम्नाय श्री तुलसीपीठाधीश्वर जगद्गुरु
श्री रामानन्दाचार्य श्री रामभद्राचार्य महाराज कृत
छान्दोग्योपनिषद् द्वितीय अध्याय पर श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पन्न हुआ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

●

।। तृतीयोध्याय ।।

।। प्रथम खण्ड ।।

।। मंगलाचरणम् ।।

वन्दे वन्दारुवृन्दानां मन्दारचरणाम्बुजम्।
नीलपीतं महोब्रह्म सीतारामाभिधं नतः ।।

सम्बन्ध भाष्य– द्वितीय अध्याय में भिन्न-भिन्न प्रतीकों के माध्यम से सामोपासना और बृहत्सामोपासना कही गयी है। भिन्न-भिन्न प्रकरणों में उद्गीथ की महिमा का भी उद्गान हुआ तथा स्वर, उष्मा, अन्तस्थ, स्पर्श की व्याख्या, साम के तीनों समूह की चर्चा अंतिम प्रकरण में की गयी। बीच-बीच में सूर्य की महिमा का भी संकेत किया गया और अध्याय के अन्तिम मंत्र में यह भी कहा गया कि जो देवताओं सहित तीनों सवनों को जानता वह यज्ञ के रहस्य को जानता है। उस यज्ञ के प्रत्यक्षसाक्षी भगवान् सूर्य हैं। सूर्यास्त होने पर कोई उत्कृष्ट वैदिक यज्ञानुष्ठान नहीं किया जाता। अतः मधुविद्या के प्रस्ताव में भगवान् सूर्य का निरूपण करने के लिए तृतीय अध्याय का प्रारम्भ किया जाता है अथवा सूर्यमण्डस्थ श्रीसीताराम जी ही श्रुति के परम पतिपाद्य हैं। अतः उनके वर्णन के पूर्व उन्हीं के वंश प्रवर्तक भगवान् सूर्य का वर्णन करना आवश्यक है क्योंकि श्रुति ने भगवान् सूर्य को मधुमान सूर्यस्थ कहा। मधु एक अपूर्व पुष्परस है। जैसे पुष्पों के रस से मधुमक्खी छत्ता बनाती है और वह एक बाँस के दण्डे में लटक जाता है उसी प्रकार सूर्य नारायण आकाश में लटके हुए प्रतीत होते हैं। इसी मधुविद्या का यहाँ निरूपण करते हैं।।श्री।।

ॐ असौ वा आदित्यो देवमधु तस्य द्यौरेव तिरश्चीनव ँ शोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचयः पुत्राः ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– ओम् यह परमात्मा का स्मरण है। यह प्रत्यक्ष दर्शन देने वाले अदितिनन्दन तथा अखण्ड विराट्वृत्तिसम्पन्न विराट पुरुष के चक्षु सूर्यनारायण ही मधु हैं। उनके रस को देवता ही पीते हैं। स्वर्ग ही बाँस की तिरछी कैनी है जिसको आधार मानकर मधु के छत्ते के समान सूर्यमण्डल लटकता है और अन्तरिक्ष ही मालपूये के आकार का छत्ता है और सूर्य की किरणे ही मक्षिका की स्थानीय है। अर्थात् जैसे छत्ते

में मधुमक्खियाँ होती हैं उसी प्रकार अन्तरिक्ष में सूर्य की किरणें विराजमान रहतीं हैं ।।श्री।।१।।

तस्य ये प्राञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्राच्यो मधुनाड्य ऋच एष मधुकृत ऋग्वेद एष पुष्पं ता अमृता आपस्ता वा एता ऋचः ।।२।।

एतमृग्वेदमभ्यतपँस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यँ रसोऽजायत ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– उन सूर्यनारायण की पूर्वाभिमुख किरणें ही पूर्व की मधुनालिकायें हैं। ऋचायें ही मधुमक्खियों की भाँति मधुरस बनातीं हैं। ऋग्वेद ही पुष्प है। मधुरफल ही सूर्यरूप मधु का रस है। ऋग्वेदरूप पुष्प से ऋचायें मधुमक्खियों की भाँति देवताओं के लिए शुभकर्मफलरूप मधुरस का निर्माण करती है और उन्हीं से यश, इन्द्रियों की दृढ़ता, पराक्रम और आध्यात्मिकबल रसरूप में उत्पन्न होता है ।।श्री।।२,३।।

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य रोहितँ रूपम् ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार सूर्य का वह मधुरूप रस ऋग्वेद रूप पुष्प से क्षरित हुआ और सूर्यमण्डल में समा गया। सूर्यनारायण का जो लालरूप है जिसका हम प्रातः और सायंकाल दर्शन करते हैं वही इस सूर्यरूप मधु का रस है ।।श्री।।४।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर तृतीय अध्याय के प्रथम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। द्वितीय खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब इस खण्ड में सूर्यनारायण की दक्षिण किरणों के रुपक के वर्णन से सूर्य के शुक्लरूप का वर्णन किया जाता है ।।श्री।।

अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य दक्षिणा मधुनाड्यो यजूँष्येव मधुकृतो यजुर्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपः ।।१।।

तानि वा एतानि यजूँष्येतं यजुर्वेदमभ्यतपंस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यँ रसोऽजायत ।।२।।

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य शुक्लँ रूपम् ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– सूर्यनारायण की जो दक्षिण किरणें हैं, वे ही देवमधु की दक्षिण नाडिकायें हैं। यजुष् मन्त्र ही मधु बनाने वाली मधुमक्खियाँ हैं। शुभ कर्म फल की परम्परायें इसकी मधुधारायें हैं ।।श्री।।

यजुर्वेद ही पुष्प है, जिससे यजुष् मन्त्र रस लेते हैं। वह यश, इन्द्रिय, वीर्य, अन्न, बल आदि रूप में देवमधु का रस प्रकट होता है ।।श्री।।

वह यजुर्वेदरूप पुष्प से विक्षरित होकर सूर्यमण्डल में समाया। सूर्य नारायण का शुक्ल रूप ही उनमें यजुर्वेदरूप पुष्प का रस है ।।श्री।।१,२,३।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर तृतीय अध्याय के द्वितीय खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। तृतीय खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब तृतीय खण्ड में सूर्यनारायण के कृष्णरूप का निरूपण किया जाता है ।।श्री।।

अथ येऽस्य प्रत्यञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्रतीच्यो मधुनाड्यः सामान्येव मधुकृतः सामवेद एव पुष्पं ता अमृता आपः ।।१।।

तानि वा एतानि सामान्येत ँ सामवेदमभ्यतपँस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यँ रसोऽजायत ।।२।।

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य परं कृष्ण ँ रूपम् ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो सूर्य नारायण की परिश्चमाभिमुख किरणें हैं वे ही देवमधु की पश्चिम नाड़ियाँ हैं। साममन्त्र ही मधु बनाने वाली मक्खियाँ हैं। अमृत जैसी शुभकर्मफलपरम्परायें मधुधारायें हैं। सामवेद ही पुष्प है। साममन्त्र इसी सामवेद से पुष्परस लेते हैं और यश,तेज, इन्द्रियसामर्थ्य, बल, अन्न आदि रस उत्पन्न होता है। वह क्षरित होकर

सूर्यमण्डल में विलीन हो जाता है। सूर्यनारायण का कृष्णरूप ही इस देवमधु का रूप है।।श्री।।१,२,३।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर तृतीय अध्याय के तृतीय खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। चतुर्थ खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– इस खण्ड में सूर्य भगवान् के परिकृष्ण रूप का निरूपण करते हैं।।श्री।।

अथ येऽस्योदञ्चो रश्मयस्ता एवास्योदीच्यो मधुनाड्योऽथर्वाङ्गिरस एव मधुकृत इतिहासपुराणं पुष्पं ता अमृता आपः।।१।।

ते वा एतेऽथर्वाङ्गिरस एतदितिहासँपुराणमभ्यतपँस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यँ रसोऽजायत।।२।।

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य परं कृष्णँ रूपम्।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर सूर्यनारायण की उत्तराभिमुख किरणें ही देवमधु की उत्तर नाड़ियाँ हैं, अथर्वाङ्गिरस मन्त्र ही मधुमक्खियाँ है। इतिहास-पुराण ही पुष्प है। कर्मफलों की शुभपरम्परा ही अमृतमय मधुधारा है। अथर्वाङ्गिरस मन्त्रों ने इतिहास-पुराण का समालोचन किया, उससे यश, तेज, इन्द्रियों का सामर्थ्य, वीर्य, अन्न आदि रस उत्पन्न हुआ। वह क्षरित हुआ और सूर्य को ही आश्रय बनाया, वही सूर्यनारायण का परिकृष्ण रूप है।।श्री।।१,२,३।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर तृतीय अध्याय के चतुर्थ खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। पंचम खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– पंचमखण्ड में सूर्यनारायण की ऊपर जाने वाली किरणों में मधुदृष्टि का निरूपण किया जा रहा है।।श्री।।

अथ येऽस्योर्ध्वा रश्मयस्ता एवास्योर्ध्वा मधुनाड्यो गुह्या एवादेशा मधुकृतो ब्रह्मैव पुष्पं ता अमृता आपः ।।१।।

ते वा एते गुह्या आदेशा एतद्ब्रह्माभ्यतपँस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यँ रसोऽजायत ।।२।।

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य मध्ये क्षोभत इव ।।३।।

ते वा एते रसानाँ रसा वेदा हि रसास्तेषामेते रसास्तानि वा एतान्यमृतानाममृतानि वेदा ह्यमृतास्तेषायेतान्यमृतानि ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– सूर्यनारायण की जो ऊर्ध्वगामी किरणें हैं वे ही देवमधु की उर्ध्वनाड़ियाँ हैं। वेदों में वर्णित, केवल साधक के लिए जानने योग्य, गोपनीय, उपनिषद सिद्धान्त ही मधु निर्माण करने वाली मक्खियाँ हैं। मधु अर्थात् ओंकार ही पुष्प है। उसका आरोचन कर उपनिषदों द्वारा ब्रह्मानन्दरूप रस प्रकट किया गया। यही भगवद्भजन रसिकों के लिए यश है, यही इन्द्रिय का सामर्थ्य है, यही तेज है, यही वीर्य है और यही अन्न आदि है। क्योंकि भगवन्नामस्मरण को ही संत लोग आहार मानते हैं। प्रणव से वह ब्रह्मानन्दरस विक्षरित हुआ। उसने सूर्यमण्डल को आश्रय बनाया और वही सूर्यमण्डल के बीच में चंचलित होता हुआ सा तेज है। वह सूर्यमण्डल स्थित श्री सीताराममय है। वेदरूपरसों का यही अर्थ अर्थात् सार है। शुभ कर्मफलरूप अमृतों का यह अमृत है क्योंकि भगवद्भजन ही सभी वेदों का सार है और भगवद्भजन ही सभी फलों का फल है। यथा–

संजम नियम फूल फल ज्ञाना। हरिपद इति रस वेद बखाना ।।

–(मानस-१/३६/१४)

दवेर्षि नारद भी भगवद्भक्ति को फल रूप ही मानते हैं यथा– फलरूपत्वात् (नारद भ०सूत्र२/३) ।।श्री।।१,२,३,४।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर तृतीय अध्याय के पंचम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। षष्ठ खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब प्रथम अमृत के उपभोग की महिमा का वर्णन करते हैं ।।श्री।।

तद्यत्प्रथमममृतं तद्वसव उपजीवन्त्यग्निना मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– ऋग्वेद से प्राप्त उस कर्मफलरूप अमृत को अग्निरूप मुख से द्रोणादि वसुगण सेवन करते हैं। देवता भोजन नहीं करते, देवता पान नहीं करते, वे तो उपभोग्य पदार्थ को देखकर ही तृप्त हो जाते हैं। क्योंकि वे क्षुधा पिपासा से रहित होते हैं ।।श्री।।१।।

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– चूँकि वसुगण सूर्यनारायण के प्रातःकालीन रोहितरूप में निहित अमृत का उपभोग करते हैं, इसीलिए ये इसी में प्रविष्ट हो जाते हैं और हवि लेने के लिए सूर्य नारायण के इसी प्रात:सवनीय अरूणरूप से उदित भी हो जाते हैं ।।श्री।।२।।

स य एतदेवममृतं वेद वसूनामेवैको भूत्वाऽग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स य एतदेव रूपमभिभंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो साधक इस प्रकार इस अमृत को जानता है, वह वसुओं में प्रधान होकर अग्निरूपमुख से इस अमृत का दर्शन करके ही तृप्त हो जाता है। वह सूर्यनारायण के उदयकालिक लालरूप में प्रविष्ट होता है और उसी से उदित भी हो जाता है। क्योंकि उसमें अमृत के उपभोग-रूप वसुओं का साम्य आ जाता है ।।श्री।।३।।

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता वसूनामेव तावदाधिपत्यँ स्वाराज्यं पर्येता ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस अमृतरहस्य का वेत्ता जबतक सूर्य रहते हैं तबतक, बालखिल्यों के समान ही सूर्य भगवान् के साथ ही उदित होकर उनके रथ के आगे चलता है और उनके अस्त होने के साथ-साथ अस्त होता है। वह द्रोणादि वसुओं का साम्राज्य और स्वाराज्यरूप परमपद भी प्राप्त कर लेता है ।।श्री।।४।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर तृतीय अध्याय के षष्ठ खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। सप्तम खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब इस खण्ड में द्वितीय अमृत की चर्चा करते हैं जो रुद्रों का उपभोग्य है ।।श्री।।

अथ यद् द्वितीयममृतं तद्रुद्रा उपजीवन्तीन्द्रेण मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर जो माध्यान्ह सूर्य में माध्यन्दिन सवन का द्वितीय अमृत होता है, उसे शंकरप्रमुख रूद्रगण इन्द्र को माध्यम बनाकर जीवन का आश्रय बनाते हैं। उस अमृत को न तो देवता खाते हैं और न ही पीते हैं वे तो उसे देखकर ही तृप्त हो जाते हैं, नहीं तो वह अब तक नष्ट हो गया होता ।।श्री।।१।।

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– वे सूर्यनारायण के इसी शुक्लरूप में प्रवेश करते हैं और हवि लेने के लिए उसी से बाहर आते हैं ।।श्री।।२।।

स य एतदेवममृतं वेद रुद्राणामेवैको भूत्वेन्द्रेणैव मुखेनेतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो इस अमृतरहस्य को जानता है, वह रुद्रों में प्रधान होकर इन्द्र को ही अपना मुख बनाकर इस अमृत को देखकर तृप्त हो जाता है और सूर्यनारायण के इसी शुक्लरूप में प्रवेश करता है और इसी रूप से बाहर निकल कर हवि ग्रहण करता है ।।श्री।।३।।

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता द्विस्तावद्दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता रुद्राणामेवतावदाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जब तक सूर्यनारायण पूर्व में उदित होते हैं और जितने काल तक पश्चिम में अस्त होते हैं, द्वितीय अमृत का रहस्य वेत्ता उतने काल तक दक्षिण में उदित होता है और उत्तर में अस्त होता है। वह रुद्रों का स्वामी बनकर साम्राज्य और स्वाराज्य को प्राप्त कर लेता है ।।श्री।।४।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर तृतीय अध्याय के सप्तम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। अष्टम खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब आदित्य के उपजीव्य तृतीयसवन का वर्णन किया जाता है ।।श्री।।

अथ यत्तृतीयममृतं तदादित्या उपजीवन्ति वरुणेन मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ।।१।।

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ।।२।।

स य एतदेवामृतं वेदादित्यानामेवैको भूत्वा वरुणेनैव मुखेनैत-देवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ।।३।।

स यावदादित्यो दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता द्विस्तावत्पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेताऽऽदित्यानामेव तावदाधिपत्यँ स्वारज्यं पर्येता ।।४।।

रा०कृं०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर तृतीयसवन से प्राप्त अमृत को आदित्य अपना उपजीव्य बनाते हैं। वे वरुण के साथ इस अमृत का उपभोग करते हैं। न ही देवता कुछ खाते है ओर न ही कुछ पीते हैं, वे अमृत को देखकर तृप्त हो जाते हैं। आदित्यगण इसी रूप में प्रवेश करते हैं और इसी से उदित होते हैं। जो इसके दिव्यरहस्य को जानता है वह पूर्व की भाँति आदित्य का सायुज्य प्राप्त करता है और आदित्यों में प्रधान होकर इस सूर्यमण्डल में प्रवेश करके प्रभु की रूपसुधा से ही तृप्त हो जाता है। जितनी अवधि के लिए सूर्यनारायण दक्षिण में उदित होकर पश्चिम में अस्त होते हैं उससे द्विगुणित कार्यकाल के लिए यह साधक पश्चिम में उदित होकर उत्तर में अस्त होता है ।।श्री।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर तृतीय अध्याय के अष्टम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। नवम खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब नवमखण्ड में मरुद्गण के उपजीव्य अमृत का वर्णन करते हैं।।श्री।।

अथ यच्चतुर्थममृतं तन्मरुत उपजीवन्ति सोमेन मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ।।१।।

त एतदेव रूपमभिसविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ।।२।।

स य एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ।।३।।

स यावदादित्यः पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेता द्विस्तावदुत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता मरुतामेव तावदाधिपत्यँ स्वराज्यं पर्येता ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर चतुर्थ अमृत का वर्णन करते हैं। जो चतुर्थसवन का चतुर्थ अमृत होता है उसी को उपजीव्य मानकर उन्चास मरुद्गण जीवित रहते हैं। देवता कुछ खाते पीते नहीं परन्तु सोम के माध्यम से इस अमृत को देखकर तृप्त हो जाते हैं। वे सूर्यनारायण के इसी रूप में प्रवेश करते हैं और इसी से उदित हो जाते हैं। इस प्रकार इस अमृतरहस्य को जो जानता है, वह मरूतों में प्रधान होकर सोम को माध्यम बनाकर इसी अमृत के दर्शन से तृप्त हो जाता है। जब तक सूर्यनारायण पश्चिम में अस्त होकर पूर्व में उदित होते हैं, उससे द्विगुणित समय तक वह साधक पूर्व में उदित होकर दक्षिण में अस्त होता है और वह मरुतों का आधिपत्य प्राप्त कर लेता है तथा स्वाराज्य और परमपद को प्राप्त कर लेता है।।श्री।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर तृतीय अध्याय के नवम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। दशम खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब साधकों के द्वारा उपजीव्य पंचम अमृतोपासना का वर्णन करते हैं।।श्री।।

अथ यत्पञ्चमममृतं तत्साध्या उपजीवन्ति ब्रह्मणा मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब पंचमअमृत की चर्चा करते हैं। जो यह पंचमअमृत है उसको साध्य लोग हिरण्यगर्भ के माध्यम से अपना उपजीव्य बनाते हैं। देवता कुछ खाते पीते नहीं वे अमृत को देखकर ही तृप्त हो जाते हैं।।श्री।।१।।

व्याख्या– इस प्रकरण में प्रातः, मध्याह्न, अपराह्ण, अपराह्णोत्तर तथा अस्तकालिक सूर्यनारायणरूप देवमधु के अरुण, शुक्ल, कृष्ण, कृष्णतर और परिकृष्ण इन पाँच रूपों में निहित पाँचों अमृतों के आस्वादन के रूप में क्रम से अग्निमुख से वसु, इन्द्रमुख से रुद्र, वरुणमुख से आदित्य, सोममुख से मरूत् एवं हिरण्यगर्भमुख से साध्यों की चर्चा की गयी है। इसी प्रकरण में पांच बार न तो देवता खाते हैं और न ही पीते हैं, वाक्य की आवृत्ति की गयी है। इससे श्रुति ने यह सिद्ध कर दिया कि देवताओं को भूख प्यास नहीं लगती।।श्री।।

प्रश्न– अब प्रश्न उठता है कि– कर्मकाण्डी लोग देवताओं को नैवेद्य क्यों अर्पित करते हैं ?

उत्तर– इसका उत्तर श्रुति ने वहीं दे दिया है– देवता अमृत देखकर ही प्रसन्न हो जाते हैं इसलिए उनके चाक्षुषसाक्षात्कार के लिए वैवेद्य अर्पित किया जाता है।।श्री।।

प्रश्न– तो फिर गीता (९/२६) में भगवान् ने कैसे कहा कि– पत्र, पुष्प, फल, जल जो भी भक्त मुझे भक्तिपूर्वक अर्पित करता है मैं उस पवित्र आत्मा के द्वारा उपहृत पदार्थ को प्रेम से खाता हूँ।

उत्तर– श्रुति ने देवों के अशनपान का निषेध किया है– 'नवा देवा अदन्ति न पिबन्ति' भगवान् तो देवाधिदेव हैं। श्रुति ने भगवान् के लिए अशनपान का निषेध नहीं किया है।।श्री।।

प्रश्न– 'पत्रं' पुष्पं इस गीता स्मृति का मूल क्या है ?

उत्तर– 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्राह्मणा विपश्चिता' (तै०उ० २/१) अर्थात् ब्रह्मवेत्ता पुरुष विशुद्ध ज्ञानमय परब्रह्म परमात्मा के साथ सभी कामनाओं का उपभोग करता है।।श्री।।

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ।।२।।

स य एतदेवममृतं वेद साध्यानामेवैको भूत्वा ब्रह्मणैव मुखेनैत-देवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ।।३।।

स यावदादित्य उत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता द्विस्तावदूर्ध्व-मुदेतार्वागस्तमेता साध्यानामेव तावदाधिवत्यं स्वराज्यं पर्येता ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– वे साध्यगण सूर्यनारायण के उसी रूप में प्रविष्ट हो जाते हैं और उसी से प्रकट होते हैं। इस प्रकार जो अमृत रहस्य को जानता है वह साध्यों में प्रमुख होकर ब्रह्मगुण से अमृत दर्शन कर प्रसन्न हो जाता है। अस्तकालिक सूर्य के रूप में प्रवेश करता है और वहीं से बाहर आता है। जब तक सूर्य उत्तर में उदित होते हैं और दक्षिण में अस्त होते हैं उनसे द्विगुणित समय पर्यन्त साधक ऊपर उदित होता है और पाताल में अस्त होता है और वह साध्यों का आधिपत्य एवं स्वाराज्य प्राप्त कर लेता है।।श्री।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर तृतीय अध्याय के दशम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। एकादश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– इस प्रकार पुण्यवान व्यक्ति अपने पुण्य के बल पर क्रम से वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव एवं साध्य की श्रेणी को पार करता हुआ, सूर्यनारायण को पूर्व, उत्तर, दक्षिण और पश्चिम में उदित होते हुए एवं पाप की उपस्थिति में इससे ठीक उल्टे अस्त होते हुए देखता है। परन्तु पाप-पुण्य से रहित महापुरुष न सूर्य का उदय देखता है न अस्त। इस पर कहते हैं–

अथ तत उर्ध्व उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता तदेष श्लोकः ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर वहाँ से उदित होकर भगवान् भास्कर न तो फिर उदित होते हैं औन न ही अस्त होते हैं, वे मध्य में स्थित रहते हैं। इस पर एक श्लोक भी है।।श्री।।१।।

न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन।
देवास्तेनाहँ सत्येन मा विराधिषि ब्रह्मणेति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– कोई ब्रह्म का साक्षात्कार करके सपथ पूर्वक कहता है– हे देवताओं! मैं उस सत्यस्वरूप परमात्मा की सपथ करके कहता हूँ, यदि असत्य बोलूँ तो उस परमात्मा से अविरुद्ध न होऊँ अर्थात् उनकी कृपा न प्राप्त करूँ। इसलिए मैं सत्य कह रहा हूँ कि उस परमात्मा के दिव्य साकेतलोक में न तो कभी सूर्य उदित होते हैं और न ही अस्त। वहाँ सतत् प्रकाश ही रहता है। कठोपनिषद (१/३/१३) में भी कहा गया है कि– 'परमात्मा के उस धाम में सूर्य नहीं प्रकाशित होते वहाँ चन्द्रमा और तारागण भी नहीं प्रकाश कर पाते वहाँ बिजलियाँ भी भासित नहीं होती यह सामान्य अग्नि कैसे प्रकाशित हो सकेगा? उन्हीं परमात्मा के प्रकाशित रहने पर सब कुछ प्रकाशित होता है और उन्ही परमात्मा के प्रकाश से सब कुछ प्रकाशित है।' भगवद् गीता में भगवान् कहते हैं– 'मेरे उस धाम को न तो सूर्य प्रकाशित कर सकते हैं न ही चनद्रमा और न अग्नि। जहाँ जाकर जीव लौटकर नहीं आता वह मेरा परमधाम हैं'। वि पूर्वक राध धातु का विरोध अर्थ होता है। उसी के आत्मनेपद के उत्तम पुरुष एकवचन में अविराधिषि रूप बनता है। मा शब्द की सन्धि से 'माविराधिषि' अर्थात् यदि मैं असत्य बोलू तब मैं परब्रह्म परमात्मा से अविरुद्ध न रहूँ और उनसे विरुद्ध होकर कभी भी उनकी कृपापात्रता न प्राप्त कर सकूँ। इसलिए मैं सत्य कहता हूँ कि परब्रह्म परमात्मा के यहाँ तो सदैव कोटि-कोटि सूर्य का प्रकाश रहता है–

न ह वा अस्मा उदेति न निम्लोचति सकृद्दिवा हैवास्मै भवति य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो व्यक्ति इस ब्रह्मप्रापिका उपनिषद् को जानता है उसके लिए न ही कभी सूर्य उदित होते हैं और न ही अस्त अर्थात् न वहाँ रात होती है न वहाँ दिन।।श्री।।३।।

तद्धैतद्ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यस्तद्धैत-दुद्दालकायारुणये ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रोवाच ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस मधुविद्या को परमेश्वर से प्राप्त करके पितामह ब्रह्मा न अपने पौत्र कश्यप से कहा। कश्यप ने अपने पौत्र वैवस्वत मनु से कहा और वैवस्वत मनु ने सभी प्रजाओं से कहा। ब्रह्मर्षियों में अरुण ने अपने ज्येष्य पुत्र उद्दालक से मधुविद्या का रहस्य कहा ।।श्री।।४।।

इदं वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात्प्रणाय्याय वान्तेवासिने ।।५।।

नान्यस्मै कस्मैचन यद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्यादेतदेव ततो भूप इत्येतदेव ततो भूय इति ।।६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यह मधुविद्या रहस्य यदि गृहस्थ हो तो अपने ज्येष्ठ पुत्र से कहे, यदि उपदेष्टा नैष्ठिक ब्रह्मचारी हो तब तो वह अपने विनम्र शिष्य से ही कहे और किसी के प्रति मधुविद्या रहस्य नहीं कहना चाहिए भले ही कोई उपदेशक को समुद्रमेखला पृथ्वी ही क्यों न सौंप दे। क्योंकि यह मधुविद्याधन धान्यपूर्ण पृथ्वी से भी अधिक है। यह पृथ्वी से भी अधिक गुणवत्तर है ।।श्री।।५,६।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर तृतीय अध्याय के एकादश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। द्वादश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब अनन्त फलवाली ब्रह्मविद्या का प्रकारान्तर से भी निरूपण करना चाहिए। इसलिए इस खण्ड में गायत्री की दृष्टि से ब्रह्मविद्या का निरूपण किया जाता है ।।श्री।।

गायत्री वा इदँ सर्वं भूतं यदिदं किंच वाग्वै गायत्री वाग्वा इदँ सर्वं भूतं गायति च त्रायते च ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यह समस्त दृश्मान जगत् गायत्रीमय है तथा गायत्री से उत्पन्न है। यह सब वाणी से उत्पन्न है और गायत्री ही

वाणी है इसीलिए सब कुछ गायत्रीमय है। जो परमात्मा को गाता है उसे यह भवभीति से बचाती है और स्वयं ही परमात्मा को गाती है ।।श्री।।

व्याख्या– गायत्री ब्रह्मरूप है। इसीलिए गीता-(१०/३५) में गायत्री को भगवद्विभूति कहा गया। यह समस्त संसार शब्दब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है और गायत्री वाङ्मयी है। इसीलिए यह संसार की उत्पत्ति का कारण है ।।श्री।।१।।

या वै सा गायत्रीयं वाव सा येयं पृथिव्यस्याँ हीदँ सर्वं भूतं प्रतिष्ठितमेतामेव नातिशीयते ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो ब्रह्मविद्या है वही गायत्री है, जो गायत्री है वही पृथ्वी है, जो पृथ्वी है वह गायत्रीमय है। यह सब कुछ गायत्रीमय पृथ्वी में प्रतिष्ठित है। इससे अतिरिक्त कुछ नहीं है ।।श्री।।

व्याख्या– भतृहरि ने वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड की छियान्नवीं कारिका में कहा है कि– संसार की कोई ऐसी प्रतीत नहीं है जो शब्द के अनुगम के बिना हो सके। यह सम्पूर्ण घटपटात्मक ज्ञान शब्द से अनुविद्ध होकर ही भाषित होता है। इसलिए यदि वेदवाणी का परिणाम पृथ्वी है और गायत्री वेदवाणी से अभिन्न है तो पृथ्वी भी गायत्री से अभिन्न ही हुई ।।श्री।।२।।

या वै सा पृथिवीयं वाव सा यदिदमस्मिन्पुरुषे शरीरमस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो गायत्री है वह वाणी है, जो वाणी है वही पृथ्वी है, जो पृथ्वी है वही शरीर है और इसी शरीर में पुरुष के प्राण प्रतिष्ठित हैं। प्राण शरीर को छोड़कर नहीं जा सकते। निष्कर्ष यह है–

गायत्री अभिन्न वाणी सकल चराचर की
व्यवहारमयी सर्वजन मननीय हैं।
वाणी से अभिन्न मही महित जगत् बीच
बारि बीच जैसे मुनिजन नमनीय हैं।।
मही से अभिन्न पुरुष शरीर जामे प्राण
छाँडत न ताको भूलि नितगमनीय है।
राम भद्राचार्य ये अभेद हैं सम्बन्धमय
गायत्री से सदा परब्रह्म भजनीय हैं ।।श्री।।३।।

यद्वै तत्पुरुषे शरीरमिदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे हृदय-मस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ।।४।।

सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री ततेतदृचाभ्यनूक्तम् ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– वही यह ब्रह्मविद्या रूपिणी गायत्री चतुष्पदा अर्थात् पृथ्वी, शरीर, हृदय, प्राण इन चार चरणों से युक्त है और ब्रह्ममय होने से वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध इन चार व्यूहों से युक्त हैं तथा इसी के द्वारा चतुष्पाद विभूति परब्रह्म को पाया जा सकता है। यह वाक्, भूत, पृथ्वी, शरीर, हृदय, प्राण इन छह भेदों वाली है। यही बात वेद की ऋचा ने भी आदर पूर्वक कहीं है।।श्री।।४,५।।

तावानस्य महिमा ततो ज्यायाँश्च पुरुषः।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति ।।६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस गायत्री ब्रह्म की महिमा, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीया इन चार अवस्थाओं तक है। परिपूर्णतम परमपुरुष परमात्मा तो इनसे भी श्रेष्ठ हैं। उनके एक अंश से सभी प्राणी उत्पन्न हुए हैं और उनकी त्रिपाद्विभूति मरणधर्म से रहित है और वह दिवि अर्थात् श्रीसाकेताभिन्न दिवलोक में विराजती है।।श्री।।६।।

संगति– अब त्रिपाद्विभूति ब्रह्म का शुद्धब्रह्म से, शुद्धब्रह्म का ब्रह्माकाश से, ब्राह्माकाश का अन्तराकाश से, अन्तराकाश का हृदयाकाश से तीन मन्त्रों में अभेद कहा जाता है।।श्री।।

यद्वै तद्ब्रह्मेतीदं वाव तद्योऽयं बहिर्धा पुरुषादाकाशो यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाशः ।।७।।

अयं वाव स योऽयमन्तः पुरुष आकाशो यो वै सोऽन्तःपुरुष आकाशः ।।८।।

अयं वाव स योऽयमन्तर्हृद्य आकाशस्तदेतत्पूर्णमप्रवर्ति पूर्णम-प्रवर्तिनी ँ श्रियं लभते य एवं वेद ।।९।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो यह त्रिपाद्विभूति ब्रह्म है वही शुद्ध ब्रह्म है जो ब्रह्म है, वही आकाश है क्योंकि श्रुति-स्मृति और सूत्र में उसी को आकाश कहा गया है। जो आकाश है वही पुरुष से बाहर का आकाश

है वह भी ब्रह्म है। जो ब्राह्याकाश है वही अन्तराकाश है, वह भी ब्रह्म है। जो अन्तराकाश है वही हृदयाकाश है, वह भी ब्रह्म है। इस प्रकार जो जानता है वह अपुनरावर्तिनी परमेश्वरशरणागतिरूपिणी शोभा को प्राप्त कर लेता है ।।श्री।।७,८,९।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर तृतीय अध्याय के द्वादश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। त्रयोदश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– पूर्व खण्ड में गायत्री के माध्यम से परब्रह्म की उपासना कही गयी। वह परब्रह्म महाराज की भाँति हृदयसिंहासन पर विराजते हैं। जैसे महाराज के दर्शन के लिए प्रतिहारों की अनुकूलता आवश्यक होती है, कोई भी द्वारपाल को प्रसन्न किये बिना अथवा उसके मना करने पर महाराज के दर्शन नहीं कर पाता। यहाँ चक्षु, श्रोत्र, वाक्, मन, हृदय यही पाँच द्वार हैं। प्राण, उदान, अपान, व्यान, समान यही पाँच वायु हैं। सूर्य, चन्द्र, यम, अग्नि और पर्जन्य ये पाँच देवता यहाँ विराजते हैं। अतः इनकी उपासना के लिए आठ मंत्रों के साथ इस खण्ड का प्रारम्भ किया जाता है ।।श्री।।

तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुषयः स योऽस्य प्राङ्सुषिः स प्राणस्तच्चक्षुः स आदित्यस्तत्तेजोऽन्नाद्यमित्युपासीत तेजस्व्यन्नादो भवति य एवं वेद ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस ब्रह्म के स्थानरूप हृदय के पाँच देव छिद्र हैं उसमें जो प्रथम छिद्र हैं उसमें प्राण वायु विराजता है वही चक्षु है। उसका आधिदैविक रूप प्राण है और आध्यात्मिक रूप तेज है। जो इस प्रकार जानता है वह तेजस्वी और भोजनीय अन्न से पूर्ण हो जाता है ।।श्री।।१।।

अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिः स व्यानस्तच्छ्रोत्रँ स चन्द्रमास्त-देतच्छ्रीश्च यशश्चेत्युपासीत श्रीमान्यशस्वी भवति य एवं वेद ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसी प्रकार जो हृदय का दक्षिण द्वार है उसमें व्यान रहता है उसी में श्रोत्र अधिष्ठित है। उसके देवता चन्द्रमा हैं और आध्यात्मिक दृष्टि से वही यश और श्री है। इस प्रकार जो जानता है वह यशस्वी और श्रीमान् होता है और अन्न का खिलाने वाला बनता है ।।श्री।।२।।

अथ योऽस्य प्रत्यङ्सुषिः सोऽपानः सा वाक् सोऽग्निस्तदेतद् ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यमित्युपासीत ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति य एवं वेद ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसका जो पश्चिम द्वार है वही अपान है, वही वाक् है, उसी का आधिदैविकरूप अग्नि है और उसका आध्यात्मिक रूप है ब्रह्मवर्चस्व और अन्नाद्य। इस प्रकार जो उपासना करता है वह ब्रह्मवर्चस्ववान् और अन्न खिलाने वाला होता है ।।श्री।।३।।

अथ योऽस्योदङ्सुषिः स समानस्तन्मनः स पर्जन्यस्तदेतत् कीर्तिश्च व्युष्टिश्चेत्युपासीत कीर्तिमान्व्युष्टिमान्भवति य एवं वेद ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस हृदय का जो उत्तरी द्वार है वहाँ समान वायु अधिष्ठित है। मन उसी का परिणाम है। पर्जन्य उसी का आधिदैविक रूप है। कीर्ति और व्युष्टि की दृष्टि से उसकी उपासना करनी चाहिए। इस प्रकार जो जानता है वह प्रशस्ति कीर्तिमान और नित्यकान्तिसम्पन्न होता है। 'व्युष्टि' का विशिष्टकान्ति अर्थ है ।।श्री।।४।।

अथ योऽस्योर्ध्वः सुषिः स उदानः स वायुः स आकाशस्तदेतदोजश्च महश्चेत्युपासीतौजस्वी महस्वान्भवति य एवं वेद ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस भगवद्भवनरूप हृदय का जो ऊर्ध्व द्वार है वही उदान से अधिष्ठित है, उसी छिद्र को आकाश कहते हैं, उसके देवता वायु हैं, उसका आध्यात्मिकस्वरूप ओजस् और महस् है। इसी बुद्धि से इसकी उपासना करनी चाहिए। जो इस प्रकार उपासना करता है वह ओज और महस् से युक्त हो जाता है ।।श्री।।५।।

ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपाः स य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वेदास्य कुले वीरो जायते प्रतिपद्यते स्वर्गं लोकं य एतामेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वेद ।।६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार सूर्य, चन्द्र, अग्नि, पर्जन्य और वायु ये पाँचो देवाधिदेव परमात्मा के सेवक हैं तथा ये ही परमेश्वर के हृदय में द्वारपाल भी हैं। जो इनहें जानता हो वह स्वर्गलोक को प्राप्त करता है और उसके कुलों में वीर पुरुषों का ही जन्म होता है ।।श्री।।

व्याख्या– यहाँ ब्रह्मशब्द परब्रह्म परमात्मा के अर्थ में तथा पुरुषशब्द परमात्मा के सेवक के अर्थ में अभिप्रेत है। सूर्य, चन्द्र, अग्नि पर्जन्य और वायु ये पाँचों परमेश्वर के हृदयभवन के द्वारपालक हैं। जैसे– जय-विजय वैकुण्ठ के। इन्हें प्रसन्न किये विना साधक के भजन में विघ्न पड़ सकता है। क्योंकि ये इन्द्रियों के द्वारों पर बैठे होते हैं और विषय-बयार के प्रवेश के लिए इन्द्रियों का केवाड़ा खोल देते हैं। यथा–

इन्द्रिय द्वार झरोखे नाना। जहँ तह सुर बैठे करि थाना।।
आवत देखहिं विषय बयारी। ते हठि देहि कपाट उघारी।।

–(मानस- ७/११८/११,१२)

इसलिए इनमें उपास्य दृष्टि करनी साधक के लिए आवश्यक है क्योंकि गीता जी के अनुसार ये सब भगवद्विभूति हैं।।श्री।।६।।

अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतःपृष्ठेषु सर्वतःपृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे ज्योतिस्तस्यैषा दृष्टिः ।।७।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर अर्थात् पाँच छिद्रों और उनके पाँच देवों की उपासना के अनन्तर इस दिव् अर्थात स्वर्गलोक से अथवा द्योतनशील भगवान् की अपराजिता नामक दिव्य अयोध्यापुरी से भी ऊपर, सभी लोकों के ऊपर और सभी प्राणियों के भी ऊपर जो सांसारिक वासनाओं को नष्ट करने वाली यह अलौकिक ज्योति, अविद्या अंधकार को नष्ट करने वाले सबसे उत्कृष्ट श्रीसाकेतलोक में श्रीसीताराम ब्रह्म के रूप में विरज रही है, वही इस पुरुष के परमेश्वरनिवासरूपहृदय में दीप्त हो रही है। अर्थात् साकेत और हृदयनिकेत की ज्योति में कोई अन्तर नहीं है। 'परः' शब्द ज्योति का विशेषण होने पर भी व्यत्यय से पुल्लिंग में बदल गया है इसीलिए 'सू' को 'अम्' नहीं हुआ। यहाँ 'विश्वतः पृष्ठेषु' शब्द से संसार का ग्रहण और 'सर्वतः पृष्ठेषु' शब्द सभी प्राणियों के अर्थ में प्रयुक्त है यह किसी का अनुवाद नहीं है। 'तम्' शब्द अकारान्त भी है और वह अन्धकार के अर्थ में प्रयुक्त होता है इसीलिए सूर्यनारायण को 'तमारि' कहते हैं।।श्री।।७।।

तस्यैषा दृष्टिर्यत्रैतदस्मिञ्छरीरे सँस्पर्शेनोष्णिमानं विजानाति तस्यैषा श्रुतिर्यत्रैतत्कर्णावपिगृह्य निनदमिव नदथुरिवाग्नेरिव ज्वलत उपश्रृणोति

तदेतद्दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत चक्षुष्यः श्रुतो भवति य एवं वेद य एवं वेद ।।८।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस ज्योति का यह प्रत्यक्ष दर्शन है कि इसी शरीर में सम्यक् स्पर्श के द्वारा व्यक्ति उष्णता को समझ लेता है जो कि ज्योति का ही परिणाम है। कोई भी कान में अंगुली डालकर बैल के गर्जना की भाँति जलते हुए अग्नि के शब्द की भाँति स्पष्ट नाद सुन लेता है। हृदय की ज्योति की सत्ता में यही प्रत्यक्ष प्रमाण है। इस प्रकार जानकर जो हृदयस्थ ज्योतिस्वरूप भगवान् श्रीसीताराम की उपासना करता है, उसके नेत्र परमात्मा के दर्शन में समर्थ हो जाते हैं और उसके श्रवण भगवत्कथाश्रवण में क्षमता प्राप्त कर लेते हैं।।श्री।।८।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर तृतीय अध्याय के त्रयोदश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। चतुर्दशः खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– कारिका भाष्य।

चतुर्वक्त्रसुताराध्यं चतुर्वर्गफलमप्रदम्।
चतुश्शत्रुविनाशाय चतुर्थं ब्रह्म भावये।।१।।

अर्थ– जो चतुर्वक्त्र अर्थात् ब्रह्मा के पुत्र अर्थात् भगवान् शंकर के भी आराध्य है, जो अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष, फल देने वाले हैं, ऐसे तुरीय तत्वरूप श्रीराम की मैं काम, क्रोध, लोभ, मोह इन चारों शत्रुओं के विनाश के लिए भावना करता हूँ।।श्री।।

चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च त्रिभिस्त्रिभिः।
चतुर्भिर्भावितो रामश्चतुर्थो मे हरिर्गतिः।।२।।

अर्थ– जो सनत, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार इन चारों सनकादिकों द्वारा तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चारों वर्णों द्वारा और ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन चारों आश्रमों द्वारा 'भूर्भुवः स्वः' इन तीन लोकों द्वारा, बद्ध, मुक्त, नित्य इन तीन प्रकार के जीवों द्वारा एवं ऋग्, यजुस्, साम, अथर्व इन चार वेदों द्वारा निरन्तर सेवित होते रहते हैं ऐसे तीनों अवस्थाओं से अतीत तुरीयतत्व भगवान् श्रीराम मेरे गन्तव्य लक्ष्य हैं।।श्री।।

चतुर्दश-समारण्य-शरण्यः सीतयाव्रतः।
चातुर्दशवधाभ्यासी चतुरश्चतुरो द्यतु ।।३।।

अर्थ– जिन्होंने चौदह वर्ष पर्यन्त अरण्य निवासियों को ही शरण दिया और जो चतुर्दशी में देखे जाने वाले राक्षसों के बध के अभ्यासी हैं ऐसे श्रीसीता जी के सहित विराजमान चतुर शिरोमणि श्रीराम मेरे काम, क्रोध, लोभ, मोह नामक चारों शत्रुओं को मार डालें।।श्री।।

चतुर्दशेऽस्मिन् शकले चतुर्थं ब्रह्म निष्कलम्।
चातुरी त्वरया रीत्या चतुर्भिर्मन्त्रकैर्नुतम्।।४।।

अर्थ– इस चौदहवें खण्ड में भगवती श्रुति ने अपनी सहज चातुरी की त्वरित रीति से चार मन्त्रों द्वारा चतुर्थ निष्कल ब्रह्म को प्रणाम किया हैं।।श्री।।

भक्ताचार्यस्तु शाण्डिल्यः शाण्डिल्यं स्थण्डिलेशयम्।
सर्वभावनयोपास्यं ब्रह्म रामाभिधं जगौ।।५।।

अर्थ– इस खण्ड में भक्ति के आचार्य महर्षि शाण्डिल्य ने अग्नि के समान तेजस्वी, कुशासन पर शयन करने वाले, सर्वभावों से उपासनीय, परब्रह्म परमेश्वर श्रीराम का ही गान किया है।।श्री।।

तत्र हि प्रथमे मन्त्रे सर्वव्यापकतां विभोः।
प्रतिपाद्य यथाशास्त्रं तदुपास्तिर्विधीयते।।६।।

अर्थ– उस सन्दर्भ में इस चौदहवें खण्ड के प्रथममन्त्र में ही परमेश्वर की सर्वव्यापकता का प्रतिपादन करके भगवती श्रुति द्वारा शास्त्रीय पद्धति से भगवान् की उपासना का ही विधान किया जा रहा है।।श्री।।

त्रिभिर्मन्त्रैः पुनस्तस्य ताटस्थ्येन स्वरूपतः।
लक्षणेनाथ संल्लक्ष्य ब्रह्मोपास्यत्वमीरितम्।।७।।

अर्थ– इसके अनन्तर इस खण्ड के शेष तीन मंत्रों द्वारा ब्रह्म को तटस्थ तथा स्वरूप लक्षणों से लक्षित करके उनकी उपासनीयता ही कही जा रही है।।श्री।।

परमार्थस्तु न ज्ञानं श्रेयसां भक्तिरित्यतः।
ज्ञानानन्तरमप्यस्मात् श्रुतिर्गायत्युपासनाम्।।८।।

अर्थ– क्योंकि परमार्थ ज्ञान नहीं है। भक्ति ही श्रेष्ठ है इसीलिए भगवती श्रुति यहाँ ज्ञान के अनन्तर भी उपासना का ही गान कर रही हैं।।श्री।।

उपासना तु भेदे स्यात् नैवाभेदे कथंचन।
तद्विधित्वादिहानेन ध्वस्तमद्वैतमञ्जसा।।९।।

अर्थ– वह उपासना भेद में ही हो सकती है अभेद में किसी भी प्रकार उपासना नहीं हो सकती। क्योंकि 'आस्' धातु का अर्थ होता है समीप बैठना 'आस उपवेशने'। समीप बैठना अद्वैत में नहीं बन सकता। क्योंकि एक व्यक्ति स्वयं, स्वयं के समीप कैसे बैठेगा? कोई न कोई सामीप्यवान् होगा और उसके पास बैठने वाला कोई दूसरा व्यक्ति अवश्य होगा। तभी उपासना पदार्थ की सिद्धि हो सकेगी। चूँकि श्रुति ने यहाँ उपासना का विधान किया है जो कि भेद में होती है अभेद में कभी नहीं, इसी ब्रह्मास्त्र से अद्वैतवादसिद्धान्त सुगमता से ढह गया।।श्री।।

अद्वैतवाददुर्मर्षकालकूटार्दनं बुधैः।
श्रीराघवकृपाभाष्यपीयूषं पीयतामिह।।१०।।

अर्थ– इस प्रसंग में विद्वानों द्वारा अद्वैतवादरूप दुर्धर्ष कालकूटविष को शान्त करने वाला मेरे द्वारा उपस्थापित श्रीराघवकृपाभाष्यरूप अमृत पिया जाय।

नैव द्वेषो विराधो मे नैव पूर्वाग्रहो मम।
श्रुत्यक्षरविचारोऽत्र विवेकेन विविच्यते।।११।।

अर्थ– यहाँ न तो मेरा किसी से द्वेष है और न ही मेरा किसी से कोई विरोध है तथा न ही मेरा पूर्वाग्रह है, केवल अपने विवेक से इस प्रसंग में श्रुतियों के अक्षरों पर विचार ही किया जा रहा है।।श्री।।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीताथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस खण्ड में महर्षि शाण्डिल्य ने ब्रह्म की सर्वव्यापकता का निरूपण किया है। 'जो कुछ भी यह दृश्यमान जगत् है वह सब निश्चय ही ब्रह्मात्मक है। यह सम्पूर्ण जगत् उन्हीं परमात्मा से जन्म लेता है, उन्हीं में लीन हो जाता है और उन्हीं के द्वारा पालित होता है' ऐसा समझकर सम्पूर्ण इन्द्रियों के प्रपंचों को शांत करके स्वयं शान्तभाव से जगज्जन्मादिकारण रूप परब्रह्म परमेश्वर की उपासना करनी चाहिए। यह पुरुष संकल्पमय है। यह लोक में जिस प्रकार का संकल्प करता है उसी

प्रकार का शरीर प्राप्त करता है और यहाँ से जिस प्रकार का संकल्प करके यह शरीर छोड़ता है पुनर्जन्म में उसी प्रकार का शरीर धारण कर लेता है। इसलिए मनुष्य को सत्संकल्प ही करना चाहिए।

व्याख्या– इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध बहुत प्रसिद्ध है। यद्धपि अद्वैतवादी महानुभाव इसे अपने पक्ष में लगाना चाहते हैं। चूँकि 'सर्वं इदं ब्रह्म' ये तीनों शब्द नपुंसकलिंग प्रथमा एकवचन के प्रतीत होते हैं और सुगमता से यह अर्थ स्पष्ट हो जाता है कि– 'यह सब ब्रह्म ही है'। इस अर्थ में अद्वैतियों का मनोबल बढ़ता है परन्तु यदि स्वस्थ्य मन में श्रुति के अक्षरों पर विचार किया जाता है तो परिस्थिति ठीक इसके विपरीत दीख पड़ती है। क्योंकि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' कहने के पश्चात् भी श्रुति ने अगली पंक्ति में स्पष्ट शब्दों में भेद मूलक उपासना का वर्णन किया। 'तज्जलानि इति शान्तः उपासीत' 'उपासीत' शब्द से स्वयं ही अद्वैतवाद का भ्रम निराकृत हो जाता है। कथचित् स्वयं से स्वयं का भजन तो बन सकता है परन्तु उपासना तो अभेद में कभी हो ही नहीं कसती। क्योंकि त्रिकाल में भी कोई व्यक्ति स्वयं, स्वयं के समीप नहीं बैठ सकता। इसलिए उपासना में उपास्य और उपासक की आवश्यकता होती है। यहाँ 'इदं' शब्द चिदचिदा-त्मकजगत् के अर्थ में प्रयुक्त है और इसे ब्रह्म का विशेषण भी माना जा सकता है। उस पक्ष में 'इ' उपपद तथा 'दो' धातु से 'क' प्रत्यय करके यह शब्द निष्पन्न होगा। 'इम् कामं द्यति इति इदम्' जो कामात्मक संसार का खण्डन करता है उसी को यहाँ इदम् कहा गया। यहाँ 'सर्व' शब्द ब्रह्म का समानाधिकरण है अर्थात् दोनों में ही प्रथमा एकवचन विभक्ति है। इससे शरीरशरीरिभाव से अभिन्नता समझनी चाहिए। क्योंकि सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म का शरीर है। 'जगत् सर्वं शरीरं ते' (वाल्मीकि रा० ६/११७/२७) इसका अर्थ हुआ यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मात्मक है। अथवा यहाँ प्रथमा विभक्ति का 'सु' नहीं प्रत्युत सप्तमी बहुवचन 'सुप्' का ही 'सुपां सुलुक्' (पा०आ० ७/३/३९) सूत्र से 'सु' आदेश पुनः उसको 'अम्' आदेश करके वेद में सर्वेषु के स्थान पर सर्वं का प्रयोग हुआ है। यहाँ सप्तमी औपश्लेषिकी है और अभिव्यापक भी। सर्वेषु के स्थान पर आये हुए सर्वं का अर्थ होगा कि– सभी चारचर प्राणियों में ब्रह्म व्याप्त है और सभी जीवों को औपश्लिष्ट करके अन्तर्यामीरूप से ब्रह्म विराजमान है। अर्थात् 'गुरौ वसति' की भाँति यहाँ भी सामीप्य में सप्तमी स्वीकारी जायेगी। ब्रह्म सबके समीप है। वह सबसे चिपका हुआ है। वह तिल में तेल की भाँति, दही में घी की भाँति व्यापक होने के कारण सबमें व्याप्त है। यथा–

हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना।।
देश काल दिशिविदिसहुँ माँही। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं।।

-(मानस- १/१८५/५,६)

यदि कहें कि अम् तो प्रथमाविभक्ति 'सु' के स्थान पर होता है सुप् के स्थान पर आये हुए 'सु' को 'अम्' आदेश कैसे होगा ? तो इसका उत्तर यह है- 'अतोऽम्' सूत्र नपुंसकलिंग में 'अदन्त' प्रकृतिक 'सु' तथा 'अम्' के स्थान में 'अम्' आदेश करता है। परन्तु उसके लिए यह राजाज्ञा नहीं है कि उसे 'सु' विभक्ति को 'अम्' आदेश करना चाहिए।।श्री।।

यदि कहें कि 'अम्' विभक्ति के साहचर्य से यहाँ 'सु' विभक्ति ही ली जायेगी तो यहाँ स्थानिवद्भाव से विभक्तित्व आ जायेगा। यदि कहें कि यहां 'अनल्विधौ' निषेध लग जायेगा, तो इसका उत्तर यह है कि- यहाँ अल्विधि नहीं है यहाँ तो समुदायनिष्ठ विभक्ति का आरोप किया जा रहा है। जैसे रामाय शब्द में 'ङेनिष्ठ' 'सुप्त्व' का आरोप करके दीर्घ किया गया। इसीलिए पाणिनि ने 'कष्टाय क्रमणे' सूत्र का प्रयोग किया।।श्री।।

यदि कहें कि सर्वेषु ब्रह्म के स्थान पर सर्वं ब्रह्म के प्रयोग में क्या प्रमाण हैं ? तो हम कहेंगे कि- यहाँ श्रौत, स्मार्त और आप्तवचन तीनों प्रमाण हैं जैसे- एष सर्वेषु भूतेषु गुढोऽत्मा न प्रकाशते, दृश्यते त्वग्र्या बुध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः (कठ० १/३/१२) अर्थात् इन परमात्मा ने सम्पूर्ण प्राणियों में अपने स्वरूप को छिपा रखा है इसलिए वे प्रकाशित नहीं होते। वे तो सूक्ष्मद्रष्टा महानुभावों द्वारा सूक्ष्म परमार्थपथ में अग्रसर बुद्धिमय नेत्र से देखे जाते हें। इसी प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद् में 'तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिः' शब्द कहकर श्रुति ने परमात्मा की अभिव्यापकता भी सिद्ध की है। इसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता जी में भी भगवान् ने पाँच बार सप्तमी एकवचन का प्रयोग करके सबमें भगवान् की व्यपकता सिद्ध की, नहीं तो वे भी ब्रह्म के समानाधिकरण प्रथमा विभक्ति का प्रयोग कर देते। यथा-

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।

(गीता- ५/१८)

अर्थात् विद्या और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण में, वात्सल्यवती गौ में, स्थूलाकृति हाथी में, कुत्ते में एवं चाण्डाल में पंडित लोग ब्रह्म के ही दर्शन

करते हैं। इसलिए ब्रह्मादि को भी बढ़ाने वाले, निरतिशय वर्धनशील, सबसे बृहत् परमात्मा सम्पूर्ण चरों तथा अचरों में व्याप्त हैं। 'खलु' का तात्पर्य है निश्चय से, अर्थात् भगवान् की व्यापकता में कोई अनिश्चय नहीं है और न ही किसी को संदेह है। अत: वे उपासनीय हैं। परन्तु उनका लक्षण क्या है? क्योंकि लक्षण तथा प्रमाण से वस्तु की सिद्धि होती है। यद्यपि ब्रह्म स्वयं सिद्ध है तथापि नास्तिकों के संतोषार्थ 'स्व' के आनन्द हेतु श्रुति ने अतिसंक्षिप्तरूप में यहाँ लक्षण भी किया है। 'तज्जलानि' यहां व्युत्पत्ति बहुत कठिन है तथापि श्रीराघवसरकार की कृपा से प्रस्तुत की जाती है– 'तस्मात् जायते इति तज्जम् तस्मिल्लीयते इति तल्लम् तेन अनिति इति तदनम्। जिनसे भगवान् जन्म लेते हैं उन्हें 'तज्ज' कहा जाता है, जिनमें लीन होते हैं उनहें 'तल्ल' कहा जाता है और जिनसे जीवित रहते हैं उन्हें 'तद्न' कहा जाता है। अब इन तीनों का एक शेष करके 'तज्जलानि' शब्द बनेगा। एकशेष की सूत्रकार तथा वार्तिककार ने दो व्यवस्थायें दी हैं। सूत्रकार के मत में एक ही विभक्ति में वर्तमान समानरूप वाले शब्दों में से एक ही शिष्ट रहता है और सभी का लोप हो जाता है। जैसे– रामश्च रामश्च रामश्च रामा: 'स्वरुपाणामेकशेष एक विभक्तौ' (पा०अ० १/२/६५)। वार्तिककार के मत में विरुद्ध आकार वाले शब्दों का भी एक शेष होता है यदि वे समानार्थक हों। 'विरूपाणामपि समानार्थानां' (कात्यायन वार्तिक) जैसे 'घटस्व कलशश्च कलशौ' संयोग से यहाँ तज्ज, तल्ल और तदन ये तीनों शब्द न तो सारूप है और न ही समानार्थक विरूप ही। अत: यहाँ सूत्र और वार्तिक दोनों मतों से एकशेष सम्भव नहीं है। अतएव 'बहुलम् छन्दसि' से केवल 'तत्' शब्द का एक शेष होगा। भगवान् जगत् के जनम, पालन और प्रलय के कारण है 'जन्माद्यस्य: यत:' (ब्रह्म सूत्र १/१/२)। तैतरीयोपनिषद् के ब्रह्मानन्द बल्ली में स्पष्ट कहा गया है कि– 'जिससे प्राणी होते हैं जिसकी कृपा से जीवित रहते हैं और जिसमें जाकर प्रवेश कंर जाते हैं वही ब्रह्म है उसी की जिज्ञासा करो'। इस प्रकार ब्रह्म को जगज्जन्मादिकारण जानकर शान्त मन से उसकी उपासना करनी चाहिए। वेद में क्रतु का संकल्प भी अर्थ होता है। यह पुरुष संकल्पमय है। मरणकाल में जैसा संकल्प होता है शरीर वैसा हो जाता है। जैसा कि भगवद्गीता में भगवान् कहते हैं– हे अर्जुन! अन्तकाल में जो मुझ सगुणसाकार ब्रह्म का स्मरण करता हुआ शरीर छोड़कर प्रयाण करता है वह मेरे भाव को प्राप्त होता है

इसमें कोई संशय नहीं है। क्योंकि मृत्यु के समय जिस-जिस भाव का समरण करता हुआ व्यक्ति शरीर छोड़ता है सदैव उसी भाव से भावित हुआ वह व्यक्ति उसी-उसी भाव को प्राप्त कर लेता है इसलिए सदैव सत् संकल्प ही करना चाहिए।।श्री।।१।।

संगति– अब भगवती श्रुति उपास्य के स्वरूप को बारह विशेषणों से व्याख्यायित करती है।।श्री।।

मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– वे परमात्मा मनोमय हैं, मन के जैसे सूक्ष्म हैं, प्राण अर्थात् ओंकार ही उनका शरीर है, प्रकाश ही उनका रूप है, सत्य ही उनका संकल्प है, आकाश के समान निर्मल उनका स्वरूप है और आकाश के ही समान उनके शरीर का वर्ण भी नीला है, सभी कामनायें उन परमात्मा के लिए है, सभी श्रुतिविहित कर्म उन्हीं परमेश्वर को प्राप्त करने के लिए किये जाते हैं, वे सबके द्वारा कमनीय है, सभी गन्ध अर्थात् संसार के सारे सम्बन्ध और सारी सुगन्धियाँ उन्हीं में हैं, सभी स्वाद परमात्मा में हैं और परमेश्वर सबके सारभूत हैं और समस्त जीवात्माओं का राग भी परमात्मा में है। ऐसे परमात्मा इस सम्पूर्ण चराचर संसार को अपने में समेट कर विराज रहे हैं। प्रभु वाणी के विषय नहीं हैं। संसार का सम्मान उन्हें संतुष्ट नहीं कर सकता, उन्हें महाकाल से भी किंचिद् भय नहीं है।।श्री।।२।।

व्याख्या– यहाँ परमविख्यातपौरुष परमात्मा के प्रति भगवती श्रुति बारह विशेषण समर्पित करती है–

१. मनोमयः– भगवान् मन के समान सूक्ष्म हैं। यदि कहें कि कठोपनिषद् में तो भगवान् को अप्राण और अमनाः कहा गया है तो फिर वे मनोमय कैसे ? तो इसका उत्तर ये हैं कि– कठोपनिषद् में अमनाः का अभिप्राय है कि भगवान् के पास प्राकृत मन और प्राण नहीं होते। पर भगवान् को मनस्वरूप कहने में कोई आपत्ति नहीं है। गीता जी में मन को भगवान् की विभूति कहा गया है। इन्द्रियांणां मनश्चस्मि (गीता १०/२१) इन्द्रियों में मन मैं हूँ। मन एव मनोमयः यहाँ चिन्मयं की भाँति स्वरूपार्थ में मयट् प्रत्यय हुआ और परमात्मा का विशेषण होने से पुल्लिंग हो गया। अथवा अपूपमयं

की भाँति अधिकरण में मयट् प्रत्यय है अर्थात् कोटि-कोटि भक्तों के मनरूप भ्रमर परमेश्वर के गुण कमलों के ऊपर मड़राते रहते हैं। इसलिए एक भक्त ने भगवान् से कहा–

रत्नाकरस्तव गृहं गृहिणी च पद्मा
कि देयमस्ति भवते जगदीश्वराय।
अभीरवामनयनाहृतमानसाय
दत्तं मनो यदुपते कृपया गृहाण।।

इसका हिन्दी रूपान्तर–

मानिक रत्न अपार अगार कुपार मनोहर धाम तुम्हारो।
सिन्धु सुता पद पंकज सेवति जाके न सम्पति को कछु पारो।
देव मैं काह तुम्हें यदुनायक लाज मर्‌यों नित जात विचारो।
राधा हरीमन माधव रावरो हो अमना मन लेहु हमारो।।

अथवा मनोमयशब्द तद्धितान्त नहीं प्रत्युत कृदन्त है। 'गत्यर्था ज्ञानार्थाः' सिद्धान्त से गमनार्थक मय धातु ज्ञानार्थक भी है। 'मनसा मयति जानाति इति मनोमयः' भगवान् अपने संकल्प से ही सब कुछ जान लेते हैं। इसलिए मुण्डकश्रुति ने (१/१/९) में भगवान् को सर्वज्ञ कहा और विष्णुपुराण में भी सर्वज्ञता के आधार पर ही परमेश्वर को भगवान् संज्ञा दी गयी। पराशर मैत्रेयी से कहते हैं कि– जो जीवों को उत्पत्ति, विनाश, गति, अगति, विद्या और अविद्या को जानते हैं वे सर्वशिरोमणि परमात्मा ही भगवान् कहे जाते हैं। अथवा 'मय' धातु का गमन अर्थ ही माना जाय तो भी आपत्ति नहीं है। 'मनांसि मयति इति मनोमयः' जो भक्तों के मनमंदिर में पधार जाते हैं वे प्रभु मनोमय हैं।।श्री।।

स्वामि सखा गुरु मात पितु जिनके सब तुम तात।
मन मंदिर तिनके बसहु सीय सहित दोउ भ्रात।।

–(मानस- २/१३०)

'मनसा स्मृतः मयति मन इव मयति वा इति मनोमयः' भक्त के मन से स्मरण करने मात्र से भगवान् मन की जैसी गति से उसके पास पहुँच जाते हैं। जैसे– गजेन्द्र द्वारा मन से स्मरण करने पर उसे ग्राह से पीड़ित देखकर मनोमय गरुड का निर्माण करके सुदर्शन चक्र लेकर गजेन्द्र के पास तुरन्त चले गये। यथा–

तं तद्वदार्त्तमुपलभ्य जगन्निवासः
स्तोत्रं निशम्य दिविजैः सह संस्तुवद्भिः ।
छन्दोमयेन गरुडेन समुह्यमानश्
चक्रायुधोऽभ्यगमदाशु यतो गजेन्द्रः ।।

-(भा० ८/३/३१)

अथवा 'मनसा मीयते इति मनोमयः' भगवान् के मन से ही दर्शन किये जा सकते हैं। श्रुति कहती है- 'मनसैवानुद्रष्टव्यं' भगवान् मन से ही प्रमित होते हैं ।।श्री।।

२. प्राणशरीरः- प्राणों का प्राण जीवात्मा ही भगवान् का शरीर है। शतपथब्राह्मण के चौदहवें मंत्र में कहा गया है 'यस्यात्माशरीरम्'। अथवा प्राण का प्रणव भी अर्थ है। कोष में प्राण के दोनों अर्थ कहे भी गये हैं। 'प्राणश्च प्रणवे प्राणे' वही ओंकार ही परमात्मा का शरीर है क्योंकि वह उनका वाचक है- तस्य वाचकः प्रणवः ।।श्री।।

३. भारूपः- प्रकाश ही भगवान् का रूप है। यथा-

सहज प्रकाश रूप भगवाना । नहि तहँ पुनि विज्ञान विहाना ।।

-(मा० १/११६/७)

अथवा भगवान् की भक्ति ही 'भा' है और उसके द्वारा भगवान् बोधित होते हैं। गीता (११/५४) में अर्जुन से भगवान् कहते हैं- मैं अनन्य भक्ति से जाना जा सकता हूँ, देखा जा सकता हूँ और तत्वतः प्रवेश का विषय बन सकता हूँ। इसी प्रकार गीता (१८/५५) में प्रभु सिद्धान्तरूप में स्वीकार करते हैं कि- मैं जो हूँ, जितना हूँ, सम्पूर्ण रूप से जीव मुझे भक्तिरूप से ही जान सकता है ।।श्री।।

४. सत्यसंकल्पः- भगवान् का संकल्प सत्य होता है। अथवा भगवान् का संकल्प संतों के लिए हितैषी होता है। 'सद्भयो हितः सत्यः'। श्री मानस में विभीषण भी कहते हैं- 'राम सत्य संकल्प प्रभु।'

५. आकाशात्मा- यहाँ 'आत्मा' शब्द स्वरूप और स्वभाव दोनों अर्थों में प्रयुक्त है। भगवान् आकाश के समान नीले हैं और जैसे आकाश में नीले मेघ उसी प्रकार भगवान् के आभूषण विराजते हैं। जिस प्रकार आकाश मे चन्द्रमा प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार भगवान् का मुख भी चन्द्र जैसा प्रकाशित होता है।

६. सर्वकर्मा– सभी श्रुतिविहित कर्म भगवान् के लिए किये जाते हैं और भगवान् के द्वारा किये जाते हैं। गीता (३/२२) में भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि यद्यपि तीनों लोकों में मेरे लिए कुछ भी करणीय नहीं है और कोई भी वस्तु मेरे लिए प्राप्तव्य नहीं है फिर भी मैं कर्म ही वर्तता हूँ।।श्री।।

७. सर्वकामः– सभी लोग भगवान् की ही कामना करते हैं और सभी कामनायें भगवान् में ही निहित होती है। उज्जवलनीलमणिकार ने 'काम' का प्रेम अर्थ भी माना है। इस दृष्टि से सर्वकामः का अर्थ होगा 'जिसमें सब का प्रेम हो' परमात्मा सबके प्रेमास्पद हैं। यथा–

अस को जीव जन्तु जगमाँही। जेहि रघुनाथ प्रान प्रिय नाही।।

(मा० २/१६३/७)

८. सर्वगन्धा– सभी सुगन्ध पदार्थ भगवान् में ही होते हैं। यदि गन्ध का अर्थ सम्बन्ध माना जाय तब अर्थ बदल जायेगा। 'सर्वे गन्धाः सम्बन्धाः यस्मिन्' अर्थात् परमात्मा में ही सारे सम्बन्ध निहित होते हैं।।श्री।।

या जग में जहँ लगि अपने की प्रीति प्रतीत सगाई।
ते सब तुलसिदास प्रभुहि सो सिमिटि होउ एक ठाँही।।

(वि०प०– १०३)

९. सर्वरसः– यहाँ रस शब्द के चार अर्थ विवक्षित हैं। 'रसो रसे, रसो सारे, रसो रागे, रसो जले' इन चारों अर्थों का इस मंत्र में समन्वय है। सभी रस अर्थात् स्वाद भगवान् में ही है क्योंकि वह स्वयं रसरूप है। भगवान् सबके सारभूत हैं और भगवान् में सबका राग होता है तथा भगवान् की ही सत्ता से मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त ये छहों रस एवं शृंगार, हास, वीर, बीभत्स, करुण, शान्त, रौद्र, भयानक, अद्भुत, सख्य, वात्सल्य, भक्ति ये सभी बारह काव्यरस भी परमात्मा में ही हैं। इसीलिए भागवत (१०/४३/१७) में भगवान् वेदव्यास ने एक ही श्लोक में सभी रसों की अवतारणा की है। यथा–

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्।
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्वं परं योगिनां।
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः।।

अर्थ– जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण बलराम जी के साथ रंगभूमि में पधारे उस समय पहलवानों को वज्रकठोर शरीर, साधारण मनुष्यों को नर-रत्न, स्त्रियों को मूर्तिमान् कामदेव, गोपों को स्वजन, दुष्ट राजाओं को दण्डदेने वाले शासक, माता-पिता के समान बूढ़े-बूढ़ों को शिशु, कंस को मृत्यु, अज्ञानियों को विराट्, योगियों को परमतत्व और भक्ति शिरोमणि वृष्णिवंशियों को अपने इष्ट देव जान पड़े। (सबने अपने-अपने भावानुरूप क्रमशः रौद्र, अद्भुत, शृंगार, हास्य, वीर, वात्सल्य, भयानक, बीभत्स, शान्त और प्रेमभक्ति रस का अनुभव किया)।।श्री।।

१०. सर्वमभ्यातः– अर्थात् भगवान् अपनी महिमा से सबको व्याप्त किये हैं। गीता (१०/४२) में **श्रीमुख के वचन हैं कि मैं अपने एक अंश से सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करके स्थित हूँ।**श्री।।

११. अवाकी– वाणी को वैदिकवाङ्मय से वाक् कहते हैं। प्रशस्त वाक् जिसमें हो वही वाकी है। भगवान् को अवाकी कहा गया क्योंकि अपने बल पर वाणी भगवान् का निर्वचन नहीं कर सकती। वह जड़ है और भगवान् विशुद्ध चेतन। तैंतरीयोपनिषद् में श्रुति ने आज्ञा की है– 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'।।श्री।।

१२. अनादरः– 'अपरितोषतः आदरः यस्य सः अनादरः' भगवान् किसी के आदर से सन्तुष्ट नहीं होते, नहीं तो दुर्योधन के मेवे छोड़कर विदुरजी के यहाँ केले के छिलके क्यों खाते? 'दुर्योधन घर मेवा त्यागे, साग विदुर घर खाये।' अथवा संस्कृत में भय को दर कहते हैं 'अ' शब्द का अर्थ होता है थोड़ा। भगवान् को आदर अर्थात् किसी से थोड़ा भी भय नहीं है इसीलिए उन्हें अनादर कहा गया। क्योंकि भगवान् के भय से ही सूर्य, अग्नि, वायु, इन्द्र और मृत्यु भी डरते हैं।।श्री।।२।।

संगति– अब इस मन्त्र में परमात्मा का अणुत्व और ज्यायस्त्व तथा विरुद्धधर्मद्वयाश्रवत्व इन तीन विशेषताओं का निरूपण करते हैं।।श्री।।

एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा एष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्त-रिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– मेरे हृदय में वर्तमान यह परमात्मा व्रीहि अर्थात् धान्य से भी अणु हैं, जौ से भी अणु हैं, सरसों से भी अणु हैं, सावे

से भी अणु हैं और सावें के चावल से भी अणु हैं। यह मेरे हृदय में वर्तमान परमात्मा पृथ्वी से भी श्रेष्ठ हैं, अन्तरिक्ष से भी श्रेष्ठ हैं, स्वर्गलोक से भी श्रेष्ठ हैं और इन लोकों से भी श्रेष्ठ हैं ।।श्री।।

व्याख्या– भगवान् सकलविरुद्धाश्रयतावच्छेदकतावान् हैं। इसलिए वे भक्तों के लिए अणु से अणु हैं और ज्ञानियों के लिए महान् से महान् हैं। अब यहाँ एक व्याख्या और प्रस्तुत की जा रही है जो संस्कृत भाष्य लिखते समय मन में नहीं स्फुरित हुई थी ।।श्री।।

इस प्रसंग में दो बार 'एष' शब्द का प्रयोग तथा 'म आत्मा' और 'अन्तर्हृदय' शब्द का भी दो-दो बार प्रयोग किया गया है। इससे यह सिद्धान्तित हुआ कि प्रथम प्रयुक्त 'आत्मा' शब्द जीवात्मा के लिए और द्वितीय 'आत्मा' शब्द परमात्मा के लिए अभिप्रेत है। दोनों ही इस जीव के अर्न्तहृदय में रहते हैं। जीवात्मा स्वामी के रूप में और अन्तरात्मा अन्तर्यामी के रूप में। जीवात्मा पंचकोषावच्छिन्न होने से पाँच वस्तुओं से अणु है एवं परमात्मा नाम, रूप, लीला, धाम इन चार विग्रहों से युक्त होने से चार से श्रेष्ठ है। इस मंत्र में दो बार 'एष' शब्द का प्रयोग करके जीवात्मा और परमात्मा का स्पष्ट भेद कहा गया है। जीवात्मा का अणुत्व और परमात्मा का व्यापकत्व भी भलीभाँति सिद्ध किया गया है ।।श्री।।३।।

संगति– फिर सगुणब्रह्म की उपासना की स्तुति करते हैं ।।श्री।।

सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर एष म आत्मान्तर्हृदय एतद्ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मीति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्तीति ह स्माह शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो सम्पूर्ण कर्मों के आश्रय और सभी कामनाओं के आस्पद हैं, जिनमें सभी गन्ध और सभी रस विलीन हो जाते हैं, जो इस संसार को व्याप्त किये हुए हैं, जो वचन से अगोचर और निर्भय हैं, वही मेरे हृदय में वर्तमान परमात्मा हैं, वही ब्रह्म हैं, इस शरीर को छोड़कर मैं उनहीं को प्राप्त करूँगा। जिस साधक को आश्चर्य और संदेह नहीं हो उसको भी इसी प्रकार का ब्रह्मानुभव होता है। इस प्रकार भक्ति के आचार्य महर्षि शाण्डिल्य ने कहा था ।।श्री।।४।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर तृतीय अध्याय के चर्तुदश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। पञ्चदश खण्ड ।।

इस प्रकार चौदहवें खण्ड में सर्वकर्मादि शब्दों से परमात्मा के जगज्जन्मादिकारणत्व निरतिशयकल्याणगुणगणैकनिलयत्व तथा सगुणसाकारत्व का शाण्डिल्य के मुख से निरूपण कराकर पन्द्रहवें खण्ड में भगवती श्रुति विराट उपासना का प्रस्ताव करती है जिससे साधक के कुल में वीरपुरुष का जन्म हो और उसे दीर्घ आयु की प्राप्ति हो ।।श्री।।

अन्तरिक्षोदरः कोशो भूमिबुघ्नो न जीर्यति दिशो ह्यस्य स्रक्तयो द्यौरस्योत्तरं बिल ँ् स एष कोशो वसुधानस्तस्मिन् विश्वमिद ँ् श्रितम् ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब भगवान् के विराट रूप का वर्णन करते हैं। अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश ही जिसका उदर अर्थात् नाभि प्रदेश है और पृथ्वी ही जिसका मूल अर्थात् चरण है, जो कभी जीर्ण नहीं होता, दिशायें जिसके कोने हैं और ईश्वर पक्ष में कर्णरन्ध्र हैं और स्वर्ग ही जिसका उत्तरछिद्ररूप मस्तक है। ऐसा परमात्मा एक अपूर्व कोष है जिसमें निरस्तगुण-हेय, प्रत्यनीक, सौजन्य, सौशील्य, वात्सल्य, तारुण्य, कारुण्य, गाम्भीर्य, स्थैर्य, सौन्दर्य, माधुर्य, औदार्य, मांगल्य, आर्जव, मार्दव, गौरव, वैभव, दया, दाक्षिण्य, प्रभृति समस्त निरुपद्रव, निरतिशय निर्दोष, निःशेष कल्याण गुणगण धन के रूप में विराजते हैं। जिन परमात्मा में समस्त संसार आश्रित है ।।श्री।।

व्याख्या– यहाँ परमात्मा के उदर के रूप में अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश को माना गया है। क्योंकि यजुः श्रुति ने भगवान् के नाभिप्रदेश से अन्तरिक्ष की उत्पत्ति मानी है और दूसरे पक्ष में व्यधिकरण बहुव्रीहि करने पर 'अन्तरिक्षं उदरो यस्य सः अन्तरिक्षोदरः' अर्थात् जिसके उदर से अन्तरिक्ष का जन्म हुआ है वे ही भगवान् अन्तरिक्षोदर हैं। यदि कहें कि व्यधिकरण बहुव्रीहि का क्या प्रमाण है ? तो 'सप्तमी विशेषेण बहुव्रीहौ' सूत्र में सप्तमी ग्रहण ही व्यधिकरण-बहुव्रीहि का प्रमाण है।इसी प्रकार भूमिबुध्नः यहाँ बुध्न शब्द मूलवाचक है। भूमि ही विराटपुरुष का चरणरूप मूल है। यहाँ पर भी पूर्ववत् व्यधिकरणबहुव्रीहि करना चाहिए अर्थात् 'भूमिः बुध्नात् यस्य सः भूमिबुध्नः' अर्थात् भूमि जिसके बुध्न अर्थात् चरण से प्रकट हुई है वह परमात्मा भूमिबुध्न हैं। इसीलिए श्रुति ने कहा– 'पद्भ्यां भूमिः'। दिशायें स्रक्ति अर्थात् कोशपक्ष में छिद्र के कोने और विराटपक्ष में कर्ण के छिद्र हैं। 'स्रक्ति' शब्द छिद्र और कोने दोनों अर्थों में प्रयुक्त है। यह कभी नष्ट नहीं होता। वह यह कोष वसुधान है, अतः

सभी गुणरूप धन उसी में रहते हैं। अथवा 'वसु दधाति' इति वसुधानः। भक्तवात्सल्यरूप वसु को यह पालता और पोषता है। अथवा 'वसुधां आनयति इति वसुधानः'। यह हिरण्याक्ष द्वारा पाताललोक में ले जायी गयी पृथ्वी को वाराहरूप धारण कर ले आये इसलिए यह वसुधान हैं। अथवा बलि द्वारा वशीकृत वसुधा को वामनरूप धारण कर भगवान् ले आये और इन्द्र को दे दिया इसलिए भी वे वसुधान हैं। अथवा धनुष तोड़कर वसुधासुता सीता जी को ले जाये इसलिए वसुधान है। यहाँ सुताशब्द का लोप हुआ है। अथवा 'वसुधासुतां आनयति' अर्थात् इन्हीं के रामनामामृत से श्रीसीता जी का जीवन है। जैसाकि मानस में हनुमान् जी कहते हैं। यथा–

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जन्त्रित, प्रान जाहि केहि बाट।।

(मानस- ५/३०)

उन्हीं परमात्मा में सारा संसार व्याप्त है। इस मन्त्र में स्वर्गलोक को उत्तरछिद्र कहा गया है और वही परमात्मा के पक्ष में शिरोमय है जिसे इस मन्त्र में उत्तरबिलशब्द से चर्चित किया गया है। इसलिए मन्त्र वर्णन में 'शीष्णो द्यौः समवर्तत' कहा गया है। मानस जी में श्रीतुलसीदास जी भी कहते हैं–

पद पाताल सीस अजधामा। अखिल लोक अंग विश्रामा।।

(मानस- ६/१५/१)

संगति– अब भगवान् के श्रोत्ररूप दिशाओं का विभाग कहते हैं।।श्री।।

तस्य प्राचीदिग्जुहूर्नाम सहमाना नाम दक्षिणा राज्ञी नाम प्रतीची सुभूता नामोदीची तासां वायुर्वत्सः स य एतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्ररोद ँ् रोदिति सोऽहमेतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद मा पुत्ररोद ँ् रुदम्।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– मन्त्र वर्ण में 'दिशः श्रोत्रात्' कहा गया अर्थात् भगवान् के श्रवण से दिशायें निकली इसलिए उन्हें इस ब्रह्मकोश का अवान्तर छिद्र अर्थात् कोना और विराट्पक्ष में भगवान् का श्रवण कहा गया। पूर्व दिशा का 'जुहू' नाम है, क्योंकि पूर्वाभिमुख होकर हवन करते हैं और ब्रह्म का आवाहन भी करते हैं। इसी प्रकार दक्षिण दिशा का नाम 'सहमाना' है क्योंकि मध्याह्न में सूर्य के दक्षिण ओर हो जाने पर सभी को उनकी प्रचण्ड धूप सहनी पड़ती है। पश्चिम दिशा 'राज्ञी' नाम से जानी

जाती है क्योंकि यह जलाधिपति वरुण की रानी है और सायंकालीन अरुण किरणें इसी दिशा को अभिरक्त करतीं हैं। उत्तरदिशा का नाम 'सुभूता' है। इसी दिशा में भगवान् राम का अविर्भाव हुआ–

जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि। उत्तर दिशि बह सरयूपावनि।।

(मानस-७/३,४,५)

इस प्रकार जुहु पूर्वदिशा, सहमाना दक्षिणदिशा, राज्ञी पश्चिमदिशा तथा सुभूता उत्तरदिशा कही गयी। पूर्व दिशा को 'जुहु' कहने के दो पौराणिक कारण भी हैं। वेदव्यास जी ने देवकी जी तथा तुलसीदास जी ने कौसल्या जी को पूर्वदिशा की उपमा दी है। यथा–

देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः।
आविरासीत् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः।।

(भागवत-१०/३/९)

श्री मानस (१/१६/४/५) में भी–

बंदऊ कौसल्या दिशि प्राची। कीरति जासु सकल जगमाची।।
प्रगटेउ जहँ रघुपति ससि चारु। विश्वसुखद खल कमल तुषारु।।

वायु ही इन दिशाओं का वत्स है। जो इस प्रकार जानता है वह पुत्र विषयक क्रन्दन नहीं करता। ऋषि कहते हैं कि– मैं ही चारो दिशाओं को वायु सहित जानता हूँ। इसलिए मैं पुत्रविषयक क्रन्दन नहीं करता अर्थात् मेरे सामने कभी मेरे पुत्रों की मृत्यु नहीं हुई।।श्री।।२।।

संगति– अब पाँच मंत्रों से प्राण आदि की प्रपत्ति का लक्षण कहते हैं।

अरिष्टं कोशं प्रपद्येऽमुनामुनामुना प्राणं प्रपद्येऽमुनामुनामुना भूः प्रपद्येऽमुनामुनामुना भुवः प्रपद्येऽमुनामुनामुना स्वः प्रपद्येऽमुनामुना-मुना।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– मैं अरिष्ट अर्थात् सकल मङ्गलमयकोश परमात्मा को ही जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में अमुना अर्थात् पुत्र के जीवन हेतु प्रपन्न हो रहा हूँ। उसी प्रकार अपने विद्यासम्बन्धी पुत्र के हेतु प्राण की शरणागति ले रहा हूँ और मैं अपने पालित पुत्र के जीवन के लिए भूर्लोकरूप परमात्मा की शरण ले रहा हूँ। मैं अपने वात्सल्यभाजन

को स्वस्थ्य करने के लिए भुवर्लोकात्मक परमात्मा की शरण में जा रहा हूँ। मैं अपने उपनीत पुत्र की जीवन रक्षा के लिए स्वर्लोक विग्रह परमात्मा की शरण ले रहा हूँ। यहाँ एक और व्याख्या की जा सकती है- भगवान् पर, विभव, व्यूह, अन्तर्यामी तथा अर्चा भेद से पाँच रूपों में भजनीय होते हैं। इनहीं को यहाँ क्रम से अरिष्टकोश, प्राण, भूः, भुवः, स्वः इन पाँच नामों से स्मरण किया गया है और तीन बार 'अमुना शब्द का अर्थ है मनसा, वाचा, कर्मणा शरणागति ।।श्री।।३।।

संगति- अब चार मन्त्रों से श्रुति प्रपत्ति के चार कर्मों की व्याख्या करती है।

स यदवोचं प्राणं प्रपद्य इति प्राणो वा इदँ सर्वं भूतं यदिदं किंच तमेव तत्प्रापत्सि ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ- मैंने पूर्व मन्त्र में जो यह कहा कि- मैं प्राण की शरण में हूँ, इसका तात्पर्य यह है- यहाँ जो कुछ है वह प्राण का ही परिणाम है। इसलिए मैंने प्राण की ही शरण ली है ।।श्री।।

व्याख्या- इस मंत्र में 'प्राण' शब्द परमात्मा परक है इसीलिए ब्रह्मसूत्र (१/१/२४) में वेदव्यास जी ने कहा 'अत एव प्राणः'। केनोपनिषद् में भी 'स उ प्राणस्य प्राणः' कहकर श्रुति ने भी परमात्मा के अर्थ में ही 'प्राण' को सिद्धान्तित किया है ।।श्री।।४।।

अथ यदवोचं भूः प्रपद्य इति पृथिवीं प्रपद्येऽन्तरिक्षं प्रपद्ये दिवं प्रपद्ये इत्येव तदवोचम् ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ- जो मैंने पूर्व मन्त्र में यह कहा था कि- 'मैं भूः को प्रपन्न हूँ' वहाँ मैंने उपलक्षण की विधि से पृथ्वी, अनतरिक्ष और स्वर्ग की प्रपत्ति कही थी, क्योंकि तीनों भगवद्रूप हैं ।।श्री।।५।।

अथ यदवोचं भुवः प्रपद्य इत्यग्निं प्रपद्ये वायुं प्रपद्य आदित्यं प्रपद्य इत्येव तदवोचम् ।।६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ- जो मैंने भुर्लोक की प्रपत्ति कही थी, वहाँ भी मैंने अग्नि, वायु और आदित्य की ही प्रपत्ति कही थी, क्योंकि ये तीनों ही भगवद्विभूतियाँ हैं ।।श्री।।६।।

अथ यदवोचँ स्वः प्रपद्य इत्यृग्वेदं प्रपद्ये यजुर्वेदं प्रपद्ये सामवेदं प्रपद्य इत्येव तदवोचं तदवोचम् ।।७।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो मैंने कहा था कि– 'मैं स्वरलोक को प्रपन्न हूँ' वहाँ भी मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद की प्रपत्ति कही थी, क्योंकि ये तीनों भगवान् के नि:श्वास है ।।श्री।।७।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर तृतीय अध्याय के पञ्चदश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। षोडश खण्ड ।।

सम्बन्ध– अब अपनी दीर्घायुष्ट्व की प्राप्ति के लिए भगवती श्रुति यज्ञ की प्रतीक विद्या से आत्मा के आराधन का उपदेश करती है। जीव भगवान् का दास है। भगवत्कैंकर्य ही उसका सहज स्वरूप है। यदि वह अल्पायु होगा तो वह भगवान् की सेवा नहीं कर सकेगा। क्योंकि शरीर पविर्तन में जितने दिनों तक गर्भवास और बाल्यावस्था रहेगी उतने काल पर्यन्त तो भगवान् की सेवा छूट ही जायेगी और दूसरी बात यह है कि कोई भी यह आस्वास्ति नहीं दिला सकता कि उसकी पूर्वजन्म की स्मृति पुनर्जन्म में यथावत रहेगी। जन्म और मरण के समय इतना भयंकर दुख होता है कि उसमें जीव के पूर्व संस्कार, पूर्व स्मृतियाँ और पूर्वानुभव भस्मसात् हो जाते हैं। हाँ जातस्मरण अर्थात् पूर्वजन्म की स्मृति से युक्त महामुभाव होते हैं पर गिने चुने इसीलिए बहुत से लोग पुनर्जन्म पर विश्वास भी नहीं करते। जो करते भी हैं वे दृढ़ नहीं कर पाते। यद्यपि पुनर्जन्म है और उसके सम्बन्ध में बहुतेरी प्रत्यक्ष घटनाएँ प्रमाण हैं। जिन पर परमेश्वर की अहैतुकी कृपा हो जाती है, उन्हें पूर्वजन्म की घटनाओं का स्मरण रहता है। इन्हीं सब आशंकाओं को ध्यान में रखते हुए श्रीभुसुण्डि जी ने इच्छामृत्यु के आधार पर विगत सत्ताइस कल्पों से अपना शरीर ही नहीं छोड़ा। यथा–

यहाँ बसत मोहि सुनु खगईसा। बीते कलप सात अरु बीसा ।।

(मानस- ७/११४/१०)

अतएव दीर्घायुष्ट्व की प्राप्ति के लिए श्रुति यहाँ महिदास का अनुभव प्रतीत करती है। श्रुति के अनुसार मनुष्य की आयु का अनुपात एक सौ

सोलह वर्ष होना चाहिए। इसमें तीन विभाग है। प्रथम विभाग चौबीस वर्षों का है। यह प्रात:कालीन सवन के समान है इसमें वसुदेवता हैं। यह गायत्रीछन्द की संख्या के अनुसार है। 'गायत्री' छन्द में चौबीस अक्षर होते हैं। इसी प्रकार प्रथम अवस्था होने के कारण इसको प्रात:सवन कहा गया है। द्वितीय विभाग चौव्वालिस वर्षों का होता है। इसके रुद्र देवता होते हैं 'त्रिष्टुप' छन्द की संख्या चौव्वालिस अक्षरों की है। उसके अनुसार आयुष्य का द्वितीय विभाग भी चौव्वालिस वर्षों का है। मध्य अवस्था होने के कारण इसके माध्यन्दिन-सवन से उपमित किया गया। 'जगती' छन्द में अड़तालिस अक्षर होते हैं, उसी की संख्या के अनुसार आयुष्य का तृतीय विभाग भी अड़तालिस वर्षों का होता है। इसके देवता आदित्य हैं। तृतीय विभाग होने से इसे तृतीयसवन के साथ उपमित किया गया है। यही है संक्षिप्त खण्डार्थ। अब अक्षरार्थ पर विचार करेंगे ॥श्री॥

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि तत्प्रात:सवनं चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रात:सवनं तदस्य वसवोऽन्वायत्ता: प्राणा वाव वसव एते हीद ँ् सर्वं वासयन्ति ॥१॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यह परमार्थपथिक पुरुष ही यज्ञ है। यह यजन भी करता है और इसका यजन किया भी जाता है। इसकी आयु के चौबीस वर्ष ही प्रात: सवन हैं। गायत्री चौबीस अक्षरों वाली होती हैं और यह सवन भी गायत्री का है इसके वसु देतवा हैं जो प्राण के आधीन हैं अथवा प्राणरूप यही हैं। ये शरीर में रहते हैं और शरीर को टिका के रखते हैं इसलिए भी इन्हें वसु कहते हैं ॥श्री॥१॥

संगति– अब प्रार्थना का प्रकार कहते हैं ॥श्री॥

तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा वसव इदं मे प्रात:सवनं माध्यन्दिन ँ् सवनमनुसन्तनुतेति माहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥२॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार प्रथम अवस्थारूप प्रात:सवन में यज्ञ करते हुए उस साधक पुरुष को यदि कोई व्याधि कष्ट दे तो वह यह मन्त्र बोले– हे प्राण के अधिष्ठाता वसु! मेरे इस प्रात:सवन को आप लोग इस मध्याह्नसवन से जोड़ दीजिए। जिससे वसु प्राणों के मध्य अथवा

वसु रूप प्राणों की रक्षा में, यज्ञरूप में नष्ट न होऊँ। यह कहकर उस रोग से मुक्त होकर साधक अगद अर्थात् संसार के रोग से मुक्त हो जाता है ।।श्री।।२।।

संगति– अब मध्यम अवस्था की मध्यमसवन के साथ तुलना करते हैं ।।श्री।।

अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनँ सवनं चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं माध्यदिनँ सवनं तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः प्राणा वाव रुद्रा एते हीदँ सर्वं रोदयन्ति ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर पुरुष के जो चौव्वालिस वर्ष होते हैं वही उसका मध्याह्निक सवन है। त्रिष्टुप् के चौव्वालिस अक्षर होते हैं और यह सवन भी त्रिष्टुप सम्बन्धी है। इसके प्राणरूप रूद्र ही देवता हैं। ये सभी दुष्कर्मियों को रुलाते हैं।।श्री।।३।।

संगति– अब रूद्र की प्रार्थना का प्रकार कहते हैं।।श्री।।

तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा रुद्रा इदं मे माध्यन्दिनँ सवनं तृतीयसवनमनुसन्तनुतेति माहं प्राणानाँ रुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार द्वितीयवयरूप सवन में पुरुष को यदि कोई कष्ट देने लगे तो साधक यह मंत्र बोले– हे प्राणमय रूद्रों! वसुरूप प्राणों के होते हुए भी मैं अपने यज्ञ को न नष्ट कर दूँ। इस प्रकार कहकर वहाँ से आकर साधक मुक्त हो जाता है।।श्री।।४।।

अथ यान्यष्टाचत्वारि ँ् शद्वर्षाणि तत्तृतीयसवनमष्टाचत्वारि ँ् शदक्षरा जगती जागतं तृतीयसवनं तदस्यदित्या अन्वायत्ताः प्राणा वावादित्या एते हीदँ सर्वमाददते ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर पुरुष की आयु के जो अड़तालिस वर्ष हैं वही तृतीय सवन हैं। जगती छन्द में अड़तालिस अक्षर होते हैं और तृतीय सवन जगती सम्बन्धी होता है। आदित्य इसके देवता हैं। प्राण ही आदित्य हैं। ये सारे संसार को अपनी किरणों से ग्रहण करते हैं ।।श्री।।५।।

तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा आदित्या इदं मे तृतीयसवनमायुरनुसन्ततुतेति माहं प्राणानामादित्यानां मध्ये यशो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो हैव भवति ।।६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार तृतीयवयरूप सवन करते हुए साधक को यदि कोई रोग कष्ट दे रहा हो तो वह यह मंत्र पढें– हे प्राणों के अधिष्ठातृदेवता आदित्य! यह मेरा सायंतन सवन स्वीकार कीजिए, जिससे मैं आपलोगों के संरक्षण में यज्ञरूप में अपनी आयु को नष्ट न करूँ अर्थात् दीर्धजीवी बनूँ। यहाँ लुप्धातु छान्दास् है इसका विनाश अर्थ है ।।श्री।।६।।

संगति– अब प्रकरण का उपसंहार करते हैं ।।श्री।।

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः स किं म एतदुपतपसि योऽहमनेन न प्रेष्यामीति स ह षोडशं वर्षशतमजीवत्प्र ह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद ।।७।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस सिद्धान्त के ज्ञाता इतरा नामक ऋषि पत्नी के पुत्र महिदास ने कहा था– अरे! क्लेशों के समूह! मुझे क्यों तपा रहे हो। मैं इस रोग से नहीं मरूँगा क्योंकि मैंने तीनों सवनों का अनुष्ठान किया है। वे एक सौ सोलह वर्ष जिये और यह कहा– 'जो इस सिद्धान्त को जानता है वह भी एक सौ सोलह वर्ष जीता है' ।।श्री।।

व्याख्या– 'स्म' और 'ह' ये दोनों निश्चयार्थक निपात अव्यय है। 'इ' अर्थात् जो काम प्रपंच को पार कर गयी हो उस नारी विशेष को इतरा कहते हैं। जो कुछ लोग यहाँ 'इतरा' शब्द से वर्णेत्तर अर्थ लेते हैं वे व्याकरण रहस्य से अनभिज्ञ हैं। 'ढक्' प्रत्यय कभी भी जातिवाचक शब्द से नहीं होता। 'स्त्रीभ्योढक्' सूत्र से स्त्रीलिंग में वर्तमान व्यक्तिवाचक प्रातपदिकों से ही ढक् प्रत्यय होता है नहीं तो बहुवचन का प्रयोग क्यों किया जाता। जैसे- कौसल्येय, कौन्तेय, नहीं तो 'स्त्रियाढक्' कह देते। इसलिए इतरा शब्द व्यक्तिवाचक है जातिवाचक नहीं। 'महीसुता' अर्थात् सीता जी के दास को महीदास कहते हैं। यहाँ मध्यमपद का लोप हुआ है और बाहुलक से ह्रस्व भी ।।श्री।।७।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर तृतीय अध्याय के षोडस खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। सप्तदशं खण्ड ।।

सम्बन्ध– अब परिशेष से रूपक द्वारा उसी पुरुषयज्ञ का निरूपण करते हैं ।।श्री।।

स यदशिशिषति यत्पिपासति यन्न रमते ता अस्य दीक्षाः ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– वह यज्ञपुरुष जो भूखा रहता है और जो प्यासा रहता है, भूख प्यास होने पर भी जो क्रीडा नहीं करता है अर्थात् भोगों में नहीं रमता, यही उसकी दीक्षा है ।।श्री।।१।।

संगति– यज्ञों में औपनिषद नियम होता है अर्थात् कभी-कभी यजमान को थोड़ा-थोड़ा दुग्ध आदि सात्विक आहार दिया जाता है उसका औपषद लोग निरीक्षण करते हैं उसी का यहाँ वर्णन कर रहे हैं ।।श्री।।

अथ यदश्नाति यत्पिबति यद्रमते तदुपसदैरेति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– वह पुरुष जो खाता है, जो पीता है और जो उपलब्ध सामग्रियों से क्रीडा करता है, वही मानों उसकी औपषद क्रिया है ।।श्री।।२।।

संगति– यज्ञ के विश्राम में जो प्रसन्नता व्यंजक स्तोत्र होते हैं उन्हें स्तुतिशास्त्र कहा जाता है। अब उन्हीं का निरूपण करते हैं ।।श्री।।

अथ यद्धसति यज्जक्षति यन्मैथुनं चरति स्तुतशस्त्रैरेव तदेति ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर जो पुरुष परिहास करता है, जो दान देता है और वैदिकरीति से विवाहित अपनी सवर्णा पत्नी के साथ जो सम्पर्क करता है वही उसकी स्तुतिशास्त्रों की समता है अर्थात् भगवदीयपुरुष की जो भी क्रियायें हैं वे सब यज्ञमय हैं ।।श्री।।३।।

संगति– अब दक्षिणा का निरूपण करते हैं ।।श्री।।

अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर पुरुष के जो तप, दान, आर्जव अर्थात् इन्द्रियों में कुटिला का अभाव, अहिंसा और सत्यवचन हैं वही पुरुष के यज्ञ की दक्षिणा है। जैसे दक्षिणा से यज्ञ की पूर्ति होती है उसी प्रकार तपस्या, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्यवचन से आध्यात्मिक यज्ञ की पूर्ति होती है ।।श्री।।४।।

संगति– इसी प्रकार यज्ञसवन और यज्ञ के अवभृथस्नान की पुरुष के जन्म-मरण की तुलना की जाती है ।।श्री।।

तस्मादाहुः सोष्यत्यसोष्टेति पुनरुत्पादनमेवास्य तन्मरणमेवास्यावभृथः ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसीलिए कहा जाता है कि– यह बालक को जन्म देगी, इसने बालक को जन्म दिया, इस प्रकार पुरुष का जन्म ही सवनक्रिया है और मरण ही अवभृथस्नान है। अर्थात् जैसे अवभृथस्नान से यज्ञ की समाप्ति हो जाती है उसी प्रकार मरण से पूर्वजन्म के व्यवहार समाप्त हो जाते हैं।।श्री।।५।।

संगति– अब यज्ञदर्शन की आचार्य परम्परा का वर्णन करते हैं।।श्री।।

तद्धैतद्घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचापिपास एव स बभूव सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येताक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसँशितमसीति तत्रैते द्वे ऋचौ भवतः ।।६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस पुरुषयज्ञरहस्य को घोर स्वभाव वाले परम तपस्वी अंगिरा के गोत्र में उत्पन्न घोर नामक महर्षि ने देवकीपुत्र भगवान् श्रीकृष्ण से भली भाँति कहकर निवेदित किया था। हे भगवन्! अन्तवेला में जब आप समुद्रतट पर लीला का संवरण करने लगेंगे तब आप तीन सिद्धान्तों को स्वीकार लीजिएगा। वे ये हैं– सब को मारकर मैं अक्षत हूँ और सोलह सहस्र पटनारियों के साथ रहकर भी मैं अच्युत हूँ अर्थात् मेरा बह्मचर्य खण्डित नहीं हुआ। मैं ओंकाररूप प्राण में संस्थित हूँ। महर्षि के ये वचन सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण अपिपास अर्थात् कुटुम्बवधरूप पिपासा से रहित हो गये। अर्थात् उन्हें वितृष्णा हो गयी। इस सम्बंन्ध में दो ऋचायें भी कही जाती है–

व्याख्या– यहाँ 'देवकी पुत्र' शब्द भगवान् श्रीकृष्ण के लिए है। यदि कहें कि कृष्णावतार अर्वाचीन है तो यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि वेद भगवान् के निःस्वास हैं। अतः त्रिकालज्ञाता के आधार पर द्वापर के अवतारी भगवान् कृष्ण का भगवती श्रुति ने बहुत पहले ही नाम ले लिया। यहाँ 'अन्तवेला' शब्द सागरतट का वाचक है अर्थात् जब आप सागरतट पर लोकलीला का संवरण करेगें तब अक्षतत्व, अच्युतत्व एवं प्राणशंशितत्व का चिंतन कर लीजिएगा। यदि कहें कि इस व्याख्या से तो भगवान् में

अज्ञान की अपत्ति हो जायेगी। तो इसका उत्तर यह है कि– लोकलीला के लिए विद्याध्ययन, गुरूपसत्ति, आदि शास्त्रीय कृत्यों के करने पर भी भगवान् में अज्ञान की अपत्ति नहीं आती क्योंकि भगवान् का अवतार ही मनुष्यों के शिक्षण के लिए हुआ है।

'धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे' *(गीता- ४/८)*

अपिपासा– अब भगवान् की रक्तपिपासा शान्त हो गयी।।श्री।।६।।

संगति– अब दो मंत्रों में सूर्यज्योति का निरूपण करते हैं।।श्री।।

आदित्प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिष्पश्यन्ति वासरम्। परोयदिध्यते दिवा।।७।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– पूर्वमन्त्र में जो यह बात कही गयी कि यहाँ दो ऋचाएँ हैं, परन्तु इस समय की छान्दोग्य उपनिषद की पुस्तक में प्रथमऋचा का तृतीय अंश ही उपलब्ध है चाहे लेखक के प्रमाद से अथवा संक्षेपीकरण से यह विशंगति हो गयी है। भगवान् ही जाने। हम यहाँ वेद से उद्धृत इस सम्पूर्ण ऋचा को उपस्थित करते हैं और उसी प्रकार व्याख्या करते हैं। यथा–

आदित्प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिः पश्यन्ति वासरम्। परो यदिध्यते दिवि।

यही प्रथम ऋचा है। अब इसका अन्वितार्थ देखिये– जो ब्रह्मा से भी प्राचीन है ऐसे परमप्रकाश स्वरूप परमात्मा की वह दिव्यज्योति जो द्योतनात्मक साकेतलोक में विराजमान है, जो सबसे परे है, जो भक्तों को निवास देती है, ऐसी परमेश्वर की परमज्योति को भावुकजन आदर और प्रसन्नता से साक्षात्कार करते हैं। हम यह रहस्यवेत्ता अंधकार से भी परभूत सबसे उत्कृष्ट सूर्य के भी सूर्य परमात्मा की ज्योति को साक्षात्कार करते हुए और उसी अपने आत्मीय श्रीसीताराममय ज्योति को अपने अन्तःकरण में धारण करते हुए उस परमात्मा को प्राप्त हो गये। वह उत्तम ज्योति है। द्विरुक्ति आदर के लिए और प्रकरण समाप्ति के लिए कही गयी है।।श्री।।७।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर तृतीय अध्याय के सप्तदश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु।।

।। अष्टादश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– इस समय यज्ञपुरुष के हृदय में वर्तमान सकलकल्याण-गुणगणनिलय सगुणसाकार परब्रह्म के निवासभूत हृदयाकाश में मन तथा आकाश दोनों में ही ब्रह्मधारणा का निरूपण कर रहे हैं। उनमें एक आध्यात्मिकी धारणा है और दूसरी आधिदैविकी धारणा। मनस्त्व के अवच्छेक होने के कारण मनोमय धारणा आध्यात्मिकी है और आकाशत्व के अवछेदकत्व से आकाशमयी धारणा आधिदैविकी है ।।श्री।।

मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधिदैवतमाकाशो ब्रह्मेत्युभयमादिष्टं भवत्यध्यात्मं चाधिदैवतं च ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– 'मन ही ब्रह्म है' अर्थात् मन भगवान् की विभूति है। 'इन्द्रियाणां मनश्चास्मि' (गीता १०/११) ऐसा समझकर परमात्मा की विभूतिबुद्धि से मन की उपासना करनी चाहिए। यही आत्मविषयक उपासना है। उसी प्रकार 'आकाश ही ब्रह्म है' इस धारणा से आकाश की उपासना करनी चाहिए। यही देवविषयक प्रार्थना है। इस प्रकार अध्यात्म एवं अधिदैव इन दो प्रकार की उपासनाओं का आदेश दिया गया ।।श्री।।१।।

तदेतच्चतुष्पाद् ब्रह्म वाक् पादः प्राणः पादश्चक्षुः पादः श्रोत्रं पाद इत्यध्यात्ममथाधिदैवतमग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशा पाद इत्युभयमेवादिष्टं भवत्यध्यात्मं चैवाधिदैवतं च ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जैसे परब्रह्म परमात्मा चतुष्पाद विभूति हैं उसी प्रकार मन और आकाश भी चार-चार चरणों वाले हैं। मन के वाणी, प्राण, नेत्र, श्रवण ये चार पाद हैं क्योंकि इन्हीं से व्यवहार, गन्ध, रूप और शब्द की मन को उपलब्धि होती है। आकाश के वायु, सूर्य, अग्नि और दिशायें चरण हैं। क्योंकि इन सबका आकाश से सम्बन्ध है। इस प्रकार अध्यात्म और अधिदैव इन दोनों उपासनाओं में ब्रह्मदृष्टि का निर्देश किया गया ।।श्री।।२।।

संगति– फिर उसी अर्थ को विस्तृत करते हैं ।।श्री।।

वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः सोऽग्निना ज्योतिषा भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– वाणी मनोब्रह्म का चतुर्थपाद है। वह आकाश ब्रह्म के चतुर्थ पाद अग्नि के द्वारा ही प्रकाशित होता है और तप्त रहता है। जो इसे जानता है, वह आभा, दीप्ति, कीर्ति तथा तेज से युक्त हो जाता है। इसीलिए वाणी को अग्निदैवत कहा गया है।।श्री।।३।।

संगति– इस प्रकार आगे के तीन मंत्रों से मनोब्रह्म के तीन पादों के साथ आकाशब्रह्म के तीन पादों का सम्बन्ध और उसके वेत्ता का समान फलकत्व निर्दिष्ट करते हैं।।श्री।।

प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ।।४।।

चक्षुरेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स आदित्येन ज्योतिषा भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ।।५।।

श्रोत्रमेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स दिग्भिर्ज्योतिषा भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– प्राण मनोब्रह्म का चतुर्थपाद है, वह आकाश ब्रह्म के चतुर्थपाद वायुरूप ज्योति से प्रकाशित होता है और तपता है। जो इसे जानता है वह भी प्रकाश, ताप, कीर्ति यश तथा ब्रह्मवर्चस्व से युक्त हो जाता है। इसी प्रकार चक्षु भी मनोब्रह्म का चतुष्पाद है वह आदित्यरूप ज्योति से प्रकाशित होता है और तपता है उसको जानने वाला भी प्रकाश, ताप, कीर्ति, यश और ब्रह्मवर्चस्व से युक्त हो जाता है।।श्री।।

श्रोत्र भी मनोब्रह्म का चतुर्थपाद है। वह दिशारूप ज्योति से प्रकाशित होता है और तपता है उसे जानने वाला भी प्रकाश, ताप, कीर्ति, यश और ब्रह्मवर्चस्व से युक्त हो जाता है।।श्री।।४,५,६।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर तृतीय अध्याय के अष्टादश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। एकोनविंश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– इस समय प्रत्यक्ष ब्रह्म सूर्यनारायण की तथा सूर्यमण्डल में स्थित भगवान् श्री सीताराम की उपासना का भगवती श्रुति विधिवाक्य से निर्देश करती है ।।श्री।।

आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशस्तस्योपच्याख्यानमसदेवेदमग्र आसीत्तत्स-दासीत्तत्समभवत्तदाण्डं निरवर्तत तत्संवत्सरस्य मात्रामशयत तन्नि-रभिद्यत ते आण्डकपाले रजतं च सुवर्णं चाभवताम् ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– आदित्य अर्थात् भगवान् सूर्य ब्रह्म हैं। यही आदेश है। सृष्टि के पूर्व यह जीव जगत् असत् अर्थात् अव्यक्त सत्ता वाला पुनः सत् याने परमात्मा में ही स्थित था। अनन्तर वही नित्यसत्तासम्पन्न जीव परमात्मा के साथ इस सृष्टि में उत्पन्न हुआ। परमात्मा ने जीवात्मा के रहने के लिए अण्डे के समान आकार वाले ब्रह्माण्ड का निर्माण किया। वह भगवान् के दिन के अनुसार एक वर्ष पर्यन्त जल में सोता रहा, फिर फूटा। कपाल के समान एक भाग चाँदी के जैसा श्वेत था और दूसरा सुवर्ण के समान तेजोमय था ।।श्री।।१।।

व्याख्या– श्री सीता राम सूर्यमण्डल में विराजते हैं यथा– 'सूर्यमण्डल-मध्यस्थं रामं सीतासमन्वित्' (रामास्तवराज-४९) इसलिए आधार और आधेय की एकरूपता सूचित करने के लिए 'मञ्चाः क्रोशन्ति' की भाँति तत्स्थ में लक्षणा करके आदित्य में ब्रह्म का व्यपदेश किया गया। अब 'आदित्यो ब्रह्म' का अर्थ होगा कि– आदित्य अर्थात् सूर्यमण्डल में परब्रह्म श्री सीताराम जी विराजमान हैं। ऐसा श्रुति का आदेश है। अब जीव की स्थिति का वर्णन करते हैं। यहाँ अद्वैती लोग कहते हैं कि– सृष्टि के पहले जीव असत् था फिर सत् हुआ पर ऐसा अर्थ करने पर बहुत सी श्रुतियाँ बाधित हो जायेगीं। जिन्होंने जीवात्मा और परमात्मा की नित्यता स्वीकारी है। **'नित्योनित्यानाम्'** (कठ० १/३/१२) **'द्वासुपर्णा'** (मु०उ० ३/१/१) **'सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्'** (श्वे०उ० १/१२) **सदेव सोम्येतदग्रआसीत्** (छा०उ० ६/१,२) भला एक श्रुति जिसे सृष्टि के प्रारम्भ में सत् कह रही हो उसी को दूसरी श्रुति असत् कैसे कहेगी। नित्य श्रुतियों में बाध्य-बाधकभाव की कल्पना करने से अप्रमाण्य आ जायेगा ।।श्री।।

अतः यहाँ 'सत्' शब्द से भाव में क्विप् और 'अ' के साथ व्यधिकरण बहुब्रीहि करना चाहिए। यहाँ 'अ' का अर्थ भगवान् वासुदेव समझना चाहिए और सप्तमी का विषय अर्थ मानकर उसका अधीनत्व अर्थ स्वीकार लेना चाहिए। 'ए सत् यस्य तत् असत्' सृष्टि के पहले इस अव्याकृति नाम रुपात्मक जीव की अकार अर्थात् वासुदेव में ही सत्ता थी। अथवा यहाँ सद्ऌ धातु से कर्त्ता में क्विप् प्रत्यय करना चाहिए। 'ए सीदति इति असत्' सृष्टि के पूर्व जीव भगवान् में ही विराज रहा था। 'तज्जलानीति शान्त उपासीत' (छा०उ० ३/१४/१) जीव की सत्ता भगवान् के अधीन है। 'अम्सीदति इति असत्' जो भगवान् का ही अनुगमन करता है वही असत् कहा गया। यहाँ असत् शब्द से कोई नञ् का अभाव अर्थ करके जीव को अस्तित्वहीन न समझ ले, अतः श्रुति ने कहा– 'तत्सदासीत्' वह जीव सत् ही था अर्थात् परमात्मा की शरण में जाकर भी ईश्वर के अधीन सत्ता वाला होकर भी जीव ने अपनी पृथक सत्ता नहीं छोड़ी, क्योंकि उसकी सत्ता निंत्य है। 'नित्योनित्यानां' नित्य की सत्ता का विनास नहीं होता। जैसे– जटायु भवबंधन से मुक्त होने पर भी अपने जीवभाव को नहीं छोड़ सके। यहाँ ध्यान रहे कि जीव का जीवत्व तो बन्धन तथा मोक्ष इन दोनों दशाओं में रहता है। अन्तर इतना ही पड़ता है कि बन्धनदशा में जीव अपने स्वरूप को विस्मरण किये रहता है और मुक्तदशा में 'अपहत् पापमत्वादि' आठ गुणों के साथ भगवत्कैंकर्यरूप सहज स्वरूप भी जीव को स्मरण हो जाता है। अर्थात् जो सृष्टि के पूर्व स्वयं नित्यसत्तासम्पन्न होने पर भी अपनी सत्ता को भगवान् के अधीन किये था और भगवान् का अनुगामी था वही सृष्टिकाल में अपने कर्मानुसार भगवन्निर्मित भिन्न-भिन्न शरीरों को प्राप्त कर भगवान् के पास से ही संसार में आया और आगे सृष्टि की प्रक्रिया चली।।श्री।।१।।

तद्यद्रजतँ सेयं पृथिवी यत्सुवर्णं सा द्यौर्यज्जरायु ते पर्वता यदुल्बँ स मेघो नीहारो या धमनयस्ता नद्यो यद्वास्तेयमुदकँ स समुद्रः ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस मन्त्र में विराट् पुरुष के अण्ड परिणाम से ही सृष्टि की प्रक्रिया का वर्णन करते हैं। उस अण्डे का जो रजतभाग था वही पृथ्वी आदि नीचे के सात लोक बन गया, जो स्वर्णमय तजोमय ऊपरी भाग था वही ऊपर के सात लोक बन गया, जो उस अण्ड का जरायुभाग था वही पर्वतों के रूप में परिणत हुआ और जो उल्ब अर्थात्

सूक्ष्म झिल्ली का भाग था वही बादल और कोहरा बना। उसकी धमनियाँ ही नदी बनी और वस्ती का जल ही समुद्र बन गया। इस प्रकार सारा जगत् परमेश्वर का परिणाम है विवर्त नहीं ।।श्री।।२।।

अथ यत्तदजायत सोऽसावादित्यस्तं जायमानं घोषा उलूलवोऽनूदतिष्ठन्त सर्वाणि च भूतानि च सर्वे च कामास्तस्मात्तस्योदयं प्रति प्रत्यायनं प्रति घोषा उलूलवोऽनूत्तिष्ठन्ति सर्वाणि च भूतानि सर्वे चैव कामाः ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– उस अण्डे से जो प्राणी उत्पन्न हुआ उसी को आदित्य कहते हैं। उन सूर्यनारायण के उत्पन्न होते ही अत्यधिक शब्द हुए। सभी प्राणी जागृत हो उठे। सभी कामनायें सक्रिय हो उठी। इसीलिए आज भी सूर्य के उदय और अस्त काल में प्रचुरमात्रा में शब्द होते हैं। अर्थात् कलरव का वातावरण बन जाता है सभी जीव उठकर खड़े हो जाते हैं अर्थात् अपने-अपने कार्य में लग जाते हैं। 'उलू' शब्द 'उरु' शब्द से निष्पन्न हुआ है और यहाँ रकार को लकार हो गया है इसीलिए सूर्य को मार्तण्ड कहते हैं क्योंकि वे मृत अर्थात् फूटे हुए अण्डे से उत्पन्न हुए इसीलिए मार्तण्ड कहलाये ।।श्री।।३।।

स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्तेऽभ्याशो ह यदेनँ साधवो आ च गच्छेयुरुप च निम्रेडेरन्निम्रेडेरन् ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार जानता हुआ जो साधक सूर्यनारायण की ब्रह्मबुद्धि से उपासना करता है सभी शिलष्टशब्द और श्रेष्ठ कामनायें उसके पास आती है और उसे सुखी कर देती हैं। द्विरुक्ति अध्याय समाप्ति की सूचना देती है ।।श्री।।४।।

इस प्रकार छान्दोग्योपनिषद् के तृतीय अध्याय पर सर्वाम्नाय
श्रीतुलसीपीठाधीश्वर जगद्गुरु रामानन्दाचार्य श्री रामभद्राचार्य कृत
श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण हुआ ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

●

।। चतुर्थ अध्याय ।।

।। प्रथम खण्ड ।।

सम्बन्धभाष्य–

तूर्ये तूर्यतुरङ्गतूर्णहृदयैरापूर्यमाणं पदे,
देवैर्दीव्यदमन्दभावपटलैर्लालाल्यमानं मुहुः।
मुह्यन् मुग्धमनुष्यमानसमधुव्रातानि राजद्र सै-
श्चारित्र्यैर्मृडयन्तमीड्यमृगयुं रामं तुरीयं श्रये ।।१।।

तृतीय अध्याय में प्रतीक की दृष्टि से प्राणुवायु की उपासना का वर्णन किया गया। अब चतुर्थ अध्याय में ब्रह्मरूप से उसकी उपासना का वर्णन किया जाता है। महाराज जानश्रुति की आख्यायिका विषय को सुगमता से समझने के लिए तथा संवर्गविद्या का महत्त्व प्रकट करने के लिए है।।श्री।।

ॐ जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदेयो बहुदायी बहुपाक्य आस स ह सर्वत आवसथान्मापयांचक्रे सर्वत एव मेऽत्स्यन्तीति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जनश्रुति राजा के पौत्र जानश्रुति नाम के राजा श्रद्धापूर्वक दान देने वाले स्वभाव से बहुत दान करने वाले तथा बहुत भोजन वनवाने वाले प्रसिद्ध राजा थे। 'सभी ओर से आने वाले अतिथिगण मेरे ही अन्न का भोजन करेंगे' इसी मनोरथ से राजा ने सर्वत्र अतिथिभवन बनवा रखे थे।।श्री।।१।।

अथ ह हँसा निशायामतिपेतुस्तद्धैवँ हँसो हँसमभ्युवाद हो हो हि भल्लाक्ष भल्लाक्ष जानश्रुतेः पौत्रायणस्य समं दिवा ज्योतिराततं तन्मा प्रसाङ्क्षीस्तत्त्वा मा प्रधाक्षीदिति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर जब महाराज जानश्रुति रात्रि में विश्राम करने अपनी अट्टालिका पर गये उसी समय सहसा कुछ हंस उड़ते हुए उनके अट्टालिका के ऊपर आकाश में आये तब तक एक हंस ने दूसरे हंस को होई-होई कहकर बुलाया और कहा– भल्लाक्ष! देखना पौत्रायण महाराज जानश्रुति की ज्योति स्वर्गलोक के समान प्रकाशमान है। उसे लांघने अथवा स्पर्श करने का भी साहस मत करना नहीं तो वह तुम्हें भस्म कर देगी।।श्री।।

व्याख्या– प्राय: रात्रि में पक्षी उड़ा नहीं करते। भगवान् ने ही जानश्रुति का हित करने के लिए नारद-देवल जैसे महर्षियों को ही हंसवेश बनाकर रात्रि में महाराज के पास भेज दिया था। अतिपेतु: क्रिया का यही तात्पर्य प्रतीत होता है ॥श्री॥२॥

तमु ह परः प्रत्युवाच कम्बर एनमेतत्सन्तँ सयुग्वानसिव रैक्वमात्थेति यो नु कथँ सयुग्वा रैक्व इति ॥३॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार अपने मित्र हंस के मना करने पर अग्रगामी हंस ने निरादरपूर्वक प्रश्न किया– अरे ! इस प्रकार कौन से ऐसे राजा के प्रति तुम निषेध कर रहे हो। मानो छकड़े वाले रैक्व के प्रति कुछ कह रहे हो। अरे ! राजा जानश्रुति से तो छकड़े के नीचे बैठकर अपनी खाज खुजलाने वाले महर्षि रैक्व ही अधिक ब्रह्मवेत्ता हैं। राजा जानश्रुति तो धन और विद्या के अभिमान में चूर रहता है। इसकी ज्योति से क्या डरना यह ज्ञानी नहीं अभिमानी है। डरना चाहिए महर्षि रैक्व की ज्योति से। पुन: पूर्व हंस ने पूँछा– भल्लाक्ष ! जिस छकड़े वाले रैक्व की बात कर रहे हो उनमें क्या विशेषताऐं हैं ? ॥श्री॥३॥

यथा कृताय विजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनँ सर्वं तदभिसमेति यत्किंच प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्त इति ॥४॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अग्रगामी हंस ने कहा– हे मित्र ! जिस प्रकार कृतयुग में द्यूतपाश के जीत लेने पर तीनों युगों के द्यूतपासे उसी में समाहित हो जाते हैं उसी प्रकार संसार के प्राणी जो भी शुभकर्म करते हैं वह सब महर्षि रैक्व में समाहित हो जाता है। जो उन्हें जान लेता है, वह सब कुछ जान लेता है और महर्षि रैक्व सब कुछ जानते हैं, इसलिए वे सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता हैं ॥श्री॥

व्याख्या– जुआ के पाशा को संस्कृत में 'अक्ष' कहते हैं। चारो युगों के उन्हीं के नाम से पाशे होते हैं। 'कृतयुग का पाशा' कृताय– यह चार अंकों वाला होता है। इसमें धर्म के चारों चरण रहते हैं। धर्म के तीन चरणों से युक्त त्रेताय नामक त्रेता का पाशा तीन अंको से युक्त होता है। द्वापराय नामक द्वापर का पाशा धर्म के दो चरणों से युक्त होता है एवं कलियुगाय नामक कलियुग का पाशा धर्म के एक चरण से युक्त होता है। द्यूतक्रीड़ा के नियमों के अनुसार 'कृताय नामक' पाशे के जीत लेने पर तीनों पाशे उसके वश में हो जाते हैं। उसी प्रकार महर्षि रैक्व के यहाँ सम्पूर्ण कर्मों के पुण्य

चले जाते हैं क्योंकि महर्षि रैक्व ने अपने भक्तिपूर्ण ज्ञान से परब्रह्म परमात्मा को जीत लिया है ।।श्री।।४।।

यदु ह जानश्रुतिः पौत्रायण उपशुश्राव स ह संजिहान एव क्षत्तारमुवाचाङ्गारे ह सयुग्वानमिव रैक्वमात्थेति यो नु कथँ सयुग्वा रैक्व इति ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार का विवाद करते हुए दोनों हंसों की बात राजा जानश्रुति ने सुल ली। उन्हे रातभर नींद नहीं आयी। प्रातःकाल होते ही जानश्रुति ने अपने कोतवाल से कहा– अरे मिश्र ! क्यों छकड़े वाले रैक्व की भाँति मेरी प्रशंसा कर रहे हो ? मैं उतना बड़ा ब्रह्मवेत्ता नहीं हूँ। छत्ता ने कहा– महाराज ! वह छकड़े वाला रैक्व कौन है ? यहाँ ध्यान रहे कि छकड़े को संस्कृत में युग्वा कहते हैं ।।श्री।।५।।

यथा कृतायविजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनँ सर्वं तदभिसमेति यत्किंच प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्त इति ।।६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जानश्रुति हंस के ही वाक्य का अनुवाद करते हैं। 'जिस प्रकार जुए में जीते हुए कृतयुग के पाशे मे ही आधरेय अर्थात् इतर युग के पाशे समाहित हो जाते हैं उसी प्रकार वह सब शुभकर्म रैक्व में समाहित हो जाते हैं, जो प्रजायें श्रेष्ठ रूप में सम्पादित करती हैं'। इसलिए जो समस्त प्राणी जानते हैं वही महर्षि रैक्व जानते हैं ।।श्री।।६।।

स ह क्षत्तान्विष्य नाविदमिति प्रत्येयाय तँ होवाच यत्रारे ब्राह्मणस्यान्वेषणा तदेनमर्च्छेति ।।७।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– महाराज के वचन सुनकर कोतवाल ने समस्त राज्य में महर्षि रैक्व को ढूँढा। उन्हें न पाकर लौट आया और बोला– राजन् ! मैं छकड़े वाले रैक्व को नहीं ढूँढ पाया। तब राजा जानश्रुति ने कहा– अरे ! जहाँ ब्राह्मणों की अन्वेषणा हो अर्थात् जिस प्रखण्ड में ब्राह्मणों की वस्ती हो वहाँ जाकर ढूँढ ।।श्री।।७।।

सोऽधस्ताच्छकटस्य पामानं कर्षमाणमुपोपविवेश तँ हाभ्युवाद त्वं नु भगवः सयुग्वा रैक्व इत्यहँ ह्यरा३ इति ह प्रतिजज्ञे स ह क्षत्ताऽविदमिति प्रत्येयाय ।।८।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर राजा जानश्रुति का कोतवाल

ब्राह्मणबहुल वस्ती में गया और ढूँढते-ढूँढते उसने छकड़े के नीचे बैठकर प्रारब्धवश शरीर में उत्पन्न हुई अपनी खाज खुजलाते हुए रैक्व को देखा और कोतवाल उनके समीप प्रणाम करके बैठ गया और पूँछा– भगवन्! क्या आप ही छकड़े वाले रैक्व हैं? रैक्व ने शलीनता से उत्तर दिया– अरे! मैं ही रैक्व हूँ। कोतवाल प्रसन्नता से लौटा और राजा जानश्रुति से निवेदन किया कि– मैंने छकड़े वाले रैक्व का पता लगा लिया।।श्री।।८।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर चतुर्थ अध्याय के प्रथम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। द्वितीय खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– कोतवाल के समाचार देने पर रैक्व का संकेत जानकर ब्रह्मविद्या प्राप्त करने के लिए राजा जानश्रुति आतुर हो उठे। परन्तु उन्हें ब्रह्मविद्या मिलेगी कैसे? शास्त्रों में विद्याप्राप्ति के तीन उपाय कहे गये हैं। या तो विद्यार्थी मनसा, वाचा, कर्मणा, छलहीन सेवा करके गुरुदेव को प्रसन्न करे। जैसे भगवान् राम ने विश्वामित्र को प्रसन्न किया, या प्रचुर धन देकर गुरुदेव को वश में कर ले। जैसे दुर्योधन ने द्रोण को किया, या विद्या के बदले में विद्या प्राप्त की जाय। इनसे अतिरिक्त विद्याप्राप्ति का चौथा कोई विकल्प नहीं है। अब महाराज राजकार्य में व्यस्त होने के कारण गुरु की सेवा तो कर नहीं सकते थे। ब्रह्मविद्या से श्रेष्ठ कोई दूसरी विद्या हो ही नहीं सकती जिसके बदले में रैक्व से वे ब्रह्मविद्या लेते। अतएव राजा ने द्वितीय विकल्प को ही प्रयोग करने का निर्णय लिया।।श्री।।

तदुह जानश्रुतिः पौत्रायणः षट् शतानि गवां निष्कमश्वतरीरथं तदादाय प्रतिचक्रमे तँ हाभ्युवाद ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– कोतवाल की सूचना के अनन्तर राजा जानश्रुति ने विचार किया कि महर्षि रैक्व गृहस्थ हैं। उन्हें धन की आवश्यकता होगी। अतः दृढ़ निश्चय करके छह सौ गाय, श्रेष्ठ घोड़ियों से जुता हुआ रथ, मणि, माण्क्यि, मोती, नौ रत्न आदि, महार्ध रत्नों से जटित उत्तम हार, एवं बहुत सा धन लेकर विद्यार्थीभाव से ब्रह्मर्षि रैक्व के पास गये और प्रणाम करके उनसे निवेदन किया।।श्री।।१।।

रैक्वेमानि षट् शतानि गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथो नु म एतां भगवो देवताँ शाधि यां देवतामुपास्स इति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– राजा जानश्रुति ने कहा– हे रैक्व! ये छह सौ गायें, बहुमूल्य रत्नों का हार और अश्वतरियों से जुता हुआ यह रथ यह सब मुझसे ले लीजिए और भगवन्! आप जिस देवता की उपासना करते हैं कृपया उसी देवता के विषय में मुझे उपदेश दीजिए ।।श्री।।२।।

तमु ह परः प्रत्युवाचाह हारे त्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्त्विति तदुह पुनरेव जानश्रुतिः पौत्रायणः सहस्रं गवां निष्कमश्वतरीरथं दुहितरं तदादाय प्रतिचक्रमे ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जानश्रुति का धन देखकर महर्षि रैक्व ने उपेक्षा से कहा– अरे! शूद्र तुम अपने क्षत्रियत्व को छोड़ चुके। क्षत्रिय तो ब्राह्मण की सेवा करता है। तुम विद्या का मूल्यांकन नहीं कर सके बहुत थोड़ा धन देकर अनन्तफला विद्या लेना चाहते हो इसलिए तुम शूद्र हो। कल रात्रि में हंसो द्वारा मेरी कीर्ति सुनकर तुममें मेरे प्रति ईर्ष्या का भाव जग गया और तुम निरर्थक शोक से द्रवीभूत हो गये और आज धन से ब्रह्मविद्या का विनिमय करने आये हो। अतः मौक्तिकहार और अश्वतरीरथ से युक्त ये छह सौ गायें तुम्हारे ही पास रहे। जाओ आरोपित शूद्रत्व मिटाकर आओं तब तुम्हें ब्रह्मविद्याप्राप्ति का अधिकार होगा। राजा लौटे और वे एक हजार गाय, महार्घरत्नहार, अश्वतरीरथ एवं विवाह योग्य रुपवती अपनी पुत्री को भी लेकर महर्षि रैक्व के पास गये और बोले–

व्याख्या– अब महाराजा का शूद्रत्व समाप्त हुआ। अपरा विद्या ही यहाँ राजा की पुत्री है अथवा मुमुक्षा राजा की पुत्री है। इसी के कारण राजा को ब्रह्मविद्याप्राप्ति का अधिकार मिल जायेगा ।।श्री।।३।।

तँ हाभ्युवाद रैक्वेदँ सहस्रं गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथ इयं जायाऽयं ग्रामो यस्मिन्नास्सेऽन्वेव मा भगवः शाधीति ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जानश्रुति ने कहा। हे रैक्व! ये एक सहस्त्र गायें, यह हार, यह रथ, यह युवती राज कन्या, आपकी परिकल्पित गृहलक्ष्मी जिसमें आप अनुकूलता से रह रहे हैं, यह आपके ही नाम से ख्यात होने वाला रैक्वपर्ण ग्राम, यह सब लीजिए और कृपया अपने उपास्य देवता का उपदेश कीजिए ।।श्री।।४।।

तस्या ह मुखमुपोद्गृह्णन्नुवाचाजहारेमा शूद्रानेनैव मुखेनालापयिष्यथा इति ते हैते रैक्वपर्णानाम महावृषेषु यत्रास्मा उवास तस्मै होवाच ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अनन्तर महर्षि रैक्व श्रद्धास्वरूपिणी कन्या का मुखारविन्द उपकृत होकर निहारते हुए बोले– अरे शूद्र! दे दो एक सहस्र गायें, हार, रथ, कन्या, ग्राम इन सबको मैं स्वीकार कर लेता हूँ। तुम शूद्र इसलिए हो क्योंकि अभी तुम्हारा चित्त चिन्ता से द्रवित है फिर भी इस कन्या के माध्यम से ही तुम मुझसे विद्या का उपदेश करा लोगे क्योंकि यह कन्या नहीं है। तुम्हारे यहाँ तो साक्षात् आस्तिकबुद्धि आस्थारूपिणी श्रद्धा ही कन्या बनकर प्रकट हुई है। श्रद्धा ही ब्रह्म विद्या में कारण बनती है धन नहीं। 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' (गीता- ४/३९) अर्थात् श्रद्धावान् ही ज्ञान प्राप्त करता है। तुम मुझे कन्या नहीं श्रद्धा समर्पित कर रहे हो क्योंकि ब्रह्मज्ञानी कामुक नहीं होता। यदि यह सामान्य कन्या होती तो मैं ग्रहण ही न करता। मैं सन्त हूँ यह श्रद्धा है 'श्रद्धा सतां' (दुर्गासप्तशती ४/५) श्रद्धा के बिना धर्म नहीं होता। यथा–

श्रद्धा बिना धर्म नहीं होई। बिनु महिगन्धि कि पावइ कोई।।

(मानस- ७/९०/४)

यह कहकर रैक्व ने सब स्वीकार लिया। जिस ग्राम में वे विराजे उस ग्राम का नाम रैक्वपर्ण पड़ा और अब रैक्व ने जानश्रुति को ब्रह्मविद्या का उपदेश करना प्रारम्भ किया।।श्री।।५।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर चतुर्थ अध्याय के द्वितीय खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण।।

।। **श्रीराघवः शन्तनोतु** ।।

।। तृतीय खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब रैक्व जानश्रुति को संवर्गविद्या का उपदेश कर रहे हैं। जिनमें अग्नि के सभी क्रिया-कलाप शान्त हो जाते हैं उसे संवर्ग कहते हैं। वायु प्रत्यक्ष ब्रह्म है। तैत्तरीयोपनिषद के शान्ति पाठ में श्रुति ने वायु को प्रत्यक्ष ब्रह्म कहा 'त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि'। लगता है कि महर्षि रैक्व ने वायु के माध्यम से वायुपुत्र हनुमान् जी की ही उपासना करते रहे होंगे।।श्री।।

वायुर्वाव संवर्गो यदा वा अग्निरुद्वायति वायुमेवाप्येति यदा सूर्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति यदा चन्द्रोऽस्तमेति वायुमेवाप्येति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– सम् पूर्वक 'वृजिर' धातु का लीन होना अर्थ है। रैक्व कहते है– निश्चय ही वायु देवता ही संवर्ग है। जब अग्नि शान्त होते हैं तो वायु में ही लीन होते हैं। जब सूर्य अस्त होते हैं तो वायु में लीन होते हैं, जब चन्द्र अस्त होते हैं तो वह भी वायु में लीन होते हैं। अग्नि, चन्द्र और सूर्य तेजोमय हैं और तेज का वायु में लीन होना उचित ही है ।।श्री।।१।।

यदाप उच्छुष्यन्ति वायुमेवापियन्ति वायुर्ह्येवैतान्संवृङ्क्त इत्यधि-दैवतम् ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जब जल शुष्क होता है तो भाप बनकर वायु में लीन होता है। वायु संपूर्ण भूतों को धारण करता है इसलिए वह संवर्ग है। इससे अर्वाचीन विज्ञान का भी संकेत मिल जाता है। क्योंकि दो हिस्सो हाईड्रोजन और एक हिस्सा आक्सीजन के संयोग से जल बनाता है। यही आधिदैवत संवर्ग है ।।श्री।।३।।

अथाध्यात्मं प्राणो वाव संवर्गः स यदा स्वपिति प्राणमेव वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणँ श्रोत्रं प्राणं मनः प्राणो ह्येवैतान् सर्वान्संवृङ्क्त इति ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब अध्यात्म संवर्ग का निरूपण करते हैं। प्राण ही संवर्ग है। जब जीव सोता है तब वाणी प्राण में विलीन होती है, नेत्र श्रवण और मन प्राण में विलीनं होते हैं और प्राण इन सबको धारण करता है ।।श्री।।३।।

तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– ये दोनों आध्यात्मिक और आधदैविक संवर्ग वायु ही हैं। जो देवताओं में वायु नाम से और पाँच प्राणों में प्राण नाम से प्रसिद्ध है ।।श्री।।४।।

अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे तस्मा उ ह न ददतुः ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर एकबार भोजन परोसते हुए कपि गोत्रोत्पन्न शौनक तथा कक्षसेन के पुत्र अभिप्रतारी नामक ब्राह्मण

से एक ब्रह्मचारी ने भोजन की भिक्षा मांगी। परन्तु उन दोनों ने उस ब्रह्मचारी को भिक्षा नहीं दी।।श्री।।५।।

स होवाच महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जगार भुवनस्य गोपास्तं कापेय नाभिपश्यन्ति मर्त्या अभिप्रतारिन्बहुधा वसन्तं यस्मै वा एतदन्नं तस्मा एतन्न दत्तमिति।।६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– गृहस्थों की इस प्रकार उपेक्षा देखकर ब्रह्मचारी ने कहा– हे कपिगोत्र में उत्पन्न शौनक! और हे कक्षसेन के पुत्र अभिप्रतारी! वह सम्पूर्ण भुवनो का रक्षक कौन देवता है जिसने चार-चार महानुभावों को खा लिया। सम्पूर्ण भुवनों में रहते हुए भी जिसको मरणधर्मा मनुष्य नहीं देख पाते और जिस वायुरूप भगवान् के लिए ये सभी भक्षणीय पदार्थ है, मांगने पर भी तुम दोनों ने उसे अन्न नहीं दिया।।श्री।।

व्याख्या– यहाँ एक ब्राह्मण, एकक्षत्रिय ये दोनों गृहस्थ भोजन परोस रहे थे। लगता है अभिप्रतारी ब्रह्मण के साथ कपिगोत्र उत्पन्न क्षत्रिय था। इन्हीं दोनों से ब्रह्मचारी ने भिक्षा मांगी थी। क्योंकि इतर से भिक्षान्न लेने का उसे अधिकार नहीं। ब्रह्मचारी ने कहा मैं वायु स्वरूप ब्राह्मण हूँ। वही देवताओं में संवर्ग है और पाँचो प्राणों में मुख नासिका से निकलने वाला प्राण संवर्ग भी वही है। वह प्रत्यक्ष वरुण उसी के लिए सब कुछ है और तुम दोनों ने उसे मांगने पर भी अन्न नहीं दिया।।श्री।।

तदु ह शौनकः कापेयः प्रतिमन्वानः प्रत्येयायात्मा देवानां जनिता प्रजानाँ हिरण्यदँष्ट्रो बभसोऽनसूरिर्महान्तमस्य महिमानमाहुरनद्यमानो यदनन्नमत्तीति वै वयं ब्रह्मचारिन्नेदमुपास्महे दत्तास्मै भिक्षामिति।।७।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– ब्रह्मचारी का प्रश्न सुनकर विचार करके प्रतिक्रिया करते हुए कपिगोत्र उत्पन्न शौनक भोजन परोसना छोड़कर ब्रह्मचारी के पास आया और बोला ब्रह्मचारी! अधिदेव पक्ष में अग्नि, वायु, आदित्य और चन्द्रमा का अध्यात्म पक्ष में प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन इन चारों देवताओं का तथा अन्य प्रजाओं के जन्म देने वाले एक मात्र परमात्मा हैं। जो सारे संसार के रक्षक हैं। उनके जबड़े स्वर्ण के समान चमकीले हैं। वे काल से सबका सतत् भक्षण करते रहते हैं। वे अनसूरी अर्थात् अविद्वान् नहीं है। उन्हें कोई नहीं खा पाता। पर वे काल से सबको खा जाते हैं। ऐसे

जीवात्मरूप देवता भी उकाररूप परमात्मा की विभूति हैं। परन्तु ब्रह्मचारिन्! हम लोग तो आत्मा से श्रेष्ठ सत्ता अर्थात् परमात्मा की उपासना करते हैं। इसलिए तुम्हें भिक्षा नहीं दी क्योंकि तुम हमारे उपासक के प्रतिरूप नहीं हो। यह कहकर उसने भृत्यों को आदेश दिया– ब्रह्मचारी को भिक्षा दो ।।श्री।।

व्याख्या– यहाँ शौनक का तात्पर्य स्पष्ट है। वह वायु को सबका भक्षक नहीं मानता और श्रुतियाँ भी सबके भक्षक के रूप में परमात्मा को ही स्वीकारतीं हैं। इसीलिए कठोपनिषद् में 'ब्रह्मण और क्षत्रिय को परमात्मा का भात और मृत्यु को दाल कहा गया (कठ० १/२/२५)। ब्रह्मसूत्र (१/२/९) में भी परमात्मा को सबका भक्षक कहा गया। मनीषीगण जीवात्मा को उन्हीं अकार रूप परमात्मा की विभूति मानते हैं। क्योंकि गीताजी में विभूतियोग का प्रारम्भ करते हुए भगवान् ने आत्मा को ही परमात्मा की सबसे प्रथम विभूति माना– 'अहं आत्मा गुडाकेशः'। (गीता १०/२०) शौनक का कथन है कि– हम तुम्हारे अभीष्ट वायु की उपासना नहीं करते हम तो वायु के पुत्र के भी पूज्य परमात्मा श्रीराम की उपासना करते हैं। इसलिए तुम्हें भिक्षा नहीं दी ।।श्री।।७।।

तस्मा उ ह ददुस्ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश संतस्तत्कृतं तस्मात्सर्वासु दिक्ष्वन्नमेव दशकृतँ सैषा विराडन्नादी तयेदँ सर्वं दृष्टं सर्वमस्येदं दृष्टं भवत्यन्नादो भवति य एवं वेद य एवं वेद ।।८।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर भृत्यों ने उस ब्रह्मचारी को पांच आध्यत्मिक और पाँच आधिदैविक अन्न दिया। इसीलिए दशों दिशाओं में अन्न देखा जाता है। चूकि श्रुति ने 'विराट्मयमन्नं' कहा। यही विराटमय अन्न की मीमांसा है जो इस प्रकार जानता है वह अन्न खिलानेवाला और अन्न खाने वाला हो जाता है। द्विरुक्ति खण्डसमाप्ति की सूचिका है ।।श्री।।८।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर चतुर्थ अध्याय के तृतीय खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। चतुर्थ खण्ड ।।

सम्बन्ध कारिका भाष्य–

स जायति षोडशकलको जानक्यानन्दवर्द्धनो रामः ।
श्रुतयोऽपि यस्य चरितं गायन्त्यो न ययुः पारम् ।।१।।

अर्थ– वेद भी जिनके चरित गाते पार नहीं पाते ऐसे भगवती जानकी जी के आनन्द को बढ़ाने वाले, सोलह कलाओं से सम्पन्न, पुराण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम की जय हो ।।१।।

तूर्यमारभ्य शकलं यावन्नवममद्भुतम् ।
मंत्रैः षोडश वै कलाश्चतुष्पादैर्निरूपिताः ।।२।।

अर्थ– चतुर्थखण्ड से लेकर नवमखण्ड पर्यन्त अद्भुत मन्त्रों द्वारा चार चरणों के साथ ब्रह्म की सोलह कलाओं का निरूपण किया गया है ।।२।।

षोडशैव कलाः पुंसः सामान्यं श्रुतिभिः श्रुताः ।
विशिष्टास्तु कलास्तस्य ह्यनन्ता जानकीपतेः ।।३।।

अर्थ– श्री सीतापति भगवान् श्रीराम की सामान्यरूप से सोलह कलायें ही श्रुतियों द्वारा प्रतिश्रुत हैं। परमेश्वर की विशेष कलायें तो अनन्त हैं। उनका कोई अन्त नहीं पा सकता ।।३।।

प्रतिपादं चतस्रो हि वर्णिताः ब्रह्मवादिभिः ।
वृषाग्निहंसमौद्रैश्च सत्यकामाय धीमते ।।४।।

अर्थ– इस प्रकरण में ब्रह्मवादी बृषभ, अग्नि, हंस तथा मैद्र द्वारा बुद्धिमान सत्यकाम को एक-एक चरण में चार-चार कलाओं का क्रम से निर्देश किया गया ।।४।।

प्रकाशवांश्च प्रथमोऽनन्तवांश्च तथा परः ।
विद्युत्वान् आयतनवान् पादाश्चत्वार एवहि ।।५।।

अर्थ– यहाँ प्रकाशवान्, अनन्तवान्, विद्युतवान् और आयतनवान् ये ब्रह्म के चार पाद कहे गये हैं ।।५।।

प्रकाशाज्जानकीजानेरन्वर्थस्तु प्रकाशवान्।
प्राच्यवाची प्रतीची च उदीचीति चतुष्कलाः ।।६।।

अर्थ– सीतापति परब्रह्म श्रीराम के प्रकाश से प्रकाशित होने के कारण प्रकाशवान् नाम सार्थक है और उसकी पूर्व, दक्षिण, उत्तर, पश्चिम ये चार दिशायें ही चार कलायें हैं।।६।।

अनन्तमहिमाविष्टोऽनन्तवान् वै द्वितीयकः।
पृथ्व्यन्तरिक्षौ द्यौः सिन्धुश्चतस्रस्तस्य वै कलाः ।।७।।

अर्थ– भगवान् की महिमा से अविष्ट होने के कारण उनके द्वितीय पाद का भी अनन्तवान् नाम है। उसकी पृथ्वी, आकाश, स्वर्ग और समुद्र में चार कलायें हैं।।७।।

विद्युत्तेजोमयत्वाच्च विद्युत्वान् वै तृतीयकः।
कलास्तत्र चतस्रो वै अग्निसूर्येन्दुविद्युतः ।।८।।

अर्थ– विद्युत जैसे तेजोमय होने से तृतीयपाद का नाम विद्युतवान् है वहाँ अग्नि, सूर्य, चन्द्र और विद्युत् ये चार कलायें हैं।।८।।

आयतनवान् चतुर्थो ब्रह्मपादः प्रकीर्तितः।
चक्षुः श्रोत्रं मनः प्राणाश्चतस्रस्तस्य वै कलाः ।।९।।

अर्थ– ब्रह्म का चतुर्थपाद आयतनवान् है उसकी चक्षु, श्रोत्र, मन, प्राण ये चार कलायें है।।९।।

चत्वार्यायतनान्येव कलात्वेन प्रचक्षते।
आयतनवानन्वर्थो ब्रह्मपादश्चतुर्थकः ।।१०।।

अर्थ– यहाँ चक्षु, श्रोत्र, मन, प्राण ये चार आयतन ही चार कलाओं के रूप में कहे गये हैं इसलिए ब्रह्म का चतुर्थपाद आयतनवान् ही अन्वर्थक है।।१०।।

वृषाग्निहंसमद्गुभ्यः श्रुत्वाप्याचार्यवक्त्रतः।
शुश्राव सत्यकामोऽपि जावालो नौन्यहानये ।।११।।

अर्थ– इस प्रकार वृषभ, अग्नि, हंस और मद्गु से तथा आचार्य के मुख से भी जबाला के पुत्र जाबाल सत्यकाम ने अपनी न्यूनता की समाप्ति के लिए श्रुति से ब्रह्मविद्या का श्रवण किया।।११।।

एवं ब्रह्म चतुष्पादं कलाद्व्यष्टसमन्वितम्।
वर्णयितुं श्रुति प्राह छान्दोग्ये पञ्चखण्डकम्।।१२।।

अब मुख्य विषय की व्याख्या की जाती हैं। विषय स्पष्ट करने के लिए श्रुति आख्यायिका का अवतरण करती हैं।।१२।।

सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयांचक्रे ब्रह्मचर्यं भवति विवत्स्यामि किंगोत्रोऽहमस्मीति।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यह घटना इतिहास प्रसिद्ध है कि जबाला के पुत्र सत्यकाम ने एक दिन अपनी माँ से प्रार्थना की– हे माताश्री! मैं विदेश जाकर ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा। गुरुकुल में ब्रह्मचारी की मर्यादा में रहकर वेदाध्ययन करूँगा परन्तु आप मुझे बतायें कि मेरा गोत्र क्या है? मैं किस गोत्र का हूँ? यह जाबाल सत्यकाम का प्रश्न था।।श्री।।

व्याख्या– अज अर्थात् ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न की हुई बाला ही जबाला है। यहाँ बाहुलकात् 'औ' और 'अपि' से अतिरिक्त 'अज' शब्द के अकार का बाहुलकात् लोप हुआ। उसी जबाला के पुत्र को जालाब कहते हैं। अब यहाँ प्रश्न है कि 'स्त्रीभ्योढक्' सूत्र से यहाँ ढक् प्रत्यय क्यों नहीं हुआ? इसका उत्तर यह है कि– जबाला सामान्य स्त्री नहीं है। सामान्य कोटि की नारी कभी न कभी असत्य भाषण कर सकती है परन्तु घनघोर संकट में भी जबाला ने असत्य भाषण नहीं किया इसलिए वह सामान्य नारी की कक्षा से ऊपर है।।श्री।।१।।

सा हैनमुवाच नाहमेतद्वेद तात यद्गोत्रस्त्वमसि बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसि स सत्यकाम एव जाबालो ब्रुबीथा इति।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जबाला ने सरल बुद्धि से अपनी परिस्थिति का वर्णन करते हुए कहा– हे मेरी वात्सल्यलतिका के विस्तारक बेटे! मैं तुम्हारा गोत्र नहीं जानती। क्यों? इसका उत्तर देती हुई कहती है– जब से मैं तुम्हारे पिता के धर आयी तब से तुम्हारे पिता की बहुत सेवा की। उनकी सेवा से अवकाश मिलने पर घर में आये हुए अतिथि, ब्राह्मण, साधु, सन्यासियों की सेवा करती थी। इसमें मुझे एक क्षण समय नहीं मिला। युवावस्था में एकमात्र तुमको पुत्ररूप में पाया इसके बाद तुम्हारे

पिताजी का शरीर छूट गया इसलिए मैं उनसे भी नहीं पूँछ सकी। तुम अपने आचार्य से जाकर कह देना कि मैं जवाला का पुत्र हूँ। मेरा नाम सत्यकाम है। किसी भी काल में असत्य मत बोलना तुम्हारा उपवीत हो या न हो ।।श्री।।२।।

स ह हारिद्रुमतं गौतममेत्योवाच ब्रह्मचर्यं भगवति वत्स्याम्युपेयां भगवन्तमिति ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– माँ की आज्ञा पाकर सत्यकाम हरिगौतम गोत्रीय हारिद्रुमत आचार्य के पास आकर बोले– हे भगवन्! आप श्री के चरणों में निवास करके ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा। आप आज्ञा दें मैं आपके शरण में आऊँ ।।श्री।।३।।

तँ होवाच किंगोत्रो नु सोम्यासीति स होवाच नाहमेतद्वेद भो यद्गोत्रोऽहमस्म्यपृच्छं मातरँ सा मा प्रत्यब्रवीद्बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसीति सोऽहँ सत्यकामो जाबालोऽस्मि भो इति ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर अपना व्रतबन्ध कराने की इच्छा करते हुए पंचवर्षीय बालक से हरिद्रुमत आचार्य ने पूँछा– सोम्य! तुम्हारा क्या गोत्र है? तुम किस गोत्र में उत्पन्न हुए हो? सत्यकाम ने उत्तर दिया– मैं नहीं जानता कि किस गोत्र में उत्पन्न हुआ हूँ। तुमने अपने पिता-माँ से क्यों नहीं पूछाँ? गौतम के पूछने पर सत्यकाम ने सत्य कहा कि– मैंने पिता से इसलिए नहीं पूछा क्योंकि वे तो मर चुके थे जब अपनी माँ से पूँछा तो उन्होंने कहा– 'तात! मैं तुम्हारे पिता की बहुत सेवा करती थी और उनके यहाँ आने वाले अतिथियों की सेवा में एक छण का समय न पा सकी। युवावस्था में तुम्हारा जन्म हुआ इसके पश्चात् तुम्हारे पिता स्वर्गीय हो गये। अत: उनसे तुम्हारा गोत्र पूँछने का अवसर नहीं मिला। मेरा नाम जबाला है और तुम्हारा नाम सत्यकाम यही अपने आचार्य से कह देना'। तो मैं आपश्री से यही कह रहा हूँ कि मैं सत्यकाम जाबाल हूँ। मैं सत्यस्वरूप परमात्मा की कामना करता हूँ। असत्य नहीं बोलता। **यदि मेरे पिता जीवित होते तो मैं माँ से ब्रह्मचर्य की अनुमति क्यों लेता। अब निर्णय आप की कृपा पर छोड़ता हूँ।।श्री।।४।।**

तँ होवाच नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधँ सोम्याहरोप त्वा नेष्ये न सत्यादगा इति तमुपनीय कृशानामबलानां चतुःशता गा निराकृत्योवाचेमाः सोम्यानुसंव्रजेति ता अभिप्रस्थापयन्नुवाच नासहस्रेणावर्तयेति स ह वर्षगणं प्रोवास ता यदा सहस्रँ संपेदुः ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर सत्यकाम की सत्यवादिता देखकर प्रसन्न होते हुए हारिद्रुमत आचार्य बोले– वत्स! तुम ब्राह्मण हो। क्योंकि ब्राह्मणेतर इतना स्पष्ट सत्य कभी नहीं बोल सकता। सोम्य! समिधा ले आओ। तुम्हारा उपनयन संस्कार करूँगा। आचार्य ने सत्यकाम का व्रतबन्ध करके उसके सामने चार सौ दुर्बल गायें लाकर कहा– वत्स! इनके पीछे-पीछे जाओ। वन में भेजते हुए गौतम ने फिर कहा– सत्यकाम! जबतक इनकी एक सहस्र संख्या न हो जाय तब तक इन्हें आश्रम में मत ले आना। सत्यकाम ने बहुत वर्ष पर्यन्त गौवों की सेवा की और उनकी एक सहस्र संख्या पूरी हो गयी ।।श्री।।५।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। पंचम खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब पाचवें खण्ड में सत्यकाम को एक साँड ब्रह्मोपदेश कर रहा है। लगता है बहुत वर्षों तक सेवा करने के पश्चात् स्वयं भगवान् धर्म ही वृषभ रूप में आकर सत्यकाम को धन्य-धन्य बना रहे हैं। क्योंकि कहा भी जाता है कि– वृषो हि भगवान् धर्मः ।।श्री।।

अथ हैनमृषभोऽभ्युवाद सत्यकाम३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव प्राप्ताः सोम्य सहस्रँ स्मः प्रापय न आचार्यकुलम् ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर एक महावृषभ सत्यकाम के पास जाकर बोला– सत्यकाम! हाँ भगवन्! सत्यकाम ने उत्तर दिया। धर्मावतार सांड ने कहा– अब हम एक हजार हो चुके हैं अब हमें आचार्य के आश्रम में ले चलो ।।श्री।।१।।

ब्रह्मणश्च ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच प्राची दिक्कला प्रतीची दिक्कला दक्षिणा दिक्कलोदीची दिक्कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः प्रकाशवान्नाम ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब वृषभरूप धर्म ने कहा– सत्यकाम क्या मैं तुम्हें ब्रह्म के प्रथम पाद का उपदेश करूँ? सत्यकाम ने कहा– भगवान्! आप भगवान् हैं। आप में छहों ऐश्वर्य हैं। आप कोई जैसे-तैसे सांड नहीं हैं क्योंकि पशु के शरीर में होकर आप मनुष्य की वाणी में बोल रहे हैं। आप कृपया उपदेश कीजिए। सांड ने कहा– सत्यकाम! पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर ये चारों दिशायें परमेश्वर की कलायें हैं और इन्हीं चारों से युक्त परमेश्वर का प्रथम अंश है जिसे प्रकाशवान् कहते हैं।।श्री।।

व्याख्या– यहाँ पादशब्द अंश के अभिप्राय से कहा गया है। अखण्ड होने पर भी समझाने के लिए गणित के ऐकिक नियम की भाँति अंश की कल्पना की गयी है।।श्री।।२।।

स य एतमेवं विद्वाँश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते प्रकाशवानस्मिँल्लोके भवति प्रकाशवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाँश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार जानता हुआ जो व्यक्ति ब्रह्म की चार कलाओं से सम्पन्न प्रकाशवान् नामक अंश की उपासना करता है वह लोक में प्रकाशवान् होता है और प्रकाश से युक्त महदादि लोकों को जीत लेता है। द्विरुक्ति आदर के लिए हैं।।श्री।।३।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर चतुर्थ अध्याय के पञ्चम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। षष्ठ खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब ब्रह्म के द्वितीय पाद के उपदेश का उपक्रम करते हैं।।श्री।।

अग्निष्टे पादं वक्तेति स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयांचकार ता

यत्राभिसायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– साँड़ ने कहा– अब ब्रह्म के द्वितीयपाद उपदेश अग्नि देवता करेंगे। यह कहकर वृषभ के मौन हो जाने पर सत्यकाम ने दूसरे दिन प्रातः आचार्यकुल के लिए गायों को प्रस्थान कराया। जहाँ सायंकाल हुआ वहीं गायों को घास वाली भूमि में रोककर अग्नि प्रज्जवलित कर समिधा का आधानकर सत्यकाम उपदेश की प्रतीक्षा करते हुए अग्नि के पृष्ठभाग में पूर्व में मुख करके बैठ गये ।।श्री।।१।।

तमग्निरभ्युवाद सत्यकाम३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर अग्निदेव ने प्रकट होकर कहा– सत्यकाम! सत्काम ने भगवान् कहकर उनका प्रत्युत्तर दिया ।।श्री।।२।।

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच पृथिवी कलान्तरिक्षं कला द्यौः कला समुद्रः कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणोऽनन्तवान्नाम ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अग्नि ने कहा– सोम्य! क्या तुम्हारे लिए ब्रह्म के द्वितीय पाद का उपदेश करूँ? सत्यकाम ने कहा– भगवान्! कृपा करके मुझे उपदेश दें। अग्नि ने कहा– सत्यकाम! पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्गलोक और समुद्र ये चारों ही परमेश्वर की कलायें हैं और इन चारों कलाओं से युक्त परमेश्वर के पाद का नाम है अनन्तवान्। कयोंकि इन चारों का समान्यतः अन्त नहीं देखा जाता ।।श्री।।३।।

स य एतमेवं विद्वाँश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानि त्युपास्तेऽनन्त-वानस्मिँल्लोके भवत्यनन्तवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाँश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्ते ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार जानता हुआ जो साधक परमेश्वर के अनन्तवान् पादांश की उपासना करता है, वह लोक में भी परमात्मा के अनन्तर अनुग्रह से युक्त हो जाता है और अनन्तवान् परमात्मा से युक्त लोकों को जीत लेता है ।।श्री।।४।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर चतुर्थ अध्याय के षष्ठ खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। सप्तम खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब ब्रह्म के तृतीयपाद के उपदेश का उपक्रम करते हैं ।।श्री।।

हँसस्ते पादं वक्तेति स ह श्वोभूते गा अभिप्रर्स्थापयांचकार ता यत्राभिसायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर तृतीयपाद का उपदेश हंस करेगा। इस प्रकार अग्नि के मौन हो जाने पर फिर दूसरे दिन प्रातःकाल सत्यकाम ने गौवों को आचार्य आश्रम के लिए प्रस्थान कराया और जहाँ सायंकाल हुआ वहीं गौवों को रोक करके, अग्नि प्रज्जवलित करके, समिधा का आधान करके, सत्यकाम अग्नि के पृष्ठभाग में पूर्वाभिमुख बैठ गये ।।श्री।।१।।

तँ हँस उप निपत्याभ्युवाद सत्यकाम३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– तब तक सत्यकाम के पास उड़ते हुए आकर हंस ने उनसे कहा– सत्यकाम! सेवा में उपस्थित हूँ। भगवन्! सत्यकाम ने उत्तर दिया ।।श्री।।२।।

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाचाग्निः कला सूर्यः कला चन्द्रः कला विद्युत्कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणो ज्योतिष्मान्नाम ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हंस ने कहा– सत्यकाम! क्या मैं तुम्हें ब्रह्म के तृतीयपाद का उपदेश दूँ? सत्यकाम ने कहा– भगवन् कृपया उपदेश दें। हंस ने कहा– सत्यकाम! अग्नि, सूर्य, चन्द्र, विद्युत् ये चारों परमात्मा की कलाएँ हैं। इन्हीं से युक्त ज्योतिषमान् नामक ब्रह्म का तृतीयपाद है ।।श्री।।३।।

स य एतमेवं विद्वाँश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते ज्योतिष्मानस्मिँल्लोके भवति ज्योतिष्मतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाँश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार जानता हुआ जो साधक ब्रह्म

के तृतीयपाद ज्योतिषमान् की उपासना करता है वह लोक में ज्योतिषमान् हो जाता है और ज्योतिष से युक्त लोकों को जीत लेता है ।।श्री।।४।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर चतुर्थ अध्याय के सप्तम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। अष्टम खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब ब्रह्म के चतुर्थपाद का उपदेश करते हैं ।।श्री।।

मद्गुष्टे पादं वक्तेति स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयांचकार ता यत्राभिसायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर तुम्हें चतुर्थपाद का मद्गु नाम का जलचर उपदेश करेगा। इस प्रकार कहकर हंस ऊपर उड़ गया। दूसरे दिन प्रातःकाल सत्यकाम ने गौवों को प्रस्थान कराया और जब सायंकाल हुआ तब सत्यकाम ने गौवों को रोककर अग्नि प्रज्जवलित कर अग्नि के पृष्ठ भाग में पूर्वाभिमुख बैठकर मद्गुनामक जलचर की प्रतीक्षा की ।।श्री।।१।।

तं मद्गुरुपनिपत्याभ्युवाद सत्यकाम३ इति भगव इति तं प्रतिशुश्राव ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर मद्गु ने समीप आकर कहा– सत्यकाम!। उपस्थित हूँ भगवन्! सत्यकाम ने उत्तर दिया ।।श्री।।२।।

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रबाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच प्राणः कला चक्षुः कला श्रोत्रं कला मनः कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मण आयतनवान्नाम ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– मद्गु ने कहा– सत्यकाम! अब तुम्हारे लिए ब्रह्म के चतुर्थपाद का उपदेश करूँ? सत्यकाम ने कहा– भगवन्! उपदेश देने की कृपा करें। मद्गु ने कहा– प्राण, चक्षु, श्रवण, मन ये ब्रह्म की चार कलायें है और इन्हीं से युक्त आयतनवान् नामक ब्रह्म का चतुर्थपाद है। क्योंकि भाग के आयतनरूप शरीर में ये रहते हैं और आश्रयरूप में वह इनके पास रहता है ।।श्री।।३।।

स य एतमेवं विद्वाँश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्त आयतनवानस्मिँल्लोके भवत्यायतनवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाँश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्ते ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो इस प्रकार जानता हुआ आयतनवान् ब्रह्म की उपासना करता है, उसको प्रशस्त आयतन अर्थात् भवन मिलता है और वह दिव्यभवन वाले लोकों को जीत लेता है। इसप्रकार ब्रह्म के चार पाद प्रकाशवान् प्रथमपाद, पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण दिशायें उसकी कला हैं। अनन्तवान् ब्रह्म का द्वितीयपाद है पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्गलोक और समुद्र उसकी कलाएँ हैं। ज्योतिषमान् ब्रह्म का तृतीयपाद है। अग्नि, सूर्य, चन्द्र, विद्युत इसकी चार कलायें हैं। आयतनवान् ब्रह्म का चतुर्थपाद है। प्राण, चक्षु, श्रवण, मन इसकी चार कलायें हैं।।श्री।।४।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर चतुर्थ अध्याय के अष्टम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। नवम खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– बार-बार उपदेश करने पर भी जब तक गुरुमुख से शास्त्र का श्रवण नहीं होता तब तक ब्रह्मविद्या फलवती नहीं होती। इसी सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए ब्रह्मविद्या का प्रारम्भ किया जाता है।।श्री।।

प्राप हाचार्यकुलं तमाचार्योऽभ्युवाद सत्यकाम३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार वृषभ अग्नि हंस तथा मद्गु के द्वारा ब्रह्मोपदेश प्राप्त कर सत्यकाम ब्रह्मचारी एक हजार गौवों को लेकर जब तृतीय दिन हारिद्रुमत के आश्रम में आया तब आचार्य ने स्नेह से बुलाया– सत्यकाम! ब्रह्मचारी ने– उपस्थित हूँ भगवन्! उत्तर दिया।।श्री।।१।।

ब्रह्मविदिव वै सोम्य भासि को नु त्वानुशशासेत्यन्ये मनुष्येभ्य इति ह प्रतिजज्ञे भगवाँस्त्वेव मे कामं ब्रूयात् ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हरितद्रुमत आचार्य ने आश्चर्य से पूँछा– सोम्य! तुम ब्रह्मवेत्ता जैसे प्रतीत हो रहे हो और ब्रह्मज्ञ जैसे प्रकाशित हो रहे हो। सत्य बोलो तुम्हें किसने ब्रह्म का उपदेश दिया? सत्यकाम ने कहा–

भगवन्! मनुष्यों से अन्य पशु, पक्षी, देवताओं ने। अर्थात् वृषभ, अग्नि, हंस और मद्गु ने। परन्तु आप कृपा करके मुझे पूर्ण उपदेश दें। अथवा 'क' अर्थात् ब्रह्म 'अ' अर्थात् विष्णु 'म' अर्थात् महादेव ये तीनों जहाँ निरन्तर विराजते हैं ऐसे सकल देवताओं के नियन्ता परब्रह्म का यथेच्छ उपदेश करें।।श्री।।२।।

श्रुतँ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्य आचार्याद्ध्येव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयतीति तस्मै हैतदेवोवाचात्र ह न किंचन वीयायेति वीयायेति ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– सत्यकाम ने कहा– हे प्रभो! मैंने आप जैसे ऋषियों से सुना है कि– आचार्य के मुख से सुनी हुई विद्या निरन्तर अधिक गुणकारिणी होती है। इस प्रकार सत्यकाम के निवेदन करने पर हारिद्रुमत आचार्य ने उन्हें फिर चतुष्पाद ब्रह्मविद्या का उपदेश किया जिसमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं रह गयी। द्विरुक्ति आदर के लिए और प्रकरण समाप्ति की सूचना के लिए है।।श्री।।३।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर चतुर्थ अध्याय के नवम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। **श्रीराघवः शन्तनोतु** ।।

।। दशम खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब अनन्तगुणगणनिलय परमानन्दमूर्ति निखिल रसामृतसिन्धु परब्रह्म परमेश्वर का आनन्दमय अभ्यास करने के लिए, भगवान् के गुणगणवर्णन में आलस्य का अभाव होने से, भगवती श्रुति प्रभु के स्मरण के लिए इस खण्ड का प्रारम्भ करती है। आख्यायिका प्रतिपाद्यविषय की सुगमता के लिए प्रस्तुत की जा रही है।।श्री।।

उपकोसलो ह वै कामलायनः सत्यकामे जाबले ब्रह्मचर्यमुवास तस्य ह द्वादशवर्षाण्यग्नीन्परिचचार स ह स्मान्यानन्तेवासिनः समावर्तयँ-स्त ँ ह स्मैव न समावर्तयति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार पूर्व के पाँच खण्डों में हारिद्रुमत से ब्रह्मविद्या प्राप्त करके सत्यकाम अपने आश्रम आये और अब स्वयं आचार्य बने। यह घटना इतिहास प्रसिद्ध है कि महर्षि कमल के पुत्र उपकोसल ने जबाला के पुत्र सत्यकाम के श्रीचरणकमलों के सन्निधि में ब्रह्मचर्य पूर्वक निवास किया और उपकोशल ने बारहवर्ष पर्यन्त सत्यकाम के तीनों अग्नियों अर्थात् गार्हपत्य, अहवनीय और अन्वाहार्यपचन की विधिवत

सेवा की। महर्षि सत्यकाम ने उपकोसल के साथ वेदाध्यन करने वाले अन्य ब्रह्मचारियों का समावर्तन संस्कार करके गृहस्थाश्रम भेजते हुए भी उपकोसल का समावर्तन संस्कार नहीं किया ॥श्री॥१॥

तं जायोवाच तप्तो ब्रह्मचारी कुशलमग्नीन्परिचचारीन्मा त्वाग्नयः परिप्रवोचन् प्रब्रूह्यस्मा इति तस्मै हाप्रोच्यैव प्रवासांचक्रे ॥२॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार बारह वर्ष तक अग्नियों की सेवा करने पर भी जब सत्यकाम ने उपकोसल को ब्रह्मोपदेश नहीं दिया तब उनकी धर्मपरायणा पत्नी ने उनसे कहा– भगवन्! यह ब्रह्मचारी सेवा करते-करते तप गया है और कुशलता पूर्वक आपके तीनों अग्नियों की बड़ी परिचर्या की है इसलिए अग्नियों की लपटों से भी यह झुलस गया है और मैंने भी इसकी अनेकशः परीक्षा ली है। अब इसे कृपया ब्रह्मोपदेश कीजिए नहीं तो यह अग्नियाँ आपकी निन्दा करेंगे। जिससे अग्नि आपकी निन्दा न करें वैसा ही कीजिए। परन्तु ब्रह्मोपदेश किये बिना ही सत्यकाम प्रवास हेतु अन्यत्र चले गये ॥श्री॥२॥

स ह व्याधिनानशितुं दध्रे तमाचार्यजायोवाच ब्रह्मचारिन्नशान किंनु नाश्नासीति स होवाच बहव इमेऽस्मिन्पुरुषे कामा नानात्यया व्याधिभिः प्रतिपूर्णोऽस्मि नाशिष्यामीति ॥३॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जब उपकोशल का उद्देश्य पूरा नहीं हुआ तब उसके मन में बहुत बड़ा परिताप हुआ और उसने अनशन करने का निर्णय लिया। आचार्य सत्यकाम की पत्नी अर्थात् उपकोसल की गुरुमाता ने पूँछा– ब्रह्मचारी! भोजन ग्रहण करो। क्यों नहीं कुछ खा रहे हो? तब उपकोसल ने कहा– माताश्री! शरीर धारण करने वाले पुरुष में नाना परिणाम वाली अनेक इच्छायें होती हैं। उनके पूर्ण न होने पर मनस्ताप होना स्वाभाविक है। मैं भी अनेक मनस्तापों से पूर्ण हो चुका हूँ क्योंकि मेरी अनेक इच्छायें पूर्ण नहीं हुयीं इसलिए अब मैं भोजन नहीं करूँगा ॥श्री॥३॥

अथ हाग्नयः समूदिरे तप्तो ब्रह्मचारी कुशलं नः पर्यचारीद्धन्तास्मै प्रब्रवामेति तस्मै होचुः ॥४॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जब उपकोसल ब्रह्मचारी को अग्नियों ने मरणासन्न देखा तब गार्हपत्य, आहवनीय, अन्वाहार्यपचन ये तीनों अग्नि प्रकट होकर बोले– अपनी तपस्या, हमारी सेवा, ब्रह्मविचारणा तथा हमारी स्फुल्लिंग

मालाओं से यह ब्रह्मचारी तप गया है। इसने हमारी बड़ी सेवा की है अब हम इसे उपदेश दें। ऐसा निश्चय करके तीनों अग्नियों ने क्रम से उपकोसल को ब्रह्मोपदेश दिया। गार्हपत्य अग्नि ने कहा– प्राण ही ब्रह्म हैं। आवहवनीय अग्नि ने कहा– 'क' ही ब्रह्म है। अन्वाहार्यपचन अग्नि ने कहा– 'ख' ही ब्रह्म है। इस प्रकार तीनों अग्नियों ने प्राण से सत्, 'क' से चित् और और 'ख' से आनन्द का वर्णन करके सच्चिदानन्द का बोध करा दिया।।श्री।।४।।

संगति– अब यहाँ उपकोशल की जिज्ञासा का वर्णन करते हैं। जब गार्हपत्य ने 'प्राणोब्रह्म' कहा तब प्राणों के प्रसिद्ध होने के कारण उपकोशल समझ गये परन्तु जब दक्षिणाग्नि ने 'क' ही ब्रह्म है ऐसा कहा और तृतीय ने 'ख' को ही ब्रह्म बताया तब उपकोसल नहीं समझ पाये क्योंकि वे 'क' और 'ख' से क्या समझते। सामान्यत: ये दोनों व्यंजन वर्ण के वाचक हैं और विशेष विचार में 'क' जल, शिर और ब्रह्मा का वाचक है तथा 'ख' खल, खर और आकाश का वाचक है। अब वे बेचारे क्या समझते ? इसलिए उपकोसल ने अग्नियों से जिज्ञासा की।।श्री।।४।।

प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति स होवाच विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म कं च तु खं च न विजानामीति ते होचुर्यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कमिति प्राणं च हास्मै तदाकाशं चोचुः ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब उपकोसल ने कहा– मैं प्राण को तो ब्रह्मरूप में जानता हूँ परन्तु 'क' और 'ख' को ब्रह्मरूप में नहीं जानता। क्योंकि 'क' का अर्थ लौकिक सुख होता है वह ब्रह्म हो नहीं सकता। 'ख' को अर्थ आकाश है जबकि वह सदा अचेतन है। फिर उसमें चेतनघन ब्रह्म की भावना कैसे की जायेगी ? तब अग्नियों ने कहा– जो 'क' है वही 'ख' है जो 'ख' है वही 'क' है। एक से ही कार्य चल जाता पर दोनों के प्रयोग से लौकिकसुख और लौकिक आकाश का निरसन हुआ। कारण यहाँ 'क' से अलौकिक सुख और 'ख' से अलौकिक आकाश का बोध होगा। अथवा 'क' से सभी श्रुतियों के शिरोभाग का बोध होगा और 'ख' से प्रभु की आकाश जैसी नीलिमा का स्मरण होगा। जो भक्तों द्वारा गाये जाते हैं (कीर्त्यते इति कम्) और जो भक्तों की दुःख की जड़ को खोदकर फेंक देते हैं वे है 'ख'। अत: 'क' और 'ख' में कोई अन्तर नहीं हैं।।श्री।।५।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर चतुर्थ अध्याय के दशम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। एकादश खण्ड ।।

सम्बन्ध-भाष्य– अब गार्हपत्य आहवनीय और अन्वाहार्यपचन इन तीनों अग्नियों ने मिलकर फिर उपकोसल को उपदेश देना प्रारम्भ किया।।श्री।।

अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशास पृथिव्यग्निरन्नमादित्य इति य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– दशम खण्ड में उपकोसल को गार्हपत्य अन्वाहार्यपचन और आहवनीय ने क्रम से प्राणब्रह्म 'क' ब्रह्म और 'ख' ब्रह्म का उपदेश किया था। अब उपदेष्टा के स्वरूप की जिज्ञासा में तीन खण्डों में तीनों अग्नि अपने-अपने स्वरूप का क्रम से निर्वचन करेंगी। सर्वप्रथम गार्हपत्य अग्नि अपने स्वरूप का निरूपण करता है– जो गृहपति के द्वारा लाया गया है और जो गृहपति द्वारा सेवित होता है, तथा जो गृहपति का नित्यसम्बन्धी है, उसीको गार्हपत्य कहा जाता है। यहाँ 'अथ' शब्द आनन्तर्य और प्रस्ताव इन दोनों अर्थ में प्रयुक्त है। अध्यात्म विद्या के अनन्तर आत्मविद्या का प्रस्ताव आवश्यक है। अत: ब्रह्मोपदेश के अनन्तर गार्हपत्य अग्नि ने सत्यकाम को अनुशासन देते हुए कहा कि– पृथ्वी, अग्नि, अन्न और सूर्य ये चारों मेरे स्वरूप हैं, परन्तु आदित्यमण्डल में जो पुरुष दिख रहा है वह मैं हूँ, वही मैं हूँ।

व्याख्या– यहाँ पृथ्वी का अन्न से सम्बन्ध है और अग्नि का आदित्य से। यद्यपि आदित्य में रहने वाला पुरुष ब्रह्म ही है और सनत्कुमार के मत में श्री सीताराम ही सूर्यमण्डल में विराजते हैं और यहाँ गार्हपत्य अग्नि यह कह रहा है कि मैं हूँ। इस विरोध का समाधान यह है कि– यहाँ आधिदैविक दृष्टि से वह पुरुष अग्नि है अर्थात् उसका आकार (रूप) आग्नेय है परन्तु स्वरूपत: वह श्रीसीताराममय है अर्थात् सूर्य मण्डलस्थ पुरुष का बहिरंग गार्हपत्य अग्नि है और अन्तरंग श्री सीताराम।।श्री।।१।।

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकीभवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषा: क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिँश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार जानता हुआ जो साधक चारों रूपों से सम्पन्न इस गार्हपत्य अग्नि की उपासना करता है, वह पापों की

कृत्या को नष्ट कर देता है। उत्तम लोकों को प्राप्त करता है। उसके कुल में आने वाली सन्ततियाँ नष्ट नहीं होती। वह सौ वर्ष पर्यन्त कर्म करता है, उज्जवल जीवन जीता है। हम तीनों अग्नि उसका लोक तथा परलोक में पालन करते हैं।।श्री।।२।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर चतुर्थ अध्याय के एकादश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण।।

।। श्रीराघवः शान्तनोतु ।।

।। द्वादश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब दक्षिणाग्नि के उपदेश का प्रस्ताव करते हैं।।श्री।।

अथ हैनमन्वाहार्यपचनोऽनुशशासापो दिशो नक्षत्राणि चन्द्रमा इति य एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर दक्षिणाग्नि ने उपकोसल से कहा कि– जल, दिशाएँ, नक्षत्र और चन्द्रमा में चारों मेरे स्वरूप हैं परन्तु चन्द्रमा में जो पुरुष दिखाई पड़ता है वह मैं हूँ, वही मैं हूँ। अर्थात् चन्द्रमण्डलस्थ पुरुष दक्षिणाग्निरूप है।।श्री।।

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकीभवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिँश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार जानता हुआ जो दक्षिणाग्नि की उपासना करता है, वह सभी पापों को नष्ट कर लेता है। सम्पूर्ण आयु पर्यन्त कर्मपक्ष पर रहता है। स्वच्छ जीवन जीता है। उसके कुल में भावी सन्ततियाँ नष्ट नहीं होती। लोक और परलोक में हम तीनों अग्नि उनका पालन करते हैं।।श्री।।२।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर चतुर्थ अध्याय के द्वादश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण।।

।। श्रीराघवः शान्तनोतु ।।

।। त्रयोदश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब आहवनीय के उपदेश का प्रकार कहते हैं।।श्री।।

अथ हैनमाहवनीयोऽनुशशास प्राण आकाशो द्यौर्विद्युदिति य एष विद्युति पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर आहवनीय ने कहा– प्राण आकाश, स्वर्गलोक और विद्युत् ये चारों मेरे स्वरूप हैं। विद्युत में जो पुरुष दिखता है वह मैं हूँ, वही मैं हूँ।।श्री।।१।।

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकीभवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जमोऽस्मिँश्च लोकेऽमुष्मिँश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार जानता हुआ जो साधक आहवनीय की उपासना करता है, वह पापों को नष्ट कर देता है। उसे उत्तम लोक मिलते हैं। वह पूर्ण आयु पर्यन्त कर्म करते हुए प्रसन्नता से जीता है उसके कुल में भावी संतति नष्ट नहीं होती। लोक तथा परलोक में हम तीनों अग्नि उसका पालन करते हैं।।श्री।।२।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर चतुर्थ अध्याय के त्रयोदश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शान्तनोतु ।।

।। चतुर्दश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– उपदेश के उपसंहार के लिए और गुरूजनों में गौरव बुद्धि के लिए इस खण्ड का प्रारम्भ किया जाता है। सर्वज्ञ होते हुए भी तीनों अग्नि गुरु की महिमा ख्यापित करने के लिए ही अग्निविद्या और आत्मविद्या का अन्तर नहीं कह रहे हैं।।श्री।।

ते होचुरुपकोसलैषा सोम्य तेऽस्मद्विद्यात्मविद्या चाचार्यस्तु ते गतिं वक्तेत्याजगाम हास्याचार्यस्तमाचार्योऽभ्युवादोपकोसल३ इति ।।१।।

रा०क०भा० सामान्यार्थ– तीनों अग्नियों ने कहा– उपकोसल ! हमने तुम्हें अग्निविद्या और आत्मविद्या का रहस्य समझाया और अब इन दोनों

विद्याओं की गति अर्थात् लक्ष्य तुम्हारे आचार्य समझायेंगे। यह कहकर तीनों अग्नि अन्तर्ध्यान हो गये। तब तक आचार्य सत्यकाम प्रवास से लौट आये। उन्होंने उपकोसल! कहकर बुलाया ॥श्री॥१॥

भगव इति ह प्रतिशुश्राव ब्रह्मविद इव सोम्य ते मुखं भाति को नु त्वानुशशासेति को न मानुशिष्याद्भो इतीहापेव निह्नुत इमे नूनमीदृशा अन्यादृशा इतीहाग्नीनभ्यूदे किं नु सोम्य किल तेऽवोचन्निति ॥२॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– उपकोसल ने कहा– भगवन्! मैं सेवा में उपस्थित हूँ। आचार्य ने विस्मय से पूँछा–सोम्य! तुम्हारा मुख ब्रह्मवेत्ता के जैसे चमक रहा है अर्थात् तुम ब्रह्म को जान लिए हो ऐसा जान पड़ता है। मेरे प्रवास करने पर तुम्हें किसने ब्रह्म का उपदेश दिया? उपकोसल ने थोड़ी प्रेमसंरम्भ की मुद्रा में कहा– आपके न रहने पर मुझे कौन उपदेश दे सकता है? यहाँ तो और कोई था नहीं केवल गुरुमाता ही विराजती थीं। उपकोसल वस्तुस्थिति छिपाना चाहते हैं। परन्तु आचार्य को विश्वास नहीं हो रहा है। तब उपकोसल ने कहा– इन अग्नियों ने जो उपदेश की दृष्टि से आपके समान है और आकार की दृष्टि से आपसे विलक्षण भी। क्योंकि वे देवता हैं। सत्यकाम ने पूँछा– अग्नियों ने क्या उपदेश दिया? ॥श्री॥२॥

संगति– इसके अनन्तर उपकोसल ने अग्नियों द्वारा उपदिष्ट दोनों विद्याओं का वर्णन किया और सत्यकाम ने ब्रह्म को इन दोनों से विलक्षण बताया ॥श्री॥

इदमिति ह प्रतिजज्ञे लोकान्वाव किल सोम्य तेऽवोचन्नहं तु ते तद्वक्ष्यामि यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यत इति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच ॥३॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– उपकोसल ने कहा– अग्नियों ने मुझे अग्निविद्या, आत्मविद्याद्वय का उपदेश दिया। सत्यकाम ने कहा– सोम्य! अग्नियों ने तुम्हें केवल लोकों का उपेदश किया। अर्थात् अग्निविद्या और आत्मविद्या से तुम ब्रह्मलोक पर्यन्त क्षणभंगुर लोकों एवं उनमें उपलब्ध नाशवान् भोगों को ही प्राप्त कर सकोगे। जो उनसे विलक्षण है, जिसका कभी नाश नहीं होता, वह हैं श्रीसीतारामरूप परब्रह्म के पदपद्मपरागमकरन्द का पान। मैं उसी ब्रह्म का तुम्हें उपदेश करूँगा जिसके जान लेने से ब्रह्मवेत्ता में पाप और पुण्य का संश्लेषात्मक लेप नहीं होता जैसे कमलपत्र

पर रहकर भी जल की बूँदें उसमें नहीं चिपकती। उपकोसल ने कहा– भगवान्! कृपा करके मुझे ब्रह्म का उपदेश करें। तब सत्यकाम ने उपकोसल को ब्रह्मविद्या का उपदेश किया ॥श्री॥३॥

॥ छान्दोग्योपनिषद् पर चतुर्थ अध्याय के चतुर्दश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ॥

॥ श्रीराघवः शन्तनोतु ॥

॥ पञ्चदश खण्ड ॥

सम्बन्ध भाष्य– अब पन्द्रहवें खण्ड में आचार्य सत्यकाम उपकोसल को ब्रह्म का उपदेश दे रहे हैं ॥श्री॥

प्रश्न– यह तो अव्युत्पन्न हो गया क्योंकि श्रुतियाँ तो स्पष्ट कहती हैं कि– ब्रह्म को कोई नहीं जान पाता। जिसको ये वरण करते हैं उसी की सहायता से प्राप्त हो सकते हैं। वह सब कुछ जानते हैं उनको कोई नहीं जानता और गीता (१०/१५) में अर्जुन भी कहते हैं कि– हे पुरुषोत्तम! आप ही अपने से अपने को जानते हैं। इस प्रकार श्रुतियों और स्मृतियों में जब जीव के लिए ब्रह्मज्ञान की असम्भावना ही कह दी गयी तो सत्यकाम ने उपकोसल को ब्रह्मज्ञान का उपदेश कैसे दिया?

उत्तर– यह कोई दोष नहीं है। पहली बात तो यह कि श्रुति ने ब्रह्म के समग्रज्ञान का निषेध किया है और वह उचित भी है। क्योंकि ब्रह्म व्यापक होकर चेतन है और जीव अणु होकर चेतन है। 'अणुत्वे सति चेतनत्वं जीवत्वं व्यापकत्वे सति चेतनत्वं ब्रह्मत्वं' इसलिए जीव को संत भगवन्त की कृपा से उसकी पात्रतानुसार ब्रह्मज्ञान में श्रुति का निषेध नहीं है। नहीं तो उनका आरम्भ ही व्यर्थ हो जायेगा और ब्रह्म की वृत्यारूढ़ता भी सभी वेदान्तियों को सम्मत नहीं है। ईश्वर जब कृपा करते हैं तो स्वयं अपना ज्ञान करा देते हैं और वह ईश्वर कृपा भगवद्भक्ति साध्य है। गीता (१८/५५) में भगवान् स्वयं कहते हैं– 'भक्त्या मामभिजानाति' जीवभक्ति से ही मुझे अभीष्टरूप में जान लेता है। अतः सत्यकाम भक्त हैं और दूसरी बात यह भी है कि गुरु में ही ब्रह्म का व्यपदेश हो जाता है। उपदेश की बेला में सद्गुरु के मुख से स्वयं भगवान् बोलते हैं। गुरु गीता में कहा भी गया–

गुरु ब्रह्मा गुरु विष्णु हैं महादेव गुरुदेव।
नमस्कार गुरु आपको परब्रह्म स्वयमेव॥

अत: परब्रह्मरूप सत्यकाम ने उपकोसल को ब्रह्म उपदेश दिया।।श्री।।

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतभयमेत-द्ब्रह्मेति तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चन्ति वर्त्मनी एव गच्छति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो नेत्र में पुरुषाकार दिख रहा है, वह आत्मा अर्थात् सर्वव्यापी परमात्मा हैं। वही मरणधर्मरहित हैं, वही भयशून्य है। जिस प्रकार जल और घी अर्थात् दही में जल छोड़ने पर भी मथने पर मक्खन ऊपर आ जाता और जिस प्रकार आँख में डालने पर जल चारों ओर वह जाता है मुख्य पुतली पर नहीं छू पाता, उसी प्रकार संसार के प्रपंच समीप जाकर भी ब्रह्म को विकृत नहीं कर पाते।।श्री।।

व्याख्या– वह ब्रह्म हमसे दूर नहीं है इसलिए अक्षिपुरुष की उपमा दी गयी। वह आत्मा है अर्थात् परमात्मा है। 'आप्नोति इति आत्मा' सर्वव्यापक होने से भगवान् को आत्मा कहते हैं। 'आहूता अततीति आत्मा' जो आदर पूर्वक बुलाने पर सतत भक्त के पास चले जाते हैं वे परमेश्वर ही आत्मा हैं। 'आदत्ते भक्तानां भावान् य: स: आत्मा' जो भक्तों के भावों को ग्रहण करते हैं वे प्रभु आत्मा हैं। कोई आत्मा शब्द से जीवात्मा न समझ ले इस पर कहते हैं 'अमृतं' वह मरणधर्म से रहित है। मुक्तात्मा भी मरणधर्म से रहित होता है पर उसे भी तो भगवान् का डर रहता है। इस पर कहते हैं 'अभयं' जो भय रहित है। वही परब्रह्म है। उसे कैसे जाना जाय? इस पर दृष्टांत देते हैं कि– जैसे जल के समीप रहकर भी मथने पर मक्खन उससे अलग हो जाता है और जैसे नेत्र में सींचने पर भी जल उसे नहीं छू पाता उसी प्रकार प्रपञ्च भगवान् को नहीं छू पाते। यहाँ आत्माशब्द से जीवात्मा समझना बहुत अनुचित है क्योंकि 'पुरुषो दृश्यते' यह कर्मवाच्य का प्रयोग है। स्वयं, स्वयं के द्वारा नहीं देखा जाता। कर्म और कर्त्ता में भेद होता ही है और दृष्टि तथा द्रष्टा में भी भेद रहता ही है। जीवात्मारूप द्रष्टा द्वारा परमात्मारूप दृश्य आँख में देखा जाता है और दूसरी बात यह है कि यहाँ जीवात्मा इसलिए सम्भव नहीं है क्योंकि अपनी ही आँख में स्वयं कैसे दिखेगा। आँख अवयव है और जीवात्मा अवयवी। ब्रह्मपद से कोई प्रकृति, ब्राह्मण, वेद आदि अर्थ न ले ले इस पर अमृतं, अभयं विशेषण देते हैं। अर्थात् ये मरण और भय से रहित हैं।।श्री।।१।।

संगति– अब फिर सत्यकाम उसी ब्रह्म की महिमा का वर्णन करते हैं ।।श्री।।

एतँ संयद्वाम इत्याचक्षत एतँ हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति सर्वाण्येनं वामान्यभिसंयन्ति य एवं वेद ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसी परब्रह्म परमात्मा को विद्वान् लोग संयद्वाम कहते हैं क्योंकि सभी 'वाम' अर्थात् सुन्दर वस्तुएँ उन्हीं परमात्मा के पास आती हैं। इन्हीं को प्राप्त करके पदार्थों में सौन्दर्य आता है। जैसा कि मानसकार कहते हैं कि– जहाँ श्रीराम जैसा दूल्हा, श्रीसीता जी जैसी दुलहिन एवं पवित्र श्रीदशरथ जैसे समधी हो ऐसा विवाह सुनकर विधाता ने उन्हें धन्य कर दिया ऐसी धारणा से सारे सकुन नाचने लगे ।।श्री।।

राम सरिस बर दुलहिन सीता। समधी दशरथ जनक पुनीता ।।
सुन अस व्याह सगुन सब नाचे। अब कीन्हे विरंचि हम साँचे ।।

(मा०बा० ३०४/२,३)

इस प्रकार जो जानता है सभी सुन्दर वस्तुएँ उसके पास चली आती है ।।श्री।।२।।

एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि नयति सर्वाणि वामानि नयति य एवं वेद ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यह परमात्मा ही वामनी है, क्योंकि सभी सौन्दर्य इन्ही को प्राप्त होते हैं। जो परमेश्वर को जानते हैं वे भी सभी सौन्दर्यों को प्राप्त हो जाते हैं ।।श्री।।३।।

एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यही परमात्मा भामनी हैं, क्योंकि ये ही सभी लोकों में दीप्त होते हैं। जो इन्हें जानता है वह भी सभी लोकों में दीप्त हो जाता है ।।श्री।।४।।

अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि चनार्चिषमेवाभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षड्ुदङ्ङेति मासाँस्तान्मा-

सेभ्यः संवत्सरँ संवत्सरादादित्यमादित्याचन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः ।।५।।

स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते ।।६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार वामनी, भामनी का उपासक जब शरीर छोड़ता है, उस समय उसके कुटुम्बी जन लोकलज्जा वश उसका श्राद्धादि करें या न करें, ब्रह्मवेत्ता को कोई अन्तर नहीं पड़ता। क्योंकि भागवतजी में नवयोगेश्वरों ने महाराज निमि से कहा– हे राजन्! जो सर्वभाव से सांसारिक प्रपंचों को छोड़कर सर्वशरण्य, भगवान् की शरण में चला जाता है, वह देवता ऋषि और पितरों का न तो ऋणी रहता है और न सेवक। अतएव ब्रह्मवेत्ता शरीर छोड़कर पहले अग्निज्वाला को फिर उससे दिनाभिमानी देवता को और उससे कलाओं से अभिपूरित होने वाले शुक्लाभिमानी देवता को, उसे भी अतिक्रान्त करके मकर से लेकर मिथुन राशि पर्यन्त छः महीने के उत्तरायण को और उसे भी अतीत कर माघ से लेकर अषाढ़ पर्यन्त छः उत्तरायण के महीनों को उनसे सम्वत्सर को और सम्वत्सर से सूर्य को, सूर्य से चन्द्र को, चन्द्र से विद्युत् को ब्रह्मवेत्ता प्राप्त करते हैं। वहाँ से एक मनुष्य से विलक्षण पुरुष उन्हें विमान से ब्रह्म तक पहुँचा देता है। यही देवपथ है यही ब्रह्मपथ है। यहाँ जाकर ब्रह्मवेत्ता इस संसार के चक्र में नहीं लौटते, नहीं लौटते ।।श्री।।

व्याख्या– इस प्रसंग को गीताजी के आठवें अध्याय के तेइसवें श्लोक से छव्वीसवें श्लोक तक भगवान् श्रीकृष्ण ने अत्यन्त रोचकता से प्रस्तुत किया है ।।श्री।।५,६।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर चतुर्थ अध्याय के पञ्चदश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। षोडश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– यज्ञ, दान और तप मनुष्य की बुद्धि को पवित्र करते हैं। जिनकी बुद्धि अपवित्र होती है वे ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं कर सकते, इसलिए यज्ञोपासना का वर्णन कर रहे हैं ।।श्री।।

एष ह वै यज्ञो योऽयं पवत एष ह यन्निदँ सर्वं पुनाति यदेष यन्निदँ सर्वं पुनाति तस्मादेष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक्च वर्तनी ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यह प्रत्यक्ष वायु ही यज्ञ है क्योंकि यह सबको पवित्र करता है। जैसे चलता हुआ वायु सबको पवित्र करता है उसी प्रकार गतिशील भगवान् भी सबको पवित्र करते हैं। उनकी समानता होने के कारण वायु यज्ञ है। मन और वाणी उसकी वर्तनी है।।श्री।।१।।

संगति– अब यज्ञ में ब्रह्मा के मौन भंग होने पर उसके पाप के परिहार का उपाय कहते हैं। यहाँ दो मंत्र एक- अन्वयी है।।श्री।।

तयोरन्यतरां मनसा सँस्करोति ब्रह्मा वाचा होताध्वर्युरुद्गातान्यतराँस यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यववदति ।।२।।

अन्यतरामेव वर्तनीं सँस्करोति हीयतेऽन्यतरा स यथैकपाद् व्रजन्रथो वैकेन चक्रेण वर्तमानो रिष्यत्येवमस्य यज्ञो रिष्यति यज्ञँ रिष्यन्तं यजमानोऽनुरिष्यति स दृष्ट्वा पापीयान्भवति ।।२,३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– मन और वाणी रूप वर्तनियों में से ब्रह्मा मनरूपी वर्तनी का संस्कार करता है और उद्गाता अध्वर्यु वाणी का संस्कार करता है। जब प्रातःकालीन अनुवाक् प्रारम्भ होने पर ब्रह्मा परिधानी ऋचा के समक्ष अपना मौन तोड़ देता है उसी समय ब्रह्मा की वाग् वर्तनी नष्ट हो जाती है तब वह उसी प्रकार का हो जाता है जैसे एक पैर से चलने वाला पुरुष और एक चक्के से चलने वाला रथ। इस प्रकार मनोवर्तनी के आधार पर वह यज्ञ नष्ट हो जाता है और यज्ञ के नष्ट हो जाने पर यजमान नष्ट हो जाता है। उसे देखकर ब्रह्मा को पाप लगता है।।श्री।।२,३।।

संगति– अब दो मन्त्रों से ब्रह्मा के यज्ञ में मौन रखने से यज्ञ का उत्कर्ष कहते हैं।।श्री।।

अथ यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके न पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यववदत्युभे एव वर्तनी सँस्कुर्वन्ति न हीयतेऽन्यतरा ।।४।।

स यथोभयपाद् व्रजन्रथो वोभाभ्यां चक्राभ्यां वर्तमानः प्रतितिष्ठित्येवमस्य यज्ञः प्रतितिष्ठति यज्ञं प्रतितिष्ठन्तं यजमानोऽनु प्रतितिष्ठति स इष्ट्वा श्रेयान्भवति ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इससे विपरीत प्रातःकालीन अनुवाक् के

प्रारम्भ होने पर परिधानी ऋचा के सामने जब ब्रह्मा मौन नहीं तोड़ता तो उसकी मनोवाक् वर्तनियाँ संस्कृत हो जाती है और जैसे दो पैरों से चलने वाला पुरुष तथा दो चक्कों से चलने वाला रथ उसी प्रकार उसका यज्ञ प्रतिष्ठित होता है और उससे यजमान प्रतिष्ठित होता है और उससे ऐसा यज्ञ करके ब्रह्मा कल्याणमय युक्त हो जाता है ।।श्री।।४,५।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर चतुर्थ अध्याय के षोडस खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। सप्तदश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब ब्रह्मा के मौनभङ्ग के प्रायश्चितस्वरूप में व्यवहित होम का वर्णन करते हैं ।।श्री।।

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेषां तप्यमानानाँ रसान्प्रावृहदग्निं पृथिव्या वायुमन्तरिक्षादादित्यं दिवः ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर प्रजापति ब्रह्मा अथवा परमात्मा ने लोकों का चिन्तन किया और उससे पृथ्वी, अन्तरिक्ष, अग्नि और स्वर्गरूप रस को निकाला। अर्थात् पृथ्वी से अग्नि को, अन्तरिक्ष से वायु को और आदित्य को स्वर्ग लोक से प्रकट किया ।।श्री।।१।।

स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत्तासां तप्यमानानाँ रसान्प्रावृहदग्नेर्ऋचा वायोर्यजूँषि सामान्यादित्यात् ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर प्राजापति ने अग्नि, वायु, आदित्यरूप तीन देवताओं का चिन्तन किया। उनसे रस प्रकट किया। वे थे अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और आदित्य से सामवेद को प्रकट किया ।।श्री।।२।।

स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत्तस्यास्तप्यमानाया रसान् प्रावृहद्भूरित्यृग्भ्यो भुवरिति यजुर्भ्य स्वरिति सामभ्यः ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर ब्रह्मा जी ने वेदत्रयी का चिन्तन किया। ऋग्वेद से भूर्लोक, यजुर्वेद से भुवर्लोक तथा सामवेद से स्वर्लोकरूप रस को प्रकट किया ।।श्री।।३।।

तद्यद्यृक्तो रिष्येद्भूः स्वाहेति गार्हपत्ये जुहुयादृचामेव तद्रसेनर्चां वीर्येणर्चां यज्ञस्य विरिष्टँ संदधाति ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसलिए यदि ऋग्वेद से कुछ न्यूनता हो तो 'भूः स्वाहा' कहकर गार्हपत्य में प्रायश्चित हवन करना चाहिए। क्योंकि यज्ञ की न्यूनता को ऋचाओं के रस से, ऋचाओं के वीर्य से और ऋचाओं के व्याहृतिविशेष से ही यजमान संयुक्त करके उसे पूर्ण बनाता है ।।श्री।।४।।

अथ यदि यजुष्टो रिष्येद्भुवः स्वाहेति दक्षिणाग्नौ जुहुयाद्यजुषामेव तद्रसेन यजुषां यज्ञस्य विरिष्टँ संदधाति ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसी प्रकार यदि यजुर्वेद सम्बन्धी कोई त्रुटि हो तो 'भूः स्वाहा' कहकर दक्षिणाग्नि में प्रायश्चितहवन करना चाहिए। यजुस् के रस से और यजुस् के प्रभाव से यजमान यज्ञ की त्रुटि को पूर्ण कर सकता है ।।श्री।।५।।

अथ यदि सामतो रिष्येत्स्वः स्वाहेत्याहवनीये जुहुयात्साम्नामेव तद्रसेन साम्नां वीर्येण साम्नां यज्ञस्य विरिष्टँ संदधाति ।।६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर यदि सामवेद से त्रुटि हो तो 'स्वः स्वाहा' कहकर अहवनीय में स्वाहा करना चाहिए। यज्ञ की सम्पूर्ण त्रुटि को यजमान सामवेद के रस से तथा सामवेद के पराक्रम से समाप्त करता है ।।श्री।।६।।

तद्यथा लवणेन सुवर्णं संदध्यात्सुवर्णेन रजतँ रजतेन त्रपु त्रपुणा सीसँ सीसेन लोहं लोहेन दारु दारु चर्मणा ।।७।।

एवमेषां लोकानामासां देवतानामस्यास्त्रय्या विद्याया वीर्येण यज्ञस्य विरिष्टँ संदधाति भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवति ।।८।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब दो मन्त्रों से ब्रह्मा की शास्त्रज्ञता की महिमा का वर्णन करते हैं। जिस प्रकार नमक से स्वर्ण, सवर्ण से चाँदी, चाँदी से काष्ठ और काष्ठ से चर्म का संयोग होता है। इसी प्रकार भूर्भुवः स्वः लोकों की एवं इनके देवताओं की त्रयीविद्या की न्यूनता को यज्ञ समाप्त कर देता है। जहाँ इस प्रकार शास्त्रज्ञब्रह्मा रहता हो वह यज्ञ संसार का कल्याण करने वाला होता है ।।श्री।।७,८।।

संगति– अब दो मन्त्रों ऋत्विक् और ब्रह्मा के ज्ञान की प्रशंसा करते हैं ।।श्री।।

एष ह वा उदक्प्रवणो यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवत्येवंविदँ ह वा एषा ब्रह्माणमनु गाथा यतो यत आवर्तते तत्तद्गच्छति ।।९।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जहाँ इस प्रकार का प्रायश्चित होम जानने वाला ब्रह्मा होता है वह यज्ञ उदकप्रवण अर्थात् जलप्रवाह की भाँति उत्तरपथाभिमुख होता है और इस प्रकार के ब्रह्मा के प्रति एक गाथा प्रसिद्ध है कि जिस-जिस वेद से न्यूनता होती है उसी-उसी व्याहृति से उसका परिहार भी होता है ।।श्री।।९।।

मानवो ब्रह्मैवैक ऋत्विक्कुरूनश्वाभिरक्षत्येवंविद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानँ सर्वांश्चर्त्विजोऽभिरक्षति तस्मादेवंविदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवंविदं नानेवंविदम् ।।१०।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जिस प्रकार मनु संस्कृति के पालक मन्त्र से संस्कृत और मंत्र के लिए हितैषी एकमात्र ब्रह्मा ही ऋत्विक् होता है, जिस प्रकार अश्वलोक युद्ध करने वाले वीरों की रक्षा करते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मा, यज्ञ और ऋत्विजों की रक्षा करते हैं। इसलिए यज्ञरहस्य के जानने वाले को ही ब्रह्मा बनाना चाहिए ।।श्री।।१०।।

इति श्री चित्रकूटस्थ स्वाम्नाय श्रीतुलसीपीठाधीश्वर श्रीमद् जगद्गुरुरामानन्दाचार्य श्रीरामभद्राचार्य महाराज कृतौ श्रीराघवकृपाभाष्ये छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थ अध्याये ऋत्विग्विवरणे चतुर्थाध्यायः सम्पूर्णः ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

●

।। पञ्चम अध्याय ।।

।। प्रथम खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य–

पंचेषुर्निजपंचमञ्चविजहौ यं पंचवक्त्रार्चितम्।
पश्यन्पञ्चसिद्धगीतधरितं पञ्चार्दनं पंचमम्।।
पंचम्येकनिषेवणीयमनिशं पञ्चम्युपालब्धिकम्।
तं काष्ठेभमुखेभगण्डहतिकृत् पंचाननं विद्महे।।१।।

पञ्चमीश कृताऽशेषशेषताकमशेषपम्।
पंचपंचकृतं पंचपंचमं पञ्चमं श्रये।।२।।

चतुर्थ अध्याय के अनेक उपपत्तियों द्वारा प्राण तथा वायु की उपासना का वर्णन किया गया और उसी क्रम में संवर्ग विद्या का प्रकरण भी आया और ब्रह्मज्ञान की जटिलता तथा गुरु तथा अग्नि की विशिष्टता का परिचय दिया गया। अब पञ्चमखण्ड में उसी प्राण के श्रेष्ठत्व, विशिष्टत्व आदि गुणों का वर्णन करने के लिए इस अध्याय का प्रारम्भ करते हैं।।श्री।।

प्रश्न– यह तो सर्वथा अनुचित है, ब्रह्मविद्या के उत्पादन में प्राण की उत्कृंष्टता से क्या लेना देना ?

उत्तर– नहीं। यहाँ प्राण की श्रेष्ठता का वर्णन प्रासंगिक है। इसी बहाने ब्रह्म की महिमा का वर्णन किया जा सकेगा। अर्जित के वर्णन से ब्रह्म का वर्णन अपने आप गतार्थ हो जाता है। जैसा कि गीता (१०/३९) में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं– जो कुछ भी भूतिमान्, श्रीसम्पन्न तथा ऊर्जायुक्त जीव जगत् है, उस सबको अपने तेजोमय अंश से उत्पन्न हुआ जानो। इसलिए सब कुछ अविरुद्ध ही है। अब पहले प्राण की श्रेष्ठता के प्रतिपादन हेतु दो खण्डों का प्रतिपादन दो आख्यायिकाओं से किया जा रहा है।।श्री।।

ॐ यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो व्यक्ति ज्येष्ठ और श्रेष्ठ को जानता है वह जेष्ठ और श्रेष्ठ हो जाता है। अवस्था से अधिक को जेष्ठ कहते हैं और गुण से अधिक को श्रेष्ठ कहते हैं। प्राण ही जेष्ठ और श्रेष्ठ है क्योंकि यह

गर्भ में आने के पश्चात् वाणी से पहले जीवात्मा के शरीर में प्रवेश करता है और इसी के कारण वाणी आदि के अवयव सक्रिय होते हैं।।श्री।।१।।

यो ह वै वसिष्ठं वेद वसिष्ठो ह स्वानां भवति वाग्वाव वसिष्ठः ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो व्यक्ति निश्चय करके वसिष्ठ को जान लेता है वह अपनी ज्ञाति वसिष्ठ हो जाता है। वाणी ही वसिष्ठ है 'अतिशयेन वसते इति वसिष्ठः अतिशयेन वसुमान्वा'। जो अत्यन्त आच्छादन करता है अर्थात् वस्त्रादि देकर तन को ढकता है, विद्यादान से सबके दोषों को ढकता है वह वसिष्ठ है। अथवा जो सबसे अधिक वसुमान् अर्थात् धनवान् होता है उसे वसिष्ठ कहते हैं। महर्षि वसिष्ठ एक प्रभावशाली ऋषि थे। बिना किसी से माँगे अपने ही तपप्रभाव से दस हजार शिष्यों का पालन-पोषण करते थे और परब्रह्म परमात्मा जैसा परमधन उन्हें विद्यार्थी रूप में प्राप्त था। इसीलिए उन्हें वसिष्ठ कहा गया। 'स्वानाम्' यहाँ ज्ञातिवाचक है क्योंकि 'सवमज्ञाति धनाख्यायाम्' (पा०अ० १/१/३६) सूत्र ज्ञाति और धन से अतिरिक्त अर्थ में 'स्व' शब्द की सर्वनामसंज्ञा करता है। अतः 'स्वेषाम्' के स्थान पर 'स्वानाम्' सर्वनाम संज्ञक से भिन्न प्रयोग भी यहाँ ज्ञाति अर्थ का संकेत कर रहा है। यदि कहें कि 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा' सूत्र के विकल्प विधान से यहाँ सर्वनामसंज्ञा में भी 'स्वानाम्' प्रयोग बन गया है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि वह सूत्र तो अस्मात् और अस्मिन् का ही विकल्प करता है। इसीलिए भागवत (१/८/१) में महर्षि वेदव्यास ने 'स्वानामुदमिच्छताम्' प्रयोग किया। स्वेषाम् न कहने में महर्षि का अभिप्राय यही था कि– यद्यपि दुर्योधनादि जो महाभारत के युद्ध में मारे गये थे युधिष्ठिर के आत्मीय नहीं थे परन्तु उनकी ज्ञाति के थे। अतः पाण्डवों से ज्ञाति अधिकार के कारण तिलांजलिजल चाहते थे। इस दृष्टि से यहाँ श्रुति ने कहा कि– वसिष्ठ का रहस्य जानने वाला अपनी ज्ञाति में सबसे अधिक धनवान् और वस्त्रादि से आच्छादित हो जाता है।।श्री।।२।।

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठत्यस्मिँश्च लोकेऽमुष्मिँश्च चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब प्रतिष्ठा की व्याख्या करती हुई श्रुति कहती हैं– जो प्रतिष्ठा को जानकर उपासना करता है, वह इस लोक और परलोक में प्रतिष्ठा पाता है। नेत्र ही सबकी प्रतिष्ठा है क्योंकि इसी से रूप का साक्षात्कार होता है।।श्री।।३।।

यो ह वै संपदं वेद सँ हास्मै कामाः पद्यन्ते दैवाश्च मानुषाश्च श्रोत्रं वाव संपत् ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो व्यक्ति सम्पत्ति को जानकर उपासना करता है उसके लिए देवताओं एवं मनुष्यों के मनोभिलषित पदार्थ उपस्थित हो जाते हैं। श्रवण ही सबकी सम्पत्ति है क्योंकि सभी शब्दों का साक्षात्कार इसी से होता है ।।श्री।।४।।

यो ह वा आयतनं वेदायतनँ ह स्वानां भवति मनो ह वा आयतनम् ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो व्यक्ति आयतन को जानता है वह अपने ज्ञाति का आयतन अर्थात् आश्रय हो जाता है। मन ही आयतन है क्योंकि शरीरप्रारम्भक संकल्प उसी में निवास करते हैं ।।श्री।।५।।

अथ ह प्राणा अहँश्रेयसि व्यूदिरेऽहँश्रेयानस्म्यहँश्रेयानस्मीति ।।६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार प्राण की ज्येष्ठता, वाणी की वरिष्ठता का निर्धारण कर लिए जाने पर श्रेष्ठता के विषय में 'मैं इससे श्रेष्ठ हूँ, मैं इससे श्रेष्ठ हूँ' इस प्रकार प्राण, वाणी, चक्षु, श्रोत्र और मन परस्पर विवाद करने लगे। गुण में कौन किससे अधिक है यही यहाँ की जिज्ञासा है ।।श्री।।६।।

प्रश्न– यह सब अत्यन्त असंगत है, क्योंकि प्राण, वाणी, चक्षु, श्रोत्र और मन ये पाँचों जड़ हैं। अतः इनके वसिष्ठ, प्रतिष्ठा, सम्पत्, और आयतन नाम और इनके जानने वाले के ज्येष्ठत्व आदि फल से सब प्रपञ्च मात्र हैं ?

उत्तर– ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि हम लोग औपनिषद हैं इसलिए हमारे मत में ये पाँचों क्रम से परमात्मा, अग्नि, सूर्य, दिशा और चन्द्रमा इन पांच देवताओं से अधिष्ठित होने के कारण चेतन है जड़ नहीं इसलिए इनके नाम भी उचित हैं और उनके जानने वालों के फल भी। प्राणों के देवता परमात्मा हैं 'स उ प्राणस्य प्राणः' (केन०उ० १/१२) इसीलिए वह सबसे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। वाणी के देवता अग्नि है। इसलिए वाणी वसिष्ठ है क्योंकि श्रुति ने प्रथम ऋचा में ही अग्नि को 'रत्नधातव' कहा है। चक्षु के देवता सूर्य हैं वे सबकी प्रतिष्ठा हैं। श्रुति ने उन्हें जड़-चेतन

सबकी आत्मा कहा है। इसलिए चक्षु को प्रतिष्ठा कहने में आपत्ति नहीं है। श्रोत्र के देवता दिशा हैं। वह वात्सल्यमयी माँ हैं उसके कारण श्रवण सम्पत् हैं। इसी से शास्त्ररूपसम्पत् का श्रवण होता है। मन के देवता चन्द्रमा हैं, सारे संसार को जीवन देने वाला अमृत उन्हीं में है। इसलिए चन्द्रमा से अधिष्ठित मन को आयतन कहा गया है और इनके जानने वालों के लिए इन फलों का विधान उचित ही है। किन्तु इन देवताओं से अधिष्ठित मन को आयतन कहा गया है और इनके जानने वालों के लिए इन फलों का विधान उचित ही है किन्तु इन देवताओं में परमात्मा सबसे श्रेष्ठ हैं क्योंकि वे देवाधिदेव हैं। इसलिए उनसे अधिष्ठित प्राण की श्रेष्ठता निर्विवाद है क्योंकि और देवता तो एक-एक फल देते हैं परन्तु परमात्मा सर्वदेवमय होने के कारण एक साथ सभी फल देते हैं। इसीलिए भागवत (२/३/१०) में शुक्राचार्य ने परमात्मा को सभी देवों से व्यतिरिक्त करते हुए कहा कि– चाहे कोई अकाम हो अथवा सभी कामनाओं का आश्रय हो अथवा मुमुक्ष हो इन तीनों को तीव्र भक्तियोग से परमपुरुष परमात्मा का ही भजन करना चाहिए। अतः कारुणिकशिरोमणि भगवती श्रुति प्राण की श्रेष्ठता का ही प्रतिपादन कर रही है जिससे सुधीजन इतर देवताओं में इष्टबुद्धि न करके भगवान् की ही शरण लें ।।श्री।।

तज कुसंग गिरिधर गहहु चरनशरन ब्रजराज ।।
बचा न पाये पंचपति द्रुपदसुता की लाज ।।

यही इस आख्यायिका का प्रयोजन है। जो आद्यशंकराचार्य ने श्रुति की आख्यायिकाओं में काल्पनिकत्व का आरोप किया है वह बहुत अनुचित है कयोंकि श्रुतियाँ अपौरुषेय हैं। वे भगवान् की निःस्वासरूप हैं। इसलिए वे भी भगवनमय हैं। भला भगवद्स्वरूप श्रुतियाँ झूठ क्यों बोलेगी। श्रुतियों को झूठ तो प्रच्छन्नबौद्ध ही कर सकते हैं। हमारे वस का नहीं है और न ही श्रुत्यक्षरों को काल्पनिक कहने में मेरी आस्था है। अब आख्यायिका का अगला स्वरूप देखिये—

ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुर्भगवन्को नः श्रेष्ठ इति तान्होवाच यस्मिन्व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्येत स वः श्रेष्ठ इति ।।७।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– वे परस्पर विवाद करते हुए प्रजाओं के पति साकेतविहारी श्री सीताराम जी के पास आये और पूछने लगे– भगवन्!

हम लोगों में से कौन श्रेष्ठ है ? भगवान् ने कहा– शरीर से जिसके निकल जाने पर यह शरीर अत्यन्त पापी हो जाता है अर्थात् कोई श्रौत्र-स्मार्त क्रिया नहीं कर सकता वही श्रेष्ठ है। कौन श्रेष्ठ है ? इसका निर्णय मैं नहीं दूँगा नही तो तुमलोग मुझ पर पक्ष-पात का आरोप करोगे। अब तुम लोग ही क्रमशः निकल-निकल कर किसी एक की श्रेष्ठता का निर्णय कर लोगे। यह कहकर भगवान् ने पाँचों देवताओं को भेज दिया।।श्री।।७।।

संगति– अब आठवें मंत्र से लेकर खण्ड पर्यन्त पाँचों की श्रेष्ठत्व परीक्षा का प्रकार कहा गया है।।श्री।।

सा ह वागुच्चक्राम सा संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति यथा कला अवदन्तः प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह वाक् ।।८।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर वाणी विराट् शरीर को छोड़कर भगवदात्मक आकाश में चली गयी। एक वर्षीय प्रवास के पश्चात् लौटकर उसने चारों से पूँछा– तुम मेरे बिना इस शरीर को कैसे धारण कर सके ? प्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन के अभिमानी देवता बोले– गूँगे के जैसे। जैसे गूँगे न बोलते हुए भी स्वांस लेते हैं, देखते हैं, सुनते हैं और ध्यान करते हैं उसी प्रकार तुम्हारे विना भी हमने शरीर धारण किया अर्थात् वाणी के विना शरीर पापिष्ठ हुआ परन्तु पापिष्ठतर नहीं। अब वाणी ने श्रेष्ठता का अभिमान छोड़कर शरीर में प्रवेश कर लिया।।श्री।।८।।

चक्षुर्होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति यथान्ध अपश्यन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह चक्षुः ।।९।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर चक्षु ने विराट् शरीर से उत्क्रमण किया। एक वर्ष प्रवास करके लौटकर उसने प्राण, वाणी, श्रोत्र और मन से पूँछा– तुम मेरे बिना कैसे जीवित रह सके ? उन्होंने कहा– जैसे दृष्टिहीन लोग न देखते हुए भी स्वांस लेते हैं, बोलते हैं, सुनते हैं और ध्यान करते हैं अर्थात् चक्षु के बिना भी सब व्यवहार चल जाते हैं। शरीर पापिष्ठ हुआ पर पापिष्ठतर नहीं। तब चक्षु ने श्रेष्ठता का अभिमान छोड़कर शरीर में प्रवेश कर लिया।।श्री।।९।।

श्रोत्रँ होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति यथा बधिरा अश्रृण्वन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह श्रोत्रम् ।।१०।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अनन्तर श्रोत्र ने विराट् शरीर से उत्क्रमण किया। एक वर्ष के प्रवास से लौटकर प्राण, वाणी, चक्षु, मन से पूँछा– तुम मेरे बिना कैसे जीवित रह सके ? उन्होंने कहा– जैसे बहरे लोग कान से न सुनते हुए भी स्वांस लेते, बोलते, देखते और ध्यान करते हुए जी लेते हैं, उसी प्रकार हम भी जी लेते हैं। तुम्हारे बिना शरीर पापिष्ठ है पापिष्ठतर नहीं। तब श्रोत्र ने श्रेष्ठता का अभिमान छोड़कर शरीर में प्रवेश कर लिया ।।श्री।।१०।।

मनो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति यथा बाला अमनसः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा श्रृण्वन्तः श्रोत्रेणैवमिति प्रविवेश ह मनः ।।११।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर मन ने विराट शरीर का उत्क्रमण किया एक वर्षीय प्रवास से लौटकर प्राणादि से पूँछा– तुम मेरे बिना कैसे जी सके ? उन्होंने कहा– जिस प्रकार बालक मन के बिना भी स्वास लेते, बोलते, देखते और सुनते हुए जी लेते हैं, अर्थात् तुम्हारे बिना शरीर पापिष्ठ हुआ परन्तु पापिष्ठतर नहीं। अब मन ने श्रेष्ठता का अभिमान छोड़कर शरीर में प्रवेश किया ।।श्री।।११।।

संगति– अब प्राण के उत्क्रमण करने की दशा का वर्णन करते हैं ।।श्री।।

अथ ह प्राण उच्चिक्रमिषन्त्स यथा सुहयः पड्वीशशङ्कून् संखिदेदेवमितरान्प्राणान्समखिदत्तँ हाभिसमेत्योचुर्भगवन्नेधि त्वं नः श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रमीरिति ।।१२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर प्राण के अधिदेवता अन्तर्यामी से प्रेरित होकर प्राण ने उत्क्रमण करने की इच्छा की। उसके पश्चात् जैसे सुन्दर घोड़ा कोड़े से मारने पर दृढ़ता से बंधे हुए पाण्डाल के खूँटों को हिला देता है उसी प्रकार प्राण ने वाणी, चक्षु, श्रोत्र और मन को हिला दिया फिर चारों ने इकट्ठे होकर कहा– भगवन् आप प्रसन्न हों, शरीर को छोड़कर न जायें आप हम सबमें श्रेष्ठ हैं ।।श्री।।१२।।

संगति– अब दो मन्त्रों से ये चारों अपनी-अपनी योग्यता का प्राण को समर्पण करते हैं ।।श्री।।

अथ हैनं वागुवाच यदहँ वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीत्यथ हैनं चक्षुरुवाच यदहं प्रतिष्ठास्मि त्वं तत्प्रतिष्ठासीति ।।१३।।

अथ हैनं श्रोत्रमुवाच यदहँ संपदस्मि त्वं तत्संपदसीत्यथ हैनं मन उवाच यदहमायतनमस्मित्वं तदायतनमसीति ।।१४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर वाणी ने प्राण से कहा– जो वसिष्ठ मैं हूँ, वह वसिष्ठ तुम्ही हो। चक्षु ने कहा– जो प्रतिष्ठा मैं हूँ, वह प्रतिष्ठा तुम्ही हो। अनन्तर श्रोत्र ने कहा– जो संपत् मैं हूँ, वह सम्पत् तुम्ही हो। मन ने कहा– जो आयतन मैं हूँ, वह आयतन तुम्ही हो ।।श्री।।१३,१४।।

न वै वाचो न चक्षूँषि न श्रोत्राणि न मनाँसीत्याचक्षते प्राणा इत्येवाचक्षते प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवन्ति ।।१५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– वाणी, नेत्र, श्रवण और मन इन्हें प्राण नहीं कहते अत: ये प्राण की संज्ञा नहीं हैं अपितु प्राण इनकी संज्ञा है। इससे प्राण सबको धारण करता है ।।श्री।।१५।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर पञ्चम अध्याय के प्रथम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघव: शन्तनोतु ।।

।। द्वितीय खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– प्रथमखण्ड में प्राण की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया। अब उसके भोजन, वास आदि के प्रतिपादनार्थ इस खण्ड का प्रारम्भ किया जाता है ।।श्री।।

स हो वाच किं मेऽन्नं भविष्यतीति यत्किंचिदिदमा श्वभ्य आ शकुनिभ्य इति होचुस्तद्वा एतदनस्यान्नमनो ह वै नाम प्रत्यक्षं न ह वा एवंविदि किंचनानन्नं भवतीति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– प्राण ने पूँछा– मेरे लिए भक्षणीय क्या होगा ? चारों ने कहा– कुत्ते से लेकर पक्षी पर्यन्त चिदचिदात्मक जगत् ही

तुम्हारा भोजन है क्योंकि जो कुछ यहाँ दिख रहा हे वह अन् नामक तुम्हारा (प्राण का) अन्न है। प्रत्यक्ष दिखने वाले तुम्ही अन् हो। इस प्रकार जो जानता है उसके जीवन में कभी अन्न का अभाव नहीं होता।।श्री।।

व्याख्या– यहाँ 'श्व' शब्द बद्धजीव के लिए तथा 'शकुनि' शब्द मुक्त-जीव के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'श्व' शब्द का अर्थ है कुत्ता और शकुनि शब्द का अर्थ है पक्षी। जिस प्रकार कुत्ता बार-बार जूठी पत्तल चाटता है उसी प्रकार बद्धजीव भोगे हुए भोगों को बार-बार भोगता रहता है। जिस प्रकार पक्षी उन्मुक्त गगन में उड़ता है, उसी प्रकार मुक्तजीव विधि– निषेध से परे होकर भगवान् के चरणों में आनन्द लेता है। इसीलिए भागवत भ्रमरगीत में कहा गया– 'वहव इव विहंगा भिक्षुचर्यां चरन्ति' ये सब इस प्राणरूप परमात्मा के भोग्य हैं। इसीलिए कठ० (१/२/२५) में भी ब्राह्मण क्षत्रिय से उपलक्षित समस्त प्रजा भगवान् का भोजन कही गयी है।।श्री।।१।।

स होवाच किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति होचुस्तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाचाद्भिः परिदधति लम्भुको ह वासो भवत्यनग्नो ह भवति।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर प्राण ने पूँछा– मेरा निवास कहाँ होगा ? इस पर चारों ने कहा– आपश्री का निवास जल है। इसीलिए वेदविधिज्ञ ब्राह्मण भोजन के पहले 'अमृतविधानमसि' से स्वाहा कहकर आचमन करते हैं और भोजन के पश्चात् 'अमृतस्तर मसि' कहकर आचमन करते हैं। इस प्रकार जानकर उपासना करने वाला उचित वस्त्र प्राप्त करता है और कभी अन्न के अभाव से ग्रस्त नहीं होता।।श्री।।२।।

तद्धैतत्सत्यकामो जाबालो गोश्रुतये वैयाघ्रपद्यायोक्त्वोवाच यद्यप्येन-च्छुष्काय स्थाणवे ब्रूयाज्जयेरन्नेवास्मिञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार प्राण के रहस्य को जबाला के पुत्र सत्यकाम ने व्याघ्रपाद के पुत्र गोश्रुति को उपदेश करके कहा– यदि कोई इस रहस्य को सूखे हुए पत्ते से रहित ठूँठ से कह दे तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जाय और पत्ते निकल आयें।।श्री।।३।।

संगति– अब प्राणदर्शन का निरूपण करके उसकी सिद्धि के लिए मन्थकर्म का निरूपण करते हैं ।।श्री।।

अथ यदि महज्जिगमिषेदमावास्यायां दीक्षित्वा पौर्णमास्यां रात्रौ सर्वौषधस्य मन्थं दधिमधुनोरुपमथ्य ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत् ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यदि कोई महत्व की इच्छा करता हो अथवा परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करना चाहता हो, तो वह अमावस्या की रात्रि को आचार्य से दीक्षा प्राप्त पौर्णमासी के दिन सम्पूर्ण औषधियों को दही और मधु से मिलाकर प्रेम से मथकर और 'ज्येष्ठाय स्वाहा, श्रेष्ठाय स्वाहा' कहकर घी का सम्पूर्ण भाग अग्नि में डाले और शेष बचा हुआ मन्थ के स्रुवा में डालकर मन्थडण्ड को भी अग्नि में विसर्जित कर दे ।।श्री।।४।।

वसिष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत्प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत्संपदे स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेदायतनाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत् ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– 'वसिष्ठाय स्वाहा' कहकर वाणी का 'प्रतिष्ठाय स्वाहा' कहकर नेत्र का 'संपदे स्वाहा' कहकर कर्ण का 'आयतनाय स्वाहा' कहकर मन का समर्पण करते हुए हवन करे और घृत का द्रव भी अग्नि में छोड़ दें ।।श्री।।५।।

अथ प्रतिसृप्याञ्जलौ मन्थमाधाय जपत्यमो नामास्यमा हि ते सर्वमिदँ स हि ज्येष्ठः श्रेष्ठो राजाधिपतिः स मा ज्यैष्ठ्यँ श्रैष्ठ्यँ राज्यमाधिपत्यं गमयत्वहमेवेदँ सर्वमसानीति ।।६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर हवन समाप्त करके हाथ में मन्थद्रव लेकर साधक को अमो इत्यादि यह मन्त्र जपना चाहिए। जिसका अर्थ है– हे प्राण! तुम अम नामवाले हो अर्थात् सबका साहित्य तुममे है। तुम सबके सहित हो। यहाँ जो कुछ है वह सब तुम्हारे साथ है। तुम सबसे ज्येष्ठ हो, श्रेष्ठ हो। तुम राजा हो, तुम सबके स्वामी हो और तुम मुझे भी ज्येष्ठ, श्रेष्ठ राजाधिपति बनाओ। मैं यह सब प्राश कर ले रहा हूँ अर्थात् खा रहा हूँ ।।श्री।।६।।

अथ खल्वेतयर्चा पृच्छ आचामति तत्सवितुर्वृणीमह इत्याचामति वयं देवस्य भोजनमित्याचामति श्रेष्ठँ सर्वधातममित्याचामति तुरं भगस्य धीमहीति सर्वं पिबति ।।७।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर चरणों को धोकर ऋचा के पाद के क्रम से मन्थद्रव का थोड़ा-थोड़ा आचमन करे। 'तत्सवितुर्वृणीमहे' से प्रथम आचमन 'वयं देवस्य भोजनं' इस द्वितीय चरण से द्वितीय आचमन 'श्रेष्ठ ँ सर्वधातमं' इस तृतीय चरण से तृतीय आचमन करना चाहिए और 'तुरं भगस्य धीमहि' इस चतुर्थ चरण का जप करके सम्पूर्ण मन्थद्रव पी लेना चाहिए। पश्चात् कांसे के चमस को जल से प्रक्षालित करके मौन होकर अग्नि के पृष्ठ भाग में मृगचर्म अथवा कुशासन पर शयन करना चाहिए। यदि स्वप्न में कोई सुन्दरी स्त्री दिखे तो तपकर्म की सिद्धि समझनी चाहिए। आचरण ऋचा का अर्थ इस प्रकार है– हम हवन करने वाले साधक सबके प्रेरक देवाधिदेव परमात्मा के भोजनरूप चिदचिदात्मक जगत् का वरण करते हैं और हम सर्वश्रेष्ठ सबका पालन-पोषण करने वाले उस वेगवान् समर्थ वस्तुविशेष का ध्यान करते हैं, क्योंकि षडैश्वर्यसम्पन्न परमात्मा का श्री चरण कमल ही है।।श्री।।७।।

निर्णिज्य कँसं चमसं वा पश्चादग्नेः संविशति चर्मणि वा स्थण्डिले वा वाचंयमोऽप्रसाहः स यदि स्त्रियं पश्येत्समृद्धं कर्मेति विद्यात् ।।८।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसी भाव को निबद्ध करने के लिए श्रुति श्लोक कहती है। जब कोई साधक सकाम कर्मों के विश्राम में स्वप्न में सौभाग्यबती स्त्री का दर्शन करे उसे उस स्वप्न के निदर्शन में ही अपने की सफलता जान लेनी चाहिए। क्योंकि वह स्त्रीभक्ति है जो भगवान् से सौभाग्यवती और ज्ञान वैराग्य से पुत्रवती भी है।।श्री।।८।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर पञ्चम अध्याय के द्वितीय खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। तृतीय खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब आठ खण्डों में संसार की असारता एवं परमात्मा की भक्तवत्सलता का पांच प्रश्नों की अवतारणा करते हुए वर्णन प्रारम्भ करते हैं। विषय की दुरूहता को सरल करने के लिए श्वेतकेतु की आख्यायिका भी प्रस्तुत करते हैं।।श्री।।

श्वेतकेतुर्हारुणेयः पञ्चालानाँ समितिमेयाय तँ ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच कुमारानु त्वाशिषत्पितेत्यनु हि भगव इति।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यह सर्वविदित है कि अरुण गोत्रीय ब्राह्मण के पुत्र अथवा अरुण के पौत्र श्वेतकेतु नामक ब्रह्मचारी समावर्तन के तुरन्त पश्चात् पंचालमहाराज की सभा में गये। उनसे जीवलि पुत्र प्रवाहण ने पूँछा– कुमार! क्या तुम्हारे पिता ने तुम्हे उपदेश दिया है? श्वेतकेतु ने कहा– हाँ भगवन्! अनुशासनपूर्वक।।श्री।।१।।

वेत्थ यदितोऽधि प्रजाः प्रयन्तीति न भगव इति वेत्थ यथा पुनरावर्तन्त३ इति न भगव इति वेत्थ पथोर्देवयानस्य पितृयाणस्य च व्यावर्तना३ इति न भगव इति।।२।।

वेत्थ यथासौ लोको न संपूर्यत३ इति न भगव इति वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति नैव भगव इति।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब महाराज प्रवाहण ने श्वेतकेतु से पाँच प्रश्न किये। कुमार यदि तुम्हें तुम्हारे पिताश्री ने उपदेश किया है तो मेरे पाँच प्रश्नों के उत्तर दो।।श्री।।

कुमार क्या तुम जानते हो कि किस प्रकार ये प्रजायें (जीववर्ग) इस लोक से ऊपर जाते हैं? श्वेतकेतु ने कहा– भगवन् यह मैं नहीं जानता। जैबलि ने कहा– कुमार! जिस कर्म से प्राणी स्वर्ग जाकर भी फिर संसार सागर में आ जाते हैं क्या तुम वह जानते हो? श्वेतकेतु ने कहा– भगवन मैं नहीं जानता। प्रवाहण ने कहा– कुमार! क्या तुम देवयानपितृयाण का अन्तर जानते हो? श्वेतकेतु ने कहा– भगवन्! मैं नहीं जानता। प्रवाहण ने आक्षेप पूर्वक पूँछा– ब्रह्मचारिन्। क्या यह लोक सतत लोगों के आते रहनेपर भी क्यों नहीं पूर्ण हो रहा है? श्वेतकेतु ने कहा– भगवन्! मैं नहीं जानता। प्रवाहण ने आश्चर्य से पूँछा– वटो! क्या तुम जानते हो कि पाँचवी आंहुति में

जल की पुरुषसंज्ञा कैसे हो जाती है ? श्वेतकेतु नेकहा– भगवन् ! मैं नहीं जानता ।।श्री।।२,३।।

अथानु किमनुशिष्टोऽअवोचथा यो हीमानि न विद्यात्कथँ सोऽनुशिष्टो ब्रुवीतति स हायस्तः पितुरर्धमेयाय तँ होवाचाऽननुशिष्य वाव किल मा भगवानब्रवीदनु त्वाशिषमिति ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अनन्तर प्रवाहण ने कहा– ब्रह्मचारी ! तुम आज मेरे एक भी प्रश्न का उत्तर नहीं दे सके तो फिर कैसे कह दिया कि मुझे पिताश्री ने उपदेश दे दिया है। जो मेरे पाँच प्रश्नों का उत्तर नहीं जानता वह अपने को उपदिष्ट कैसे कह सकता है ? यह सुनकर श्वेतकेतु बहुत अपमानित हुआ और आदर पूर्वक पिता के पास लौट आया और बोला– पिताश्री ! आपश्री ने तो कहा था कि– मैंने तुम्हें उपदेश दिया है परन्तु उसका कुछ प्रतिफल नहीं हुआ ।।४।।

पञ्च मा राजन्यबन्धुः प्रश्नानप्राक्षीत्तेषां नैकंचनाशकं विवक्तुमिति स होवाच यथा मा त्वं तदैतानवदो यथाहमेषां नैकंचन वेद यद्यहमिमानवेदिष्यं कथं ते नावक्ष्यमिति ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– श्वेतकेतु ने कहा– पिताश्री ! उस दुष्ट राजा ने मुझसे पांच प्रश्न किये परन्तु उनमें से मैं एक का भी उत्तर न दे सका। तब आरुणि ने कहा– श्वेतकेतु ! इन पाँचो प्रश्नों में से मैं एक का भी उत्तर नहीं जानता। यदि जानता होता तो तुम्हें क्यों न बताता ।।श्री।।५।।

स ह गौतमो राज्ञोऽर्धमेयाय तस्मै ह प्राप्तायार्हांचकार स ह प्रातः सभाग उदेयाय तँ होवाच मानुषस्य भगवन्गौतम वित्तस्य वरं वृणीथा इति स होवाच तवैव राजन्मानुषं वित्तं यामेव कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तामेव मे ब्रूहीति ।।६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर आरुणि श्वेतकेतु के साथ महाराज के भवन में गये। राजा प्रवाहण ने उनका स्वागत किया। प्रातः काल वे सभा में उपस्थित हुए। राजा ने कहा–ब्राह्मन् ! तुम मुझसे मनुष्योचित धन मांग लो। आरुणि ने कहा– महाराज ! मनुष्योचित धन तुम्हारे पास ही रहे। मुझे तुम उन पाँच प्रश्नों के उत्तर दो जो तुमने कुमार श्वेतकेतु से

किये थे। यह सुनकर राजा कष्ट में पड़ गये। क्योंकि क्षत्रिय ब्राह्मण को कैसे ज्ञान दे सकता है।।श्री।।६।।

स ह कृच्छ्रीबभूव। तँ ह चिरं वसेत्याज्ञापयांचकार तँ होवाच यथा मा त्वं गौतमावदो यथेयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान्गच्छति तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति तस्मै होवाच ।।७।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– प्रवाहण ने कहा– हे ब्रह्मन्! तुम थोड़े दिन मेरे नगर में ही रहो। इस प्रकार आज्ञा दी। एक दिन प्रभातकाल में आरुणि गौतम को महाराज ने बुलाया और कहा– ब्राह्मण! तुम्हारे पहले यह विद्या अब्रह्मणों के पास ही थी। अब ब्राह्मण के पास जायेगी। यह कहकर महाराज ने आरुणि को उपदेश दिया।।श्री।।६।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर पञ्चम अध्याय के तृतीय खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। चतुर्थ खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब प्रवाहण श्वेतकेतु को उपदेश देने का उपक्रम करते हैं।।श्री।।

असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे गौतम! यह लोक ही अग्नि है। सूर्य समिधायें हैं। सूर्य की किरणें ही धूम हैं। दिन ही ज्वाला है। चन्द्रमा ही अंगार है और नक्षत्र ही लपटे हैं।।श्री।।१।।

संगति– इस प्रकार आदित्यरूप समिधा, किरणरूप धूम, दिनरूप ज्वाला, चन्द्ररूप अंगार एवं नक्षत्ररूप लपटों से युक्त इस लोकाग्नि में क्या होता है? इस पर कहते हैं।।श्री।।

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब प्रवाहण अपने पंचम प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं। हे ब्राह्मण! इस प्रकार पूर्वोक्त रूपक सम्पन्न उस लोकाग्नि में

देवता आस्तिकबुद्धि का हवन करते हैं और उस आहुति से फलदाता आभीष्टवान् सोम का जन्म होता है ।।श्री।।२।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर पञ्चम अध्याय के चतुर्थ खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। पञ्चम खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब द्वितीय आहुति के उपक्रम का वर्णन करते हैं ।।श्री।।

पर्जन्यो वाव गौतमाग्निस्तस्य वायुरेव समिदभ्रं धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्लादनयो विस्फुलिङ्गाः ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे गौतम ! पर्जन्य अर्थात् बादल ही अग्नि है। वायु उसकी समिधा है। वर्षाकालिक मेघ ही धूम है और विजली ही ज्वाला है। वज्रपात अंगार है और गर्जन ही उसकी लपटें हैं ।।श्री।।१।।

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमँ राजानं जुह्वति तस्या आहुतेर्वर्षं संभवति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– उसी पर्जन्य रूप अग्नि में देवता गण रसमय सोम को हवन करते हैं और उस द्वितीय आहुति से वर्षा उत्पन्न करते हैं ।।श्री।।२।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर पञ्चम अध्याय के पञ्चम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। षष्ठ खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब तृतीय आहुति की व्याख्या करते हैं ।।श्री।।

पृथिवी वाव गोतमाग्निस्तस्याः संवत्सर एव समिदाकाशो धूमो रात्रिरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गाः ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे गौतम ! पृथ्वी ही अग्नि है, उसमें सम्वत्सर समिधा है, आकाश ही धूम है तथा आकाश ही ज्वाला है, दिशाएँ ही अंगार है और विदिशायें उसकी लपटें हैं ।।श्री।।१।।

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वर्षं जुह्वति तस्या आहुतेरन्नँ संभवति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– उसी अग्नि में देवता वर्षा को ही हवन कर डालते हैं उसी आहुति से अन्न उत्पन्न होता है ।।श्री।।२।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर पञ्चम अध्याय के षष्ठ खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। सप्तम खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब चतुर्थ आहुति की व्याख्या करते हैं ।।श्री।।

पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव समित्प्राणो धूमो जिह्वार्चि-श्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे गौतम ! पुरुष ही अग्नि है, वाणी ही उसकी समिधा है, प्राण धूम है, जिह्वा लाल होने से ज्वाला है, नेत्र ही अंगार है और श्रवण ही लपटें हैं ।।श्री।।१।।

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुते रेतः संभवति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– उसी अग्नि में देवता अन्न को हवन करते हैं उससे शुक्र उत्पन्न होता है ।।श्री।।२।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर पञ्चम अध्याय के सप्तम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। अष्टम खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब पंचम आहुति का वर्णन करते हैं ।।श्री।।

योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्यदुपमन्त्रयते स धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे गौतम ! संग में इच्छुक प्राणिग्रहीत

पत्नी ही अग्नि है, पुरुष की जननेद्रिय समिधा है, उसका समागम हेतु पत्नी का बुलाना ही धूम है, नारी का जननद्वार ही ज्वाला है, पुरुष का शुक्र निवेशन ही अंगार है और दोनों का आनन्द ही स्फुलिंग है ।।श्री।।१।।

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुतेर्गर्भः संभवति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार इस नारीरूप अग्नि में देवता पुरुष के रेतस् को ही हवन करते हैं उसी से गर्भ उत्पन्न होता है ।।श्री।।२।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर पञ्चम अध्याय के अष्टम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। **श्रीराघवः शन्तनोतु** ।।

।। नवम खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब प्रश्न का उपसंहार करते हुए कहते हैं ।।श्री।।

इति तु पञ्चम्याहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति स उल्बावृतो गर्भो दश वा नव वा मासानन्तः शयित्वा यावद्वाथ जायते ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार पहली आहुति में हवन किया हुआ जल ही पंचम आहुति में पुरुष संज्ञक हो जाता है। तात्पर्य यह है कि लोकरूप अग्नि में देवताओं द्वारा प्रथम आहुति में श्रद्धा के हवन का वर्णन है। वही सोम, वर्षा, अन्न और रेतस् परिणाम को प्राप्त कर पुरुष संज्ञा प्राप्त कर लेता है। वहाँ श्रद्धा का तात्पर्य श्राद्ध में अर्पित किये हुए जल से है। अर्थात् जब पितरों के निमित्त श्रद्धाञ्जलि दी जाती है वही सोम बनता है फिर वही वर्षा वही अन्न और वही रेतस् बनकर पाँचवें आहुति में पुरुष अर्थात् प्राणी की संज्ञा प्राप्त कर लेता है और वही 'उल्ब' नामक छोटी सी झिल्ली में ढककर गर्भ का रूप ले लेता है और वही कर्म परिणाम के अनुसार आसमयिक गर्भस्राव होने से या तो नष्ट होता है अथवा क्लीब होता है या तो नव महीने के पश्चात् आने वाले पन्द्रह दिनों के भीतर पुरुष बनता है अथवा नौ महीने पन्द्रह दिनों के पश्चात् आने वाले पन्द्रह दिनों के भीतर जन्म लेकर स्त्री बन जाता है ।।श्री।।१।।

स जातो यावदायुषं जीवति तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्ति यत एवेतो यतः संभूतो भवति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– वह जीव अपने-अपने कर्मफल के अनुसार कभी क्षीणायु कभी अल्पायु और कभी पूर्णायु पर्यन्त जीता है। इस प्रकार इस आवागमन के चक्कर में पड़े हुए प्रेत जैसे प्राणी को गार्हपत्य, अन्वाहार्यपचन तथा आहवनीय अग्नि दिष्ट अर्थात् कर्मफ़ल का अनुभव कराते हैं और वह जहाँ से आया है वहीं फिर जाता है। इस घटीयन्त्र की भाँति श्रद्धा से रेतस् और रेतस् से श्रद्धा पर्यन्त जीव का आना जाना होता रहता है। इसी को आवागमन कहते हैं।।श्री।।२।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर पञ्चम अध्याय के नवम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। दशम खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब इस दशवें खण्ड में दश मंत्रों से शेष प्रश्नों का उत्तर दिया जा रहा है। उनमें प्रथम दो मन्त्रों से देवयान की व्याख्या की जाती है।।श्री।।

तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षड्‌दङ्‌ङेति मासाँस्तान् ।।१।।

मासेभ्यः संवत्सरँ संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार पांचवे और पहले प्रश्न का उत्तर देने के पश्चात् शेष तीन प्रश्नों के उत्तर के लिए इस खण्ड का प्रस्ताव है। प्रथम देवयान की व्याख्या करते हुए श्रुति कहती है– इस प्रकार जो लोग पांचवी आहुति में जन की पुरुष संज्ञा एवं जीव का आवागमन तथा संसार सागर को तत्व से जानते हैं, वे गृहस्थी के प्रपंच से ऊपर उठंकर एकान्त नीरव वन में श्रद्धापूर्वक तप अर्थात् परब्रह्म की उपासना करते हैं। वे शरीर त्याग कर अर्चिषमार्ग से प्रयाण करते हैं। अर्चि से दिनाभिमानी देवता को उससे शुक्लपक्ष को, उससे जिनमें सूर्यनारायण उत्तराभिमुख होते

हैं उन माघप्रभृति अषाढ़ पर्यन्त छः मासों को उनसे संवत्सर को संवत्सर से आदित्यमंडल को उससे चन्द्रमा को, चन्द्रमा से ऊपर विद्युत् अर्थात् पर्वप्रकाशर्मान् सत्यलोक को प्राप्त कर लेते हैं। वहाँ से उन्हें मनुष्य से विलक्षण एक पुरुष (श्री हनुमान) उन महानुभावों को सीताधिपति परब्रह्म भगवान् श्रीराम के पास पहुँचा देता है। यही देवयान है अर्थात् इस मार्ग से दैवी सम्पत्ति के उपासक महाप्रयाण करते हैं। यही बात गीताजी में भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं–

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जना।।

(गीता ८/२४)

अर्थात् जिस काल में अग्नि की ज्वाला जैसी ज्योति हों, दिनाभिमानी देवता तथा शुक्लपक्ष के अभिमानी देवता हों एवं उत्तरायण के छह महीनों के अभिमानी देवता विराजमान हों, उस काल में महाप्रयाण करके ब्रह्मवेत्ताजन ब्रह्म को ही प्राप्त कर लेते हैं।।श्री।।१,२।।

संगति– अब दो मन्त्रों से पितृयाण का वर्णन करते हैं।।श्री।।

अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान्षड्दक्षिणैति मासाँस्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति।।३।।

मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके विपरीत जो लोग ग्रामभोगों में निरत होकर घर में ही बने रहते हैं और वैदिक कर्मानुसार बावली, कूप, तालाब आदि का निर्माण बहिर्भेदीदान आदि सकामकर्म की उपासना करते हैं, वे अपने प्रयाणकाल में धूमों को प्राप्त करते हैं, उससे रात्रिअभिमानी देवता को, उससे कृष्णपक्षाभिमानी देवता को, उससे षाण्मासिक दाक्षिणाभिमानी देवता को, उससे संवत्सराभिमानी देवता को प्राप्त करते हैं अर्थात् सूर्यमण्डल का भेदन नहीं कर पाते। संवत्सराभिमानी देवता को आकाश से, आकाश से चन्द्रमा को प्राप्त करते हैं और चन्द्रमा सोम बनकर देवताओं का भोजन बन जाता है, फिर उससे देवता प्रथम आहुति के माध्यम से जीव को संसार में भेजते रहते हैं। यही बात भगवान् गीता (८/२५) में कहते हैं–

धूमोरात्रिस्तथा कृष्णः षड्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते।।

अर्थात् जिस काल में धुँधलापन रात्रि अभिमानी, कृष्णपक्ष अभिमानी तथा षाण्मासिक दक्षिणायनाभिमानी देवता होते हैं उस काल में प्रयाण करके चन्द्रमा की ज्योति को प्राप्त करके योगी फिर संसारसागर में लौट आता है।।श्री।।३,४।।

संगति– अब पुनरावर्तन का क्रम कह रहे हैं।।श्री।।

तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाश-माकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाभ्रं भवति।।५।।

अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्तेऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिंचति तद्भूय एव भवति।।६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार चन्द्रमा को प्राप्त करके सकाम कर्मी तब तक चन्द्रलोक में रहते हैं जब तक उनके पुण्य का क्षय नहीं हो जाता। अपने पुण्य के अनुसार कामनायुक्त लोग चन्द्रमण्डल का अमृत पीते हैं। पुण्यक्षय हो जानेपर वे फिर मर्त्यलोक में आते हैं पर सीधे नहीं आते। पहले आकाश में आते हैं, आकाश से वायु में प्रवेश करते हैं, वायु से वर्षाकालीन बादल में उनकी आत्मा प्रवेश करती है, इसके पश्चात् मेघ के बरसने के समय उनकी आत्मा जल में प्रवेश करती है फिर तो वे दुस्तर संसारसागर को प्राप्त कर लेते हैं। फिर वे धान, जौ, तिल, उड़द आदि खाद्यान्नों में अपने सूक्ष्मशरीर से प्रवेश कर जाते हैं जिससे उन्हें जन्म लेना होता है। वह जो अन्य खाता है उसमें प्रविष्ट होरक वे उससे पेट में चले जाते हैं, फिर उसके शुक्र में प्रवेश कर लेते हैं और पिता के सम्पर्क से माता के जनन द्वार से उसके गर्भ में प्रवेश करते हैं फिर जन्म लेते हैं। यही गीता (९/२१) में भगवान् ने संक्षेप में कही और गीता (८/२४,२५,२६) में भी इसी का भाष्य किया। वस्तुतः यह सब उसी के साथ घटता है जो भगवान् का भजन नहीं करता। भगवद्भक्त भगवान् की इच्छा से संसार में आते हैं पर उनको इस प्रकार का ककहरा नहीं पढ़ना पड़ता। उनका तो भगवान् के साथ ही अवतरण होता है।।श्री।।५,६।।

संगति– अब प्रश्न है कि– निष्काम कर्मयोगियों के लिए देवयान मार्ग कहा गया है। परन्तु जो इन दोनों से रहित हैं इनकी क्या गति होती है? इस प्रश्न का उत्तर दो मंत्रों में कहते हैं।।श्री।।

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा ।।७।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो लोग शास्त्रविहित रमणीय अर्थात् सुन्दर आचरण करते हैं, वे ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि तथा वैश्ययोनि जैसी उत्तम योनियों को शीघ्र प्राप्त कर लेते हैं। इससे विपरीत जो लोग कपूय अर्थात् निन्दित अशास्त्रीय आचरण करते हैं वे लोग अतिशीघ्र ही कूकर, शूकर तथा चण्डाल जैसी अधम योनियों को प्राप्त करते हैं।।श्री।।७।।

अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयँ स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते तस्माज्जुगुप्सेत तदेष श्लोकः ।।८।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके विपरीत जो ज्ञान और कर्म इन दोनों के माध्यम से देवयान अथवा पितृयान नहीं जाते ऐसे वे इस संसार सागर में बारम्बार पड़ते रहते हैं और 'जन्म लो, मर जाओ' इस प्रकार आते जाते रहते हैं और कभी-भी मुक्त नहीं होते क्योंकि उनकी संसार की आरम्भिक वासना ही समाप्त नहीं होती। इसीलिए यह लोक पूर्ण नहीं होता।।श्री।।८।।

संगति– अब दो मन्त्रों से पंचाग्निविद्या की स्तुति करते हैं।।श्री।।

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबँश्च गुरोस्तल्पमावसन्ब्रह्महा च। एते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरँस्तैरिति ।।९।।

अथ ह य एतानेवं पञ्चाग्नीन्वेद न स ह तैरप्याचरन्पाप्मना लिप्यते शुद्धः पूतः पुण्यलोको भवति य एवं वेद ।।१०।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– स्वर्ण की चोरी करने वाला, मदिरा पीने वाला एवं गुरुपत्नीगामी तथा ब्राह्मणवधकर्त्ता ये चारों तो नर्क जाते ही हैं परन्तु जो इनके साथ व्यवहार करता है वह भी नर्क में जाता है। इस

प्राकर जो पाँचों अग्नि अर्थात् जो लोकाग्नि, पर्जन्याग्नि, पृथ्वी अग्नि, पुरुषाग्नि और योषाग्नि इन पाँचों को जानता है वह इन पाचों पापों से छूट जाता है ।।श्री।।९,१०।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर पञ्चम अध्याय के दशम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। एकादश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– इसके अनन्तर ग्यारहवें खण्ड से समाप्ति पर्यन्त वैश्वानर विद्या का वर्णन करते हैं और साथ-साथ महाराज अश्वपति के साथ पाँच गृहस्थब्राह्मणों के संवाद का वर्णन करेंगे ।।श्री।।

प्राचीनशाल औपमन्यवः सत्ययज्ञः पौलुषिरिन्द्रद्युम्नो भाल्लवेयो जनः शार्कराक्षयो बुडिल आश्वतराश्विस्ते हैते महाशाला महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमाँसांचक्रुः को नु आत्मा किं ब्रह्मेति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यह घटना श्रुति प्रसिद्ध है कि– अनन्य गुरुभक्त उपमन्यु के पुत्र प्राचीनशाल, पुलुश के पुत्र सत्ययज्ञ, भाल्लव के पौत्र इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्ष के पुत्र जन तथा अश्वतराश्व के पुत्र बुडिल ये पाँचों परम गृहस्थ थे। इनकी पर्णशालायें पंचयज्ञ बलिवैश्वदेव, अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास्य, चातुर्मास्य आदि ब्राह्मणोचित वैदिक अनुष्ठानों द्वारा अत्यन्त महत्वपूर्ण बन चुकी थी। ये जन्म से ब्राह्मण, संस्कार से द्विज, वेद पाठ से विप्र, वेदों के पारंगत होने से श्रोत्रिय तथा ब्रह्मजिज्ञासा करने से महाश्रोत्रिय हो चुके थे। इन्हीं प्राचीनशाल सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन और बुडिल पांच ब्राह्मणों ने इकट्ठे होकर सुविचार करना प्रारम्भ किया। हमारे पाँच महाभूत, दश इन्द्रियाँ, पाँच प्राण, पंचतन्मात्रायें, चार अन्तःकरण इनमें से आत्मपदार्थ क्या है ? और ब्रह्म कौन है ? ।।श्री।।१।।

व्याख्या– यद्यपि पूजार्थक मान धातु से स्वार्थ में सन् प्रत्यय करने पर मीमांस धातु का आत्मनेपद में प्रयोग होता है परन्तु सकल जगत् का उपकार करने से यहाँ परस्मैपद का प्रयोग किया गया है। आत्मा और ब्रह्म दो शब्दों का प्रयोग करके श्रुति ने जीवात्मा और परमात्मा का स्पष्ट भेद कह दिया। अर्थात् महर्षिगण जीवात्मा और परमात्मा में स्वरूपतः

भेद समझते हैं परन्तु दोनों का लक्षण जानना चाहते हैं। यहाँ किम् ब्रह्म कहकर महर्षिगण जानना चाहते हैं कि ब्रह्म निर्गुण हैं या सगुण? वास्तव में वह दोनों है। क्योंकि श्रुतियों व स्मृतियों में दोनों प्रकार के व्यवहार मिलते हैं परन्तु निर्गुणवादियों जैसा हमारा ब्रह्म नहीं है। यह असत्य क्रूरता, दुष्टता, पिशुनता, लोलुपता आदि हेय गुणों से रहित है इसलिए निर्गुण है और भक्तों के उपादेय गुणों से युक्त होने के कारण ये सगुण हैं। यदि कहें समास कैसे होगा? तो 'प्रादिभ्यो धातुरस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपश्च' इस वार्तिक से यहाँ बहुब्रीहिसमास और उत्तरपद का लोप हुआ है। चूँकि भगवान् समञ्जस हैं अत: विरुद्ध धर्म ही उनमें रह लेते हैं। गुण भगवान् को एक क्षण नहीं छोड़ता और न ही छोड़ सकते हैं क्योंकि गुण और गुणी का समवाय प्रसिद्ध है। यदि कहें कि– समवाय का वेदान्त में आदर नहीं है, तो फिर यह 'समवाय' शब्द स्वरूपपरक है। अर्थात् गुणों का भगवान् से स्वरूपसम्बन्ध है। यदि कहें कि उत्पन्न द्रव्य एक क्षण के लिए निष्क्रिय और निर्गुण रहता है, तो पहले यह विचार करना चाहिए कि यह वाक्य है कहाँ का? यदि न्याय का हो तो उसे मानने के लिए हम वेदान्ती विवश नहीं है और वेदान्त में ऐसा कोई वाक्य नहीं। तुम्हारी बात मानकर यदि यहाँ न्यायपक्ष से भी विचार करें तो भी यह न्याय नहीं लगेगा क्योंकि वह उत्पन्न द्रव्य के लिए है और परमात्मा नित्य होने से कभी उत्पन्न नहीं होते। यह तुम भी मानते हो इसलिए भी यह न्याय नहीं लगेगा ।।श्री।।

ते ह संपादयांचक्रुरुद्दालको वै भगवन्तोऽयमारुणिः संप्रतीम-मात्मानं वैश्वानरमध्येति तँ हन्ताभ्यागच्छामेति तँ हाभ्याजग्मुः ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर उन पाँचो महर्षियों ने विचार किया कि– हे भगवन्! जिन सद्गुरु की हम खोज कर रहे हैं, वे हैं अरुणि के पुत्र उद्दालक इस समय वे वैश्वानररूप आत्मा को पूर्णत: स्मरण करते हैं अर्थात् जानते हैं। यह निश्चय करके प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन और बुडिल वैश्वानर का अध्ययन करने हेतु महर्षि उद्दालक के पास आये ।।श्री।।२।।

व्याख्या– यहाँ वैश्वानरशब्द परमात्मा का वाचक है। विश्वे नराः यस्य सः वैश्वानरः इस व्युत्पत्ति में 'नरे संज्ञायां' (६/४/१२८) सूत्र से

विश्वघटक अकार को आकार एवं स्वार्थ में अण् प्रत्यय हुआ। यहाँ 'अध्येति' शब्द परस्मैपद में होकर भी स्मरणार्थक है।।श्री।।

स ह संपादयांचकार प्रक्ष्यन्ति मामिमे महाशाला महाश्रोत्रियास्तेभ्यो न सर्वमिव प्रतिपत्स्ये हन्ताहमन्यमभ्यनुशासानीति ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अनन्तर उद्दालक ने निश्चय किया कि ये पाँचो महागृहस्थ और परमवेदज्ञ हैं। ये मुझसे कुछ पूँछेगे ? मैं इनका उत्तर नहीं दे सकूँगा। इसलिए अब मैं इन्हें अपने से अतिरिक्त सद्गुरु बताता हूँ।।श्री।।३।।

तान्होवाचाश्वपतिर्वै भगवन्तोऽयं कैकयः संप्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तँ हन्ताभ्यागच्छामेति तँ हाभ्याजग्मुः ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– ऐसा निश्चय करके उद्दालक ने पाँचों ब्राह्मणों को कैकय देश के महाराज अश्वपति का स्मरण कराया और उद्दालक ने कहा– महानुभावों ! इस समय कैकय नरेश अश्वपति वैश्वानररूप आत्मा को पूर्णरूप से जानते हैं। चलो-अपने लोग वहीं चलते हैं। फिर उद्दालक के साथ पाँचों ब्राह्मण राजा अश्वपति के पास आये।।श्री।।४।।

तेभ्यो ह प्राप्तेभ्यः पृथगर्हाणि कारयांचकार स ह प्रातः संजिहान उवाच न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतो यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि यावदेकैकस्मा ऋत्विजे धनं दास्यामि तावद्भगवद्भ्यो दास्यामि वसन्तु भगवन्त इति ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अपने यहाँ आये हुए ब्राह्मणों का पृथक-पृथक सम्मान किया। प्रातःकाल सभा में जाते हुए ब्राह्मणों को दक्षिणा देकर विसर्जित करना चाहा। जब वे दक्षिणा नहीं लिए तब अश्वपति ने कहा– ब्राह्मणों ! मेरे जनपद में न तो कोई चोर है, न कोई कृतघ्न है, न कोई सुरापायी है, न कोई मेरे राष्ट्र में अनग्निहोत्री है, न कोई मेरे यहाँ मूर्ख है और मेरे यहाँ कोई भी परस्त्रीगामी नहीं है। मेरे राष्ट्र में कोई नारी कुलटा कैसे हो सकती है ? इसलिए मेरा राष्ट्र शुद्ध है। आपलोग यहाँ विराजें, मैं यज्ञ करने वाला हूँ। मैं जितना धन प्रत्येक ऋत्विज को दूँगा उतना ही धन आप लोगों को होना चाहिए।।श्री।।५।।

ते होचुर्येन हैवार्थेन पुरुषश्चरेत्तँ हैव वदेदात्मानमेवेमं वैश्वानरँ संप्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहीति ।।६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब छहों मुनियों ने राजा अश्वपति से प्रार्थना की– हे महाराज ! जिस ब्रह्मज्ञानरूप धन से पुरुषार्थवादी मानव परब्रह्म परमात्मा के श्रीचरण की सेवा कर सके उसी ब्रह्मज्ञानरूप धन का मुझे उपदेश दीजिए। इस क्षणभंगुर धन से हमारा क्या लेना देना। इस समय आप आत्मारूप वैश्वानर को जानते हैं। कृपया उसी का उपदेश दीजिए ।।श्री।।६।।

तान्होवाच प्रातर्वः प्रतिवक्तास्मीति ते ह समित्पाणयः पूर्वाह्णे प्रतिचक्रमिरे तान्हानुपनीयैवैतदुवाच ।।७।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अश्वपति ने कहा– महर्षियों मैं कल प्रातः आप सब को वैश्वानर का उपदेश दूँगा। वे लोग दूसरे दिन प्रातःकाल ही कुल-जाति का अभिमान छोड़कर हाथ में समिधा लेकर विद्यार्थी रूप में अश्वपति के पास आये। महराज क्षत्रिय थे और ब्राह्मण उपनीत अर्थात् यज्ञोपवीतधारी। इसलिए उपनयन संस्कार के बिना ही छहों ब्राह्मणों को राजा अश्वपति ने वैश्वानर विद्या का उपदेश दिया ।।श्री।।७।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर पञ्चम अध्याय के एकादश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। द्वादश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब प्राचीनशाल और अश्वपति के संवाद की अवतारणा प्रस्तुत करते हैं ।।श्री।।

औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्स इति दिवमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते ।।१।।

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते मूर्धा त्वेष आत्मन इति होवाच मूर्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अश्वपति ने प्राचीनशाल से पूँछा– उपमन्यु

पुत्र ! तुम किसको आत्मा मानकर उपासना करते हो ? उन्होंने कहा– महाराज ! 'दिव' को। राजा ने कहा– ब्रह्मन्। इसका नाम सुतेजा है। यह वैश्वानर भगवान् का मूर्धा अर्थात् सिर है जिसे तुम आत्मा मानकर उपासना करते हो। इससे तुम्हारे कुल में श्रेष्ठ और मर्यादित पुत्रों की परम्परा है। ब्रह्मवर्चस् है। इसलिए तुम श्रेष्ठ भोजन करते हो और प्रिय वस्तुओं के दर्शन करते हो। जो इस प्रकार जानता है वह भी श्रेष्ठ भोजन और उत्तम वस्तुओं के दर्शन करता है। यदि तुम मेरे पास न आये होते तो तुम्हारा सिर फट गया होता ।।श्री।।१,२।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर पञ्चम अध्याय के द्वादश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। त्रयोदश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– राजा ने सत्ययज्ञ से कहा–

अथ होवाच सत्ययज्ञं पौलुषिं प्राचीनयोग्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्यादित्यमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै विश्वरूप आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्तव बहु विश्वरूपं कुले दृश्यते ।।१।।

प्रवृत्तोऽश्वतरीरथो दासीनिष्कोऽत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते चक्षुष्ट्वेतदात्मन इति होवाचान्धोऽभविष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– राजा अश्वपति ने सत्ययज्ञ से पूँछा– प्राचीन योग्य ! तुम किस आत्मा की उपासना करते हो ? सत्ययज्ञ ने कहा– महाराज ! मैं आदित्य की उपासना करता हूँ। राजा ने कहा– ब्रह्मन् ! वह वैश्वानर विश्वरूप है। इसीलिए तुम्हारे कुल में विश्वरूप अनेकरूप दिखते हैं और तुम्हें अश्वतरी से युक्त रथ मिला तथा दासियाँ और हार एवं ब्रह्मवर्चस् की प्राप्ति हुई। सूर्य वैश्वानर के चक्षु हैं। यदि तुम मेरे पास न आते तो दृष्टिहीन हो जाते ।।श्री।।१,२।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर पञ्चम अध्याय के त्रयोदश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। चर्तुदश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब तृतीय वैश्वानर के उपदेश के माध्यम से इन्द्रद्युम्न और अश्वपति के संवाद की अवतारणा करते हैं।।श्री।।

अथ होवाचेन्द्रद्युम्नं भाल्लवेयं वैयाघ्रपद्य कं त्वमात्मानमुपास्स इति वायुमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै पृथग्वर्त्मात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वां पृथग्बलय आयन्ति पृथग्रथश्रेणयोऽनुयन्ति ।।१।।

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते प्राणस्त्वेष आत्मन इति होवाच प्राणस्त उदक्रमिष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर महाराज ने इन्द्रद्युम्न से कहा– हे वैयाघ्रपाद ! तुम किस आत्मा की उपासना करते हो ? उन्होंने कहा– मैं वायु को ही आत्मा रूप में भजता हूँ। अश्वपति ने कहा– ब्रह्मन् ! यह वैश्वानर आत्मा पृथग्वर्त्मा नाम वाला है इसलिए तुम्हारे कुल में पृथक उपहार आते रहते हैं और पृथक-पृथक रथों की श्रेणियाँ प्राप्त होती रहती है। तुम स्वादु भोजन करते हो, प्रियदर्शन करते हो, जो इस प्रकार जानता है वह भी ऐसा हो जाता है। यह वैश्वानर नहीं है, वायु तो वैश्वानर आत्मा का प्राणमात्र है। यदि तुम मेरे पास न आते तो तुम्हारे प्राण निकल जाते ।।श्री।।१,२।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर पञ्चम अध्याय के चर्तुदश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। पञ्चदश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब अश्वपति और जन के सम्वाद की अवतारणा करते हैं ।।श्री।।

अथ होवाच जनँ शार्वराक्ष्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्याकाशमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै बहुल आत्मा वैस्वानरोयं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वं बहुलोऽसि प्रजया च धनेन च ।।१।।

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते संदेहस्त्वेष आत्मन इति होवाच संदेहस्ते व्यशीर्यद्यन्मां नागमिष्य इति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर राजा अश्वपति ने शर्कराक्ष के पुत्र जन से पूँछा– तुम किस ब्रह्म की उपासना करते हो? जन ने कहा– हे राजन्! मैं आकाश की आत्मबुद्धि से उपासना करता हूँ। अश्वपति ने कहा– ब्रह्मन्! यह बहुल नामक वैश्वानर आत्मा है इसीलिए तुम संतति और पशुओं से अतिसम्पन्न हो। तुम स्वादु भोजन और प्रियदर्शन करते हो। जो ऐसा जानता है वह भी उत्तम भोजन और प्रिय दर्शन करता है। ब्रह्मवर्चस् सम्पन्न हो जाता है परन्तु यह भी पूर्ण वैश्वानर नहीं है। आकाश वैश्वानर का मध्यभाग है। यदि तुम हमारे पास न आये होते तो तुम्हारा मध्यभाग फट गया होता।।श्री।।१,२।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर पञ्चम अध्याय के पञ्चदश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। षोडश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब अश्वपति और बुडिल के सम्वाद की अवतारणा करते हैं।।श्री।।

अथ होवाच बुडिलमाश्वतराश्विं वैयाघ्रपद्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्यप एव भगवो राजन्निति होवाचैष वै रयिरात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वँ रयिमान्पुष्टिमानसि ।।१।।

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते बस्तिस्त्वेष आत्मन इति होवाच वस्तिस्ते व्यभेत्स्यद्यन्मां नागमिष्य इति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अनन्तर राजा अश्वपति ने बुडिल से पूँछा– वैयाघ्रपाद तुम किसकी आत्म बुद्धि से उपासना करते हो? बुड़िल ने कहा– राजन्! मैं तो जल की ही आत्मबुद्धि से प्रार्थना करता हूँ। अश्वपति

ने कहा– ब्राह्मण! इस वैश्वानर आत्मा का नाम रयि (द्रव्य) है। इसीलिए तुम रयिमान धनाढ्य और पुष्टिमान् हो। तुम स्वादु भोजन करते हो और प्रियदर्शन करते हो। जो इस प्रकार उपासना करता है वह भी तुम्हारे जैसा हो जाता है। उसके कुल में ब्राह्मण का तेज आता है। परन्तु जल पूर्णवैश्वानर आत्मा नहीं, वह तो वैश्वानर आत्मा का वस्ति अर्थात् लघुशंकाग्रन्थिस्थान मात्र है। यदि तुम आज मेरे पास न आये होते तो तुम्हारी वस्ति (गुदा) फट गयी होती ॥श्री॥१,२॥

॥ छान्दोग्योपनिषद् पर पञ्चम अध्याय के षोडश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ॥

॥ श्रीराघवः शन्तनोतु ॥

॥ सप्तदश खण्ड ॥

सम्बन्ध भाष्य– अब अश्वपति और उद्दालक के सम्वाद की अवतारण करते हैं ॥श्री॥

अथ होवाचोद्दालकमारुणिं गौतम कं त्वमात्मानमुपास्स इति पृथिवीमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै प्रतिष्ठात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वं प्रतिष्ठितोऽसि प्रजया च पशुभिश्च ॥१॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते पादौ त्वेतावात्मन कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते पादौ त्वेतावात्मन इति होवाच पादौ ते व्यम्लास्येतां यन्मां नागमिष्य इति ॥२॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अनन्तर राजा अश्वपति ने अरुणि के पुत्र उद्दालक से पूँछा– गौतम! तुम किसे आत्मा रूप में भजते हो? उद्दालक ने कहा– राजन्! मैं पृथ्वी को ही आत्मा मानकर उपासना करता हूँ। राजा ने कहा– आरुणि वह आत्मारूप वैश्वानर प्रतिष्ठा है अर्थात् इसका प्रतिष्ठा नाम है। जो इसकी उपासना करता है वह प्रतिष्ठित होता है इसलिए तुम सन्तान और पशुओं से प्रतिष्ठित हो। सुन्दर भोजन करते हो प्रिय वस्तु देखते हो। इस प्रकार उपासना करने वाला भी सुन्दर भोजन और प्रिय दर्शन करता है। यह प्रतिष्ठा वैश्वानर आत्मा का चरणमात्र है। पृथ्वी

भगवान् का चरण है। यदि तुम इसे जानने के लिए मेरे पास न आते तो तुम्हारे दोनों चरण कट गये होते।।श्री।।१,२।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर पञ्चम अध्याय के सप्तदश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। अष्टादश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब राजा अश्वपति पूर्णवैश्वानर का उपदेश करते हैं ।।श्री।।

तान्होवाचैते वै खलु यूयं पृथगिवेममात्मानं वैश्वानरं विद्वाँसो-ऽन्नमत्थ यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति ।।१।।

तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्य-माहवनीयः ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब अश्वपति के छहों महर्षियों ने कहा– प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन, बुडिल, उद्दालक तुम जिन नामों से जिन रूपों से वैश्वानर की उपासना करते हो वह अलग-अलग मानकर करते हो। कारण कि कोई देव, कोई सूर्य, कोई वायु, कोई जल, कोई आकाश, कोई पृथ्वी रूप से आत्मा की उपासना करते हो इसीलिए तुम पृथक-पृथक अन्न अर्थात् अलग-अलग भोगों को भोगते हो। तुम्हारे भोगों में भी एकरूपता नहीं है परन्तु जो ज्ञान-वैराग्य के नेत्रों से दिव, सूर्य, वायु, आकाश, जल, पृथ्वी इन छहों को वैश्वानर का अवयव मानता है अथवा स्वरूपबोध का माध्यम मानता है अथवा वैश्वानर का नाममात्र मानता है या स्वर्ग से लेकर पृथ्वी पर्यन्त उसकी सीमा मात्र मानता है, वह सभी लोकों में, सभी प्राणियों में, सभी आत्माओं में उपश्लिष्ट होकर सभी भोगों को भोगता है। उस वैश्वानर आत्मा का सुतेजा नामक द्यौ ही मस्तक है, विश्वरूप नामक सूर्य ही नेत्र है और पृथक्वर्त्मा नामक वायु ही प्राण है तथा बहुल नामक आकाश ही मध्यभाग है, रयि नामक जल

ही वस्ति अर्थात् मेहग्रन्थि चरण है, उसका उर् अर्थात् वक्षस्थल ही वेदी है उसके रोम ही बर्हि अर्थात् कुश है। उसका हृदय ही गार्हपत्य अग्नि है, उसका मन ही अन्वाहार्यपचन अग्नि है एवं अहवनीय अग्नि ही वैश्वानर आत्मा का मुख है ।।श्री।।

मस्तक सुतेजा स्वर्ग रवि चक्षु विश्व रूप
पृथक् वर्त्मा वायु प्राण वेद औ बखानिये।
गगन बहुल मध्य भाग्य वैश्वानर जू को,
रयि नाम जल ताको बस्ती करि मानिये ।।१।।
पृथ्वी प्रतिष्ठा पद उर वेदि लोम कुश,
वैश्वानर हृदय को गार्हपत्य जानिये।
दक्षिणाग्नि मनअहवनीय बदन ताको,
वैश्वानर रामभद्राचार्य पहचानिये ।।२।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर पञ्चम अध्याय के अष्टादश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। एकोनविंश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य-- अब भोजन में भी अग्निहोत्र की धारणा सिद्ध करने के लिए पंचप्राणों को ही पंचआहुतिरूप में मानकर उनकी फलश्रुति का वर्णन करते हुए भगवती श्रुति छः खण्ड प्रस्तुत कर रही है ।।श्री।।

तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयँ स यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात्प्राणाय स्वाहेति प्राणस्तृप्यति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ-- इसलिए जो सिद्ध अन्न, भात, भगवत् प्रेम से मिश्रित पदार्थरूप में सर्वप्रथम थाली में लाया जाता है वह होमीय अर्थात् आध्यात्मिक हवन के लिए उपयुक्त होता है। उस समय भोजन कर्ता यदि प्रथमग्रास को आहुति की दृष्टि से 'प्राणाय स्वहा' कहकर मुख में डाले तो उससे प्राणरूप परमात्मा संतुष्ट हो जाते हैं ।।श्री।।१।।

प्राणे तृप्यति द्यौस्तृप्यति चक्षुषि तृप्यत्यादित्यस्तृप्यत्यादित्ये तृप्यति द्यौस्तृप्यति दिवि तृप्यन्त्यां यत्किंच द्यौश्चादित्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार प्राण के सन्तुष्ट हो जाने पर नेत्र तृप्त होता है, नेत्र के तृप्त होने पर सूर्य तृप्त होते हैं, सूर्यनारायण के तृप्त होने पर द्यौः अर्थात् स्वर्ग लोकाभिमानिनी देवता संतुष्ट होते हैं। उसके संतुष्ट होने पर जो स्वर्ग और सूर्य के आधार हैं ऐसे परब्रह्म परमात्मा श्रीराम संतुष्ट होते हैं और परमेश्वर के संतुष्ट होते ही भोजन करने वाला व्यक्ति, संस्कारी संतान, पशु, तेज और ब्रह्मवर्चस् संतुष्ट हो जाता है ।।श्री।।२।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर पञ्चम अध्याय के एकोनविंश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। विंश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब द्वितीय आहुति का वर्णन करते हैं ।।श्री।।

अथ यां द्वितीयां जुहुयात्तां जुहुयाद्व्यानाय स्वाहेति व्यानस्तृप्यति ।।१।।

व्याने तृप्यति श्रोत्रं तृप्यति श्रोत्रे तृप्यति चन्द्रमास्तृप्यति चन्द्रमसि तृप्यति दिशस्तृप्यन्ति दिक्षु तृप्यन्तीषु यत्किंच दिशश्च चन्द्रमाश्चाधितिष्ठिन्ति तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर भोजन करने वाला 'व्यानाय स्वाहा' कहकर द्वितीय आहुति के रूप में दूसराग्रास मुख में डालें। इससे ज्ञान तृप्त होगा, ज्ञान के तृप्त होने पर श्रवणेन्द्रय तृप्त होगी, श्रवणेन्द्रिय के तृप्त होने पर चन्द्रमा तृप्त होंगे। उनके तृप्त होनेपर दिशायें तृप्त होंगीं इसके पश्चात् चन्द्रमा और दिशाओं के आधारभूत परमात्मा तृप्त होंगे और परमात्मा की तृप्ति से भोजन करने वाला संतान, पशु, अन्न, तेज, ब्रह्मवर्चस् से तृप्त हो जायेगा ।।श्री।।१,२।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर पञ्चम अध्याय के विंश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। एकविंश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब तृतीय आहुति का निरुपण करते हैं।।श्री।।

अथ यां तृतीयां जुहुयात्तां जुहुयादपानाय स्वाहेत्यपान-स्तृप्यति ।।१।।

अपाने तृप्यति वाक्तृप्यति वाचि तृप्यन्त्यामग्निस्तृप्यत्यग्नौ तृप्यति पृथिवी तृप्यति पृथिव्यां तृप्यन्त्यां यत्किंच पृथिवी चाग्निश्चाधि-तिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर भोजनकर्त्ता 'अपानाय स्वाहा' कहकर तृतीय आहुति के रूप में तृतीयग्रास मुख में डाले। इस तृतीय आहुति से अपान तृप्त होता है। उसके तृप्त होने पर वाणी तृप्त होती है। वाणी के तृप्त होने पर अग्नि तृप्त होता है, अग्नि के तृप्त होने पर पृथ्वी तृप्त होती है, उसके तृप्त होने पर पृथ्वी और अग्नि के आधार परमात्मा तृप्त होते हैं और उनकी तृप्त से भोजन कर्त्ता, प्रजा, पशु, अन्न, तेज और ब्रह्मवर्चस् से तृप्त हो जाता है।।श्री।।१,२।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर पञ्चम अध्याय के एकविंश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। द्वाविंश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब चतुर्थ आहुति का वर्णन करते हैं।।श्री।।

अथ यां चतुर्थीं जुहुयात्तां जुहुयात्समानाय स्वाहेति समान-स्तृप्यति ।।१।।

समाने तृप्यति मनस्तृप्यति मनसि तृप्यति पर्जन्यस्तृप्यति पर्जन्ये तृप्यति विद्युत्तृप्यति विद्युति तृप्यन्त्यां यत्किंच विद्युच्च पर्जन्यश्चाधि-तिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर चतुर्थग्रास मुखरूपअग्नि

कुण्ड में 'समानाय स्वाहा' कहकर हवन करे इससे समान तृप्त होता है। उसके तृप्त होते ही मन तृप्त हो जाता है, मन के तृप्त होने पर पर्जन्य तृप्त होता है, उसके तृप्त होते ही विद्युत् तृप्त होती है, विद्युत् की तृप्ति के पश्चात् पर्जन्य और विद्युत् के प्रतिष्ठाता भगवान् तृप्त होते हैं और उनकी तृप्ति से भोजन कर्त्ता, प्रजा, पशु, अन्न, तेज और ब्रह्मवर्चस् से तृप्त हो जाता है ।।श्री।।१,२।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर पञ्चम अध्याय के द्वाविंश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। त्रयोविंश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब पांचवी आहुति का वर्णन करते हैं ।।श्री।।

अथ यां पञ्चमीं जुहुयात्तां जुहुयादुदानाय स्वाहेत्युदानस्तृप्यति ।।१।।

उदाने तृप्यति त्वक्तृप्यति त्वचि तृप्यन्त्यां वायुस्तृप्यति वायौ तृप्यत्याकाशस्तृप्यत्याकाशे तृप्यति यत्किंच वायुश्चाकाशश्चाधितिष्ठत-स्तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्म-वर्चसेनेति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर पंचमग्रास लेते समय पाँचवी आहुति का हवन करे। जो हवन करे उसमें 'उदानाय स्वाहा' यह मन्त्र बोले– इससे उदान तृप्त होता है। उसके तृप्त होने पर त्वचा तृप्त होती है, त्वचा के तृप्त होते ही वायु तृप्त हो जाता है, वायु के तृप्त होते ही आकाश तृप्त हो जाता है, आकाश के तृप्त होने पर वायु और आकाश के अधिष्ठाता परमात्मा तृप्त हो जाते हैं और परमात्मा को तृप्ति से भोजन करने वाला, सन्तान, पशु, अन्न, तेज और ब्रह्मवर्चस् से तृप्त हो जाता है ।।श्री।।१,२।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर पञ्चम अध्याय के त्रयोविंश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। चर्तुविंश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब ब्रह्मवेत्ता के स्वरूप का निरूपण करते हैं। पिछले पाँच खण्डों में प्रथम के पंच ग्रासों में पंच आहुतियों का प्रकार कहा गया है इसी को शास्त्र में पंच ग्रासी और पंचकवली कहा गया है। शुद्धता से निर्मितपवित्र शाकाहारी भोजन जिसमें लहसुन और प्याज भी न पड़ा हो। पहले चाँदी अथवा काँस, फूल की थालीमें पड़ोसकर सेवा में विराजित भगवान श्री सीताराम जी अथवा लड्डू गोपाल जी को नैवेद्य करना चाहिए। तत् पश्चात् आर्द्रचरण से शुद्ध आसनपर बैठकर भगवत् स्मरण करते हुए पहले के पाँचग्रास आहुति की मात्रा में ही लेकर दाहिने हाथ की पाँचो अंगुलियों से हवन की बुद्धि से धीरे-धीरे मुख में डालना चाहिए। प्रत्येक ग्रास मुख डालते समय क्रम से निर्दिष्ट मन्त्रों में से एक-एक का उच्चारण करना चाहिए। (१) ॐ प्राणाय स्वाहा (२) ॐ व्यानाय स्वाहा (३) ॐ अपानाय स्वाहा (४) ॐ समानाय स्वाहा (५) ॐ उदानाय स्वाहा। इसी को मानसकार ने इस प्रकार कहा है–

पंच कवलि करि जेवन लागे, गारि गन सुनि अति अनुरागे ।।

(मानस १/३२९/१)

स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति यथाङ्गारानपोह्य भस्मनि जुहुयात्तादृक्तत्स्यात् ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो व्यक्ति इस पंचकवल रहस्य को बिना जाने अपने मन:कल्पित वाक्यों से पंचग्रास हवन करके भोजन करता है उसका भोजन उसी प्रकार निरर्थक हो जाता है जैसे अंगारों को हटाकर राख में किया हुआ हवन। इसलिए भोजन करते समय मनमानी अवैदिक वाक्य नहीं बोलने चाहिए ।।श्री।।१।।

अथ च एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– परन्तु इसके विपरीत जो पंचकवल के रहस्य को जानता हुआ पूर्व निर्दिष्ट पाँचो मंत्रों का उच्चारण करके पंचकवलविधि का सम्पादन करके प्रतिदिन भोजन करता है उसका सभी लोकों में, सभी प्राणियों के विषय में और सभी जीवात्माओं के प्रति विना हवन किये हुए ही भोजन के समय केवल पंचकवलविधान से हवन हो जाता है। इसलिए प्रत्येक वर्णाश्रमी को प्रत्येक भोजन के समय पंचग्रास विधानअवश्य करना चाहिए ।।श्री।।२।।

तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवँ हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार पंचकवल के रहस्य को जानता हुआ जो व्यक्ति भोजन के प्रारम्भ में पंचग्रास का विधान संपादन करता है उसके सभी पाप उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे सरकण्डे (सरपत) की छाल और रूई अग्नि में पड़ते ही अग्नि में भस्म जो जाती हैं ।।श्री।।३।।

तस्मादु हैवं विद्यद्यपि चण्डालायोच्छिष्टं प्रयच्छेदात्मनि हैवास्य तद्वैश्वानरे हुतँ स्यादिति तदेष श्लोकः ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसलिए इस रहस्य का ज्ञाता यदि पंचग्रास विधान के पश्चात् अपने किये हुए भोजन का जूठन चाण्डाल को भी दे दे तो भी आत्मारूप वैश्वानर को हवन किया हुआ ही माना जायेगा। अर्थात् न तो उसे जूठन देने का पाप लगेगा और न ही चाण्डाल की अस्पृश्यता का दोष लगेगा। क्योंकि गीता- (१५/१४) में भगवान्, अर्जुन से स्वयं कहते हैं कि– मैं वैश्वानर बनकर प्राणी के शरीर में विराजमान होकर प्राण और अपान से युक्त होकर उनसे किये हुए चारों प्रकार के भोजन का परिपाक करता हूँ। इसी सन्दर्भ में यह श्लोक प्रसिद्ध है ।।श्री।।४।।

यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते। एवँ सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासत इत्यग्निहोत्रमुपासत इति ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जिस प्रकार क्षुधा से पीडित बालक क्षुधा की शांति के लिए वात्सल्यमयी माता की उपासना करते हैं अर्थात् माँ से भोजन माँगते हैं, उसी प्रकार भोजनकाल में वैश्वानररूप अग्नि में पंचग्रास विधि से आहुति देने वाले महापुरुष की सभी भूतप्राणी उपासना करते हैं अर्थात् वह माँ के समान सारे संसार को संतुष्ट करने की क्षमता रखता है। द्विरूक्ति आदर के लिए और अध्याय समाप्ति के लिए है ।।श्री।।

इति श्रीचित्रकूटवास्तव्य सर्वाम्नाय श्री तुलसीपीठाधीश्वर श्रीमद्जगद्गुरु
रामानन्दाचार्य श्रीरामभद्राचार्य कृतौ श्रीराघवकृपाभाष्ये
छान्दोग्योपनिषदि विवरणे पञ्चमाध्यायः सम्पूर्णः ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। षष्ठ अध्याय ।।

।। प्रथम खण्ड ।।

एकमेवाद्वितीयं सद्ब्रह्म यं श्रुतयो जगुः।
नीलोत्पलदलश्यामं रामं षष्ठे तमीड्महे ।।

सम्बन्ध भाष्य– इसके अनन्तर समस्त श्रुतियों के तात्पर्य, सभी हेयगुणों से वर्जित, श्रीसीतापति सकलकल्याणगुणगणसंग्रह सनातनधर्मविग्रह परब्रह्म परमात्मा श्रीराम का निरूपण करने के लिए षष्ठ अध्याय का निरूपण किया जा रहा है। उसमें भी सर्वप्रथम विषय को स्पष्ट करने के लिए आरुणि पुत्र श्वेतकेतु और उनके पिताश्री के सम्वाद के व्याज से आख्यायिका भी प्रस्तुत की जा रही है ।।श्री।।

ॐ श्वेतकेतुर्हारुणेण आस तँ ह पितोवाच श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्यं न वै सोम्यास्मत्कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यह इतिहास प्रसिद्ध है कि– ब्रह्मर्षि अरुण का पौत्र श्वेतकेतु बारह वर्ष की भी अवस्था को पार कर चुका था। इस प्रकार वेदाध्ययनविहीन पुत्र को पिता श्री ने आदेश दिया– श्वेतकेतु ! अब तुम किसी आचार्य का वरण करके वही ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए निवास करो। हे सोम्य ! तुम में सोमरसपान की योग्यता है परन्तु वेदाध्ययन नहीं है और हमारे कुल में उत्पन्न कोई बालक विना वेद पढ़े नहीं रहता। केवल तुम्ही बारह वर्ष की अवस्था को पार करके भी एक अक्षर भी वेद का नहीं जानते हो ।।श्री।।१।।

संगति– अब श्वेतकेतु की उत्तरकालिक दशा का वर्णन करते हैं ।।श्री।।

स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विंशतिवर्षः सर्वान्वेदानधीत्य महामना अनूचानमानी स्तब्ध एयाय। तँ ह पितोवाच श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– स्वयं शास्त्रोपदेश समर्थ होकर भी जो श्वेतकेतु के पिता ने उन्हें बारह वर्ष पर्यन्त नहीं पढ़ाया और एक आचार्य के पास भेज दिया। तब श्वेतकेतु ने भी बारह वर्ष की अवधि में ही चारों वेदों का शब्दतः

अर्थतः अध्ययन कर लिया। आचार्य के समक्ष वेदों की आठों विकृतियों और तीनों प्रकृतियों का आनुपूर्वी पाठ सुनाकर अपने मन को महान् समझता हुआ और स्वयं को सर्वश्रेष्ठ वक्ता मानता हुआ अहंकार पूर्वक पिता के पास आया। इस प्रकार श्वेतकेतु को अपने समीप आया देखकर उसके विद्याभिमान को दूर करने के लिए पिता ने कहा– अब तुम चौबीस वर्ष के हो चुके और सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन भी कर लिया। तुम अपने को श्रेष्ठ वक्ता मानने लगे। क्या तुमने आधिकारी जनों के लिए आदरपूर्वक उपदेश का विषय बनने वाले, भक्तों को सादर सभी कामनायें देने वाले, सारे संसार के भक्षक काल के भी ईश्वर उस परमात्मा के सम्बन्ध में अपने आचार्य से कुछ पूँछा ?

व्याख्या– यहाँ चौबीस वर्ष की अवस्था में श्वेतकेतु घर आया और बारह वर्ष पर्यन्त वेद पढ़ा। इससे यही सिद्ध होता है कि वे बारह वर्ष पर्यन्त अनुपनीत ही रहे। यदि कहें कि श्वेतकेतु में व्रातत्व क्यों नहीं आया ? तो कहना चाहिए कि मनु ने कथंचित सोलह वर्ष पर्यन्त ब्राह्मण के व्रातत्व का परिहार बताया है। यहाँ श्वेतकेतु के विद्याभिमान को दूर करने के लिए ही उसके पिता ने उससे आदेश विषयक प्रश्न किया। भक्त का हृदयाकाश ही ब्रह्म का देश है इसलिए उसे आदेश कहते हैं।।श्री।।

संगति– पुत्र की जिज्ञासा को बढ़ाने के लिए उस आदेश की व्याख्या करते हैं।।श्री।।

येनाश्रुतँ श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे श्वेतकेतु ! आचार्य चरणों से उपदेश पाकर अपने निर्मल अन्तःकरण में प्रेमाभक्तिप्रवणचित्त से चिन्तन का विषय बनाये जाते हुए, भक्त पर कृपा करते हुए, जिस परमकृपालु परमात्मारूप आदेश से कभी न सुना हुआ श्रुत हो जाता है, कभी भी ध्यान में न आया हुआ ध्यान में आ जाता है, कभी भी निदिध्यासन का विषय न बना हुआ निदिध्यासित हो जाता है तथा कभी भी न ज्ञात हुआ पूर्णरूप से ज्ञात हो जाता है अर्थात् जिनकी कृपा से वह ब्रह्मज्ञान स्वयं हृदयस्थ हो जाता है जिसको कभी भी श्रवण, मनन और निदिध्यासन का विषय नहीं बनाया जा सकता। यदि तुम उस परमकृपालु भक्तवाञ्छाकल्पतरु श्रीरामाभिधान ब्रह्मरूप आदेश को आचार्यमुख से श्रवण कर लिए होते तो तुम्हें विद्या का

इतना अभिमान न होता। श्वेतकेतु ने जिज्ञासा की कि– भगवन्! वह आदेश कैसा होता है? ।।श्री।।३।।

संगति– अब आरुणि तीन मंत्रों से आदेश की व्याख्या करते हैं ।।श्री।।

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातँ स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ।।४।।

यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातँ स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम् ।।५।।

यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातँ स्याद्वाचा-रम्भणं विकारो नामधेयं कृष्णायसमित्येव सत्यमेवँ सोम्य स आदेशो भवतीति ।।६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे सोम्य! श्वेतकेतु! जिस प्रकार एक मिट्टी के ढेले को जान लेने से सम्पूर्ण मिट्टि का ज्ञान हो जाता है उसे विकार नाम देना केवल वाणी का आरम्भण मात्र है। 'वह प्रशस्त माटी है' इतना ही सत्य है। हे सोम्य! जिस प्रकार एक लौहमणि अर्थात् धातु के जान लेने से सम्पूर्ण धातुनिर्मित पदार्थ जान लिया जाता है। उसे लोह के विकार नाम से बुलाना केवल वाणी का विलास मात्र है। 'वह एक धातु है' यही सत्य है। हे सोम्य! जिस प्रकार एक नखनिकृन्तन अर्थात् नहरनी के जान लेने से सम्पूर्ण काले लोहे से बनी वस्तु जान ली जाती है। विकार उसका नाम कहना वाणी का व्यवहार मात्र है। 'वह काला लोहा है' इतना ही सत्य है। हे सोम्य! इसी प्रकार वह आदेश होता है अर्थात् उस ब्रह्म को जान लेने से समस्त संसार का स्वयं ज्ञान हो जाता है ।।श्री।।

व्याख्या– यहाँ मृत्पिण्ड, लौहमणि और निकृन्तन के उदाहरण से श्रुति ने भगवान् की त्रैकालिक निर्विकारता सिद्ध की है अर्थात् भगवान् तीनों कालों में निर्विकार हैं। यदि कहें कि निर्विकार होकर वे जगत् के परिणामी कैसे बनते हैं? तो इसका उत्तर यह है कि यही उनका लोकोत्तर सामर्थ्य है जिससे वे जगत् के परिणामी बनकर विकृत नहीं होते। जैसे एक दीपक से सहस्रों दीपक जलाये जाने पर भी दीपक में विकार नहीं आता। जैसे वृक्ष सहस्रों फल देकर जैसा का तैसा बना रहता है। जैसे

चिन्तामणि से अनेक अभीष्ट पदार्थ प्रकट होते हैं परन्तु चिन्तामणि में कोई विकृति नहीं आती उसी प्रकार भगवान् जगत् के परिणामी बनकर अविकृत बने रहते हैं। वस्तु-तस्तु में भगवान् का दर्शन विशिष्टाद्वैत है। उसमें चित्-अचित् ये दोनों भगवान् के विशेषण हैं। चित् अर्थात् जीव भगवान् के समान नित्य है। अचित् अर्थात् माया जड़ है। इन दोनों का भगवान् के साथ शरीरशरीरिभाव सम्बन्ध है। भगवान् शरीरी हैं और जीव तथा माया शरीर। जैसे विशेषण के गुण विशिष्ट में आरोपित होते हैं, दण्ड के नष्ट हो जाने पर दण्डी नष्ट हो गया ऐसा कहा जाता हैं उसी प्रकार परिणाम भी परमात्मा के शरीररूपी अचित् प्रकृति में होता है परन्तु भगवान् को भी परिणामी कहा जाता है। चूँकि परिणाम प्रकृति में है अत: विकार भी वहीं होगा। जैसे दण्ड के टूटने पर दण्डाधारी नहीं टूटता उसी प्रकार प्रकृति की विकृति से परमात्मा विकृति नहीं होते। यहाँ तीनों बार श्रुति ने विकार को नाममात्र और वह भी प्रामाणिक नहीं बल्कि जड़प्राय वाणी का ही आरम्भण कहा, इससे विकासवाद और विवर्तवाद दोनों का खण्डन हो गया। क्योंकि यदि जगत् को परमात्मा का विवर्त माना जायेगा तब सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा ही नहीं संगत हो सकेगी। क्योंकि यहाँ श्रुति ने तीन दृष्टान्तों से यह सिद्धान्त निश्चित किया है कि– तीनों कालों में अवस्थाओं के ब्रह्म के जानने से ही जगत् का ज्ञान होता है। क्योंकि जगत् ब्रह्म का परिणाम है। जैसे मिट्टी के ढेले का घड़ा परिणाम है। अत: मिट्टी को स्वरूपत: जान लेने से घड़े को स्पर्शमात्र से मिट्टी का घड़ा समझने में देर नहीं लगती। क्योंकि उसमें अपनी जानी हुई मिट्टी की प्रतीति होती रहती है। यहाँ दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक दोनों एक ही तत्व दिखता है। भले ही उसका घड़ा, कलशा, आदि नाम हो फूट जाने पर है तो मिट्टी और घड़े की स्थित में भी उसमें मिट्टी के अतिरिक्त और क्या है। क्योंकि वह मिट्टी से ही बना है। इसी प्रकार ब्रह्म के जानने से संसार का ज्ञान हो जाता है क्योंकि वह ब्रह्म का ही परिणाम है। जैसे घड़े की सत्ता में भी मिट्टी की प्रतीति होती है उसी प्रकार संसार की सत्ता में ब्रह्म की प्रतीति होनी चाहिए। यदि नहीं होती है तो निश्चित ही प्रतीतिकर्ता को ब्रह्म का ज्ञान नहीं है। क्योंकि घड़े में मिट्टी की प्रतीति उसी को नहीं होती जिसे मिट्टी का पूर्णरूप से ज्ञान नहीं होता। इसी भागवत श्लोक चतुष्टयी में स्पष्ट कहा गया है कि– ब्रह्म मिट्टी की भाँति है अर्थात् जैसे घट की सत्ता में मिट्टी प्रतीत होती है और घट के

अभाव में भी। उसी प्रकार संसार की सत्ता में और उसके अभाव में इन दोनों में ही ब्रह्म की सत्ता अक्षत है। इसी प्रकार लोहमणि का परिणाम कटक-कुण्डल आदि तथा कृष्णायस के परिणाम चाकू आदि में स्वर्ण तथा लोहे की सत्ता है। अत: परिणामी के जानने से परिणाम का ज्ञान होता है क्योंकि परिणाम में परिणामी की सत्ता रहती है। परन्तु यदि जगत् को ब्रह्म का विवर्त माना जाता है तो पहला दोष तो यह होगा कि ब्रह्म के ज्ञान से जगत् का ज्ञान नहीं हो सकेगा क्योंकि अतत्व से अन्यथाप्रतीत को विवर्त कहते हैं। जैसे– रस्सी में सर्प। क्या रस्सी के ज्ञान से सर्प का ज्ञान सम्भव है ? क्योंकि घट में मिट्टी की प्रतीति होती है परन्तु सर्प में रस्सी की प्रतीति किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। कारण कि सर्प में रस्सी है ही नहीं जबकि जगत् में ब्रह्म है। दूसरी बात यह है कि यहाँ श्रुति द्वारा दिये हुए तीनों दृष्टान्तो में कोई भी दृष्टान्त विवर्तवाद का समर्थन नहीं करता। क्यों ? घट मृतिका का परिणाम है न कि विवर्त। कुण्डल स्वर्ण का परिणाम है विवर्त नहीं और नहरनी काले लोहे का परिणाम है न कि विवर्त। सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि यदि विवर्तवाद माना ही जाय तो आपका अद्वैत समाप्त हो जायेगा। क्योंकि आपको दो पदार्थों की कल्पना करनी पड़ेगी। एक सत् की एक असत् की और दोनों की प्रसिद्धि भी स्वीकारनी पड़ेगी क्योंकि रस्सी में सर्प का भ्रम तभी सम्भव है जब दोनों पृथक-पृथक सत्ता के साथ पृथक-पृथक प्रसिद्ध हों। ज्ञात पदार्थ की ही तो प्रतीति होती है। जिसने सर्प और रस्सी को अलग-अलग देखा और अंधेरे में पड़ी हुई रस्सी के आधार पर सर्प मान लिया इसका अर्थ है कि दोनों की ही देखनेवाले के मन में स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में कल्पना है। इंसीलिए तो जिसने कभी सर्प को नहीं देखा अथवा जो दृष्टिहीन है उसे रस्सी में सर्प का भान नहीं होगा। इसी प्रकार आपको ब्रह्म से अतिरिक्त पदार्थ के रूप में जगत् की कल्पना करनी पड़ेगी और सबसे बड़ा अनर्थ तो यह होगा कि विवर्तवाद के पक्ष में 'सर्व खल्विंदं ब्रह्म' (छा०उ० ३/१४/१) श्रुति कभी-भी गतार्थ नहीं हो सकेगी क्योंकि परिणामवाद में घट में मृतिका है, कुण्डल में स्वर्ण है चाकू में लोहा है, इसलिए वहाँ 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की सिद्धि हो जाती है परन्तु विवर्तवाद में कथमपि सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि रजत में शुक्ति नहीं है न ही शुक्ति में रजत। सर्प में रस्सी नहीं है और न रस्सी में सर्प। परन्तु यहाँ तो जगत् में ब्रह्म है और ब्रह्म में

जगत्। जैसे रसगुल्ले में रस और रस में रसगुल्ला। इसीलिए गीता (७/७) में भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि– तागे में मणि की भाँति मुझमें जगत् ओत-प्रोत है। श्रुति भी कहती है– 'तिलेषुतैलं दधनीव सर्पि:' (श्वे०उ० १/१/१५) जैसे तिल में तेल और दही में घी व्याप्त है उसी प्रकार परमात्मा जगत् में व्याप्त है। यदि कहें कि वाक्यपदीयं तथा भूषण की प्रथम कारिका में विवर्तते का प्रयोग आया है। इसका उत्तर यह है कि– ये दोनों कोई आर्षग्रन्थ अथवा स्मृतिग्रन्थ नहीं है कदाचित् अद्वैतवासना से यह प्रयोग कर दिया होगा अथवा वहाँ 'विशेषण' अर्थ कर लेना चाहिए। वस्तुत: जगत् परमात्मा का अंश है और भगवान् अंशी। यदि विवर्त मान लेंगे तो जगत् और जगदीश का अंशांशिभाव ही मिट जायेगा। जबकि भगवान् गीता (१५/७) में जीव को अपना सनातन अंश कह रहे हैं– 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:'। यदि कहें कि यहाँ अंश औपाधिक है तो भी अनर्थ होगा क्योंकि तब तो आपको उपाधि के स्वरूप का निवर्चन करना पड़ेगा। यदि वह मिथ्या है तब ब्रह्म को ढ़क नहीं सकती। यदि वह नित्य है तब तो आपका अद्वैतवाद समाप्त हो गया और दूसरी बात यह है कि ब्रह्म के अतिरिक्त उपाधि की कल्पना कैसे? यदि कहें यहाँ अंश सदृश में लक्षणा होगी, तो यह कहना अनुचित होगा, क्योंकि सनातनशब्द का प्रयोग करके भगवान् जीव को अपना नित्य अंश ही मानते हैं। यदि कहें कि– अंशाशिभाव की कल्पना में ब्रह्म का अखण्डत्व नष्ट हो जायेगा तो ऐसी भी बात नहीं है। जैसे एक दीपक से अनेक दीपकों को जलाने पर भी उसकी अखण्डता का नाश नही होता उसी प्रकार परमात्मा के शरीर से एक साथ असंख्य जीवों के उत्पन्न होने पर भी परमात्मा की अखण्डता का नाश नहीं होता। इसलिए अंशाशिभाव की दृष्टि से भी शंकराचार्यस्थापित विवर्तवाद न्यायसंगत नहीं लगता। भाष्यकार को सूत्रों के अक्षरों पर भाष्य करने की अनुमति होती है। यदि वह अपने सिद्धान्त के स्थापन के लिए सूत्र के अक्षरों को ही समाप्त कर डाले तो निश्चित ही वह अपने आधिकारिक सीमा का उल्लंघन करेगा। अतएव 'परिणामात्' सूत्र के आधार पर भी अविकृत परिणामवाद ही मानना चाहिए। क्योंकि यहाँ श्रुति ने तीन बार विकार का निषेध किया है॥श्री॥४,५,६॥

संगति– इस प्रकार आदेश की व्याख्या सुनकर अब श्वेतकेतु के हृदय में जिज्ञासा बढ़ने लगी और उन्होंने अपने गुरु से भी अपने पिता को

श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता माना तथा आदेश के उपदेश के लिए अपने पिता की उपसत्ति की अर्थात् सद्गुरुरूप में स्वीकार कर उनके समीप गये।।श्री।।

न वै नूनं भगवन्तस्त एतदवेदिषुर्यद्ध्येतदवेदिष्यन् कथं मे नावक्ष्यन्निति भगवाँस्त्वेव मे तद्ब्रवीत्विति तथा सोम्येति होवाच ।।७।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– श्वेतकेतु ने कहा– भगवन्! मेरे पूज्य चरण गुरुदेव इस आदेश रहस्य को नहीं जानते थे। यदि जानते होते तो मुझे क्यों न कहते? इसलिए आप ही कृपा करके आदेशरहस्य मुझे समझायें। आरुणि ने प्रसन्न होकर कहा– एवमस्तु।।श्री।।७।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर षष्ठ अध्याय के प्रथम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। द्वितीय खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– पूर्व खण्ड में तीन मन्त्रों से तथा छह दृष्टांतों से जिस सत्य का प्रतिपादन किया गया और मृत्तिका, लौह और कृष्णायस को सत्य कहा, उस सत्य की परिभाषा इस खण्ड में ही जायेगी। वस्तुतः सत् ही सत्य है। 'सदेव सत्यम्' 'शाखादिभ्यो यः' सूत्र से स्वार्थ में 'य' प्रत्यय और 'भ' संज्ञा के कारण जस्त्व का अभाव करके 'सत्य' शब्द बनता है अथवा सते हितं सत्यम् जो संतों के लिए हितकर हो वही सत्य है। इस प्रकार व्युत्पत्ति करके यत् प्रत्यय द्वारा भी सत्यशब्द की सिद्धि की जाती है। परन्तु 'सत्य' शब्दघटक सत् क्या है? तीनों कालों में उसका क्या स्वरूप है? इसी के निर्धारणार्थ इस खण्ड का प्रारम्भ किया जाता है।।श्री।।

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे सोम्य! सृष्टि के पहले यह नामरूपात्मक जगत् सत् परमात्मा में ही विराजमान था और परमात्मक था। वह एक था अर्थात् उसमें अनेक शरीरों की कल्पना नहीं थी। चैत्र-मैत्र आदि नामों-रूपों से रहित होने के कारण अपने बीज स्वरूप में स्थित होने के कारण उसका कोई दूसरा प्रतियोगी नहीं था अथवा वह जीव जिस परमात्मा में स्थित था वह एक अर्थात् सत्-असत् दोनों का विशिष्ट है। कोई उसके समान नहीं

है इसीलिए वह अद्वितीय है। यहाँ 'सत्' शब्द में तन्त्र का प्रयोग है अर्थात् वह एक बार उच्चारित होकर भी एक ही साथ दो अर्थों का बोध करा रहा है। प्रथम सप्तम्यन्त और द्वितीय प्रथमान्त का अर्थात् सति-सत् आसीत्। सृष्टि के पहले सत् रूप परमात्मा में ही यह सत् नामक जीव था। जो परमात्मा एक अर्थात् सत् जीव और असत् माया इन दोनों से विलक्षण है अथवा सृष्टि के पहले भी यह जीव सत् ही था अस्तित्ववान् था इसके सारे नामरूप समाप्त हो चुके थे। यह एक था अर्थात् उस समय भिन्न-भिन्न सम्बन्ध भी नहीं रह गये थे। 'एकम्' इसके कोई सुख के साधन नहीं रह गये थे। 'ए' अर्थात् वासुदेव में ही 'कं सुखं यस्य' अर्थात् इसी सुख की अनुभूति होती थी अर्थात् सृष्टि के पहले ही परमात्मा में ही इसे सुख मिल जाता था इसीलिए यह प्रलय में भी व्यथित नहीं हुआ। 'प्रलये न व्यथन्ति च'। चूँकि अनेक जीवों का समूह मिलकर एक हो चुका था सभी व्यक्तियाँ जाति में मिल चुकी थी इसलिए यह एक हो गया था। जो नित्य होता हुआ अनेक में समवेत होने की स्वरूपयोग्यता रख रहा था उसका कोई दूसरा सहायक नहीं था। 'अद्वितीयं' अकारः वासुदेवः द्वितीयः यस्य तत् अद्वितीयम्। अकार अर्थात् वासुदेव ही उसके द्वितीय सहायक थे अर्थात् सृष्टि के पहले भी ब्रह्म और जीव पिता-पुत्र की भाँति एवं मित्र-मित्र की भाँति एक साथ रह रहे थे। उसी जीव को एक अर्थात् श्रौत परम्परा से अन्य लोग अर्थात् वैनासिक, जैन, सौगत, योगाचार एवं क्षणिक ऐसा भी कहते हैं कि वह सृष्टि के पहले असत् अर्थात् अभावरूप था और उस असत् से सत् की उत्पत्ति हुई जो एक और अद्वितीय था। 'तद्धैके' 'तद् ह एके' शब्द का प्रयोग करके श्रुति ने स्वयं इस पक्ष को सिद्धान्त नहीं माना केवल नास्तिकपक्ष का अनुवाद मात्र किया। चूँकि श्रुति का प्रत्येक अक्षर प्रामाणिक होता है इसलिए इस पंक्ति को दूसरे प्रकार से भी लगाया जा सकता है। तब उस परमात्मा को 'ह' निश्चय पूर्वक 'एके' श्रीवैष्णव महानुभाव 'अहुः' कहते हैं, 'अग्रे' सृष्टि के पहले, 'इदं' यह दृश्यमान जगत्, 'असत्' अकारे वासुदेवे सीदति इति असत्। अर्थात् अकाररूप भगवान् वासुदेव में ही विराजमान था। अर्थात् संसार के पहले जीव का कोई दूसरा स्थान नहीं था वह केवल परमात्मा में ही रह रहा था। इसीलिए गीता (९/१८) में भगवान् ने अपने को निवास और शरण कहा। उसी असत् अर्थात् अव्याकृत नाम वाले अथवा अकाररूप वासुदेवाधीनसत्ताक् जीव से व्याकृत सत् का जन्म होता है ॥श्री॥१॥

संगति– अब नास्तिकपक्ष का खण्डन करते हैं।।श्री।।

कुतस्तु खलु सोम्यैवँ स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब महर्षि आरुणि नास्तिकपक्ष का स्वयं खण्डन करता है। हे सोम्य! श्वेतकेतु! जो लोग कहते हैं कि असत् से सत् की उत्पत्ति हुई वे लोगों को वर्गला रहे हैं। श्वेतकेतु– यह कैसे हो सकता है? असत् से सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है? जब कारण में कार्य रहता है तभी उसमें उत्पन्न होता है। किसी ने जल से घी को उत्पन्न होते देखा है? क्या किसी ने बालू से चीनी निकलते सुना है? या गुलाब से कमल का पराग कभी उत्पन्न हुआ है? वस्तुतः सृष्टि से पहले अणुरूप समस्त जीवों को अपने में समेटे हुए एकमात्र सद्रूप परमात्मा ही थे। जो निरूपण और सादृश्य रहित हैं उन्हीं से सद्जीव की उत्पत्ति होती है। असत् से सत् की उत्पत्ति का निषेध करके श्रुति ने स्वयं ही जहाँ एक ओर सत्कार्यवाद की स्थापना की वहीं दूसरी ओर विवर्तवादाडम्बर महाप्रासाद को ढहा दिया।।श्री।।२।।

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत। तस्माद्यत्र क्व च शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब सृष्टिप्रक्रिया का वर्णन करते हैं। उन परमात्मा ने अपनी अव्याहत संवितनामक ज्ञानशक्ति से पूर्वकल्प की सृष्टि का निरीक्षण किया कि 'मैं अभी एक हूँ अब बहुत हो जाऊँ' अर्थात् प्राणी के प्रत्येक शरीर में प्रत्येक जीवात्मा के साथ निवास करने के लिए जीवात्माओं की संख्या के अनुसार अनेक रूप हो जाऊँ। मेरा बहुत्व आरोपित नहीं पारमार्थिक हो। 'प्रजायेय' अर्थात् मैं प्रकर्षपूर्वक प्रत्येक शरीर में अन्तर्यामी रूप से जन्म लूँ। प्राकर्ष यह हो कि मैं कर्मबन्धनों से निरपेक्ष होकर भी, जीव के शुभाशुभ कर्मों से निर्लिप्त रहकर भी, जीवों के शुभाशुभ कर्मों के निरीक्षण के लिए साक्षीरूप अन्तर्यामी अवतार लूँ। इस प्रकार 'प्रजायेय' शब्द से अन्तर्यामी अवतार की श्रुतिप्रमाण से सत्यापना करके उस परमात्मा ने तेज की सृष्टि की। तेज ने भी यही संकल्प किया कि 'मैं एक हूँ बहुत हो जाऊँ और जन्म लूँ'। अब उसने

जल की सृष्टि की इसीलिए जब भी व्यक्ति रोता है या पसीना होता है तब जल दिखाई देता है। वह तेज का ही परिणाम है।।श्री।।३।।

संगति– वह परमात्मा सत् और असत् दोनों को चेतना देता है और स्वयं प्रकाशित रहता है। यह बात बृहदारण्यक के अन्तर्यामी प्रकरण में भी कही गयी है। जलावच्छिन्न चैतन्य ने किसकी रचना की ? इसका उत्तर कहते हैं।।श्री।।

ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त तस्माद्यत्र क्व च वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवत्यद्भ्य एव तदध्यन्नाद्यं जायते।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर जलरूप भगवान् ने संकल्प किया कि 'अब हम बहुत हो जाँय' तब उन्होंने अन्न की रचना की इसीलिए जब अधिक वर्षा होती है तब अन्न होता है। क्योंकि भक्षणीय पदार्थ जल से ही उत्पन्न हुआ है।।श्री।।

व्याख्या– यहाँ सत् से अधिष्ठित जलरूप परमात्मा के संकल्प की बात कही गयी इसलिए बहुवचन का प्रयोग हुआ। 'अन्न' शब्द से पृथ्वी का भी उपलक्षण समझना चाहिए। क्योंकि तैत्तिरीयोपनिषद् में 'अद्भ्यः पृथ्वी' कहा गया है। इस प्रकरण में तीन बार 'ईक्षण' क्रिया का प्रयोग करके भगवती श्रुति ने स्वयं सांख्यशास्त्राभिमेत प्रकृति के जगत्कारणत्व का निराकरण कर दिया है। क्योंकि सांख्याचार्य भी प्रकृति को जड मानते हैं। जबकि जड में ईक्षणक्रिया सम्भव नहीं है वह तो चेतन का ही धर्म है। अब यहाँ प्रश्न उठता है कि– तैतरीयोपनिषद् में परमात्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति कही गयी है। परन्तु यहाँ तो सर्वप्रथम परमात्मा द्वारा तेज की ही रचना का वर्णन आया है। यह श्रुतियों का परस्पर वदतोव्याघात कैसा ? तो इसके यहाँ कई समाधान दिये जाते हैं। प्रथम समाधान यह है कि– यहाँ कोई सृष्टि रचना का क्रमिक वर्णन नहीं किया जा रहा है और दूसरी बात यह है कि यहाँ तेज शब्द आकाश और वायु का उपलक्षण है। उपलक्षण का अर्थ होता है अपना बोध कराकर अपने से इतर का बोध कराना। और एक पक्ष यह भी कहा जा सकता है कि– यहाँ अरचयत् प्रयोग न करके असृजत का प्रयोग है। सृज् धातु का अतिसर्ग याने गुणाधान अर्थ है। आशय यह हुआ कि परमात्मा ने आकाश की रचना करके शब्द-गुण का आधान किया अनन्तर

वायु की रचना करके उसमें शब्द और स्पर्श का आधान किया अनन्तर शब्द-स्पर्श-रूप से तेज की रचना की, अथवा यहाँ त्रिवृत्तकरण की ही प्रक्रिया कही गयी है पंचीकरण का मूल मृग्य है ।।श्री।।४।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर षष्ठ अध्याय के द्वितीय खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। तृतीय खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब आकाश और वायु के उपलक्षक तेज, जल और अन्न की सृष्टि के पश्चात् भावी सृष्टि का वर्णन करते हैं ।।श्री।।

तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्यण्डजं जीवज-मुद्भिज्जमिति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने वाले जीवों के तीन ही कारण होते हैं अण्डज, जीवज और उद्भिज। यहाँ प्रयोजन अर्थ में अण् प्रत्यय हुआ है। स्वेदज का उद्भिज में ही अन्तर्भाव समझना चाहिए ।।श्री।।१।।

संगति– अब जगत् के नाम-रूप का व्याकरण कहते हैं ।।श्री।।

सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्म-नानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर परमात्मारूप देवता ने विचार किया– अहो ! मैंने तेज, जल, पृथ्वी की रचना कर ली है और इन्हें नियंत्रित करने के लिए मैंने तीन देवताओं का सृजन कर लिया है। अहो ! अब मैं इस जीवसंज्ञक आत्मा के साथ इन तीनों देवताओं में इनकी अनुकूलता से प्रवेश करके जगत् के पृथक-पृथक नाम-रूपों का निर्देश करूँ ।।श्री।।

व्याख्या– 'सेयं' यह स्त्रीलिङ्ग निर्देश करके भगवान् में वात्सल्य के आधिक्य की सूचना दी गयी है। 'अनेन जीवेन आत्मना' शब्द के प्रयोग से श्रुति ने स्पष्टरूप से जीवात्मा और परमात्मा का स्वरूपतः भेद सिद्ध किया। 'जीवात्मना' न कहकर 'जीवेन आत्मना' शब्द के प्रयोग में श्रुति ने समानार्थीकरण से कर्मधारयसमास का ही निर्देश किया है। यदि जीवात्मना

कहा होता तो इसके समास में अनेक प्रकार के सन्देह होते। यहाँ ज़ीवात्मा के साथ तृतीया और परमात्मा के साथ कर्त्ता का प्रयोग करके श्रुति ने जीवात्मा और परमात्मा के भेद के साथ-साथ परमात्मा को प्रधान और जीवात्मा को अप्रधान निर्दिष्ट किया है। यहाँ सहार्थ के योग में तृतीया है और वह अप्रधान के अर्थ में है। इससे यह संकेतित हुआ कि परमात्मा प्रधान अर्थात् विशेष्य हैं और जीवात्मा अप्रधान अर्थात् विशेषण है और 'अनेन जीवेन आत्मना' शब्द से श्रुति ने यह भी संकेतित किया कि परमात्मा ने जीवात्मा की रचना नहीं की, वह तो सदैव उन्हीं के साथ रहता है। 'अनेन' शब्द 'इदं' शब्द के तृतीया एकवचन का रूप है। कोष के अनुसार 'इदं' शब्द का प्रयोग अतिनिकटस्थ पदार्थ के लिए होता है। 'इदम: सन्निकृष्टे' इससे परमात्मा के साथ जीवात्मा का नित्यसाहचर्य एवं परमेश्वर की भाँति उसकी सार्वकालिकनित्यता का भी संकेत हुआ। वस्तुत: यह मंत्र विशिष्टताद्वैतसिद्धान्त के लिए साक्षात् कल्पवृक्ष है ।।श्री।।२।।

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत् ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब मैं इन तीनों देवताओं का त्रिवृत्त करके नामरूप का व्याकरण करूँ अर्थात् तैजस् पदार्थ के रचनाकाल में आधा भाग तेज का और चौथा चौथाया जल और पृथ्वी का। इसी प्रकार जलीय पदार्थ में अर्धांश जल का एवं चतुर्थ-चतुर्थ अंश तेज तथा पृथ्वी का। इसी प्रकार पार्थिव शरीर में अर्धांश पृथिवी का और चतुर्थ-चतुर्थ अंश जल और तेज का यही है त्रिवृत्तकरण। इस प्रकार निश्चय करके वात्सल्यगुणावच्छिन्न परमपिता परमात्मा ने अपने शाश्वतसखा जीवरूप आत्मा के साथ, तेज, जल और अन्न में प्रवेश करके जगत् के अनेक नाम रूपों का व्याकरण अर्थात् पृथक-पृथक नाम और रूपों से स्पष्टीकरण किया। यही परमात्मा का जीवात्मा के साथ प्रत्येक शरीर में अन्तर्यामीरूप में अवतरण एवं प्रच्छन्न बौद्धों द्वारा कल्पित जीवविषयक प्रतिबिम्बवादसिद्धान्त के खण्डन का स्पष्ट संकेत हो गया।।श्री।।

तासा त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोद्यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवतास्त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर उस विलक्षणसृष्टिकौशलमयी परमात्मा नामक पुत्रवत्सला ने उन तीनों देवताओं में से प्रत्येक को तीन-

तीन भागों में बाँट दिया। हे सोम्य! परमात्मा ने जिस प्रकार से तेज, जल और पृथ्वी के तीन-तीन भाग किये वह मुझसे समझो ।।श्री।।४।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर षष्ठ अध्याय के तृतीय खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। चतुर्थ खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब भिन्न उदाहरणों से जगत् के नामरूपों का अमिथ्यात्व सिद्ध करते हैं ।।श्री।।

यदग्ने रोहितँ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार तेज, जल और पृथ्वी के मिलने से एक पदार्थ बना जिसे हम अग्नि कहते हैं। उसका जो लालरूप है वही तेज है। अग्नि का जो श्वेतरूप है वही जल का है और जो काला रूप है वही पृथ्वी का है। यदि तीनों अलग हो जायं तो अग्नि में क्या रह जायेगा? उसका अग्नित्व ही चला जायेगा। वास्तव में ये तीन रूप ही सत्य है जो परमात्मा के हैं। अग्नि यह नाम तो केवल वाणी का आलम्भन मात्र है। ये तीन रूप भगवान् के हैं। इस प्रकार भगवान् के जान लेने से सम्पूर्ण जगत् का ज्ञान हो जाता है ।।श्री।।१।।

संगति– अब आदित्य चन्द्र और विद्युत् में इन्हीं तीनों रूपों का वर्णन करके तीन मन्त्रों से इन तीन नामों की असत्यता प्रतिपादित करते हैं ।।श्री।।

यदादित्यस्य रोहितँ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादादित्यादादित्यत्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ।।२।।

यच्चन्द्रमसो रोहितँ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागाचन्द्राच्चन्द्रत्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ।।३।।

यद्विद्युतो रोहितँ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागाद्विद्युतो विद्युत्त्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– सूर्य का जो लाल रूप है वही तेज का है, जो श्वेत है वह जल का है, जो कृष्ण है वह पृथ्वी का है। इन तेजों के न रहने पर सूर्य का सूर्यत्व नहीं रहता। आदित्य नाम केवल वाणी का व्यवहार है। तेज, जल, पृथ्वी ये तीन रूप ही सत्य हैं। इसी प्रकार चन्द्र का लालरूप तेज का, श्वेतरूप जल का और कृष्णरूप पृथ्वी का है। इनके न रहने से चन्द्र का चन्द्रत्व कैसे? चन्द्रमा यह विकार नाम वाणी का व्यवहार मात्र है। ये तीनों रूप तेज, जल, पृथ्वी के हैं इतना ही सत्य है। इसी प्रकार विजली का लालरूप तेज का है, श्वेतरूप जल का कृष्णरूप पृथ्वी का है। इन तीनों के न रहने पर विद्युत् का अस्तित्व ही नहीं रहता। वास्तव में विद्युत्नाम का यह विकार वाणी का व्यवहार मात्र है। तीनों रूप ही सत्य हैं।।श्री।।२-४।।

एतद्ध स्म वै तद्विद्वाँस आहुः पूर्वे महाशाला महाश्रोत्रिया न नोऽद्य कश्चनाश्रुतममतमविज्ञातमुदाहरिष्यतीति ह्येभ्यो विदांचक्रुः ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस रहस्य को जानकर हम लोगों से पूर्ववर्ती बलिवैश्वदेवादि से पवित्र महान् गृहों वाले और महान् श्रोत्रिय महानुभावों ने कहा था कि– हमारे कुल में कोई भी इस त्रिवृत्त रहस्य को जाने बिना अश्रुत, अमत् और अविज्ञात, अर्थात् जो सुना नहीं गया, जो मनन का विषय नहीं बनाया गया और जो जाना नहीं गया ऐसे विषय को किसी से नहीं कहेगा। क्योंकि वे इस रहस्य को जानते थे इसलिए जानकर भी जिज्ञासुओं से कहते थे।।श्री।।५।।

यदु रोहितमिवाभूदिति तेजसस्तद्रूपमिति तद्विदांचक्रुर्यदु शुक्लमिवाभूदित्यपाँ रूपमिति तद्विदांचक्रुर्यदु कृष्णमिवाभूदित्यन्नस्य रूपमिति तद्विदांचक्रुः ।।६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– वे जानते थे– जो लाल वर्ण का है उसमें अर्धांश तेज का और चौथा-चौथा अंश जल और अन्न का है। जो शुक्ल वस्तु है उसमें आधा अंश जल का है और चौथा-चौथा अंश जल

और पृथ्वी का। इसी प्रकार जो काली वस्तु दिखती है उसका अर्धांश पृथ्वी का और चौथा-चौथा अंश तेज और जल का है। इस प्रकार त्रिवृत्त करण कहा गया है।।श्री।।६।।

यद्व द्विज्ञातमिवाभूदित्येतासामेव देवतानाँ समास इति तद्वि-दांचक्रुर्यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्यत्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति।।७।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे सोम्य! जो कुछ विना जाना हुआ प्रतीत होता है वह तीनों देवताओं का त्रिवृत्तकृत रूप है। जिस प्रकार तेज, जल, पृथ्वी रूप तीनों देवता एक-एक करके तीन-तीन हो जातीं हैं वह सब मुझसे जानो।।श्री।।७।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर षष्ठ अध्याय के चतुर्थ खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। पञ्चम खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब अन्न आदि के त्रिवृत्तकरण का परिणाम कहते हैं।।श्री।।

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्माँसं योऽणिष्ठस्तन्मनः।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसी प्रकार खाये हुए अन्न के तीन भाग किये जाते हैं। उसका स्थूल मलरूप में परिवर्तित होता है और मध्यम मांस होता है तथा अन्न का सबसे सूक्ष्म अंश मन होता है। इसीलिए कहा जाता है– 'जैसा खाओ अन्न वैसा बने मन।।श्री।।१।।

आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति यो मध्यमस्तल्लोहितं योऽणिष्ठः स प्राणः।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसी प्रकार पिये हुए जल के भी तीन भाग हो जाते हैं। उसका स्थूल अंश ही मूत्र बनता है, मध्यम भाग रक्त बनता है और सबसे सूक्ष्म भाग प्राण बन जाता है।।श्री।।२।।

तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति यो मध्यमः स मज्जा योऽणिष्ठः सा वाक् ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब तेज का परिणाम कहते हैं। भक्षण करने पर भी तेज के तीन भाग हो जाते हैं। उसका स्थूल भाग हड्डी, मध्यम भाग चर्बी और सूक्ष्म भाग वाणी बन जाता है।।श्री।।३।।

अन्नमयँ हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे सोम्य! मन अन्न का परिणाम है, प्राण जल का परिणाम है एवं वाणी तेज का परिणाम है। श्वेतकेतु ने कहा– हे भगवन्! मुझे और उपदेश करने की कृपा करें।।श्री।।४।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर षष्ठ अध्याय के पञ्चम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः कृपाभाष्य ।।

।। षष्ठ खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब अन्न, जल और तेज के सूक्ष्मांश मन, प्राण और वाणी की संज्ञा कैसे प्राप्त करते हैं? इस प्रकार के प्रश्न का समाधान करने के लिए आरुणि दधि और मक्खन का दृष्टांत समझाते हैं।।श्री।।

दध्नः सोम्य मथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तत्सर्पिर्भवति ।।१।।

एवमेव खलु सोम्यान्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तन्मनो भवति ।।२।।

अपाँ सोम्य पीयमानानां योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति स प्राणो भवति ।।३।।

तेजसः सोम्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति सा वाग्भवति ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे सोम्य! जिस प्रकार मंथदण्ड से मथे जाते दही का सूक्ष्म अंश ऊपर आ जाता है उसी प्रकार खाये हुए अन्न का

सूक्ष्म अंश मन बन जाता है, पिये हुए जल का सूक्ष्म अंश प्राण बन जाता है और भक्षित किये हुए तेज का सूक्ष्म अंश वाणी बन जाता है ।।श्री।।१-४।।

अन्नमयँ हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार हे सोम्य! मन अन्नमय है अर्थात् अन्न का परिणाम है। प्राण जलमय है और वाणी तेजोमयी अर्थात् तेज का परिणाम है। फिर श्वेतकेतु ने कहा– भगवन्! कृपया और उपदेश करें। आरुणि ने कहा– तथास्तु ।।श्री।।५।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर षष्ठ अध्याय के षष्ठ खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। सप्तम खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब सोलह कलाओं वाले पुरुष का उपदेश करते हैं ।।श्री।।

षोडशकलः सोम्य पुरुषः पञ्चदशाहानि माशीः काममपः पिबापोमयः प्राणो न पिबतो विच्छेत्स्यत इति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे सोम्य! यह पुरुष सोलह कलाओं वाला है अर्थात् प्रकाशवान्, अनन्तवान्, ज्योतिष्मान्, आयतनवान् ये चार चरण हैं। जिनमें प्राची, अवाची, उदीची प्रतीची ये चार कलायें प्रकाशवान् पाद की हैं एवं पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग और समुद्र ये चार कलायें अनन्तवान् पाद की हैं तथा अग्नि, सूर्य, चन्द्र, विद्युत् ये चार कलायें ज्योतिष्मान् पाद की है और प्राण, चक्षु श्रोत्र और मन ये चार कलायें आयतनवान् पाद की है। इसलिए हे वत्स! इन्हीं सोलह कलाओं से यह पुरुष शरीर बनता है। इनमें प्राण सबसे महत्वपूर्ण कला है। श्वेतकेतु ने पूँछा– भगवन्! प्राण जल का परिणाम है इसे मैं कैसे जानूँ ? आरुणि ने कहा– वत्स! प्रयोग (प्रेक्टिकल) करके। अर्थात् पन्द्रह दिन पर्यन्त भोजन मत करो केवल जल पीते रहो तब भी तुम्हारे प्राण बचे रहेंगे। क्योंकि जलमय होने से उन्हें जल का पोषण मिलता रहेगा, परन्तु बिना जल के तुम पन्द्रह दिन नहीं रह सकते ।।श्री।।१।।

स ह पञ्चदशाहानि नाशाथ हैनमुपससाद किं ब्रवीमि भो इत्यृचः सोम्य यजूँषि सामानीति स होवाच न वै मा प्रतिभान्ति भो इति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर श्वेतकेतु ने अपने पिता श्री के निदेशानुसार पन्द्रह दिन पर्यन्त भोजन नहीं किया और जल पीता रहा। उसके प्राण नहीं गये। सोहलवें दिन अपने पिता के पास आया। श्वेतकेतु बोला– भगवन् क्या बोलूँ ? आरुणि ने कहा– पुत्र ! ऋचाएँ बोलो, यजु मन्त्र बोलो, साम मन्त्र बोलो। श्वेतकेतु ने कहा– भगवन् ! कैसे बोलूँ ? इस समय कोई मन्त्र मेने स्मरण में नहीं आ रहा है। क्योंकि 'बुभुक्षितं न त प्रतिभाति किञ्चित्' अर्थात् भूखे व्यक्ति को कुछ भी नहीं सूझता ।।श्री।।२।।

तँ होवाच यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यैकोऽङ्गारः खद्योतमात्रः परिशिष्टः स्यात्तेन ततोऽपि न बहु दहेदेवँ सोम्य ते षोडशानां कलानामेका कलातिशिष्टा स्यात्तयैतर्हि वेदान्नानुभवस्यशानाथ मे विज्ञास्यसीति ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– तब आरुणि ने कहा– सोम्य ! जिस प्रकार से इन्धन से प्रज्वलित महान् अग्नि का जुगनू के समान एक अंगार ईंधन को नहीं जला सकता अर्थत् जब बहुत सी अग्नि की लपटें होंगी तभी ईंधन जलेगा उसी प्रकार तुम्हारी पन्द्रह कलायें क्षीण हो चुकी हैं केवल एक प्राणकला अवशेष है इसलिए तुम जीवित तो हो परन्तु वेदों को नहीं स्मरण कर पा रहे हो। अतः सोम्य ! भोजन करो। फिर वेद स्मरण आ जायेंगे ।।श्री।।३।।

स हाशाथ हैनमुपससाद तँ ह यत्किंच पप्रच्छ सर्वं ह प्रतिपेदे ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर श्वेतकेतु ने भोजन किया और फिर पिता के पास आये। आरुणि ने जो कुछ पूँछा उस सबका श्वेतकेतु ने उत्तर दिया ।।श्री।।४।।

तँ होवाच यथा सोम्य महतोऽभ्याहतस्यैकमङ्गारं खद्योतमात्रं परिशिष्टं तं तृणैरुपसमाधाय प्राज्वलयेत्तेन ततोऽपि बहु दहेत् ।।५।।

एवँ सोम्य ते षोडशानां कलानामेका कलातिशिष्टाभूत्साऽन्नेनोपसमाहिता प्राज्वालीत्तयैतर्हि वेदाननुभवस्यन्नमयँ हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति तद्धास्य विजज्ञाविति ।।६।।

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ– इसके अनन्तर आरुणि ने कहा– हे सोम्य ! जिस प्रकार एक छोटा सा अंगार सूखे तृणों से प्राज्वलित होकर बहुत बड़ी ईंधन राशि को जला डालता है उसी प्रकार तुम्हारी सोलह कलाओं में प्राण नामक एक कला अवशेष थी वह अन्नरूपतृण से अग्नि की भाँति प्रज्वलित हुई और अन्न के प्रभाव से तुम्हारा मन सक्रिय हुआ इसलिए तुम अब सम्पूर्ण वेदों को स्मरण कर रहे हो। अतः अन्नमय मन, जलमय प्राण और तेजोमय वाणी है। इस सिद्धान्त को श्वेतकेतु ने भलीभाँति समझ लिया ।।श्री।।५,६।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर षष्ठ अध्याय के सप्तम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। अष्टम खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– सुषुप्तिकाल में जीव की क्या दशा होती है ? यह सिद्धान्त अपने पुत्र को समझाने के लिए आरुणि उपक्रम करते हैं ।।श्री।।

उद्दालको हारुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनँ स्वपितीत्याचक्षते स्वँ ह्यपीतो भवति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अरुणपुत्र उद्दालक ने कहा– हे श्वेतकेतु ! अब मुझसे सुषुप्ति का सिद्धान्त सुनो। यहाँ अंतशब्द सिद्धान्तवाचक है। हे श्वेतकेतु ! जि समय यह जीव सोता है उस समय यह सत् अर्थात् परमात्मा से सम्पन्न हो जाता है और लोग यही कहते हैं कि यह सो रहा है। वस्तुतः वह व्यक्ति 'स्व' अर्थात् परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। इसीलिए 'स्वं अपीतः स्वपितः' इसलिए इसको स्वपित कहते हैं अर्थात् इसका सम्बन्ध परमात्मा से हो जाता है। इसलिए उस व्यक्ति को स्वपित कहते हैं क्योंकि उसके इन्द्रिय व्यापार परमात्मा में समर्पित हो जाते हैं ।।श्री।।१।।

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धनँ हि सोम्य मन इति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे सोम्य! जिस प्रकार सूत्र से बंधा हुआ तोता पक्षी सभी दिशाओं में भ्रमण करके अन्ततोगत्वा पिजरे में ही चला आता है उसी प्रकार जीव का मन भी संसार के भिन्न-भिन्न विंषयों में भ्रमण करके अन्ततोगत्वा प्राणबन्धनात्मक शरीर में प्रवेश कर लेता है। क्योंकि मन प्राणों का बंधन है ।।श्री।।२।।

अशनापिपासे मे सोम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषोऽशिशिषति नामाप एव तदशितं नयन्ते तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तदप आचक्षतेऽशनायेति तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतित सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यतीति।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे सोम्य! अब भूख और प्यास के सम्बन्ध में मुझसे जानो। जब पुरुष भोजन करने की इच्छा करता है तब उसे भूख लगती है। तब जल ही उसे उद्दीप्त करता है इसलिए जैसे गौ के नेता को गोनाय अश्वनाय और पुरुषनायक को पुरुषनाय कहते हैं उसी प्रकार जल को अशनाया कहते हैं। वहीं यह शरीररूप अङ्कुर उत्पन्न होता है और वह अमूल अर्थात् निराधार नहीं हो सकता है ।।श्री।।३।।

संगति– अब शुङ्ग की उत्पत्ति का निरुपण करके उसकी सन्मूलकता कहते हैं ।।श्री।।

तस्य क्व मूलँ स्यादन्यत्रान्नादेवमेव खलु सोम्यान्नेन शुङ्गेनापोमूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे सोम्य! इस शरीररूप अङ्कुर का अन्न के अतिरिक्त क्या मूल है ? अब अन्नरूप अङ्कुर से इसके मूल का अन्वेषण करो। जब तुम्हें इसका जलमूल दिखाई पड़ जाय तब तेज का अन्वेषण करो और वास्तव में तेज से सूक्ष्म सत् परमात्मा हैं। सम्पूर्ण प्रजाओं के वही मूल हैं, वही आधार हैं और वही सत् परमात्मा ही इन प्रजाओं की प्रतिष्ठा हैं ।।श्री।।४।।

अथ यत्रैतत्पुरुषः पिपासति नाम तेज एव तत्पीतं नयते तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तत्तेज आचष्ट उदन्येति तत्रैतदेव शुङ्गमुत्पतितँ सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यतीति ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर पुरुष को जो प्यास लगती है तेज ही उसे उद्दीप्त करता है इसलिए गोनाय, अश्वनाय एवं पुरुषनाय की भाँति तेज को उदन्या कहते हैं वहीं यह शुङ्गरूप शरीर उत्पन्न होता है जो अमूल अर्थात् निराधार नहीं हो सकता ।।श्री।।५।।

तस्य क्व मूलँ स्यादन्यत्राद्भ्योऽद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजा सदायतनाः सत्प्रतिष्ठा यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तदुक्तं पुरस्तादेव भवत्यस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम् ।।६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे सोम्य! उसका जल के अतिरिक्त और क्या आधार हो सकता है। जल से भी सूक्ष्म तेज है इसलिए पहले उसकी कारणता पर विचार करो। उसका भी मूल सत् है। सत् का कोई मूल नहीं है। क्योंकि मूल का मूल नहीं होता। इसलिए इन प्रजाओं का वही मूल है वही आधार तथा वही प्रतिष्ठा है। हे सोम्य! इस प्रकार तेज, जल और अन्न इन तीनों देवताओं का त्रिवृत्तकरण अभी-अभी मेरे द्वारा कहा गया। अब इनका प्रलयक्रम सुनों। इस प्रकार त्रिवृत्त से बने हुए शरीर को पाकर संसारयात्रा पूर्ण करके महाप्रयाण करते हुए पुण्यशाली पुरुष की वाणी मन में, मन प्राण में, प्राण तेज में तथा तेज सत् नामक परमात्मा देवता में विलीन हो जाता है ।।श्री।।६।।

संगति– इस प्रसंग में जीव का प्रलय नही कहा गया क्योंकि जीवात्मा नित्य है इसलिए उसका परमात्मा में प्रलय हो ही नही सकता। अन्तर इतना ही पड़ता है कि सृष्टि के परमात्मा जीवात्मा के साथ होते हैं और प्रलय के समय जीवात्मा परमात्मा के साथ ।।श्री।।

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदँ सर्व तत्सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि

श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ।।७।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे श्वेतकेतु! प्रलय में भी जिसका नाश नही होता वही श्रुतिप्रसिद्ध यह जीवात्मा है। वह अणु से भी अणु है। सारे संसार की यह आत्मा है। अर्थात् यह संसार इस जीवात्मा का शरीर यानि भोग्य है वही सत्य है। वही आत्मा है जो कभी भी नष्ट नही होता। हे श्वेतकेतु! तुम भी वही जीवात्मा हो अर्थात् तुम देह, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि से परे हो और प्रलय में भी न नष्ट होने वाला यह जीवात्मा अत्यन्त सूक्ष्म है। सारा संसार इसका शरीर है परन्तु वह जो इसका भी सत्य अर्थात् परमार्थ है वही आत्मा अर्थात् जीवात्मा का भी आत्मा याने परमात्मा है। हे श्वेतकेतु! तुम 'तत्' अर्थात् उस परमात्मा के पुत्र हो, उसके दास हो, षष्ठी के सैकड़ों सम्बन्धों के अनुसार परमात्मा के साथ तुम्हारे अनेक सम्बन्ध हैं। तुम उसी परमात्मा द्वारा संचालित हो, तुम उसी परमेश्वर के लिए हो, तुम उसी परमेश्वर से पृथक् हुए हो, तुम उसी के सम्बन्धी हो, तुम उसी परमात्मा में हो। यह सुनकर श्वेतकेतु ने कहा– भगवन्! इस रहस्य को मुझे फिर समझायें। आरूणि ने कहा– ठीक है।।श्री।।७।।

व्याख्या– 'तत्वमसि' वाक्यखण्ड जितना ही छोटा है उतना ही गम्भीर है। यह तृतीय महावाक्य भी है। इस पर अद्वैतियों ने अपना अद्वैतवाद सिद्ध किया है। उनके मत में 'तत्' शब्द से परमात्मा का ग्रहण है और 'त्वम्' शब्द से श्वेतकेतु का जो कि जीवात्मा है। अतः हे श्वेतकेतु! वह ब्रह्म तुम्ही हो। इस प्रसंग में अद्वैती तीन पक्ष देते हैं और इन्हीं तीनों के आधार पर वे परमात्मा से जीवात्मा का अभेद सिद्ध करते हैं। वे कहते हैं कि– 'तत्' और 'त्वम्' ये दोनों ही प्रथमा के एक वचन में निर्दिष्ट हैं। यहाँ 'तत्' उद्देश्य है और 'त्वम्' विधेय है। इन दोनों में अभेद सम्बन्ध है। इस पक्ष में अर्थ का आकार इस प्रकार होगा 'तदभिन्नस्त्वमसि' तुम तत् अर्थात् परमात्मा से अभिन्न हो। यहाँ वे स्वरूप से अभेद स्वीकारते हैं सम्बन्ध से नहीं। उनके मत में जीव परमात्मा से स्वरूपतः अभिन्न है। उनका दूसरा पक्ष है विशेषणविशेष्यभाव। उनके मत में जब विशेषण और विशेष्य में समानविभक्तिकत्व होता है तब अभेद सम्बन्ध होता है। जैसे– नीलोघटः नीलाभिन्नोघटः नील से अभिन्न घट। अथवा अभेद सम्बन्धेन नील विशिष्टो घटः। उसी प्रकार यहाँ भी दो प्रकार का शाब्दबोध होगा

'तदभिन्नस्त्वम्' अथवा अभेद सम्बन्धेन 'तद् विशिष्टस्त्वम्' अर्थात् तत् से अभिन्न त्वम् अथवा अभेदसम्बन्ध से तद् विशिष्टस्त्वम्। उनका तीसरा पक्ष है लक्ष्यलक्षणभाव। उनकी दृष्टि में 'तत्' पद का अर्थ है परोक्षत्वावच्छिन्न चैतन्य और त्वम् पद का अर्थ है प्रत्यक्षत्वावच्छिन्न चैतन्य। इन दोनों में अभेद कैसे होगा? इस पर वे जहत्स्वार्था लक्षणा करके परस्पर विरुद्ध प्रत्यक्षत्व और परोक्षत्व का त्याग करके दोनों चैतन्यों का अभेद अन्वय करते हैं और अजहल्लक्षणा के द्वारा अविरुद्ध चैतन्य का त्याग नहीं होता। इस प्रकार तत्त्वमसि में वे जीव और ब्रह्म का अभेद ही मानते हैं।।श्री।।

इस पर हमारा मन्तव्य यह है कि– जीवात्मा का परमात्मा से अभेद ही सर्वसम्मत नहीं है इसलिए उसे कैसे सिद्धान्त माना जाय? क्योंकि सहस्रों श्रुतियों ने जीवात्मा का परमात्मा से भेद ही स्वीकारा है। जैसे– 'नित्योनित्यानाम्' (कठ० २/२/१३), 'ऋतंपिबन्तौ' (कठ० १/३/१), 'द्वासुपर्णा' (मु० ३/१/१), 'भोक्ताभोग्यं प्रेरितारं च मत्वा' (श्वे० १/१२), इत्यादि। और दूसरी बात यह है कि यदि अभेद मानना ही हो तो वह सम्बन्धतः होगा स्वरूपतः नहीं। इसीलिए वाल्मीकि रामायण सुन्दरकाण्ड (५/५२) में स्वयं हनुमान् जी ने भगवती सीता जी से श्रीराम एवं सुग्रीव की चर्चा करते हुए उसे ऐक्य की संज्ञा दी। यथा—

रामसुग्रीवयोरैक्यं देव्येवं समजायत।
हनूमन्तं च मां विद्धि तयोर्दूतमुपागतम्।।

(वा०सु० ३५/५२)

अर्थात् हे भगवती! इस प्रकार श्री राम एवं सुग्रीव का ऐक्य अर्थात् सम्बन्ध-निबन्धन ऐक्य हुआ और मुझे आप हनुमान् नामक दूत समझें जिसे श्रीराम एवं सुग्रीव ने भेजा हैं। इसीलिए भागवत् (१०/२९/१५) में श्रीधराचार्य जी ने भी ऐक्य की सम्बन्ध ही व्याख्या की है।'ऐक्यं सम्बन्धः' (भागवत १०/२९/१५ श्रीधरी) अत एव यदि ऐक्य का आग्रह ही हो तब वह अर्थ होगा तदभिन्नत्वं अर्थात् तुम (जीव) तत् (ब्रह्म) के सम्बन्धी हो, तुम ब्रह्म नहीं हो। दूसरी बात यह है कि यहाँ 'तत्' शब्द को स्वतन्त्र क्यों माना जाय? यदि तत् शब्द स्वतन्त्र होता तब यहाँ त्वम् को उद्देश्य और तत् को विधेय मानकर भगवती श्रुति त्वंतदसि (तुम वही ब्रह्म हो) कहती। क्योंकि शास्त्र की आज्ञा है कि उद्देश्य वचन पहले और विधेय वचन पश्चात् कहना चाहिए यहाँ त्वम् अर्थात् जीव ही उद्देश्य है और तत् अर्थात् ब्रह्म विधेय है।

क्योंकि आपको विस्मृत स्वरूप वाले जीव में ब्रह्म के स्मरण का विधान अभीष्ट है। इससे भी सिद्ध होता है कि यहाँ तत् शब्द स्वतन्त्र नहीं है अपितु वह त्वम् शब्द के साथ छह प्रकार से समस्त है ।।श्री।।

(१) तच्छरीरं त्वमसि तत्त्वमसि– हे श्वेतकेतो! तुम उस परमात्मा के शरीर हो। यहाँ मध्यमपदलोपी तत्पुरुषसमास हुआ ।।श्री।।

(२) तेन त्वमसि तत्त्वमसि– तृतीया तत्पुरुषसमास। हे श्वेतकेतो! तुम उस परमात्मा के द्वारा संचालित हो ।।श्री।।

(३) तस्मै त्वमसि तत्त्वमसि– चतुर्थी तत्पुरुषसमास। हे श्वेतकेतो! तुम उस परमात्मा के लिए हो ।।श्री।।

(४) तस्मात्त्वमसि तत्त्वमसि– पंचमीतत्पुरुष समास। हे श्वेतकेतो! तुम उस परमात्मा से अलग होकर संसारयात्रा में आये हो ।।श्री।।

(५) तस्य त्वमसि तत्त्वमसि– षष्ठी तत्पुरुष समास। हे श्वेतकेतो! तुम उस परमात्मा के सम्बनधी हो। परमात्मा के साथ तुम्हारे अनेक सम्बन्ध हैं। जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास विनय पत्रिका में कहते हैं—

तू दयालु दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप पुंज-हारी।।
नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसो?
मो समान आरत नहिँ आरति हर तोसो।।
ब्रह्म तू हौं जीव तू ही ठाकुर हौं चेरो।
तात, मात, गुरु, सखा तू सब विधि हितु मेरो।।
तोहिँ मोहिँ ना ते अनेक, मानिये जो भावै।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु! चरन सरन पावै।।

(वि०-७९)

गोस्वामी जी कहते हैं कि– हे प्रभो! आप दयालु हैं तो मैं दीन हूँ, आप दानी हैं तो मैं भिखारी हूँ, मैं प्रसिद्ध पातकी हूँ तो आप पाप पुँजों के हरण करने वाले। हे राघवेन्द्र! आप अनाथों के नाथ हैं तो मेरे जैसा अनाथ है कौन? मेरे समान कोई आर्त्त नहीं है तो आपके समान कोई आर्त्तिहर्ता भी नहीं है। हे दीनबन्धो! आप ब्रह्म हैं तो मैं जीव हूँ, आप स्वामी हैं तो मैं सेवक हूँ। आप मेरे पिता, माता, गुरु, मित्र सब कुछ हैं और आप मेरे एक मात्र हितैषी हैं। हे राघव! आपके मेरे अनेक नाते हैं आपको जो अच्छा लगे वही मानिये जिससे हे कृपालु! यह तुलसीदास भी

आपके चरणों की शरण पर जाय। पतंजलि ने षष्ठी के सौ सम्बन्ध गिनाये 'एकशतं हि षष्ठ्यर्था:' और यही सभी सम्बन्ध जीवात्मा और परमात्मा के बीच संगत होगे ।।श्री।।

(६) तस्मिन् त्वमसि तत्त्वमसि-- सप्तमीतत्पुरुष समास। हे श्वेतकेतो ! तुम उन्हीं परमात्मा में हो। परमात्मा ही तुम्हारे आधार हैं क्योंकि प्रलयकाल में सभी जीवात्मा परमात्मा में ही विश्राम करते हैं।।श्री।।

यहाँ सबसे बड़ी बिडम्बना यह है कि 'तत्' शब्द से किसका परामर्श किया जाय? जीवात्मा का अथवा परमात्मा का। यदि 'तत्' शब्द को बुद्धत्वोपलक्षित तत्तद्धर्मावच्छिन्न में शक्त माना जाय तब 'तत्' शब्द से परमात्मा का ग्रहण हो सकता है। तब समास द्वारा पूर्व चर्चित अर्थ निष्पन्न होंगे और यदि सर्वनाम को पूर्व परामर्शक माना जाय तब तो 'तत्' शब्द से आत्मा ही अर्थ लेना पड़ेगा क्योंकि इस वाक्यखण्ड के ठीक पहले 'स आत्मा' शब्द का प्रयोग है और आत्मा शब्द पुल्लिंग में पढ़ा गया है। उसके परामर्शक को भी पुल्लिंग में ही होना चाहिए। उस आधार पर 'स त्वमसि' कहना चाहिए था, जबकि कहा गया है तत्त्वमसि। अत: यही निश्चय होता है कि यहाँ तत् शब्द व्यस्त नहीं समस्त है और यहाँ 'आत्मा' शब्द भी परमात्मा का ही वाचक है।।श्री।।७।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर षष्ठ अध्याय के अष्टम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। नवम खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य-- जो परमात्मा जीवात्मा को सुषुप्ति दशा में मिलते हैं उन परमानंदस्वरूप परमात्मा को जीवात्मा क्यों नहीं जानते हैं? और उन परमेश्वर को अपने आगमन की अवधि क्यों नहीं मानते अर्थात् सभी जीवात्मा परमात्मा के पास से आये हैं इस रहस्य को क्यों नहीं समझते? श्वेतकेतु की इस जिज्ञासा का समाधान करने के लिए मधुमक्षिका के दृष्टान्त द्वारा अब नवम खण्ड का प्रारम्भ करते हैं।।श्री।।

यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणाँ रसान्समवहारमेकताँ रसं गमयन्ति ।।१।।

ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे सोम्य ! जिस प्रकार मधुमक्खियाँ मधु उत्पन्न करती है और अनेक स्वभाव वाले वृक्षों का रस इकट्ठा कर करके मधु का निर्माण करती हैं परन्तु वे रस यह नहीं समझ पाते कि मैं किसका रस हूँ। उसी प्रकार सुषुप्ति अवस्था में सत् स्वरूप परमात्मा को प्राप्त हुई ये प्रजायें यह नहीं समझ पातीं कि हम सद्रुप परमात्मा को प्राप्त हो चुकी हैं। यदि जब परमात्मा जीवात्मा से मिलने आते हैं उस समय वह जान ही ले तो फिर बात ही क्या ।।श्री।।१,२।।

त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दँशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदा भवन्ति ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसीलिए वे बाघ, सिंह, भेड़िया, सुअर, कीड़े, पक्षी, दंश, मच्छर जो होते हैं सतत् वही-वही होते रहते हैं क्योंकि उन्हें अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं होता ।।श्री।।३।।

व्याख्या– यहाँ इतना विवेक रखना चाहिए कि– इस प्रकरण में प्रयुक्त 'प्रजा' शब्द संतान का वाचक है। कोष में भी प्रजा के सन्तति और प्रकृति ये दो अर्थ कहे गये हैं। संतान और पिता में स्वरूप से एकता नहीं होती। प्राणिमात्र परमात्मा की सन्तान है इसलिए जीवात्मा और परमात्मा में कभी-भी स्वरूप से अभेद सिद्ध ही नहीं हो सकता। इसीलिए इसी खण्ड में श्रुति ने जीव की परमात्मा में सम्पन्नता कहकर यह सिद्ध कर दिया कि परमात्मा जीवात्मा के आधार हैं और जीवात्मा परमात्मा का आधेय है। यदि जीव और ब्रह्म का एकत्व मान लेगें तो 'सति सम्पद्यामहे' (छा० ६/९/२,३) श्रुतियों से सिद्ध किया हुआ भेदमूलक आधारआधेयभाव कैसे घट सकेगा ? दृष्टांत भी यही अर्थ कह रहा है। जैसे– मधुमक्खी अनेक वृक्षों से ले आये हुए रसों को एक कर देती हैं उसी प्रकार परमात्मा अपने कर्मफलों के अनुसार चौरासी लाख योनियों के अनेक वर्गो में पड़े हुए अनेक जीवों को प्रलयकाल में यमराजरूप दाँतों से बटोरकर कालमुख में डालकर एक जैसा कर देते हैं। वहाँ पृथक्-पृथक् नाम, रूप नहीं रह जाते। परन्तु जीवात्मा को अपने स्वरूप का ज्ञान रहना ही चाहिए। मैं ब्रह्म हूँ, जीव नहीं, मैं स्वामी हूँ सेवक नहीं।

इसी ऐक्यवाद की भावना से वे इन सूकर, कूकर योनियों में पड़ते रहते हैं। क्योंकि सेवक-सेव्यभाव के विना कोई भी भवसागर नहीं पार कर सकता। 'सेवकसेव्यभाव विनु भव न तरिय उरगारि। भजिय रामपद-पंकज अस सिद्धान्त विजारि॥' (मानस ७/११९ क) इस दृष्टान्त में स्पष्ट निर्देश है कि जब तक जीवात्मा को वृक्षरस की भाँति अज्ञान रहेगा तब तक उसका मोक्ष नहीं होगा। जब उसे परमात्मा के सम्बन्ध का ज्ञान हो जायेगा तब उसका मोक्ष सुनिश्चित होगा। क्योंकि परमेश्वर के विना कोई भी जीव का भवबन्धन छोड़ नहीं सकता। जैसे– 'रघुपति विमुख जतन कर कोरी। कवन सकै भवबन्धन छोरी॥' (मानस १/२०/३) विनय पत्रिका में भी गोस्वामी जी कहते हैं कि इस जीव को जिसने मोह की रस्सी में बाँधा है वही छोड़े 'तुलसीदास यह जीव मोह रजु जोइ बांध्यो सोई छोरै' (विनय पत्रिका १०२)। अर्थात् स्वरूपतः एकत्व ज्ञानसे ही जीव को कूकर-सूकर योनियाँ मिलती रहती है। भगवान श्रीकृष्ण गीता (१६/१८,१९,२०) में कहते हैं– जो लोग अपने आप अपने को सम्मानित कराना चाहते हैं तथा अहंकार युक्त होते हैं, बल, दर्प, काम, क्रोध को आश्रय करके अपने और अन्य के शरीरों में वर्तमान मुझ अन्तर्यामी की असूया अर्थात् निन्दा करते हैं और मुझसे द्वेष करते हैं उन द्वेष करने वाले क्रूरकर्मा, नराधम, अशुभ विचार वाले प्राणियों को मैं सदैव आसुरी योनियों में ही फेंका करता हूँ और जन्म-जन्म में आसुरी योनियों को प्राप्त कर मूर्ख लोग मुझे न प्राप्त करके इससे भी अधिक अशुभगति को प्राप्त करते हैं। अब प्रश्न उठता है कि– यदि स्वरूपतः एकत्ववादियों को नरक ही मिलता है तो फिर गीता जी में पृथक ज्ञान को 'राजस्' क्यों कहा गया? यथा–

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान्॥
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥

(गीता १८/२१)

अर्थात् जो ज्ञान सम्पूर्ण भूतों में अनेक प्रकार के अनेक भावों को पृथक्-पृथक् जानता है उस ज्ञान को राजस् जानो। इसका उत्तर यह है कि– यहाँ परमात्मा की सम्बन्धनिबन्धना पृथकता का निषेध है अर्थात् जो सभी भावों को परमात्मा से पृथक और अपनी उपलब्धियाँ मानता है उसका ज्ञान राजस् अवश्य है। यहाँ पृथक् का अर्थ है परमात्मा से सम्बन्ध तोड़ देना। इसीलिए गीता (७/७) में भगवान् कहते हैं– यह जीव जगत् मुझ में उसी प्रकार ओत-प्रोत है जैसे तागे में मणिगण। यहाँ– 'सूत्रे मणिगणा इव'

दृष्टांत से ही परमात्मा और जीवात्मा के बीच भेद सिद्ध हो जाता है। वास्तव में जीव अनेक ही हैं वे प्रलयकाल में एक जैसे हो जाते हैं। अत: पृथक्सत्ता ज्ञान का अभाव ही उनके निकृष्ट योनियों में जन्म का नियामक बनता है। क्योंकि परमात्मा से अपनी पृथक्सत्ता के ज्ञान के विना भक्ति आ नहीं सकती। कारण कि वह सेवकसेव्यभावसम्बन्ध मूलक है और भक्ति के बिना जीव का संसारतरण कभी सम्भव नहीं है। इस व्याख्यान से अद्वैतमेघाडम्बर उसी प्रकार निरस्त हो गया जो प्रच्छन्न बौद्धों द्वारा कल्पित है जैसे झंझावात द्वारा मेधमाला ।।श्री।।३।।

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार वह जो जीवात्मा है वही अणु है अथवा सत्स्वरूप वह परमात्मा ही अणु जीवात्मा से भी सूक्ष्म है। सम्पूर्ण संसार इसका शरीर है। वही सत्य है, वही सर्वव्यापक परमात्मा है। हे श्वेतकेतो ! उसी परमात्मा के द्वारा तुम संचालित हो। श्वेतकेतु ने कहा– भगवन् ! कृपया मुझे और बतायें ।।श्री।।४।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर षष्ठ अध्याय के नवम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। दशम खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– श्वेतकेतु ने पूर्वपक्ष किया कि– हे भगवन् ! जैसे सोकर उठा हुआ व्यक्ति अपने पूर्व संस्कारों को स्मरण कर लेता है परन्तु हम लोग उस सत् परमात्मा को प्राप्त करके क्यों नहीं समझ पाते ? इसी जिज्ञासा का समाधान करने के लिए आरुणि नदीसमुद्र के दृष्टान्त से इस खण्ड का प्रारम्भ करते हैं ।।श्री।।

इमाः सोम्य नद्यः पुरस्तात्प्राच्यः स्यन्दन्ते पश्चात्प्रतीच्यस्ताः समुद्रात्समुद्रमेवापियन्ति समुद्र एव भवन्ति ता यथा तत्र न विदुरियमहस्मीति ।।१।।

एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सत आगत्य न विदुः सत आगच्छामह इति त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दँशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदा भवन्ति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे सोम्य! जिस प्रकार पूर्ववाहिनी गंगा आदि नदियाँ और पश्चिमवाहिनी नर्मदा सिन्धु आदि नदियाँ समुद्र से ही निकलकर बहती हैं और फिर मेघ के माध्यम से सहस्रों धाराओं के साथ समुद्र में ही मिल जाती हं। वहाँ ये अपने नाम, रूप को नहीं जान पातीं सब कुछ समुद्र ही हो जाता है। उसी प्रकार हे सोम्य! ये सम्पूर्ण प्रजायें सत् परमात्मा से ही निकलती हैं और परमात्मा में ही विलीन होकर अपने स्वरूप को ही भूल जाती हैं इसीलिए बाघ, सिंह, भेड़िया, सुअर, कीड़े-मकोड़े, दंश और मच्छर आदि निम्न योनियों को प्राप्त करते हैं ।।श्री।।

व्याख्या– यहाँ नदीसमुद्र के दृष्टांत से श्रुति ने विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त ही समझाया है। विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त में जीव कभी नष्ट नहीं होता क्योंकि यदि गीता जी के अनुसार यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुराण है तो फिर अपनी सत्ता को नष्ट कैसे करेगा? वस्तुतः लीनशब्द भी नाश का वाचक नहीं है। 'लीन' शब्द का अर्थ है संश्लेषण। अर्थात् चिपक जाना। तात्पर्य यह है कि– प्रलयकाल में भी जीव नष्ट नहीं होता वह केवल परमात्मा से चिपक जाता है। समुद्र में प्रवेश करके नदियाँ केवल अपने सांसारिक नाम-रूपों को समाप्त करती हैं परन्तु उनका नदीत्व जैसा का तैसा बना रहता है। उसी प्रकार प्रलयकाल में जीवात्मा गण परमात्मा में विश्राम करते हैं। यथा–

सरिता जल जलनिधि महु जाई।
होइ अचल जिमि जिव हरि पाई।।

अर्थात् जैसे समुद्र नदियों की सत्ता नहीं समाप्त कर पाता उसी प्रकार परमात्मा जीव की सत्ता समाप्त नहीं करते यदि नदियों की सत्ता समाप्त हो जाती तो सागरसंगम के पश्चात् गंगा आदि नदियाँ रहती कैसे? जैसे समुद्र से मिलकर नदी की सत्ता रहती है उसी प्रकार परमात्मा से मिलकर जीवात्मा की सत्ता रहती है। क्या सागर से मिलकर जीवात्मा की सत्ता रहती है। क्या सागर से मिलकर गंगा जी की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है?

हाँ सागर से मिलने के पहले गंगा जी की स्वतन्त्र सत्ता है और सागर में प्रवेश करने पर उनकी सत्ता सागर के अधीन है। यही परिस्थिति है हमारे विशिष्टाद्वैतवाद की। जीवात्मा भी समुद्रसंगम करने वाली नदी की भाँति परमात्मा को प्राप्त कर अपनी सत्ता उनके अधीन कर देता है। यथा– परबस जीव स्ववस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकन्ता ।।१,२।।श्री।।

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार जो सबका आधार है वही दृश्यमान चिदचिदात्मक जगत् इन्हीं परमात्मा का शरीर है। वे ही परमात्मा सर्वव्यापक हैं। हे श्वेतकेतो ! उन्हीं परमात्मा के लिए तुम हो। तुम संसार के लिए नहीं हो। श्वेतकेतु ने जिज्ञासा की– हे भगवन् ! इतने सन्निकट रहने वाले उन परमात्मा को यह जीव क्यों नहीं जानता ? आप मुझे कृपया फिर समझाइये ।।श्री।।

व्याख्या– 'एतदात्म्यं' यहाँ 'आत्मा' शब्द शरीर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और उसमें स्वार्थ में ष्यञ् प्रत्यय है। यहाँ पुनः 'एतत्' शब्द के साथ 'आत्म्य' शब्द का षष्ठी तत्पुरुष समास हुआ। 'आत्मा एव आत्म्यं एतस्य आत्म्यं एतादात्म्यं' ।।श्री।।३।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर षष्ठ अध्याय के दशम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। एकादश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब परमात्मा की सत्ता में जीव की सत्ता है और जीव की सत्ता में ही जगत् की सत्ता है। इसी सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए दो मन्त्रों से वृक्ष का दृष्टान्त उपस्थित करते हैं ।।श्री।।

अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेद्यो मध्येऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेद्योऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेत्स एष जीवेनात्मनानुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति ।।१।।

अस्य यदेकाँ शाखाँ जीवो जहात्यथ सा शुष्यति द्वितीयां जहात्यथ सा शुष्यति तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति सर्वं जहाति सर्वः शुष्यत्येवमेव खलु सोम्य विद्धीति होवाच ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे सोम्य ! इस वटवृक्ष को देख रहे हो, यदि कोई इसकी जड़ में कुल्हाड़ी मारे तो भी जीवित रहकर रसश्राव करेगा। यदि कोई इसके मध्यभाग में कुल्हाड़ी से प्रहार करे तो भी इससे दूध ही चूयेगा परन्तु वह जीवित रहकर फलता फूलता रहेगा। यदि कोई इसके अग्रभाग में कुल्हाड़ी से प्रहार करे तो भी इससे रसश्राव होगा और यह जीवित रहेगा। परन्तु यदि जीवात्मा एक डाल को छोड़ दे तो वह सूख जाती है दूसरी के छोड़ने पर वह भी सूख जायेगी और यदि जीवात्मा समस्त डालियों को छोड़ दे तो वृक्ष ही सूख जायेगा क्योंकि यह वृक्ष इस जीवात्मा के कारण ही स्थित है ।।श्री।।१,२।।

जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे सोम्य ! उसी प्रकार जीवात्मा से अलग होने पर शरीर मर जाता है और जीवात्मा के रहने पर जीवित रहता है। वही यह श्रुतिप्रसिद्ध जीवात्मा शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा इन चारों से सूक्ष्म है। इस दृश्यमान जगत् का यही आत्मा है। यह उस सत् परमात्मा से उत्पन्न हुआ है वह आत्मा अर्थात् विशुद्ध भगवद्भक्त जीवात्मा है और हे श्वेतकेतु ! वह परमात्मा का दासभूत जीवात्मतत्व तुम हो। अर्थात् तुम शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि से विलक्षण आत्मतत्व हो। तब श्वेतकेतु ने कहा– भगवन् ! मुझे कृपाया और समझाइये ।।श्री।।३।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर षष्ठ अध्याय के एकादश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। द्वादश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब वटवृक्ष के उदाहरण से सूक्ष्म से स्थूल की उत्पत्ति का वर्णन करते हैं अर्थात् जैसे बीज से वृक्ष की उत्पत्ति तथा वृक्ष से फल की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार परमात्मा से शरीरावच्छिन्न जीव की उत्पत्ति और जीव से जगत्प्रपंच की उत्पत्ति होती है। भगवान् ही सारे संसार के बीज हैं 'बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनं' (गीता ७/१०) परन्तु अन्तर इतना पड़ता है कि बीज वृक्ष को उत्पन्न करके नष्ट हो जाता है जैसे वटवृक्ष के उत्पन्न होने पर बीज का पता भी नहीं चलता किन्तु जीवजगत् की उत्पत्ति करके परमात्मा विकृत नहीं होते इसी अभिप्राय से भगवान् ने यहाँ 'सनातन' शब्द का प्रयोग किया है। यहाँ प्रयुक्त सनातनधर्म ही सामान्यबीज से परमात्मारूप बीज का व्यावर्तन करता है ।।श्री।।

न्यग्रोधफलमत आहरेतीदं भगव इति भिन्धीति भिन्नं भगव इति किमत्र पश्यसीत्यण्व्य इवेमा धाना भगव इत्यासामङ्गैकां भिन्धीति भिन्ना भगव इति किमत्र पश्यसीति न किञ्चन भगव इति ।।१।।

तँ होवाच यं वै सोम्यैतमणिमानं न निभालयस एतस्य वै सोम्यैषोऽणिम्न एवं महान्न्यग्रोधस्तिष्ठति ।।२।।

श्रद्धत्स्व सोम्येति स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदँ सर्व तत्सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– आरुणि ने कहा– हे श्वेतकेतो! अपने सम्मुख जो विशाल वटवृक्ष देख रहे हो उससे एक फल ले आओ। श्वेतकेतु ने फल लाकर कहा– भगवन्! यह उपस्थित है। आरुणि ने कहा– वत्स! इसे फोड़ो। श्वेतकेतु ने वट के फल को फोड़कर कहा– भगवन् यह फूट गया। आरुणि ने कहा– वत्स! इसके भीतर क्या देख रहे हो? श्वेतकेतु ने कहा– भगवन्! इसमें छोटी-छोटी कणिकाएँ देख रहा हूं। आरुणि ने कहा– वत्स! इसमें से एक कणिका फोड़ों। श्वेतकेतु ने कहा– भगवन्! यह फोड़ दी गयी। आरुणि ने कहा– इसमें क्या देख रहे हो? श्वेतकेतु ने कहा– भगवन् इसमें कुछ नहीं देख रहा हूँ।।श्री।।

आरुणि ने कहा– हे सोम्य! जिस अणु से अणु को तुम निकट रहने पर भी नहीं देख पा रहे हो उसी से यह सूक्ष्म बीज उत्पन्न हुआ, उसी से वृक्ष उत्पन्न हुआ, उसी से फल और फल में फिर बीज। उसी प्रकार अत्यन्त सूक्ष्म परमात्मा से अणुभूत जीव, उसी का यह वृक्षरूपप्रपंच उसी से फलरूप सभी प्राणी और उन्हीं में बीज रूप जीवात्मा और उन्हीं जीवात्माओं के हृदय मे सूक्ष्म बीजरूप परमात्मा विराजते हैं। इस प्रकार जो अणु जीवात्मा से भी अणु अर्थात् सूक्ष्म परमात्मा है यह सब कुछ उन्हीं परमात्मा का स्थूल शरीर है। वे ही सत्य हैं, वे ही सभी आत्माओं के आत्मा हैं तथा सर्वव्यापक हैं। हे श्वेतकेतु! उन्हीं सनातन परमात्मा के तुम सनातन सम्बन्धी हो। श्वेतकेतु ने पूछा– भगवन् उन सूक्ष्म परमात्मा को हम क्यों नहीं जान पाते? इसलिए आप मुझे फिर समझाइये। आरुणि ने कहा– सोम्य! ऐसा ही करुँगा।।श्री।।१-३।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर षष्ठ अध्याय के द्वादश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। त्रयोदश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब नमक के दृष्टांत से जगत् में प्रविष्ट सत् परमात्मा का निदर्शन करते हैं अर्थात् जैसे जल में नमक का टुकड़ा डाल देने पर भले ही वह उसमें मिल जाय परन्तु वहाँ भी उसका बोध होता है। उसी प्रकार जगत् में प्रविष्ट हुए सत् स्वरूप परमात्मा का बोध होता है। परन्तु उन्हीं को जिन्हें श्रीहरिवैष्णवकृपा से ब्रह्मज्ञान के संस्कार प्राप्त हैं।।श्री।।

लवणमेतदुदकेऽवधायाथ मा प्रातरुपसीदथा इति स ह तथा चकार तँ होवाच यद्दोषा लवणमुदकेऽवाधा अङ्ग तदाहरेति तद्धावमृश्य न विवेद।।१।।

यथा विलीनमेवाङ्गास्यान्तादाचामेति कथमिति लवणमिति मध्यादाचामेति लवणमित्यन्तादाचामेति कथमिति लवणमित्यभिप्रास्यै-तदथ मोपसीदथा इति तद्ध तथा चकार तच्छश्वत्संवर्तते तँ होवाचाय वाव किल सत्सोम्य न निभालयसेऽत्रैव किलेति।।२।।

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्वमसि

श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– आरुणि ने श्वेतकेतु से कहा– हे सोम्य! ये नमक का टुकड़ा जल में डालो और फिर कल प्रातः इसी नमक के पात्र के साथ आना। श्वेतकेतु ने वैसा ही किया। एक भगोने भरे जल में शाम को एक नमक की शिला डाल दी और प्रातः वही नमकीन जल से भरा भगोना पिता में पास ले आये। आरुणि ने कहा– श्वेतकेतो! जरा इसको प्रारम्भ से थोड़ा सा पियो और बताओं इसमें क्या हैं? श्वेतकेतु ने पीकर कहा– भगवन्! नमक है। आरुणि ने कहा– थोड़ा बीच से पीकर बताओ। श्वेतकेतु ने कहा– भगवन्! नमक है। आरुणि ने कहा थोड़ा अन्त से पीकर बताओ। श्वेतकेतु ने पीकर कहा– भगवन्! नमक है। आरुणि ने कहा– इसे दूर फेंक कर आओ। श्वेतकेतु लवणयुक्त जल दूर फेंककर आये। आरुणि ने कहा– श्वेतकेतु! जैसे कल सायंकाल जल में डाली हुई नमक की शिला को तुम आज अपने नेत्रों से नहीं देख पाये किन्तु आदि, मध्य और अन्त से थोड़ा-थोड़ा पीने पर तुम्हें तुम्हारी जीभ से अनुभव हो गया कि इस जल में नमक है, उसी प्रकार जगत्प्रपंचरूप जल में मिले हुए परमात्मारूप नमक को सामान्य नेत्रों से नहीं देखा जा सकता उसे तो रसनास्थानीय भक्तिरसतरबोर, रसवती, ज्ञानवैराग्यमयी दृष्टि से ही साक्षात्कार किया जा सकता है। इस प्रकार जो जल में नमक की भाँति जगत्प्रपंच में मिला हुआ है जो अणु जीव से भी अणु अर्थात् सूक्ष्म है उसी परमात्मा का स्थूलरूप है यह जगत्। वही परमात्मा सत्य है, वही सर्वव्यापक हैं, उन्हीं परमात्मा के तुम नित्यदास हो। हे श्वेतकेतो! ऐसा चिन्तन करो। श्वेतकेतु ने कहा– भगवन्! उन सूक्ष्मतिसूक्ष्म परमात्मा को हम किस प्रकार जान सकते हैं? इसलिए आदरणीय कृपया मुझे फिर से उपदेश करें। आरुणि ने कहा– ऐसा ही करूँगा ।।श्री।।१।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर षष्ठ अध्याय के त्रयोदश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। चर्तुदश खण्ड ।।

सम्बन्धभाष्य– अब दूसरे स्थान से लाये हुए पुरुष का दृष्टांत देकर विषय को स्पष्ट करते हैं।।श्री।।

यथा सोम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत्स यथा तत्र प्राङ्वोदङ्वाऽधराङ्वा प्रत्यङ्वा प्रध्मायीताभिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्टः ।।१।।

तस्य यथाभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयादेता दिशं गन्धारा एतां दिशं व्रजेति स ग्रामाद्ग्रामं पृच्छन् पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसंपद्येतैवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्य इति ।।२।।

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– आरुणि कहते हैं– हेश्वेतकेतो ! जिस प्रकार राजा अपराधी पुरुष को पकड़कर उसकी आँख में पट्टी बाँधकर गाँधार देश से लाकर उसे कोई निर्जन स्थान में छोड़ दे और उसे किसी प्रकार का ज्ञान न हो और फिर वह आँखों में पट्टि का बंधा हुआ व्यक्ति पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण किसी भी ओर खड़ा होकर जोर-जोर चिल्लाता है– 'कोई मेरी आँख की पट्टी खोल दे। मैं गान्धार से यहाँ लाया गया हूँ। गान्धार किस दिशा में है ? मैं किस ओर जाऊँ ?' ऐसा सुनकर कोई करुणापरायण महानुभाव उसकी आँख की पट्टी खोलकर उसे गान्धार की दिशा बता देता है। 'इस ओर गान्धार है इस दिशा की ओर जाओ'। तब वह स्वयं भी विवेकवान होकर निर्देशक के वाक्यों को न भूलता हुआ एक ग्राम से दूसरे गाँव में पूँछते-पूँछते जाता हुआ अन्ततोगत्वा गान्धार को ही प्राप्त कर लेता है। उसी प्रकार गान्धाररूप श्री साकेतलोक से राजापराधरूप भागवतापचार करने पर उसकी आँख में मोहरूप पट्टिका बाँध कर इस संसाररूप निर्जन में भगवत् किंकर फेंक देते हैं फिर वह चिल्लाता है, तब सद्गुरु भगवान् उसकी अज्ञानरूपी पट्टिका खोल देते हैं और उसे साकेतलोक की दिशा का ज्ञान कराते हैं। फिर वह गाँव-गाँव अर्थात् यत्र-तत्र विराजमान संतों का सत्संग करके स्वयं भी अपने विवेक से गुरुदेव के वाक्य का स्मरण करते हुए गान्धाररूप साकेत को प्राप्त कर लेता है। क्योंकि जिसको श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ

सद्गुरु आचार्य की प्राप्ति हो जाती है वही परमात्मा को प्राप्त करता है। उसके मोक्ष में तभी तक विलम्ब होता है जब तक वह यह नहीं कह देता कि मैं अब परमेश्वर की शरण में जाने वाला हूँ।।श्री।।

हे श्वेतकेतो! इस प्रकार जिन परमात्मा की प्राप्ति श्रीगुरुदेव की कृपा के अधीन है, वे ही अणु जीव से भी सूक्ष्म हैं तथा यह सम्पूर्ण जगत् उन्हीं इन परमात्मा का विराटरूप है, वही सत्य है, वही भक्तों के पत्र, पुष्प, फल, जल को आदान अर्थात ग्रहण करते हैं। हे श्वेतकेतो! तुम उन्हीं सर्वव्यापी सर्वशरण्य, सर्वाधिष्ठान, सर्वनियन्ता परमेश्वर के ही एक सेवक हो। 'उस परमात्मा को हम सरल उपाय से कैसे जाने और उस सत् में हम कैसे सम्पन्न हों? अतः भगवान् मुझे कृपा करके फिर उपदेश करें'। श्वेतकेतु की इस जिज्ञासापर आरुणि ने कहा– वत्स! ऐसा ही होगा।।श्री।।१-३।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर षष्ठ अध्याय के चर्तुदश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। पञ्चदश खण्ड ।।

सम्बन्धभाष्य– अब मरणासन्न पुरुष के दृष्टान्त से सत् सम्पत्ति के क्रम का वर्णन करते हैं।।श्री।।

पुरुषँ सोम्योतोपतापिनं ज्ञातयः पर्युपासते जानासि मां जानासि मामिति तस्य यावन्न वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायां तावज्जानाति ।।१।।

अथ यदास्य वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायामथ न जानाति ।।२।।

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे सोम्य! जिस प्रकार उपताप अर्थात् प्राणघातक मस्तिष्कज्वर से पीडित मरणासन्न पुरुष को घेर कर बैठे हुए उसके वन्धु-वान्धव उससे पूँछते हैं– मुझे पहचान रहे हो; मुझे पहचान रहे हो। वह तब तक 'हाँ' कहता जाता है जब तक उसकी वाणी मन में, मन

प्राण में, प्राण तेज में और तेज पर देवता परमात्मा में नहीं लीन हो जाता। परन्तु जब उसकी वाणी मन में लीन हो जाती है, मन प्राण में प्रवेश कर जाता है तथा प्राण तेज में समा जाता है और तेज परदेवता परमात्मा में समाहित हो जाता है, तब उसका 'हाँ' कहना बन्द हो जाता है और वह किसी को जान पहचान नहीं पाता। उसी प्रकार जब तक मुमुक्षु के वाणी, मन, प्राण, तेज सांसारिक प्रपंच में रहते हैं तब तक वह संसार के प्रपंच का स्मरण रखता है परन्तु जब भगवान् के नाम, रूप, लीला, धाम का गुणगान करने वाली मुमक्षु की वाणी भगवद्ध्यानपरायण मन में लीन होती है और मन भगवान् के साथ विहार करने वाले प्राणों में समाहित हो जाता है और प्राण परमेश्वरभावभावित तेजस् चैतन्य में विलय कर लेता है और तेज उस परदेवता श्री सीताराम ब्रह्म में विलीन हो जाता है। तब सत्सम्पन्न जीवात्मा स्वयमेव अनात्मतत्वों को भूल जाता है। हे श्वेतकेतो! इस प्रकार जो सत्सम्पत्ति के आश्रय तथा सभी जीवात्माओं के आधार और उन अणु जीवात्माओं से भी सूक्ष्म हैं उन्हीं परमात्मा का स्थूलशरीर है यह दृश्यमान जगत्। वे ही परमेश्वर सत्य हैं, वे ही सनातन परमात्मतत्व हैं और वे ही जिसके शाश्वत आधार है ऐसे तुम हो। श्वेतकेतु ने जिज्ञासा की- फिर तो मुमूर्षु और मुमुक्षु में अन्तर क्या रहा? इस रहस्य को भगवन् मुझे कृपया समझायें। आरुणि ने कहा- ऐसा ही करुँगा ।।श्री।।१-३।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर षष्ठ अध्याय के पञ्चदश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। षोडश खण्ड ।।

सम्बन्धभाष्य- अब पुरुष के परशुग्रहण दृष्टांत के द्वारा दोनों का सूक्ष्म अन्तर कहते हैं।।श्री।।

पुरुषँ सोम्योत हस्तगृहीतमानयन्त्यपहार्षीत्स्तेयमकार्षीत्परशुमस्मै तपतेति स यदि तस्य कर्ता भवति तत एवानृतमात्मानं कुरुते सोऽनृताभिसन्धोऽनृतेनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स दह्यतेऽथ हन्यते ।।१।।

अथ यदि तस्याः कर्ता भवति तत एव सत्यमात्मानं कुरुते स

सत्याभिसन्धः सत्येनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स न दह्यतेऽथ मुच्यते ।।२।।

स यथा तत्र नादाह्योतैतदात्मयमिदँ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे सोम्य ! जिस प्रकार कोई किसी संदिग्ध पुरुष को हाथ पकड़कर घसीटता हुआ ले आता है और कहता है– इसने धन चुराया। वह कहता है– मैंने नहीं चुराया। राजा उसके सत्यभाषण प्रमाण के लिए आग में जलता हुआ फरसा छूने के लिए उसे आज्ञा करता है। यदि वह चोरी नहीं किये होता तब वह उस सत्यभाषण के प्रभाव से अपनी रक्षा करता हुआ परशु के स्पर्श से भी नहीं जलता। जिस सत्य के प्रभाव से निर्दोष की जलते हुए फरसे से कोई क्षति नहीं हो पाती वही अणु जीवात्मा से भी विलक्षण सूक्ष्म परमात्मा है। हे श्वेतकेतु ! यह दृश्यमान जगत् परमात्मा का स्थूल स्वरूप है। वही सर्वव्यापक परमात्मतत्व है, उन्हीं के शरीर, उन्हीं के द्वारा पालित, उन्हीं के लिए समर्पित, उन्हीं से पृथक हुए, उन्हीं के अंश तथा उन्हीं के आश्रित, उन्हीं पर निर्भर एवं उन्हीं के विशेषण तथा उनसे विलक्षण तुम एक विशुद्ध जीवात्मतत्व हो ।।श्री।।

इस प्रकार नौ दृष्टातो में आरुणि द्वारा नवखण्डों में नवधा भक्ति के माध्यम से नौ बार तत्वमसि का उपदेश किये जाने पर श्वेतकेतु ने अपने को नौ बन्धनों से मुक्त करके नवद्वारपुरात्मक शरीर में अध्यक्ष के रूप में विराजमान परमात्मा के नित्यसखा जीवात्मा को स्वरूपतया समझ लिया ।।श्री।।१-३।।

यं षष्ठाब्दमथाब्जसुन्दरतनुं श्री चक्रवर्ती मुदा।
राजा पक्तिरथो रथैः परिवृतो दिव्यं महं योजयन्।
सानन्दं व्रतबन्धभव्यविधया यज्ञोपवीतान्वितम्।
चक्रे तं रघुसिन्धुषोडशकलं षष्ठे स्तुवे राघवम् ।।

इस प्रकार छान्दोग्योपनिषद् के षष्ठ अध्याय पर सर्वाम्नाय
श्रीतुलसीपीठाधीश्वर जगद्गुरु रामानन्दाचार्य श्री रामभद्राचार्य कृत
श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण हुआ ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

●

।। सप्तमोऽध्याय ।।

।। प्रथम खण्ड ।।

मङ्गलाचरण

सप्तानामपि पूर्वजं गुणनिधिं सप्तभ्य ईड्यं परम्।
यं ज्ञातु प्रभवन्ति नो नरवरं सप्तापि समान्यतः।
तं तामिस्रहरं तमालवपुषं ताम्राक्षमात्तेषुधिं।
सीतानेत्रचकोरचारुशशिनं भूमानमीडे हरिम्।।१।।

अर्थ– जो सात अर्थात् सातों महर्षियों से पूर्व वर्तमान हैं तथा जो समस्त कल्याणगुण-गणों के निधान हैं एवं जो पाँच ज्ञानेद्रियों और मन-बुद्धि से परे हैं और इनके लिए अन्वेषणीय भी हैं और जिन नरश्रेष्ठ को सामवेद की सातों विधायें भी नहीं जान सकतीं उन्हीं अन्धकार के नाशक तमालसुन्दर अरुणनेत्र निसंगधारी सीतानेत्रचकोर के पूर्णचन्द्र भूमा श्रीराम की मैं स्तुति करता हूँ।।श्री।।१।।

सम्बन्धभाष्य–

षष्ठे यं सत् समुच्चार्य सानन्दं श्रुतयो जगुः।
षड्विंशत्या च शकलैः सप्तमेऽपि तमूचिरे।।१।।

अर्थ– जिस परमात्मा को सत् कहकर श्रुतियों ने छठें अध्याय में आनन्दपूर्वक गाया था उन्हीं परमात्मा को सातवें अध्याय में भी छब्बीस खण्डों से श्रुतियाँ प्रेम पूर्वक गायीं।।श्री।।१।।

सामान्येन विशेषस्य ग्रहणं शास्त्रसम्मतम्।
तामेव रीतिमाश्रित्य सप्तमोऽध्याय ईर्यते।।२।।

अर्थ– सामान्य से विशेष का ग्रहण शास्त्र सम्मत है। इसलिए उसी रीति का आश्रय करके सप्तम अध्याय का व्याख्यान किया जा रहा है।।श्री।।२।।

यथारूह्य क्रमेणासौ सोपानानां परम्पराम्।
ताटागं तोयमाप्नोति स एवात्र क्रमः स्थितः।।३।।

अर्थ– जिस प्रकार क्रम से सीढियाँ चढ़कर ही उनके अवरोहण द्वारा व्यक्ति तालाब का जल पा लेता है यहाँ उसी क्रम का निदर्शन कराया गया है।।श्री।।३।।

सनत्कुमार देवर्षि संवादच्छलतोऽधुना ।
ब्रह्मविद्यामहत्वं हि प्रतिमन्त्रं महीयते ।।४।।

अर्थ– अब इस अध्याय के प्रत्येक मन्त्र से सनत्कुमार और देवर्षि नारद के संवाद के बहाने ब्रह्मविद्या के महत्व की ही पूजा की जा रही है ।।श्री।।४।।

नरदः पूर्णकामोऽपि शास्त्रज्ञोऽपि विवित्सया ।
सनत्कुमारं शरणं गत इत्येव गौरवम् ।।५।।

अर्थ– श्री नारद पूर्णकाम होकर भी ब्रह्मविद्या रहस्य जानने की इच्छा से भगवान सनत्कुमार की शरण में जा रहे हैं यही यहाँ गौरव है ।।श्री।।५।।

नामोपाशनमारभ्य यावदाशासमर्चनम् ।
सप्तद्विगुणितैः खण्डैः सोपपत्युपवृंहणैः ।।६।।
शाखाचन्द्रीयन्यायेन पारम्पर्यप्रयोगतः ।
अध्यारोपापवादाभ्यां भूयो भूमा निरूपितः ।।७।।

अर्थ– यहाँ फिर से अनेक उपपत्तियों के विस्तार द्वारा शाखाचन्द्र-न्याय से पारम्पर्य का प्रयोग करते हुए अध्यारोपापवाद की शैली से नामोपासना से आशोपासना पर्यन्त चौदह खण्डों में भूमा भगवान् का ही निरूपण किया गया है ।।श्री।।६,७।।

आपञ्चदशमारभ्य यावदन्तं यथाश्रुतम् ।
सामान्यप्रतिषेधेन व्याख्यातं हि विवित्सितम् ।।८।।

अर्थ– पन्द्रहवें खण्ड से छब्बीसवें खण्ड पर्यन्त सामान्य का निषेध करते हुए पूर्व प्रतिज्ञात तथा श्रीनारद द्वारा जिज्ञासित भूमावस्तु का ही निरूपण किया गया है ।।श्री।।८।।

सत्यस्वरूपो भूमा हि सुखात्मामृतविग्रहः ।
निश्चयप्रतिपत्तिभ्यां श्रुत्या सम्यक् विवेचितः ।।९।।

अर्थ– क्योंकि भूमा भगवान् सत्य स्वरूप हैं सुख ही उनका स्वभाव है और अमृत ही उनका शरीर है। श्रुति ने इसी विषयवस्तु का निश्चय और प्रतिपत्ति द्वारा पूर्ण निरूपण किया है ।।श्री।।९।।

ॐ अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदस्तँ होवाच यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यर्थ– ॐ यह परमेश्वर का स्मरणार्थक मङ्गलाचरण है। यह इतिहास प्रसिद्ध है कि एक बार देवर्षि भगवान् नारद सम्पूर्ण शास्त्रों में पारङ्गत होकर भी ब्रह्मविद्या की जिज्ञासा से भगवान् सनतकुमार के पास आये और उन्हें प्रणामादि शिष्टाचारों से प्रसन्न करके बोले– हे भगवन्! आप मुझे ब्रह्मविद्या के सम्बन्ध में बतायें। सनत्कुमार ने कहा– तुम जितना जानते हो उतना कह लो इससे अतिरिक्त जिज्ञासा के लिए मेरी शरण में आओ। इससे ऊपर में तुम्हें समझाऊँगा। इसके अनन्तर नारद बोले–

व्याख्या– यहाँ 'अधीहि' शब्द का अर्थ है अध्यापय। क्यों आधिपूर्वक इङ् धातु का स्मरण अर्थ है और स्मरण के विना अध्यापन अर्थ सम्भव नहीं है ।।श्री।।१।।

स होवाचर्ग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वदँ सामवेदमाथर्वणमितिहास-पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यँ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्या-मेतद्भगवोऽध्येमि ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– श्री नारद ने विनम्रता से कहा– भगवन्! मैं ऋग्वेद को साधिकार स्मरण करता हूँ। यजुर्वेद, सामवेद, चतुर्थ अथर्वेद इतिहास, वाल्मीकीयरामायण, महाभारत, मत्स्य आदि भागवत पर्यन्त अठारहों पुराण जो पांचवे वेद के नाम से विख्यात है। इन वेदों का वेद अर्थात् व्याकरण के मूल चतुर्दशसूत्र अथवा वेदों का भी वेद गायत्रीरहस्य एवं पितरों के लिए हितकर श्राद्धकल्पराशि अर्थात् गणित शास्त्र, दैव अर्थात् आतपातिक-शास्त्र, निधि अर्थात् सामुद्रिकशास्त्र, वाकोवाक्, न्यायशास्त्र, एकायन, नीतिशास्त्र, भूतविद्या भौतिक विज्ञान देवविद्या, संस्कृत, ब्रह्मविद्या, ब्रह्मप्रतिपादक, शिक्षा कल्प, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द, व्याकरण, क्षत्रविद्या अर्थात् धनुर्वेद, नक्षत्रविद्या, खगोलशास्त्र सर्पदेवजन विद्या, तन्त्र शास्त्र यह सब मैं जानता हूँ।।श्री।।२।।

संगति– अब सद्गुरु की उपसत्ति का वर्णन करते हैं क्योंकि विनम्रता के विना गुरु को प्रसन्नता नहीं होती। जैसा कि गीता (४-३४) में भगवान् श्रीकृष्ण ने भी कहा है कि– हे अर्जुन! वह ब्रह्मज्ञान प्रणाम से, विनयपूर्वक प्रश्न से तथा सेवा से सद्गुरुओं के चरणों में बैठकर जानो। इन तीनों से

प्रसन्न हुए तत्वदर्शी ज्ञानीजन तुम्हें चित् अचित् और तद्विशिष्ट परमात्मा का ज्ञानोपदेश करेंगे। यथा–

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्तत्वदर्शिनः।। *(गीता ४/३४)*

सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नाऽत्मविच्छ्रु तँ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति तँ होवाच यद्वै किंचैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत्।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब नारद जी ने विनम्रता से कहा– हे भगवन्! वह मैं केवल मन्त्रवेत्ता ही हूँ, आत्मवेत्ता नहीं। क्योंकि मैं शास्त्रों की आनुपूर्वी भर रखता हूँ परन्तु अभी तक आत्मा और परमात्मा के बीच भक्तिमूलक सेवक-सेव्यभावसम्बन्ध नहीं जान पाया। हे भगवन्! मैंने आप ही सरीखे महापुरुषों से सुना है कि जीवात्मा और परमात्मा के रहस्य का वेत्ता शोकसागर को पार कर लेता है। हे भगवन्! आप ब्रह्माजी के मानस पुत्रों में प्रथम और भगवान् नारायण के सर्वप्रथम अवतार हैं परन्तु में शोकसागर में निमग्न होकर चिन्ता कर रहा हूँ। आप मुझे शोकसागर के पार लगा दीजिए। इसके अनन्तर सनत् कुमार ने कहा– देवर्षि! अभी तक तुम जो कुछ जानते हो वह नाममात्र हैं उससे केवल अविद्या ही बढ़ेगी। मंत्रार्थ तो इससे विलक्षण है और वह है परमेश्वरतत्व।।श्री।।३।।

नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः पित्र्यो राशिर्दैवी निधिर्वाको वाक्यमेकायनं देवविद्या ब्रह्मविद्या भूतविद्या क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्या सर्पदेवजनविद्या नामैवैतन्नामोपास्स्वेति।।४।।

स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो नाम ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो नाम्नो भूय इति नाम्नो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे नारद! ऋग्वेद, सामवेद, अथर्वेद, इतिहास पुराण, श्राद्धकल्प गणित, उत्पातशास्त्र, समुद्रशास्त्र, न्याय, राजनीति, भौतिक विज्ञान, ब्रह्मविद्या, देवविद्या, सर्पविद्या, देवजनविद्या यह सब कुछ नाममात्र है। इन्हें ब्रह्म का नाम समझकर उपासना करो। जो ब्रह्मबुद्धि से

नाम की उपासना करता है वह उन-उन लोकों में स्वेच्छाचरण करता है जिन-जिन लोकों में नाम की गति अर्थात् अभिव्यक्ति होती है। श्रीनारद ने पूँछा– भगवन् !क्या नाम से भी अधिक कोई तत्व है ? सनत् कुमार ने कहा– हाँ ! नाम की अपेक्षा भी श्रेष्ठतर तत्व है परमात्मतत्व। श्री नारद ने कहा– कृपया मुझे उसका उपदेश करें ।।श्री।।४-५।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर सप्तम अध्याय के प्रथम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। द्वितीय खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब द्वितीय खण्ड में वाणी की उपासना का निरूपण करते है ।।श्री।।

वाग्वाव नाम्नो भूयसी वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति यजुर्वेदँ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यँ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याँ सर्पदेवजनविद्यां दिवं च पृथिवीं च वायुं चाकाशं चापश्च तेजश्च देवाँश्च मनुष्याँश्च पशूँश्च वयांसि च तृणवनस्पतीञ्छ्वापदान्याकीटपतङ्ग-पिपीलकं धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं च यद्वै वाङ्नाभविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्न सत्यं नानृतं न साधु नासाधु न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञो वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्स्वेति ।।१।।

स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्वाचो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो वाचो भूय इति वाचो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे नारद ! वाणी नाम की अपेक्षा श्रेष्ठ है। क्योंकि वाणी ही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वेद, इतिहास, पुराणरूप पंचम वेद, वेदों का वेद प्रणव श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातशास्त्र, समुद्रशास्त्र, न्याय, राजनीति, संस्कृति, ब्रह्मप्रतिपादित वेदों के छहों अंग, भौतिक विज्ञान, धनुर्वेद खगोलशास्त्र, सर्पविद्या, संगीत, पशु, मनुष्य, पक्षी, सुन्दर तथा असुन्दर, सत्य और असत्य, धर्म तथा अधर्म इन सबका वाणी ही परिज्ञान कराती है। यदि वाणी इनका ज्ञान न कराती तो धर्म-अधर्म सत्य-असत्य एवं सुन्दर-

असुन्दर का ज्ञान न हो पाता क्योंकि संसार का कोई भी ज्ञान शब्दनिरपेक्ष नहीं होता इसलिये तुम वाणी की ही ब्रह्मबुद्धि से उपासना करो। जो वाणी की ब्रह्मबुद्धि से उपासना करता है वह वाणी की गति वाले सभी लोकों में स्वेच्छयाचरण करता है। देवर्षि नारद इस प्रलोभन से भी विचलित नहीं हुए और सनत्कुमार से बोले– भगवन्! क्या वाणी से भी अधिक कोई श्रेष्ठ तत्व है? श्री सनत्कुमार ने कहा– हाँ है। श्री नारद ने प्रार्थना की– भगवन् कृपया मुझे उसका उपदेश करें ॥१,२॥श्री॥

॥ छान्दोग्योपनिषद् पर सप्तम अध्याय के द्वितीय खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ॥

॥ श्रीराघवः शन्तनोतु ॥

॥ तृतीय खण्ड ॥

सम्बन्ध भाष्य– अब मन की उपासना का निरूपण करते हैं ॥श्री॥

मनो वाव वाचो भूयो यथा वै द्वे वामलके द्वे वा कोले द्वौ वाक्षौ मुष्टिरनुभवत्येवं वाचं च नाम च मनोऽनुभवति स यदा मनसा मनस्यति मन्त्रानधीयीयेत्यथाधीते कर्माणि कुर्वीतेत्यथ कुरुते पुत्राँश्च पशूँश्चेच्छेयेत्यथेच्छत इमं च लोकममुं चेच्छेयेत्यथेच्छते मनो ह्यात्मा मनो हि लोको मनो हि ब्रह्म मन उपास्स्वेति ॥१॥

स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्मनसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो मनो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो मनसो भूय इति मनसो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥२॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– सनत् कुमार ने कहा, हे नारद! मन वाणी से भी श्रेष्ठ है। जिस प्रकार हाथ में रखे दो आँवले, दो बेर के फल तथा दो पासों को मुट्ठी अनुभव कर लेती है। उसी प्रकार जब व्यक्ति मन से चिन्तन करता है तो वह अनुभव करता है। जब 'मैं कर्म करूँ' ऐसा संकल्प करता है तब कर्म में प्रवृत्त होता है। जब शास्त्र पढ़ने की इच्छा करता है तब अध्ययन करने लगता है। जब पुत्र, पशु, लोक, परलोक आदि में ईक्षणव्यापार करता है तथा वे दीख जाते हैं इसलिये मन ही शरीर है। यह संसार भी मनोमय है। जैसा मन का संकल्प होता है तदनुरूप सृष्टि भासती है, इसलिये हे देवर्षि! तुम मन की ही ब्रह्मबुद्धि से

उपासना करो। हे देवर्षि! जो मन की ब्रह्मबुद्धि से उपासना करता है, उसके मन में भासने वाले सभी लोकों में उसकी कामनाओं का संचरण हो जाता है। अर्थात् उसके प्रत्येक लोकविषयक संकल्प पूर्ण होते हैं। किन्तु श्री नारद सनत्कुमार के इस प्रलोभन से भी विचलित नहीं हुए और सनत्कुमार से पूछा– भगवन्! क्या मन से भी श्रेष्ठ तत्व है? उन्होंने कहा– हाँ। देवर्षि ने प्रार्थना की– भगवन्! कृपया मुझे उसका उपदेश करें।।१,२।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर सप्तम अध्याय के तृतीय खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। चतुर्थ खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब संकल्प की उपासना का वर्णन करते हैं।।श्री।।

संकल्पो वाव मनसो भूयान्यदा वै संकल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति तामु नाम्नीरयति नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे नारद! संकल्प मन से भी अधिक है। क्योंकि जब प्राणी संकल्प करता है तब मन को सक्रिय करके ध्यान करता है। मन की सक्रियता के पश्चात् बोलता है फिर वाणी को शब्द के विषय में प्रेरित करता है और शब्द में वैदिकमन्त्र स्फुरित होते हैं और मन्त्रों में ही सभी श्रौतस्मार्त कर्म एकत्र हो जाते हैं।।श्री।।१।।

तानि ह वा एतानि संकल्पैकायनानि संकल्पात्मकानि संकल्पे प्रतिष्ठितानि समक्लृपतां द्यावापृथिवी समकल्पेतां वायुश्चाकाशं च समकल्पन्तामापश्च तेजश्च तेषाँ संक्लृप्त्यै वर्षं संकल्पते वर्षस्य संक्लृप्त्यै अन्नँ संकल्पतेऽन्नस्य संक्लृप्त्यै प्राणाः संकल्पन्ते प्राणानाँ संक्लृप्त्यै मन्त्राः संकल्पन्ते मन्त्राणाँ संक्लृप्त्यै कर्माणि संकल्पन्ते कर्मणाँ संक्लृप्त्यै लोकः संकल्पते लोकस्य संक्लृप्त्यै सर्वं संकल्पते स एष संकल्पः संकल्पमुपास्स्वेति।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब परिशेष की चर्चा करते हुए कहते हैं– वे सभी कर्म संकल्प को ही अपना गन्तव्य मानते हैं अर्थात् संकल्प ही उनकी गति है। सभी कर्म संकल्पात्मक होते हैं और वे संकल्प में ही प्रतिष्ठित रहते हैं। किं बहुना ईश्वर के सत्यसंकल्प से स्वर्ग और पृथ्वी ने

संकल्प किया, वायु और आकाश ने संकल्प किया, जल ने संकल्प किया तथा तेज ने संकल्प किया। इन सब को परमात्मा से संकल्पशक्ति प्राप्त हुई। क्योंकि श्रुति ने परमेश्वर को सत्यसंकल्प कहा है। इन स्वर्ग, पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, तेज की संक्लृप्ति अर्थात् संकल्पों की सिद्धि के लिए वर्षा ने संकल्प किया और वर्षा की संकल्पसिद्धि के लिए अन्न ने संकल्प किया, अन्न की संकल्पसिद्धि के लिए प्राणों ने संकल्प किया, प्राणों की संकल्पसिद्धि के लिए कर्मों ने संकल्प किया और कर्मों की संकल्पसिद्धि के लिए चौदहो लोकों ने संकल्प किया और लोकों की संकल्पसिद्धि के लिए सम्पूर्ण चराचर ने संकल्प किया। इस प्रकार यह सम्पूर्ण दृश्यमान जगत संकल्पमय है क्योंकि यह परमेश्वर के सत्यसंकल्प से उत्पन्न हुआ है। जब परमेश्वर 'एकोऽहं बहुस्याम प्रजायै' अर्थात् 'मैं एक हूँ अब बहुत हो जाऊँ और प्रत्येक शरीर में अन्तर्यामीरूप से अवतार लूँ' तब परमात्मा जन्म लेने के लिए जगत्रूप शरीर का निर्माण करते हैं। जीव और ब्रह्म में अन्तर इतना ही होता है कि जीवात्मा परमात्मा द्वारा निर्मित शरीरों में जन्म लेता है परन्तु परमात्मा अपने शरीरों का स्वयं निर्माण करते हैं। इसलिए हे नारद! संकल्प को ही ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करो।।श्री।।२।।

स यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते क्लृप्तान्वै स लोकान् ध्रुवान् ध्रुवः प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिध्यति यावत्संकल्पस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः संकल्पाद्भूय इति संकल्पाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे नारद! इस प्रकार जो संकल्प की ब्रह्मबुद्धि से उपासना करता है वह स्वयं सामान्य जीवों की अपेक्षा शाश्वत संकल्पसिद्ध और प्रतिष्ठित होकर अन्य लोकों की अपेक्षा नित्य संकल्पसिद्ध और प्रतिष्ठित लोकों को प्राप्त करता है। जिनका वर्णन भागवत में द्रष्टव्य है। जो संकल्प को ब्रह्मबुद्धि से भजता है संकल्पसिद्ध लोकों में उसकी कामनाओं का संचरण होता है। जैसे देवहूति के लिए महर्षि कर्दम ने अनेकानेक संकल्पसिद्ध लोकों में विहार किया। नारद इस प्रलोभन से भी विचलित नहीं हुए और बोले– भगवन्! इससे भी कुछ और अधिक। सनत्कुमार ने कहा– हाँ। नारद ने प्रार्थना की– भगवन्! कृपा करके वह मुझे समझायें।।श्री।।३।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर सप्तम अध्याय के चतुर्थ खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। पञ्चम खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब चित्त की प्रधानता का निरूपण करते हैं।।श्री।।

चित्तं वाव संकल्पाद्भूयो यदा वै चेतयतेऽथ संकल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति तामु नाम्नीरयति नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे नारद! चित्त संकल्प से भी श्रेष्ठ है। जब व्यक्ति चिन्तन करता है, तब संकल्प करता है, तब मनन करता है, तब बोलता है, तब वाणी को शब्द में ले आता है शब्द से मन्त्र स्फुरित होते हैं फिर मन्त्र में सभी कर्म एकीभाव को प्राप्त हो जाते हैं।।श्री।।

व्याख्या– इसी मन से चित्त की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध हो जाती है। जो लोग मन और चित्त को एक ही मान लेते हैं कदाचित् वे छान्दोग्योपनिषद के सातवें अध्याय के पंचमखण्ड का ठीक से अनुशीलन नहीं किये रहते। जबकि इस प्रकारण के तीसरे खण्ड में मन की चर्चा तथा पंचम खण्ड में स्वतन्त्र रूप से चित्त की चर्चा की गयी है। चित्त को मन का पर्यायवाची भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि मन और चित्त इन दोनों के बीच में संकल्प का भी निरूपण किया गया है और इन तीनों में एक की अपेक्षा एक की श्रेष्ठता कही गयी है।।श्री।।१।।

तानि ह वा एतानि चित्तैकायनानि चित्तात्मानि चित्ते प्रतिष्ठितानि तस्माद्यद्यपि बहुविदचित्तो भवति नायमस्तीत्येवैनमाहुर्यदयं वेद यद्वा अयं विद्वान्नेत्थमचित्तः स्यादित्यथ यद्यल्पविच्चित्तवान्भवति तस्मा एवोत शुश्रूषन्ते चित्तँ ह्येवैषामेकायनं चित्तमात्मा चित्तं प्रतिष्ठा चित्तमुपास्स्वेति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसलिए हे नारद! सभी संकल्प और उनसे उत्पन्न कर्म एकमात्र चित्त के ही आश्रित रहते हैं। सब लोग चित्त से ही जीवित रहते हैं और चित्त में ही प्रतिष्ठित रहते हैं। यदि कोई व्यक्ति बहुत विद्वान् होकर भी अस्पष्टचित्तवाला होता है तब उसे लोग कहते हैं कि– यह बहुज्ञ नहीं है क्योंकि इसके पास स्थिरचित्त नहीं है। यदि कोई बहुत न जानता हुआ भी सक्रिय चित्तवाला होता है तब सभी लोग उसकी सेवा करते हैं। तात्पर्य यह है कि चित्त से ही किसी की अल्पज्ञता और बहुज्ञता का परिचय होता है। सभी का चित्त ही लक्ष्य है

चित्त ही जीवन है, चित्त ही प्रतिष्ठा है इसलिए चित्त की ही ब्रह्मबुद्धि से उपासना करो ।।श्री।।२।।

स यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते चित्तान्वै स लोकान् ध्रुवान् ध्रुवः प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिद्ध्यति यावच्चित्तस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवश्चित्ताद्भूय इति चित्ताद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे नारद! इस प्रकार जो ब्रह्मबुद्धि से चित्त की उपासना करता है वह नित्य प्रतिष्ठित और व्यथारहित होकर शाश्वत प्रतिष्ठित, अविचल, चित्तमय लोकों को प्राप्त कर लेता है। जो चित्त की ब्रह्मबुद्धि से उपासना करता है उसकी कामनाओं का चित्तगति वाले लोकों में प्रवेश होता है। इस फलश्रुति से न विचलित होते हुए नारद जी ने कहा– भगवन्! क्या चित्त से भी अधिक कोई वस्तु है। सनत्कुमार ने उत्तर दिया– हाँ। श्री नारद ने प्रार्थना कि– भगवन्! उसे मुझे समझाने की कृपा करें ।।श्री।।३।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर सप्तम अध्याय के पञ्चम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। षष्ठम खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब इस खण्ड में ध्यान का वर्णन करते हैं। परमेश्वर के नाम, रूप, लीला, धाम का प्रेमतन्मय चित्त से पुनः-पुनः स्मरण करना ही ध्यान है ।।श्री।।

ध्यानं वाव चित्ताद्भूयो ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्षं ध्यायतीव द्यौर्ध्यायन्तीवापो ध्यान्तीव पर्वता ध्यायन्तीव देवमनुष्यास्तस्माद्य इह मनुष्याणां महत्तां प्राप्नुवन्ति ध्यानापादाँशा इवैव ते भवन्त्यथ येऽल्पाः कलहिनः पिशुना उपवादिनस्तेऽथ ये प्रभवो ध्यानापादाँशा इवैव ते भवन्ति ध्यानमुपास्स्वेति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे नारद! ध्यान चित्त से भी अधिक है। पृथ्वी भी परमात्मा का ध्यान करती है, अन्तरिक्ष भी परमात्मा का ध्यान करता है, स्वर्गलोक भी परमात्मा का ध्यान करता है, जल भगवान् का ध्यान करता है, पर्वत भी परमेश्वर का ध्यान करते हैं, देवता और

मनुष्य भी परमात्मा का ध्यान करते हैं। इसलिए जो लोग मनुष्यों में श्रेष्ठ होते हैं उनमें परमात्मा के ध्यानलाभ का अंश अवश्य होता है और जिनमें भगवान् के ध्यान का अंश नहीं होता है वे छुद्रबुद्धि वाले, झगडालू, चुंगली लगाने वाले और दूसरों की निन्दा करने वाले होते हैं। जो इन दोषों को दूर करने में समर्थ हो जाते हैं उनमें भी भगवान् के लाभ का अंश अवश्य होता है। इसलिए तुम ध्यान की ब्रह्मबुद्धि से उपासना करो।।श्री।।

व्याख्या– इस मन्त्र में छह बार प्रयुक्त 'इव' शब्द 'एव' के अर्थ में है। आशय यह है कि पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, जल, पर्वत तथा देवता और मनुष्य परमात्मा का ध्यान करते ही है इसलिए वे स्थिर और अचल हैं। जो यहाँ प्राचीनों ने 'इव' शब्द का प्रचलित अर्थ मानकर अर्थ कर दिया कि– पृथ्वी आदि ध्यान करते हुए से दिखते हैं यह व्याख्यान अत्यन्त अनुचित है। क्योंकि ध्यान की महत्ता कहने के लिए उस क्रिया की उत्प्रेक्षा सिद्धान्त नहीं बन सकेगी और न ही प्रमाण। यदि कहें कि पृथ्वी आदि तो जड़ है तो वे भगवान् का ध्यान कैसे कर सकेंगे ? तो इस पर ध्यातव्य हो कि पृथ्वी आदि की चैतन्याभिमानी देवताएँ ही भगवान् का ध्यान करती है। इसलिए मन्त्रवर्ण में मेरुपृष्ठ ऋषि ने कूर्मदेवताक मन्त्र पढ़ते हुए कहा– हे पृथ्वी ! आपके द्वारा सम्पूर्ण लोक धारण किये गये हैं और हे देवि ! आप भी वाराहावतार भगवान् विष्णु द्वारा धारण की गयी हैं। हे भगवती ! अब आप मुझे भी धारण करें और यह आसन पवित्र कर दें। यदि पृथ्वी जड़ होती तो उनसे यह प्रार्थना कैसे की जाती ? इसी प्रकार अन्तरिक्ष आदि के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। 'आपाद' शब्द का लाभ अर्थ होता है। 'ध्यानस्य आपादो ध्यानापादः तस्य अंशः येषु ते ध्यानापादांशाः' अर्थात् जिनमें ध्यान के लाभ का अंश है उन्हें ध्यानापादांश कहते हैं। यद्यपि ध्यान परमात्मा की उपासना का एक प्रकार है उसे गीता जी में ज्ञान से भी श्रेष्ठ कहा गया है– 'ज्ञानात् ध्यानं विशिष्यते' (गीता १२/१२) तथापि यहाँ एकदेशीयपक्ष के रूप में ध्यान में उपासकत्वबुद्धि का निरूपण किया गया है।।श्री।।१।।

स यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्ध्यानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो ध्यानाद्भूय इति ध्यानाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो ब्रह्मबुद्धि से ध्यान की उपासना करता है उसकी कामनाओं का वहाँ तक संचरण होता है जहाँ तक ध्यान की

गति होती है। इस लोभ से भी विचलित न होकर श्री नारद ने पूँछा– भगवन्! क्या ध्यान से भी अधिक कोई वस्तु है? सनत्कुमार ने कहा– हाँ। श्री नारद ने प्रार्थना की– भगवन्! मुझे उसका उपदेश करने की कृपा करें ।।श्री।।२।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर सप्तम अध्याय के षष्ठ खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। सप्तम खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब इस खण्ड में विज्ञान की अधिकता का वर्णन करते हैं। यहाँ शंका होती है कि श्रीमद्भगवद्गीता में तो ज्ञान की अपेक्षा ध्यान को श्रेष्ठ कहा गया है और यहाँ ध्यान से विज्ञान को श्रेष्ठ कहा जा रहा है। इस प्रकार श्रुति और स्मृति में विरोध उपस्थित हो रहा है। इसका समाधान यह है कि– यहाँ विषय भेद है। गीता जी में ज्ञान से ध्यान को श्रेष्ठ कहा गया है न कि विज्ञान से। श्री हरिगुरु वैष्णवकृपा से संसार की असारता का ज्ञान ही विवेक है ।।श्री।।

श्री गुरूणाञ्चकृपया वैष्णवानां शतां तथा ।
संसारासारता ज्ञानं ज्ञानमाहुर्विपश्चितः ।।

जगद्विस्मरणपूर्वक भगवद्विषयक परदेवताबुद्धि ही विज्ञान है अथवा विशिष्टा-द्वैतपद्धति से सेवकसेव्यभावसम्बन्धमूलक भगवत्तत्वबुद्धि ही विज्ञान है ।।श्री।।

दास्यभावात्मकं ज्ञानं जगद्विस्मृतिपूर्वकं ।
विशिष्टाद्वैततो रामे विज्ञानं विवुधा जगुः ।।

जो लोग आत्मानात्मविवेक को ज्ञान और शास्त्रार्थ को विज्ञान कहते हैं, वे ठीक नहीं कहते। क्योंकि आत्मानात्मविवेक तो शास्त्रज्ञान का ही फल है। जबकि यहाँ ज्ञान के फलभूत ध्यान से भी विज्ञान को श्रेष्ठ कहा जा रहा है। इसलिए मानस उत्तरकाण्ड में गोस्वामी जी ने पार्वती जी के मुख से ज्ञानी की अपेक्षा विज्ञानी को श्रेष्ठ ही कहलवाया है ।।श्री।।

कोटि विरक्त मध्यश्रुति कहई। सम्यक् ज्ञान सकृत को लहई ।।
ज्ञानवंत कोटिन्ह मँह कोई। जीवनमुक्त सकृत जग होई ।।

(मानस ७/५४/३,४,५)

अर्थात् करोड़ों ज्ञानियों में कोई एक जीवन्मुक्त होता है। करोड़ों

जीवन्मुक्तों में कोई विरला ही ब्रह्मलीन विज्ञानी होता है। इसलिए ध्यान से विज्ञान की श्रेष्ठता में स्मृति से श्रुति का विरोध नहीं है।।श्री।।

विज्ञानं वाव ध्यानाद्भूयो विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदँ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यँ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं दैवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यां दिवं च पृथिवीं च वायुं चाकाशं चापश्च तेजश्च देवाँश्च मनुष्याँश्च पशूँश्च वयांसि च तृणवनस्पतीञ्छ्वापदान्याकीट-पतङ्गपिपीलकं धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं चान्नं च रसं चेमं च लोकममुं च विज्ञानेनैव विजानाति विज्ञानमुपास्स्वेति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे सन्त्कुमार विज्ञान ध्यान से भी श्रेष्ठ है। वस्तुतः यहाँ 'विज्ञान' शब्द से बुद्धि समझना चाहिए। इसी विज्ञान से प्राणी ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, श्राद्ध, गणित, उत्पातशास्त्र, समुद्रशास्त्र, न्याय, राजनीति, वेदों के छहों अंग, धनुर्विद्या, खगोलशास्त्र, पिंगलशास्त्र, संस्कृत, स्वर्ग, पृथ्वी, आकाश, वायु, जल, तेज, पशु, मनुष्य, पक्षी, सत्य, असत्य, सुन्दर, असुन्दर, कीड़े, पतङ्गे, चींटी इत्यादि इन सबको जान लेता है। क्योंकि सबकुछ जानने का सामर्थ्य बुद्धि में होता है। अतः विज्ञान की ही ब्रह्मबुद्धि से उपासना करो।।श्री।।१।।

स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते विज्ञानवतो वै स लोकाञ्ज्ञानवतोऽभि-सिद्ध्यति यावद्विज्ञानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो विज्ञानाद्भूय इति विज्ञानाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे नारद! जो इस प्रकार से विज्ञान की ब्रह्मबुद्धि से उपासना करता है वह विज्ञानयुक्त भगवान् के लोकों में एवं जगत् की क्षणभंगुरता के ज्ञान से सम्पन्न सांसारिक लोकों को भी प्राप्त कर लेता है। इस लोभ से भी नारद प्रलोभित नहीं हुए और सनत्कुमार से कहा– भगवन्! इससे भी कुछ अधिक है। सनत्कुमार ने कहा– हाँ। नारद ने कहा– कृपया मुझे समझाइये।।श्री।।२।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर सप्तम अध्याय के सप्तम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। अष्टम खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– इस खण्ड में बल को ध्यान से श्रेष्ठ बताते हैं। यहाँ बलशब्द विज्ञान से प्राप्त आत्मबल के अर्थ में तथा भगवत्कृपाबल के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।।श्री।।

बलं वाव विज्ञानाद्भूयोऽपि ह शतं विज्ञानवतामेको बलवानाकम्पयते स यदा बली भवत्यथोत्थाता भवत्युत्तिष्ठन्परिचरिता भवति परिचरन्नुपसत्ता भवत्युपसीदन्द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवति बलेन वै पृथिवी तिष्ठति बलेनान्तरिक्षं बलेन द्यौर्बलेन पर्वता बलेन देवमनुष्या बलेन पशवश्च वयांसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकं बलेन लोकस्तिष्ठति बलमुपास्स्वेति ।।१।।

स यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्बलस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो बलं ब्रह्मेत्युपास्तेऽपि भगवो बलाद्भूय इति बलाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे नारद! विज्ञान से बल अधिक है। क्योंकि एक बलवान सैकड़ों विज्ञानवानों को कँपा देता है। जब प्राणी भगवत्कृपाबल को प्राप्त कर लेता है तब वह परमार्थ के लिए उठता है अर्थात् अग्रसर होता है। इसके अनन्तर वह गतिशील होता है अर्थात् सद्गुरु की खोज करने के लिए प्रयत्नवान् होता है। इसके अनन्तर सद्गुरु की उपसत्ति करता है फिर वह ब्रह्मविद्या का श्रोता होता है फिर मनन करता है फिर संसार की असारता का ज्ञान करता है फिर उसे ब्रह्मविज्ञान प्राप्त हो जाता है फिर वही आत्मबली ब्रह्म का आत्मसाक्षात्कार करता है।।श्री।।

किं बहुना बल से ही पृथ्वी स्थिर है और बल से ही आकाश, स्वर्गलोक, पर्वत, देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण, वनस्पतियाँ, चारचरण वाले विशाल पशु, कीड़े-मकोड़े चींटी ये सब बल से ही स्थिर रहते हैं। सारा संसार बल से ही स्थिर है। इसलिए बल की ही ब्रह्मबुद्धि से उपासना करो।।श्री।।

जो बल की ब्रह्मबुद्धि की उपासना करता है उसकी कामनाओं की वहाँ तक पूर्ति होती है जहाँ तक बल की गति है। नारदजी इस लोभ से

भी लुब्ध नहीं हुए और बोले– भगवन्! क्या बल से भी कोई वस्तु श्रेष्ठ है ? सनत्कुमार ने कहा– हाँ। नादरजी ने प्रार्थना की– भगवन् उसे मुझे बतायें ।।श्री।।१,२।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर सप्तम अध्याय के अष्टम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। नवम खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब बल की अपेक्षा अन्न की अधिकता का वर्णन करते हैं ।।श्री।।

अन्नं वाव बलाद्भूयस्तस्माद्यद्यपि दशरात्रीर्नाश्नीयाद्यद्युह जीवेदथ-वाऽद्रष्टाऽश्रोताऽमन्ताऽबोद्धाऽकर्ताऽविज्ञाता भवत्यथाऽन्नस्यायै द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवत्यन्नमुपास्स्वेति ।।१।।

स योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽन्नवतो वै स लोकान्पानवतोऽभिसिद्ध्यति यावदन्नस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽन्नाद्भूय इत्यन्नाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे नारद! बल की अपेक्षा अन्न श्रेष्ठ है। इसीलिए यदि कोई दशरात्रियों तक भोजन नहीं करता तो प्रथम तो उसका जीवन ही सम्भव नहीं हो पाता यदि किसी प्रकार जी भी ले तो वह न तो गुरूपसत्ति कर पाता है न ही वेदान्तश्रवण कर पाता है न ही मनन कर सकता हे न ही ज्ञान-विज्ञानवान हो सकता है और न ही ब्रह्मसाक्षात्कार कर सकता है और यदि अन्न मिल जाता है तो वही व्यक्ति श्रवण, मनन, निदिध्यासन दर्शन सब कुछ कर लेता है। इसीलिए अन्न की ही ब्रह्मदृष्टि से उपासना करो ।।श्री।।

जो अन्न की ब्रह्मबुद्धि से उपासना करता है वह अन्नपानमय लोकों को प्राप्त कर लेता है। जो अन्न की ब्रह्मबुद्धि से उपासना करता है अन्नपानमय लोक पर्यन्त वह स्वेच्छया विहार करता है। नारद ने इस लोभ से भी न लुब्ध होते हुए पूँछा– भगवन्! क्या अन्न से भी कोई अधिक श्रेष्ठ वस्तु

है ? सनत्कुमार ने कहा– हाँ। नारदजी ने प्रार्थना की भगवन्! वह मुझे कृपया बताइये ।।श्री।।१,२।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर सप्तम अध्याय के नवम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। दशम खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब अन्न से जल की श्रेष्ठता का वर्णन करते हैं ।।श्री।।

आपो वावान्नाद्भूयस्तस्माद्यदा सुवृष्टिर्न भवति व्याधीयन्ते प्राणा अन्नं कनीयो भविष्यतीत्यथ यदा सुवृष्टिर्भवत्यानन्दिनः प्राणा भवन्त्यन्नं बहु भविष्यतीत्याप एवेमा मूर्ता येयं पृथिवी यदन्तरिक्षं यद् द्यौर्यत्पर्वता यद्देवमनुष्या यत्पशवश्च वयांसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्ग-पिपीलकमाप एवेमा मूर्ता अप उपास्स्वेति ।।१।।

स योऽपो ब्रह्मेत्युपास्त आप्नोति सर्वान्कामांस्तृप्तिमान्भवति यावदपां गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽपो ब्रह्मेत्युपास्तेति भगवोऽद्भ्यो भूय इत्यद्भ्यो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– सनत्कुमार ने कहा– हे नारद! अन्न की अपेक्षा जल श्रेष्ठ है। जब सुन्दर वर्षा नहीं होती तब सभी प्राणी व्याधिग्रस्त हो जाते हैं और अन्न भी अल्प उत्पन्न होता है। जब सुन्दर वर्षा होती है तब सभी प्राणी आनन्दित हो जाते हैं और अन्न भी बहुत होता है। पृथ्वी, स्वर्ग, आकाश, देव, मनुष्य, पशु, पक्षि, तृण, वनस्पति, हिंसक जन्तु और कीड़े-मकोड़े चींटी आदि सूक्ष्म जीव इन सबकी जल से ही सत्ता है। इसलिए जल की ही ब्रह्मबुद्धि से उपासना करो ।।श्री।।

जो इस प्रकार जल की उपासना करता है वह सभी कामनाओं को प्राप्त कर लेता है, वह तृप्त हो जाता है और जल पर्यन्त लोकों में अपनी इच्छा से विहार करता है। इस लोभ से न प्रलोभित होते हुए नारद ने कहा– भगवन्! क्या इससे भी कोई श्रेष्ठ तत्व है। सनत्कुमार ने कहा– हाँ। नारद ने प्रार्थना की– भगवन्! वह मुझे बतायें ।।श्री।।१,२।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर सप्तम अध्याय के दशम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। एकादश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब जल की अपेक्षा तेज की अधिकता का वर्णन करते हैं ।।श्री।।

तेजो वावाद्भ्यो भूयस्तद्वा एतद्वायुमागृह्याकाशमभितपति तदाहुर्निशोचति नितपति वर्षिष्यति वा इति तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाऽथापः सृजते तदेतदूर्ध्वाभिश्च तिरश्चीमिश्च विद्युद्भिराह्लादाश्चरन्ति तस्मादाहुर्विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा इति तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाऽथापः सृजते तेज उपास्स्वेति ।।१।।

स यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते तेजस्वी वै स तेजस्वतो लोकान्भास्वतोऽपहततमस्कानभिसिद्ध्यति यावत्तेजसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवस्तेजसो भूय इति तेजसो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे नारद! जल से भी तेज श्रेष्ठ है। इसीलिए जब तेज वायु को रोककर आकाश को तपा देता है तब लोग कहते हैं कि बहुत गर्मी पड़ रही है अब वर्षा होगी। इसी प्रकार जब तेज जल को बाष्पीकृत करता है तब ऊपर, नीचे और वक्र विद्युतों द्वारा आकाश घिर जाता है तब लोग कहते हैं बिजली चमक रही है और उसी समय ऊष्मा के कारण ही मेघ मड़राने लगते हैं। तेज ही पहले बिजली के रूप में चमत्कृत दिखाता है फिर जल का सर्जन करता है। इससे तेज की ही ब्रह्मबुद्धि से उपासना करो ।।श्री।।

जो तेज की ब्रह्मबुद्धि से उपासना करता है वह तेजोमय प्रकाशवान् लोकों को प्राप्त कर लेता है। जहाँ तक तेज की गति है वहाँ तक वह स्वेच्छया विहार करता है अर्थात् भगवान् के लोक से बाहर चन्द्र-सूर्य लोक तक भ्रमण कर सकता है। क्योंकि परमेश्वर के लोक में सूर्य, चन्द्र, विद्युत् और अग्नि का प्रवेश नहीं है। कठ० (१/३/१३) में भगवती श्रुति स्वयं कहती है कि 'भगवत् धाम में, सूर्य, चन्द्र, विद्युत, नक्षत्र तथा अग्नि का प्रकाश नहीं होता क्योंकि उसे ये प्रकाशित ही नहीं कर सकते। इस लोभ से भी नारद प्रलोभित नहीं हुए और सनत्कुमार से पूँछा– भगवन्! क्या

तेज से भी कोई श्रेष्ठ तत्व है? सनत्कुमार ने कहा- हाँ। नारद ने प्रार्थना की कि- भगवन्! कृपया मुझे बतायें।।श्री।।१,२।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर सप्तम अध्याय के एकादश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। द्वादश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब तेज की अपेक्षा आकाश की अधिकता का निरूपण करते हैं।।श्री।।

आकाशो वाव तेजसो भूयानाकाशे वै सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नत्राण्यग्निराकाशेनाह्वयत्याकाशेन शृणोत्याकाशेन प्रतिशृणोत्याकाशे रमत आकाशेन रमत आकाशे जायत आकाशमभिजायत आकाशमुपास्स्वेति ।।१।।

स य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्त आकाशवतो वै स लोकान्प्रकाशवतोऽसंबाधानुरुगायवतोऽभिसिद्ध्यति यावदाकाशस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव आकाशाद्भूय इत्याकाशाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– सनत्कुमार ने कहा- हे नारद! आकाश तेज से भी अच्छा है। क्योंकि ये दोनों सूर्य, चन्द्रमा तथा विद्युत, नक्षत्र और अग्नि आकाश में ही रहते हैं। अर्थात् सभी तेजों का आकाश ही आश्रय है। वायु अग्नि का नियन्त्रण नहीं कर पाता इसलिए वायु की तेज से श्रेष्ठता नहीं कही यगी। आकाश शब्दगुणक है इसलिए शब्द को माध्यम बनाकर मनुष्य आकाश से ही बुलाता है। श्रवणेन्द्रिय आकाशमय है इसलिए आकाश से सुनता है और आकाश से ही उत्तर देता है इसलिए आकाश को ही ब्रह्मबुद्धि से उपासना का विषय बनाओ। जो आकाश की ब्रह्मबुद्धि से उपासना करता है वह आकाश से युक्त, प्रकाशमान, लोगों की भीड़ से रहित, सुन्दर लोकों को प्राप्त करता है। आकाश वाले लोकों तक उसकी कामनाओं का प्रवेश होता है। नारद इस लोभ से भी लोभित नहीं हुए और सनत्कुमार से बोले- भगवन्! आकाश से भी कोई तत्व श्रेष्ठ है।

सनत्कुमार ने कहा– हाँ। नारद ने प्रार्थना की भगवन्! मुझे कृपा करके उसका उपदेश करें ।।श्री।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर सप्तम अध्याय के द्वादश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। त्रयोदश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब तेरहवें खण्ड में आकाश की अपेक्षा भगवत्स्मरण की श्रेष्ठता का वर्णन करते हैं। यहाँ भगवान् के नाम, रूप, लीला, धामात्मक स्मरण को ही स्मरण कहा गया है और भाव विग्रह में पचादित्वात् 'अच्' प्रत्यय हुआ है ।।श्री।।

स्मरो वावाकाशाद्भूयस्तस्माद्यद्यपि बहव आसीरन्नस्मरन्तो नैव ते कंचन शृणुयुर्न मन्वीरन्न विजानीरन् यदा वाव ते स्मरेयुरथ शृणुयुरथ मन्वीरन्नथ विजानीरन् स्मरेण वै पुत्रान् विजानाति स्मरेण पशून् स्मरमुपास्स्वेति ।।१।।

स यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्ते यावत्स्मरस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः स्मराद्भूय इति स्मराद्वा भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– सनत्कुमार ने कहा– हे नारद! आकाश की भी अपेक्षा स्मर अर्थात् भगवान् का स्मरण श्रेष्ठ है। जैसे– कहीं पर बहुत से लोग बैठे हों, यदि न स्मरण करें तो न तो सुन सकते हैं, न मनन कर सकते हैं, न जान सकते हैं, न तो सुन सकते हैं। यदि स्मरण करे तो श्रवण, मनन, निदिध्यासन, दर्शन सब कुछ कर सकते हैं। स्मरण से ही व्यक्ति अपने पुत्र और पशुओं को जान सकता है इसलिए स्मर की ही ब्रह्मबुद्धि से उपासना करो ।।श्री।।

इस प्रकार जो ब्रह्मबुद्धि से स्मर की उपासना करता है वह यावत् स्मरण विषयक लोकों में स्वेच्छा से भ्रमण करता है। इस लोभ से भी न प्रलोभित होते हुए नारद ने पूँछा– भगवन्! स्मरतत्व से भी कोई अधिक

श्रेष्ठ तत्व है ? सनत्कुमार ने कहा– हाँ। नारद ने प्रार्थना की– भगवन् ! कृपया उसका मुझे उपदेश करें ।।श्री।।१,२।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर सप्तम अध्याय के त्रयोदश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। चर्तुदश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब आशा का वर्णन करते हैं ।।श्री।।

आशा वाव स्मराद्भूयस्याशेद्धो वै स्मरो मन्त्रानधीते कर्माणि कुरुते पुत्राँश्च पशूँश्चेच्छत इमं च लोकममुं चेच्छत आशामुपास्स्वेति ।।१।।

स य आशां ब्रह्मेत्युपास्त आशयास्य सर्वे कामाः समृद्ध्यन्त्यमोघा हास्याशिषो भवन्ति यावदाशाया गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति य आशां ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव आशाया भूय इत्याशाया वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– सनत्कुमार ने कहा– आशा स्मरण से भी श्रेष्ठ है। आशा से ही प्रेरित होकर वैदिक मन्त्र का अध्ययन करता है। फल की आशा से ही प्राणी कर्म करता है। आशा से ही पुत्र, पशु, लोक और परलोक का चिन्तन करता है। इसलिए आशा भगवान् के चरणों में लग जाय ।।श्री।।

इस प्रकार जो आशा की ब्रह्मबुद्धि से उपासना करता है उसकी सभी कामनाएँ आशा से समृद्ध हो जाती है अर्थात् उसके सारे मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं और अमोध होते हैं। जहाँ तक आशा की गति है उन सभी लोगों में वह स्वेच्छया विहार करता है। इस लोभ से भी लुब्ध न होते हुए श्री नारद ने जिज्ञासा की– भगवन्! क्या इससे भी अधिक कोई तत्व है ? सनत्कुमार ने कहा– हाँ। नारद ने प्रार्थना की– भगवन् मुझे उसका कृपया उपदेश करें ।।श्री।।१,२।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर सप्तम अध्याय के चर्तुदश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। पञ्चदश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब प्राण के पन्द्रह तत्वों का निरूपण करते हैं।।श्री।।

प्राणो वा आशाया भूयान्यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन् प्राणे सर्वं समर्पितं प्राणः प्राणेन याति प्राणः प्राणं ददाति प्राणाय ददाति प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– प्राण आश से श्रेष्ठ है। क्योंकि प्राण से प्रेरित होकर ही प्राणी यात्रा करता है। प्राण ही प्राणी को प्राण अर्थात् जीवन देता है। प्राण ही माता है, प्राण ही पिता है, प्राण ही ब्रह्मण है। जिस प्रकार रथ के चक्र में अरायें समर्पित होती हैं उसी प्रकार प्राण में सब कुछ समर्पित हैं। इसीलिए प्राण में जीवनदान, सामर्थ्य और मातृत्व, पितृत्व, भ्रातृत्व, भगिनीत्व, आचार्यत्व, ब्रह्मणत्व आदि सभी भगवदीय बिशेषताएँ प्राण में ही हैं क्योंकि वह भगवत्स्वरूप ही है।।श्री।।१।।

स यदि पितरं वा मातरं वा भ्रातरं वा स्वसारं वाचार्यं वा ब्राह्मणं वा किंचिद् भृशमिव प्रत्याह धिक्त्वाऽस्त्वित्येवैनमाहुः पितृहा वै त्वमसि मातृहा वै त्वमसि भ्रातृहा वै त्वमसि स्वसृहा वै त्वमस्याचार्यहा वै त्वमसि ब्राह्मणहा वै त्वमसीति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसीलिए यदि कभी कोई अपने माता-पिता, भ्राता-बहिन, आचार्य और ब्राह्मण को कठोर बचन कहता है तब वे कहते हैं– तुझे धिक्कार तू माता-पिता, भ्राता-बहिन, आचार्य और ब्राह्मण का हत्यारा है। क्योंकि उन्हें प्राण हानि जैसा क्लेश होता है। अतः वचनमात्र से प्राण की हत्या हो जाती है। इसलिए व्यवहार में भी इनमें प्राण के धर्म देखे जाते हैं।।श्री।।२।।

अथ यद्यप्येनानुत्कान्तप्राणान् शूलेन समासं व्यतिषं दहेन्नैवैनं ब्रूयुः पितृहासीति न मातृहासीति न भ्रातृहासीति न स्वसृहासीति नाचार्यहासीति न ब्राह्मणहासीति ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके विपरीत यदि कोई इन छहों के प्राण निकल जाने पर इन्हें त्रिशूल से काटकर सम्पूर्णतया जला दे अथवा

अवयवों को क्रम से जलाये तो कोई नहीं कहता कि इसने माता-पिता, भ्राता-बहिन, आचार्य और ब्राह्मण की हत्या की। इससे सिद्ध होता है कि प्राण की सत्ता में इनकी सत्ता है।।श्री।।३।।

प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवंविजानन्नतिवादी भवति तं चेद्ब्रूयुरतिवाद्यसीत्यतिवाद्यस्मीति ब्रूयान्नापह्नुवीत ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार नाम से लेकर आशा पर्यन्त चौदहों तत्वों को प्राण अभिव्याप्त करके विराजमान रहता है। क्योंकि इन सबका प्राण में समाहरण हो जाता है। इस प्रकार नाम आदि आशापर्यन्त चतुदर्श पदार्थों को प्राणमय देखता हुआ, प्राण के रूप में मनन करता हुआ और प्राण के रूप में जानता हुआ यदि अतिवादी वाद को अतिक्रान्त करके जिज्ञासा शान्त कर लेता है उसे यदि कोई अतिवादी कहे तो वह अपने को छिपाता नहीं अर्थात् प्राण विज्ञान से उसे ब्रह्मविज्ञान का आनन्द मिल जाता है क्योंकि श्रुतियों में प्राण को बहुधा प्राण के अर्थ में कहा गया है ।।श्री।।४।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर सप्तम अध्याय के पञ्चदश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। षोडश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– इस प्रकार श्री सनत्कुमार के मुखारविन्द से अतिबाद की कथा सुनकर प्राण को ही परमतत्व मानते हुए जब देवर्षि नारद ने कोई जिज्ञासा नहीं की और यह निश्चय कर लिया कि ऋग्वेद से लेकर देवजनविद्यापर्यन्त वैदिक वाङ्मय नामब्रह्म है। उससे वाणी श्रेष्ठ है, वाणी से मन श्रेष्ठ है, मन से श्रेष्ठ है संकल्प और संकल्प से चित्त श्रेष्ठ है, उससे श्रेष्ठ है ज्ञान, ज्ञान से श्रेष्ठ है बल और बल से श्रेष्ठ है अन्न, अन्न से श्रेष्ठ है जल और जल से तेज श्रेष्ठ है। तेज से श्रेष्ठ है आकाश, आकाश से स्मरण अधिक है, स्मरण से आशा और आशा से प्राण श्रेष्ठ है। प्राण ही परमतत्व है उससे अधिक कोई तत्व नहीं है उसे जानकर व्यक्ति अतिवादी हो जाता है। इससे नारद की जिज्ञासा शान्त हो गयी ।।श्री।।

इस प्रकार शिष्य नारद को सोलहवें तत्व सत्यरूप परमात्मा का ज्ञान कराने के लिए सत्य का उपदेश करते हुए श्री सनत्कुमार भगवान् बोले–

एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानीति सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति सत्यं भगवो विजिज्ञास इति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यर्थ– इस प्रकार नारद की जिज्ञासा को शान्त देखकर सनत्कुमार ने कहा– वत्स नारद ! यह जो पुरुष वाद को अतिक्रान्त करता है वह सत्यस्वरूप परमात्मा की कृपा से ही वाद अर्थात् तत्वबुभुत्सा से विराम लेता है। तुमने प्राण को ही अतिवाद का हेतु क्यों मान लिया ? नारद ने विनम्रता से कहा– अभी-अभी आप श्री ने ही तो आज्ञा की थी कि सबकुछ प्राणमय जानने वाला अतिवादी हो जाता है। सनत्कुमार ने कहा– वत्स ! मैंने आशा पर्यन्त चौदह पदार्थों की अपेक्षा प्राण को श्रेष्ठ बताकर प्राणविज्ञान की फलश्रुति के रूप में अतिवाद की चर्चा की थी, सिद्धान्तरूप में नहीं। फिर आपने अन्न की भाँति उसका निषेध क्यों नहीं किया ? नारद ने पूछा– क्योंकि तुमने अन्न की भाँति अतिवाद से अपने को निर्लोभ नहीं सिद्ध किया ? सनत्कुमार ने उत्तर दिया। फिर आपने मुझे विना पूँछे क्यों उपदेश करना प्रारम्भ किया ? नारद ने प्रश्न किया। सनत्कुमार ने कहा– क्योंकि मैं तुम्हारे ऊपर बरसने वाली अपनी कृपाकादम्बिनी के वसीभूत हो चुका हूँ। नारद ने जिज्ञासा की– तो आपश्री ने पहले ही कृपा कर दी होती। सनत्कुमार ने कहा– यह सम्भव नहीं था क्योंकि शाखाचन्द्रन्याय से ही शास्त्र का प्रवर्तन होता है। असत्य के माध्यम से ही सत्य का ज्ञान किया जा सकता है। श्री नारद ने विनम्रता से कहा– तो अब मैं सत्य के ज्ञान से ही अतिवादी बनने की इच्छा करता हूँ। सनत्कुमार ने कहा– तो फिर वत्स ! तुम्हें सत्य की ही जिज्ञासा करनी चाहिए। नारद ने कहा– भगवन् ! अब मैं सत्य की ही जिज्ञासा कर रहा हूँ।।श्री।।१।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर सप्तम अध्याय के षोडश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। सप्तदश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब उस सत्य की जिज्ञासा के पहले कुछ और जिज्ञासनीय वस्तुएँ हैं। जिनका आने वाले छह खण्डों में श्री सनत्कुमार निरूपण करेंगे। सर्वप्रथम सत्य के अन्तरंग भूतविज्ञान का निरूपण करते हैं ।।श्री।।

यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदति नाविजानन् सत्यं वदति विजानन्नेव सत्यं वदति विज्ञानं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति विज्ञानं भगवो विजिज्ञास इति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– सनत्कुमार कहते हैं– हे नारद! जब भी कोई सत् स्वरूप सन्तों के हितैषी और सन्तों के सम्बन्धी सत्यनारायण परमात्मा के सम्बन्ध में बोलता है अथवा सत्यानन्द परमात्मा को अपने हृदय में स्थापित करता है तब वह परमात्मा को जानता हुआ ही रहता है क्योंकि जब तक वह परमेश्वर को विशेष अर्थात् अपने सेव्य के रूप में नहीं जानता तब तक असत्यभूत अग्नि आदि की उपासना करता है। पर जब त्रिवृतकरण के माध्यम से अग्नि के शुक्ल, रक्त, कृष्ण, रूपों के पृथक्-पृथक् होने पर अग्निसत्ता के असत्व का ज्ञान करके सर्वरूप में परमात्मा की सत्ता का निश्चय कर लेता है और जीव और जगत् को विशेषण तथा जगदीश को विशेष्य मानकर सविशेष ब्रह्म की उपासना करता है, वही सत्य बोलता है और वही सत्य को हृदय में स्थिर करता है। इसलिए पहले तुम्हें विज्ञान की जिज्ञासा करनी चाहिए। नारद ने कहा– भगवन्! सत् से पूर्व मैं पहले विज्ञान की ही जिज्ञासा कर रहा हूँ ।।श्री।।१।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर सप्तम अध्याय के सप्तदश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। अष्टादश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब मति की जिज्ञासा का निरूपण करते हैं ।।श्री।।

यदा वै मनुतेऽथ विजानाति नामत्वा विजानाति मत्वैव विजानाति मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति मतिं भगवो विजिज्ञास इति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे नारद! जब व्यक्ति मनन करता है तभी किसी वस्तु का विज्ञान करता है। यदि नहीं मनन करता तब कोई भी वस्तु विशेषरूप से नहीं जान पाता। मनन करके ही विशेषरूप से जानता है। इसलिए विज्ञान से पूर्व मति की जिज्ञासा करनी चाहिए। नारद ने कहा– भगवन्! अब मैं मति की ही जिज्ञासा करता हूँ ।।श्री।।१।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर सप्तम अध्याय के अष्टादश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। एकोनविंश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब मति का क्या आधार है? ।।श्री।।

यदा वै श्रद्दधात्यथ मनुते नाश्रद्दधन्मनुते श्रद्दधदेव मनुते श्रद्धा त्वेव विजिज्ञासितव्येति श्रद्धां भगवो विजिज्ञास इति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– आस्तिक बुद्धि को श्रद्धा कहते हैं। उसका विवेचन करते हुए सनत्कुमार जी कहते हैं– जब व्यक्ति श्रद्धा करता है, लोक-परलोक में आस्था रखता है तभी श्रुतिसिद्धान्तों का मनन करता है। कोई भी श्रद्धा के विना श्रुतिसिद्धान्तों का मनन नहीं करता। श्रद्धालु ही मनन करता है और मनन करके ठीक-ठीक ब्रह्म को जानता है और जानकर ही सत्यस्वरूप ब्रह्म को हृदय में स्थित करके बोलता है। इससे मनन के पहले श्रद्धा की जिज्ञासा करनी चाहिए। नारद ने कहा– मैं श्रद्धा की जिज्ञासा करता हूँ ।।श्री।।१।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर सप्तम अध्याय के एकोनविंश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। विंश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब श्रद्धा का क्या आधार है? इस पर निष्ठा की व्याख्या करते हैं। अपने आराध्य के प्रति वैदिकसिद्धान्त के अनुसार सेवा की भावना ही निष्ठा है। यद्यपि श्रीलरूपगोस्वामिपाद ने हरिभक्ति-रसामृतसिन्धु में श्रद्धा को प्रथम और निष्ठा को पंचम प्रेमभूमिका माना है। जबकि श्रुति श्रद्धा के पूर्व निष्ठा की चर्चा करती है। इस प्रकार आचार्य और श्रुति में परस्पर विरोध होने पर हम तो श्रुतिपक्ष को ही सिद्धान्त मानेंगे। क्योंकि 'श्रुतानुमितयोः श्रुतसम्बन्धो बलीयान्' श्रुति का पक्ष श्रुत है और रूपगोस्वामी का पक्ष अनुमित। इन दोनों में श्रुतिपक्ष को ही सिद्धान्त मानना चाहिए ।।श्री।।

यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्दधाति नानिस्तिष्ठञ्छ्रद्दधाति निस्तिष्ठन्नेव श्रद्दधाति निष्ठा त्वेव विजिज्ञासितव्येति निष्ठां भगवो विजिज्ञास इति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जब साधक निष्ठा करता है तभी श्रद्धा करता है। बिना निष्ठा किये वह लोक-परलोक में आस्था नहीं रख सकता। निष्ठा करके ही साधक वेदवचनों में विश्वास करता है इसलिए श्रद्धा से पहले निष्ठा की जिज्ञासा करनी चाहिए। नारद ने कहा– भगवान्! मैं निष्ठा की ही जिज्ञासा करता हूँ ।।श्री।।१।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर सप्तम अध्याय के विंश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। एकविंश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब निष्ठा के आधार का वर्णन करते हैं ।।श्री।।

यदा वै करोत्यथ निस्तिष्ठति नाकृत्वा निस्तिष्ठति कृत्वैव निस्तिष्ठति कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति कृतिं भगवो विजिज्ञास इति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– श्री सनत्कुमार कहते हैं– हे नारद! जब साधक परमेश्वर के नाम, रूप, लीला, धामात्मक सत्संग, कीर्तन, श्रवणादि, नवधा भक्ति आदि भागवतधर्म का अनुष्ठान करता है तभी निष्ठावान् होता है। भागवतधर्माचरण के विना कोई निष्ठावान् होता ही नहीं। श्रुतिविहित भागवतधर्म का अनुष्ठान करके ही साधक कृतिवान् हो सकता है इसलिए

निष्ठा से पहले कृति की जिज्ञासा करनी चाहिए। नारद ने कहा– भगवन्! मैं कृति की जिासा करता हूँ।।श्री।।१।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर सप्तम अध्याय के एकोनविंश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। द्वाविंश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब कृति का क्या आधार है इस पर कहते हैं।।श्री।।

यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति नासुखं लब्ध्वा करोति सुखमेव लब्ध्वा करोति सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति सुखं भगवो विजिज्ञास इति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जब कोई सुख प्राप्त करता है तब कर्म करता है। परिणामी सुख के विना कोई कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। सुख की आशा से ही कर्म में प्रवृत्त होता है। इसलिए कृति से पूर्व सुख की जिज्ञासा करनी चाहिए। नारद ने कहा– भगवन्! मैं सुख की ही जिज्ञासा कर रहा हूँ। इस प्रकार सत्य के सहकारी कारण के रूप में सुख, कृति, निष्ठा, श्रद्धा, मति और विज्ञान इन छह वस्तुओं की जिज्ञासा आवश्यक है। इनके ज्ञान के पश्चात् सप्तम भूमिका में सत्य का स्वयं ज्ञान हो जाता है। इन्हीं सिद्धान्तों में से क्रमशः प्रत्येक को समझाने के लिए श्री गोस्वामी तुलसीदास जी ने मानस में क्रम से बालकाण्ड में सुख की व्याख्या, अयोध्याकाण्ड में कृति की व्याख्या, अरण्यकाण्ड में निष्ठा की, किष्किन्धाकाण्ड की श्रद्धा की, सुन्दरकाण्ड में मति की, युद्धकाण्ड में विज्ञान की तथा उत्तरकाण्ड में सत्य की व्याख्या की।।श्री।।१।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर सप्तम अध्याय के द्वाविंश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। त्रयोविंश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– इस प्रकार पूर्व के सात जिज्ञासित पदार्थों में सुख, कृति, निष्ठा, श्रद्धा, मति, विज्ञान और सत्य इन सब का परमसत्य है भूमा। उसके जान लेने से सुख आदि सातों जान लिए जाते हैं। इसलिए पहले भूमा का ही निरूपण करते हैं।।श्री।।

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति भूमानं भगवो विजिज्ञास इति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– सनत्कुमार कहते हैं– हे नारद! जो भूमा निरतिशय निसीम परमात्मा है वही सुखस्वरूप हैं। उन्हीं में सुख है। अल्प अर्थात् ससीम इस संसार में सुख नहीं है। भूमा परमात्मा में ही सुख है। अतः सुख से पहले भूमा परमात्मा की जिज्ञासा करनी चाहिए। नारद ने कहा– भगवन्! भूमा की ही जिज्ञासा कर रहा हूँ। उसी से सत्य को स्थिर कर सकूँगा और अतिवादी बन सकूँगा ।।श्री।।१।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर सप्तम अध्याय के त्रयोविंश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। चर्तुविंश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब सनत्कुमार भूमा के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं ।।श्री।।

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यं स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे नारद! जिस भूमा के साक्षात्कार कर लेने पर साधाक भगवान् के अतिरिक्त न किसी को देखता है, न किसी को सुनता है, न किसी को जानता है वही भूमा है। और जिसकी उपस्थिति में साधक अन्य को देखता, सुनता और जानता है वही अल्प है। जो भूमा है वही अमृत है, जो अल्प है वही मरणधर्मा जीव है। नारद ने पूँछा– हे भगवन्! वह भूमा कहाँ विराजमान है? सनत्कुमार ने कहा– अपनी महिमा विभूतियों में विराजमान है। परन्तु पूर्णरूप से नहीं अंशतः ।।श्री।।

व्याख्या– यहाँ दो बार 'यत्र' शब्द का प्रयोग करके तथा भूमा और अल्प का लक्षण कहकर श्रुति ने स्वयं ही ब्रह्म और जीव का लक्षण कह दिया। ब्रह्म भूमा है जीव अल्प। ब्रह्म अमृत है जीव मर्त्य ।।श्री।।१।।

संगति– अब भगवान् की महिमा का वर्णन करते हैं ।।श्री।।

गोअश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यं दासभार्यं क्षेत्राण्ययतनानीति नाहमेवं ब्रवीमि ब्रवीमीति होवाचान्यो ह्यन्यस्मिन्प्रतिष्ठित इति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे नारद ! गौ, घोड़े, हाथी, सुवर्ण, दास, दासियाँ, भूमि, गृह ये सब भगवान् की महिमा कही गयी है परन्तु मैं इन्हें भगवान् की पूर्ण महिमा नहीं कह रहा हूँ। इन्हें आंशिक महिमा कह रहा हूँ। भगवान् इनसे अतिरिक्त हैं जो सांसारिक चाकचिक्य से ऊपर उठे हुए भक्तों के हृदय में विराजते हैं ।।श्री।।२।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर सप्तम अध्याय के चर्तुविंश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। पञ्चविंश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब भूमा के सर्वत्र सद्भाव का वर्णन करते हुए देश विशेष की सत्ता का निरसन भी करते हैं। यदि कहें– एक साथ दोनों सिद्धान्त कैसे संगत होंगे ? इसका उत्तर यह है कि निर्गुणरूप से तो भगवान् किसी देश विशेष में नहीं रहते। पर सगुणरूप में अयोध्या, साकेत आदि देशों में रहते ही हैं। इसलिए श्रुति ने 'न स्वे महिम्नि' कहकर निर्गुणरूप से ब्रह्म की व्यापकता और 'स्वे महिम्नि' कहकर सगुणरूप से ब्रह्म व्याप्यता का निरूपण किया ।।श्री।।

स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स पश्चात्स पुरस्तात्स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदँ सर्वमित्यथातोऽहङ्कारादेशो एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदँ सर्वमिति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– वही परमात्मा नीचे है, वही ऊपर है, वही सामने है, वही पीछे है, वही दाहिनी ओर है, वही वायीं ओर है, वही यह दृश्यमान जगत् व्याप्त करके विराजमान हो रहे हैं, उन्हीं के प्रति श्रुति अहंकार का निर्देश करती है अर्थात् श्रुति भगवान् की वाणी का अनुवाद कर रही है। परमेश्वर कहते हैं– मैं ही नीचे हूँ, मैं ही ऊपर, मैं ही दायें हूँ, मैं हूँ बायीं ओर हूँ। मैं ही दृश्यमान जगत् में व्याप्त हूँ ।।श्री।।१।।

संगति– अब आत्मा का आदेश उसके ज्ञान का फल और उसके विरुद्ध अज्ञान का फल कहते हैं ।।श्री।।

अथात आत्मादेश एवात्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदँ सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवंविजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषाँ सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब आत्मोपदेश का वर्णन करते हैं। यहाँ आत्माशब्द परमात्मा के अर्थ में प्रयुक्त है। हे नारद! आत्मपद वाच्य परमेश्वर ही नीचे हैं, परमेश्वर ही ऊपर हैं। परमात्मा ही सम्मुख हैं परमात्मा ही पीछे हैं परमात्मा ही दायें हैं परमात्मा ही बायें हैं। यह सब परमात्मा का ही परिणाम है। जो इस प्रकार परमात्मा को अपने स्वामी के रूप में देखता है, मनन करता, जानता है, वह आत्मा में ही रमण करता है, परमात्मा के ही साथ क्रीडा करता है। जीवात्मा और परमात्मा के समागमसुख का अनुभव करता है और उसका सभी लोकों में स्वेच्छया विहार होता है। वह स्वराट् अर्थात् अपने द्वारा वश में की हुई इन्द्रियों का राजा हो जाता है और अपने आत्मीय प्रभु के सानिध्य से सुशोभित होता है। जो लोग इसके विपरीत परमात्मा को नहीं जानते वे अन्य 'राजानः' अर्थात् कामादि द्वारा शासित होते हैं। काम, क्रोध आदि विकार उन पर राजा की भाँति शासन करते हैं और उनका नाशवान् लोकों में निवास होता है।।श्री।।२।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर सप्तम अध्याय के पञ्चविंश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। षष्ठविंश खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब भगवती श्रुति आत्मज्ञान का फल कहती है। यहाँ 'आत्मा' शब्द से परमात्मा अभिप्रेत है।।श्री।।

तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानास्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आशात्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत

आप आत्मत आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्नमात्मतो बलमात्मतो विज्ञान-मात्मतो ध्यानमात्मतश्चित्तमात्मतः संकल्प आत्मतो मन आत्मतो वागा-त्मतो नामात्मतो मन्त्रा आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेदँ सर्वमिति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार सब कुछ परमात्ममय देखने वाले, संसार का परमात्मा के रूप में मनन करने वाले और जगत् को परमात्मा का परिणाम जानने वाले महापुरुष के प्राण, आशा, स्मरण, आकाश, तेज, जल, आविर्भाव, तिरोभाव अन्न अर्थात् भक्षणीय भोजन, बल, विज्ञान, ध्यान, चित्त, संकल्प, मन, वाणी, नाम, मन्त्र, एवं श्रुतिविहित कर्म यह सब कुछ आत्मा के ही सानिध्य से सम्पन्न होता है।।श्री।।१।।

संगति– अब फलश्रुति का वर्णन करते हैं।।श्री।।

तदेष श्लोको न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताँ सर्वँ ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश इति स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादश स्मृतः शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विंशतिराहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षस्तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारस्तँ स्कन्द इत्याचक्षते तँ स्कन्द इत्याचक्षते ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार आत्मदर्शन करता हुआ महापुरुष मृत्यु को नहीं देखता। तीनों तापों का अनुभव नहीं करता, दुखों का अनुभव नहीं करता। वह सब कुछ देख लेता है सभी ओर से सभी कामनाएँ प्राप्त कर लेता है। वह एकधा अर्थात् भगवान् का नित्यपरिकरमात्र बन जाता है। वह त्रिधा अर्थात् पृथ्वी, जल, तेजोमय होकर वह पंचभूतमय तथा भगवत् सेवार्थ दिव्य सप्तधातुओं से युक्त होता है। वह नवधा भक्ति से प्रेरित होकर नवद्वारपुरात्मक भगवद्भजनोपयोगी शरीर प्राप्त करता है वह एकधा दशधा अर्थात् भगवद्भजनोपयोगी चक्षुरादि दश इन्द्रियों एवं दिव्य मन से युक्त हो जाता है। वह विंशति अर्थात् पंच महाभूत, पंचतन्मात्रा, पंचप्राण, अन्तःकरण चतुष्टय तथा भगवद्भजन से युक्त शरीरावच्छिन्न हो जाता है। वह शत अर्थात् परमेश्वरमय सैकड़ों नारियों से युक्त हो जाता है। वह सहस्राणि अर्थात् भगवत् सम्बन्धी अनेक मनोरथों से पूर्ण हो जाता

है। इस प्रकार भगवद्भाव से इन्द्रियों के शुद्ध होने पर तथा भगवान् को नैवेद्य करने से आहार की शुद्धि हो जाने पर अन्तःकरण तथा जीवात्मा की शुद्धि हो जाती है। सत्व की शुद्धि से स्मृति ध्रुव हो जाती है अर्थात् भगवान् के स्मरण में स्थिरता आ जाती है। भगवान् की स्मृति प्राप्त कर लेने से जीव की सभी ग्रन्थियों का विनाश हो जाता है।।श्री।।

इस प्रकार भगवद्भजन से जिनका कषाय नष्ट हो चुका है ऐसे देवर्षि नारद को भगवान् सनत्कुमार ने अन्धकारमय संसारसागर के पार का दर्शन करा दिया अर्थात् नारद जी को ब्रह्मबोध हो गया। इसीलिए विद्वान् उन्हें स्कन्द कहते हैं। द्विरुक्ति अध्याय की समाप्ति सूचना के लिए है।।श्री।।२।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर सप्तम अध्याय के षष्ठविंश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

इति श्रीचित्रकूट निवासि सर्वाम्नाय श्रीतुलसीपीठाधीश्वर श्रीमज्जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामभद्राचार्य महाराज प्रणीते श्रीराघवकृपाभाष्ये छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्यायः सम्पूर्णः।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

•

।। अष्टमोऽध्याय ।।

।। प्रथम खण्ड ।।

मङ्गलाचरण

प्रभुरपहतपात्मा विज्वरो यो विमृत्यु-
नृपतिरथविशोको योऽजिघित्सोऽपिपासः ।
गुणनिधिरभिरामः सत्यकामः स रामो
जयति जगदधीशः सत्यसंकल्प एषः ।।

समस्तकल्याणगुणाभिरामः संसारपाथोधिविपद्विरामः ।
लोकाभिरामोऽवतु पूर्णकामः सीताभिरामः सगुणः स रामः ।।
निर्गुणं सगुणं ब्रह्म यं सदा श्रुतयो जगुः ।
तमष्टमेष्टसंयुक्तं मुक्तानां शरणं श्रये ।।

छठे अध्याय में श्वेतकेतु की आख्यायिका का प्रारम्भ करके नौ खण्डों में 'तत्वमसि श्वेतकेतो' मंत्र का नौ बार उच्चारण करके जिस परब्रह्म परमात्मा का श्रुति ने बड़ी कुशलता से प्रतिपादन किया तथा सप्तम अध्याय में सनत्कुमार-नारद-संवाद के बहाने 'यो वै भूमातत्सुखं' आदि मंत्रखण्डों से श्रुति ने जिस निरस्तसमस्तहेयगुण प्रत्यनीक निरतिशपनिरुपद्रव निरूपाधिक कल्याणमय, सौन्दर्य, माधुर्य, सौशील्य, सौजन्य, वात्सल्य, आर्जव, धैर्य, औदार्य, स्थौर्य, गाम्भीर्य, लावण्य, तारुण्य, कारुण्य, सौभाग्य, सौमनस्य, धर्मधुरन्धरत्व, दयालुत्व, कृपालुत्व, दाक्षिण्य, भक्तानुग्रहकातरत्व, पतितपावनत्व, शरणागतवत्सलत्व, प्रभृति दिव्य, चिन्मय, श्रेयोविधित्षु सर्वगुणसम्पन्न परमेश्वर का जिस अन्तरंगता से वर्णन किया उसी भाव से अपने हृदय के आराध्य, सजलनीलघनश्याम, शोभाधाम, सुखधाम, लोकाभिराम भगवान् श्रीराम के अचिन्त्य गुण-गुणों का वर्णन करने के लिए अष्टम अध्याय का प्रारम्भ किया जाता है ।।श्री।।

अब यहाँ प्रश्न होता है कि श्रुति ने भगवान को व्यापक कहा। छान्दोग्य (७/२४,२५) में भगवती श्रुति कहती है– यह सब आत्ममय है। ''आत्मैवेद ँ सर्वम्' अर्थात् यह सब कुछ आत्मा ही है। इस प्रकार ब्रह्म की व्यापकता सिद्ध हो जाने पर यहाँ फिर हृदय के एक देश में ब्रह्म की

उपासना का वर्णन करने पर एक ही साथ व्यापकता और व्याप्यता जैसे परस्परविरुद्ध दो धर्मों की उपस्थिति से श्रुतियों में विषमवाद तथा अप्रमाणिकता आने लगेंगी ? ।।श्री।।

उत्तर– ऐसा नहीं है। क्योंकि परस्पर विरुद्ध धर्माश्रयत्व ही तो भगवत्व का अवच्छेदक तथा लक्षण है। अर्थात् भगवान् उन्हीं को कहते जिनमें सभी विरुद्धधर्म एक साथ रहते हैं। इसीलिए जहाँ श्रुति ने भगवान् की व्यापकता का वर्णन किया वहीं 'अंगुष्ठमात्रः पुरुषः' कहकर परमेश्वर की व्याप्यता का भी वर्णन किया है। कठ० (१/२/२०) में भगवती श्रुति ने स्पष्टरूप से कह दिया है कि भगवान् अणु जीवात्मा से भी सूक्ष्म हैं तथा महत् आकाश से भी महान् हैं। वे निर्गुण के साथ सगुण भी हैं।।श्री।।

इसीलिए श्रुति ने जहाँ एक ओर श्वेताश्वतरोपनिषद् में भगवान् को सब ओर से हस्तचरणादि अवयवों से युक्त कहा, वहीं कठोपनिषद् में उपदेश का उपसंहार करते हुये परमात्मा को शब्दस्पर्शादि से भी रहित कह दिया है। कठ० (१/३/१३) में श्रुति ने भगवान् का आकार अंगुष्ठ जैसा बताया है और भागवतकार ने भी श्री परीक्षित के गर्भदर्शन प्रसंग में इसी प्रकार का स्मरण किया है। वे कहते हैं कि महाराज परीक्षित ने अपनी माँ के गर्भ में निवास करते हुये एक ऐसे पुरुष को देखा जो अँगुठे के जैसे आकारवाला था। इस प्रकार श्रुतिस्मृति द्वारा दोनों स्वरूपों के प्रमाणित होने पर भी निर्गुण ब्रह्म की अपेक्षा सगुण ब्रह्म को ही श्रुति ने श्रेष्ठ कहा। यद्यपि यहाँ वह निर्गुण ब्रह्म नहीं है जैसा कि पूर्वपक्षी आचार्यों ने स्वीकारा है।।श्री।।

यहाँ तो गुणों से अतीत निर्लीनगुणक मायिकगुणों के अभाव से युक्त ब्रह्म ही निर्गुण है और निरतिशयकल्याणगुणगणों से मण्डित ब्रह्म ही सगुण है। जैसा कि प्रच्छन्नरूप से बौद्धमत से प्रभावित जगद्गुरु आद्य शंकराचार्य ने छान्दोग्योपनिषद् के आठवें अध्याय के प्रथम खण्ड की भाष्य अवतरणिका में कहा है कि– निर्गुण ही आत्मतत्व है, फिर भी मन्दबुद्धि वाले अधिकारी जनों को भगवान् की गुणवत्ता इष्ट है, इसीलिये परमात्मा के सत्यकामत्वादि गुणगण कहे जा रहे हैं। वह तो दुराग्रहग्रहग्रस्त मस्तिष्क का जल्पन समझकर आदरणीय नहीं है, तथा अत्यन्त हास्यास्पद है।।श्री।।

इसी प्रकार भ्रमवश ही सत्य सम्यक्प्रत्ययैकविषय कहकर परमात्मा में महात्मत्व का आरोप कर लिया गया। वास्तव में 'नेति-नेति' इस प्रकार

कहने वाली श्रुतियों के सम्बन्ध में किसी एक का पक्षपात वर्णन दुःसाहस मात्र है। क्योंकि श्वेताश्वतरोपनिषद् (७/१४) तथा गीता (१३/१४) में समान आकार वाले एक ही वाक्य से परमातमा के निर्गुणत्व और सगुणत्व इन दोनों धर्मों का प्रतिपादन किया गया है। परन्तु यहाँ निर्गुण शब्द से परमेश्वर में गुण का अभाव कभी भी नहीं समझना चाहिए। शब्द से परमेश्वर में गुण का अभाव कभी-भी नहीं समझना चाहिये। वे मायाकृत सत्व-रजस्तमस् से परे होकर निर्गुण हैं, तथा स्वरूपभूत वात्सल्य, सौन्दर्य, ऐश्वर्य, माधुर्य, कारुण्य, तारुण्य, सौशील्य, सौलभ्यादि निरवधिक सकल-कल्याणगुणगणनिलय होने से सगुण भी है।।श्री।।

पहले इस पक्ष पर विचार करते हैं कि– निर्गुण और सगुण क्या है? यदि निरुपसर्ग का निर्गमन अर्थ मान लिया जाय तब तो 'निर्गताः गुणाः यस्मात् तन्निर्गुणम्' अर्थात् जिनसे गुण निकले हों वही निर्गुण हैं। इस व्याख्या में भी भगवान् में गुणों की पूर्वविद्यमानता तो सिद्ध ही हो गयी। क्योंकि विद्यमान वस्तु ही तो निकलेगी। यदि परमेश्वर में गुण न होते तो निकलते कैसे? यदि कहेंगे कि 'निष्क्रान्ताः गुणाः यस्मात् तन्निर्गुणम्' यही व्याख्या की जाय तो भी परिस्थिति में कोई अन्तर नहीं आया दोष तदवस्थ ही रहा। निगमन और निस्क्रमण में कोई अन्तर नहीं है। एक ही शिर को चाहे मुण्ड कहो या कपाल। वास्तव में परमेश्वर से गुणों के निर्गमन पक्ष को तो हम लोग नहीं मानते। आप जैसे स्वयं को ही परमेश्वर मानने वाले महामनस्वी भले ही मान लें। यदि किसी प्रकार निष्क्रमण और निर्गमन में भेद न मानकर इनकी विवक्षा न करके शब्द की सिद्धि ही प्रयोजन मानी जाय? तो भी आपको यह बताना पड़ेगा कि– ईश्वर से गुण निकलते ही क्यों हैं? क्योंकि तुम्हारे मत में भी ब्रह्म से अतिरिक्त कोई सत्ता नहीं है, फिर ब्रह्म से निकलकर ये गुण जायेंगे कहाँ? क्योंकि अवधि और अवधिमान में द्वित्व अनिवार्य होता है। यदि ब्रह्म से अतिरिक्त कोई सत्ता है ही नहीं तो फिर तुम्हारे मत में पञ्चम्यर्थ का लोपन कैसे हो सकेगा? क्योंकि वहाँ अवधि और अवधिमान में द्वैत अनिवार्य है, जो तुम्हें कदापि इष्ट नहीं। और भी चेतन ही चेतन के पास से जा सकता है, पृथिवी से दीवार नहीं जाती। कहीं वृक्ष को चलते हुये नहीं देखा गया। यदि गुण जड़ है? तो उनका निकलना संभव नहीं है। यदि चेतन है तब तो दो चेतनों की कल्पना करने से अपने प्राणघाती द्वैतपक्ष को तुमने स्वयं मोल ले लिया। तुम अब अपने ही आधार को क्यों नष्ट कर रहे हो? यदि तुम यह कहो

कि जो गुणों से निकला है वह निर्गुण है, इसी लिये निर्गमन परमात्मा में है, न कि गुणों में, तो यह भी पक्ष अनुचित है। क्योंकि द्वितीया से तो अत्यादि का समास होता है, न कि निरादि का। 'अत्यादय: क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' अति उपसर्ग निरुपसर्ग के पश्चात् पढ़ा गया है, निर् की संख्या आठवी ओर अति की संख्या सोलहवीं है, इस प्रकार इन दोनों में दोगुने का व्यवधान है। यदि कहें उपसर्ग पाठ हमलोगों के द्वारा किया गया होगा ? तो ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि 'पादप:' सूत्र में महर्षि पाणिनि ने ही उपसर्ग पाठ का संकेत कर दिया है। यदि कहें कि निरुपसर्ग अव्ययार्थक है तो यह भी अपलाप होगा, क्योंकि निरुपसर्ग में अति उपसर्ग के अर्थ कथन की योग्यता नहीं है। जैसे 'बह्निना सिञ्चति' शब्द में जलसेक की योग्यता नहीं है, उसी प्रकार 'निर' में अति उपसर्ग के अर्थ की योग्यता नहीं है ।।श्री।।

यदि कहें कि– हम ब्रह्म पक्ष में ही क्रान्त अर्थ में निरुपसर्ग का पञ्चमी तत्पुरुष से समास करेंगे, तब तो तुम्हारे पक्ष में पूर्ववत् आपत्ति आगयी। यदि गुणों से ब्रह्म निकला है तब तो गुण अवधि और ब्रह्म अवधिमान हुआ, जबकि दोनों का भेद स्वभाव सिद्ध है। यदि कहें कि– यह प्रक्रिया शब्द साधुत्वमात्र के लिये है, तो भी वह दोष बना ही रहेगा। क्योंकि कोई भी स्वयं से स्वयं नहीं निकल सकता। इसीलिये तुम्हारे निर्गुण पक्ष में तो विडम्बना ही विडम्बना है। अब तुम किस प्रकार से निर्गुण शब्द की व्युत्पत्ति करोगे, वास्तव में तुमने ब्रह्म का निर्गुणत्व और निर्धर्मत्व सिद्धान्त वेद से नहीं, वेदविरुद्ध शून्यवाद से लिया है। यदि कहें कि– श्रुतियों द्वारा प्रतिपादित निर्गुण शब्द की कैसे व्युत्पत्ति होगी ? तो सुनिये जिसके गुण निरुपम हैं उसे निर्गुण कहते हैं। 'निरुपमा: गुणा: यस्य तत् निर्गुणम्'। यदि कहो कि ब्रह्म के निरुपमत्व पक्ष में 'समुद्र इव गाम्भीर्ये' (वा०रा० १/१/१७) इत्यादि आर्षवाक्य की संगति कैसे लगेगी ? तो इसका उत्तर यह है कि– साधारण लोगों को समझाने के लिये यहाँ हीनोपमा का प्रयोग किया गया है। अथवा इव का अर्थ समुद्र में है न कि भगवान् में। अर्थात् यहाँ समुद्रादि उपमेय हैं और भगवान् उपमान। जैसे वाल्मीकीयरामायण के बालकाण्ड के प्रथमसर्ग के सत्रहवें श्लोक से उन्नीसवें श्लोक पर्यन्त आठ उपमायें कहीं गयी हैं और इन आठों के उपमान के रूप में भगवान् श्रीराम को ही कहा गया

है। जैसे कौसल्यानन्दवर्धन भगवान् श्रीराम सम्पूर्ण गुणों से सम्पन्न हैं। गम्भीरता में समुद्र ही कथंचित् उनके समान हैं, वे समुद्र के समान नहीं हैं। अर्थात् समुद्र उपमेय और प्रभु उपमान हैं। इसी प्रकार पराक्रम में श्रीराम विष्णु के सदृश नहीं हैं, कथंचित् विष्णु में उनका सादृश्य है। इसी प्रकार श्रीराम का दर्शन सोमवान् अर्थात् चन्द्रशेखर श्रीशिव के लिये प्रिय है। क्रोध के विषय में कालाग्नि ही कुछ-कुछ प्रभु श्रीराम के सदृश हैं। क्षमा में पृथ्वी ही प्रभु से तुल्य हैं। दान में धनद अर्थात् कुबेर के इन अर्थात् स्वामी शंकर श्रीराम की कुछ समता कर सकते हैं। सत्य में भागवतधर्म ही कुछ अंशों में श्रीराम की समानता प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार सभी उपमायें परमात्मा की अपेक्षा न्यून बनकर उनकी अनिर्वचनीयता का ही वर्णन करती है। इसीलिये श्वे०उ० (३/९) में भगवती श्रुति स्वयं कहती हैं कि– जिन परमात्मा का नाम और यश महान है उनकी किसी से समता नहीं है ।।श्री।।

अथवा 'निरस्ताः गुणाः येन तन्निर्गुणम्' भगवान् के द्वारा भक्तों के लिये प्रतिकूल गुण छोड़ दिये जाते हैं, उन्हीं गुणों को परमेश्वर स्वीकारते हैं जिनसे भक्तों को आनन्द मिलता है। अथवा 'निरुपद्रवाः गुणाः यस्य तत् निर्गुणम्' भगवान् के गुणों में कोई उपद्रव नहीं होता। इसीलिये परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री प्रभु के गुणों का चिन्तन करते-करते पागल हो जाते हैं। 'हरेर्गुणाक्षिप्तमतिः भगवान् बादरायणिः' (भगवत १/७/११) ।।श्री।।

इस प्रकार 'प्रसन्नराघवम्' में जयदेव भी कहते हैं कि कवियों का कोई दोष नहीं भगवान् के गुणों का ही अवगुण है कि वे अपने अनुशीलकों को पागल बना देते हैं। अथवा 'निःशेषाः गुणाः यस्मिन् तन्निर्गुणम्' सभी गुण भगवान् में ही विराजते हैं। अथवा 'निः सामान्याः निः साधारणाः गुणाः यस्य तन्निर्गुणम्' भगवान् के गुण लोकोत्तर है, वे साधारण व्यक्ति में नहीं रह सकते। कभी-कभी तो प्रभु को भी उनके गुण विस्मय में डालते हैं। जैसा कि स्वयं उद्धव जी विदुर जी से कहते हैं– हे विदुर! मानवलीला के उपयुक्त जिस मंगलमय समग्रसौन्दर्यसम्पन्न श्री विग्रह को स्वीकारा और उसी व्याज से लोगों के समक्ष अपनी योगमाया का अप्रतिम बल प्रस्तुत किया, उस भुवनमोहन तथा समस्तसौन्दर्यनिधान कोटि-कोटि कन्दर्पदर्पदलन श्रीस्वरूप को निहारकर भगवान् स्वयं आश्चर्य महासागर में डूब जाते हैं। यथा–

यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम्।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्।।

(भाग० ३/२/१२)

जैसा कि मानस में भी भुशुण्डी जी कहते हैं–

रूप राशि नृप अजिर विहारी। नाचहिं निज प्रतिबिम्ब निहारी।।

(मानस ७/७७/८)

अथवा निरस्त है अन्त जिसका वे निरन्त अर्थात् अन्तहीन हैं गुण जिनके वे परमात्मा ही निर्गुण हैं। परमात्मा के गुणों का कोई अन्त नहीं है। ऋग्वेद विष्णुसूक्त में कहा गया है कि– परमात्मा के गुणों को वही कह सकता है जो पृथ्वी के धूल कणों को गिन सके। मानस उत्तरकाण्ड में भगवान् शंकर भी कहते हैं कि– पार्वती कदाचित् जल के विन्दु एवं पृथ्वी के धूल कण गिन भी लिये जायँ तो भी भगवान् के गुणों का वर्णन नहीं किया जा सकता।।श्री।।

जल सीकर महिरज गनि जाहीं। रघुपति चरित न वरनि सिराहीं।।

(मानस ७/५२/४)

अथवा "निरन्तराः गुणाः यस्य तन्निर्गुणम्" अर्थात् सभी गुण भगवान् से अभिन्न होकर समय के व्यवधान के विना सदैव उनमें रहते हैं, इसीलिये उन्हें निर्गुण कहा जाता है। गुण भगवान् को एक भी क्षण नहीं छोड़ते। यदि कहें कि न्याय के अनुसार उत्पन्न द्रव्य प्रथम क्षण में निर्गुण और निष्क्रिय रहता है? तो उसका उत्तर यह है कि– परमेश्वर कभी उत्पन्न नहीं होते, इसीलिये उनमें इस नियम का प्रसरण नहीं होता। क्योंकि प्रत्येक गुण भगवत्स्वरूप होता है, इसीलिये वात्सल्यादि गुण न तो भगवान् को छोड़ना चाहते हैं, और न ही भगवान् उन्हें। न्यायदर्शन के अनुसार गुण और गुणी का समवाय सम्बन्ध होता है। यद्यपि वेदान्तदर्शन में समवाय को नहीं माना गया है। इस दृष्टि से गुण स्वरूपसम्बन्ध से ही भगवान् में रहते हैं और वे परमात्मा को कभी नहीं छोड़ते। जैसा कि श्रीमद्भागवत में भगवती पृथ्वी धर्म से कहती हैं–

एते चान्ये च भगवन्नित्या यत्र महागुणाः।
प्रार्थ्या महत्त्वमिच्छद्भिर्न वियन्ति स्म कर्हिचित्।।

भाग- १/१६/२९)

अथवा 'निरतिशयाः गुणाः यस्य तन्निर्गुणम्' भगवान् के गुण निरतिशय है, उनसे अधिक कोई हो ही नहीं सकता। अथवा 'निश्चिताः गुणाः यस्य तन्निर्गुणम्' भगवान् के गुणों ने ही प्रणतों के उद्धार का निश्चय किया है, भगवान् के पतितपावनत्वादि गुणों से ही तो भक्तों का उद्धार होता है। अथवा 'निःश्रेयस्कराः गुणः यस्य तन्निर्गुणम्' भगवान् के गुणों से भक्तों का परम कल्याण होता है। अथवा 'निलीनाः गुणाः यस्मिन् तन्निर्गुणम्' अर्थात् जिसमें सम्पूर्ण सद्गुण सतत विराजमान रहते हैं, वही सगुण साकार परमात्मा ही निर्गुण है। क्योंकि समस्तहेयगुणप्रत्यनीक निरवधिककल्याणगुणगण के निलय एकमात्र परमेश्वर हैं। अथवा 'निष्क्रान्ताः गुणाः यस्मात् तन्निर्गुणम्' भक्तों के उपयोगी श्रेष्ठ गुण जिन परमात्मा से निकले हैं तथा जो प्राकृत सत्व-रजस्-तमस् से परे हैं, वे परमात्मा निर्गुण हैं। इसीलिये श्रुति और स्मृति ने भगवान् को निर्गुण और गुणभोक्ता कहा है। गुणों के अदर्शन से ही उन्हें गुणवर्जित कहा जाता है, वास्तव में तो एक ही परमात्मा के निर्गुण और सगुण दोनों ही रूप हैं। जब वे भक्तों के लिये अनावश्यक गुणों को तिरोहित कर लेते हैं तब उनके प्रति निर्गुण होते हैं और भक्तों के लिये उपयोगी जिन गुणों को प्रकट करते हैं उनकी दृष्टि से सगुण कहते हैं। एक ही काल में परमेश्वर में सगुणत्व और निर्गुणत्व ये दोनों ही धर्म रह लेते हैं। क्योंकि भगवान् भी एक साथ सभी गुणों को नहीं प्रकट कर सकते। परमेश्वर के गुण भी परमेश्वर के ही भाँति अनन्त हैं। इसीलिये उन्हें अपनी प्रत्येक लीला में कुछ लीला को प्रकट और कुछ लीला को तिरोहित करना होता है। अतः प्रकट गुणों की दृष्टि से सगुणत्व और तिरोहित गुणों की दृष्टि से निर्गुणत्व एक ही साथ संगत हो जाता है। इसीलिये मानसकार गोस्वामी श्री तुलसीदास जी भी सगुण और निर्गुण में कुछ भेद नहीं मानते। यथा–

अगुणहि सगुणहि नहि कछु भेदा।
गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा।।
अगुण अरूप अलख अज जोई।
भक्त प्रेम वश सगुण सो होई।।
जो गुण रहित सगुण सो कैसे।
जल हिम उपल विलग नहिं जैसे।।

(मानस १/११६–१,२,३)

वास्तव में निर्गुण से सगुण श्रेष्ठ है, यही सिद्धान्त है। इसीलिये श्रीगीता के बारहवें अध्याय के प्रारम्भ में अर्जुन के यह पूछने पर कि– **अव्यक्त निर्गुणोपासक** तथा **सगुणोपासक में कौन श्रेष्ठ है ? भगवान्** श्रीकृष्ण ने निर्गुणोपासक की अपेक्षा सगुणोपासक को श्रेष्ठ कहा, और निर्गुणोपासना में क्लेश तथा देहाभिमानियों के लिये दुर्लभता का भी प्रतिपादन किया।।श्री।।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः।। *(गीता १२/२)*

क्लेशोऽधिकतस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देल्वद्भिरवाप्यते।। *(गीता १२/५)*

बहुत क्या कहें योगिराज विदेह जनक भी श्रीराम के सगुण स्वरूप के दर्शन मात्र से आकृष्ट होकर मानसकार के शब्दों में बोल पड़े–

इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा।
बरबस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा।।

(मानस १/२१६/५)

जो कुछ लोगों ने ऐसा प्रलाप किया है कि– आत्मतत्व तो निर्गुण ही है, गुण तो मायिक है, तो यह कथन अत्यन्त अनुचित है। क्योंकि मिथ्याभूत अस्तित्वहीन माया परमप्रकाशरूप परब्रह्म को मलिन नहीं बना सकती। इसीलिये जैसे भगवान् के आयुध-आभूषण एवं वस्त्र लोकोत्तर है, उसी प्रकार उनके गुण भी लोकोत्तर नित्य एवं चिन्मय हैं। वस्तुतस्तु गुणों के विना भगवान् की भी ऐसी शोभा नहीं हो पाती जो भक्तों को लुभा सके। श्रीमानस किष्किन्धाकाण्ड में भगवान् राम भी कहते हैं–

फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुण ब्रह्म सगुण भये जैसा।।

(मानस ४/१६/२)

सरोवर का कमल ही अपने सुविमल परिमल से भ्रमरों को हठात् सरोवर की ओर आकृष्ट कर लेता है, उसी प्रकार भगवान् के गुण ही कोटि-कोटि परमहंस परिव्राजकाचार्य महात्माओं को भी बरबस भगवान् की ओर आकृष्ट कर लेते हैं। जैसा कि रावणवध काव्य में भट्टी कहते हैं–

नतज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजं न पङ्कजं तद्यदलीन षट्पदम्।
न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः।।

अर्थात्

वह नीर न था जिसमें मञ्जुल कलकमलपुञ्ज विस्तार न हो
वह कमल न था जिसके दल में मृदु मधुकर का संचार न हो।
वह मधुप न था जिसमें पराग रसमत्त मधुर गुञ्जार न हो
वह गुंज न थी जिसमें मन की अपहरण क्रिया का चार न हो।।

उसी प्रकार वह ब्रह्म नहीं जहाँ गुण नहीं, वह गुण नहीं जहाँ महात्माओं का आकर्षण नहीं, वे महात्मा नहीं जिनमें परमेश्वर के गुणगान का मधुर स्वर नहीं और वह स्वर नहीं जो भावुकों के मन को न चुरा सके।।श्री।।

जो यह विजल्प किया जाता है कि– मन्दबुद्धिवाले लोगों को सन्तुष्ट करने के लिये ही सत्यकामत्व आदि भगवान् के गुण कहे गये हैं। वह भी अत्यन्त अनुचित है। क्या मूर्खों को सन्तुष्ट करने के लिये श्रुति माता झूठ बोलेंगी। इसी प्रसंग में अपहतपाप्मत्वादि गुणाष्टक की चर्चा की जायेगी। क्या ये मन्त्र मिथ्या है ? क्या कोई माता विष के लिये स्पृहयालु अपने अज्ञानी पुत्र को विष पिलायेगी ? यदि सगुणत्व जीव के लिये अनिष्ट होता तो सत्यवादिनी श्रुति उनकी चर्चा कदापि नहीं करती। जो यह कहा गया कि– मन्दबुद्धि वाले लोगों के लिये भगवान् की गुणवत्ता इष्ट है। यह तो बहुत अनुचित है। क्योंकि सर्वज्ञशिरोमणि शुकाचार्य को तो भगवान् की गुणवत्ता इतनी इष्ट है कि वे अपनी आत्मारामता को भी छोड़कर भगवान् के गुणगणों के लिये ही पागल बन जाते हैं। सूतजी शौनक जी से कहते हैं कि आत्माराम तथा निर्ग्रन्थ मुनिगण भी परमेश्वर में अहैतुक भक्ति करते हैं, क्योंकि प्रभु के गुण ही इसी प्रकार के हैं। तो क्या निर्गुणमत प्रतिष्ठापक महानुभाव के गुरु के भी गुरु मन्दबुद्धि वाले हैं ? जिन्होंने सदैव राघव माधव का ही गान किया।।श्री।।

इसीलिये सगुणब्रह्म ही भजनीय है, अब निर्मत्सर भाव से यहाँ का प्रसंग देखिये– जैसे इसी अध्याय के तेरहवें खण्ड में श्रुति निर्गुण और सगुण दोनों को ही भजनीय रूप में कहती हैं। जैसे मैं साधक श्याम अर्थात् नीलजलधरश्याम सीताभिराम भगवान् श्रीराम को प्रसन्न करके शबल अर्थात् हृद्देशावच्छिन्न निर्गुणब्रह्म को शरणरूप में स्वीकार कर रहा हूँ। पुनः नीरसता के कारण उस शबल निर्गुणब्रह्म को छोड़कर परम कारुणिक श्यामसुन्दर नवजलधरकान्त सीताकान्त श्रीराम को ही शरण स्वीकार करके

उन्हें प्रपन्न हो रहा हूँ। उन्हीं परमेश्वर की कृपा से जिस प्रकार घोड़ा अपने रौयें झाड़ देता है, उसी प्रकार अपने पापों को और प्रारब्ध में शरीर को छोड़कर राहु के मुख से चन्द्र की भाँति इस संसार से मुक्त होकर ब्रह्मलोक शीघ्र प्राप्त कर लूँगा। इस प्रकार श्रुति ने सगुणब्रह्म को निर्गुणब्रह्म से श्रेष्ठ बताया। अब प्रकृतविषय की चर्चा करते हैं–

अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– सातवें अध्याय ने प्रतिपादित भूमापरमेश्वर की उपासना कहाँ करनी चाहिये ? इस पर परमकारुणिक भगवति श्रुति अपने पुत्रों का हित करने के लिये अपने प्राणबल्लभ प्रभु का उपासना स्थान कहती है– जीवों ! परमात्मा के दर्शन के लिये दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। वे हरिशब्द से सगुणरूप में और ओम् शब्द से निर्गुणरूप में भी स्मरण किये जाते हैं। वही निर्गुण-सगुणरूप परमेश्वरभजनरस से पवित्र तथा परब्रह्म के निवास योग्य इसी मानव शरीर में जो मध्यभाग में हृदयस्थान है, वही छोटा सा श्वेतकमलनिर्मित गृह है ।।श्री।।

उसी में विराजमान आकाश के समान नील परब्रह्म परमात्मा का अन्वेषण करना चाहिये और अपने छोटे से हृदयाकाश में ही परमात्मा की विशेष जिज्ञासा करनी चाहिये। इस पद्धति को शास्त्र ने दहरविद्या भी कहा है ।।श्री।।१।।

संगति– अब गुरुशिष्य की प्रश्नपरम्परा से विषय को सरल करते हैं–

तं चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार यदि आचार्य से कोई शिष्य पूछे कि– इस ब्रह्मपुर शरीर में जो छोटा सा कमलनिर्मित गृह है, उसमें भी जो छोटा सा आकाश अर्थात् अवकाश है, उसमें क्या है ? जिसका अन्वेषण करना चाहिये। तब आचार्य उत्तर दें ।।श्री।।२।।

संगति– अब आकाश की अन्तर्गत वस्तु का वर्णन करते हैं–

स ब्रूयाद्यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितमिति ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– श्रुति कहती है कि– यह आकाश जितना बड़ा है, उतना ही बड़ा है हृदय में वर्तमान आकाश और इसी में स्वर्ग और पृथ्वी तथा इसी में अग्नि और वायु सूर्य तथा चन्द्रमा सभी लोग समाहित रूप से विराजमान हैं।।श्री।।३।।

संगति– अब प्रश्न का शेष भाग अवतारित करते हैं–

तं चेद्ब्रूयुरस्मिंश्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वं समाहितँ सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा यदैतज्जरामाप्नोति प्रध्वँसते वा किं ततोऽतिशिष्यत इति ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यदि आचार्य से शिष्य पूछें कि– इस ब्रह्मपुर शरीर में यदि यह सम्पूर्ण प्रपञ्च और सभी काम्यपदार्थ तथा आकाशसहित दृश्यमान जगत् समाहित है, तो फिर जो यह वृद्धावस्था को प्राप्त होता है और अनायास ही नष्ट हो जाता है, इस शरीर पर बचता क्या है ? ।।श्री।।४।।

संगति– अब आचार्य शिष्य के प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं–

स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यत एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन्कामाः समाहिता एष आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पो यथा ह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति यथानुशासनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति यं जनपदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– शिष्य के प्रश्न का आचार्य को इस प्रकार उत्तर देना चाहिये– जो शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि से विलक्षण है, वही आत्मा का भी नियन्ता परमात्मा है। इस शरीर के वृद्ध होने पर भी वह जीर्ण नहीं होता, और इसके नष्ट किये जाने पर भी वह नष्ट नहीं होता, वही आत्मतत्व है। उसने संपूर्ण पापों को नष्ट किया, वह जरा-मृत्यु-शोक से रहित है, उसे भूख और प्यास नहीं लगती, उसकी कामनायें तथा उसके संकल्प सत्य होते हैं। जिस प्रकार प्रजायें राजा के अनुशासन

मानतीं हैं, उसी प्रकार उस परमेश्वर के अनुशासन का अतिक्रमण न करते हुये जिस प्रान्त, जिस जनपद एवं जिस काम्यपदार्थ की कामना करते हैं वह सब प्राप्त कर लेते हैं।।श्री।।५।।

संगति– अब उसके परिशिष्ट गति का वर्णन करते हैं–

तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते तद्य इहात्मानमननुविद्य व्रजन्त्येताँश्च सत्यान् कामाँस्तेषाँ सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवत्यथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येताँश्च सत्यान् कामाँस्तेषाँ सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।।६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसलिये जिस प्रकार यहाँ कर्म से अर्जित लोक नष्ट होता है, उसी प्रकार वहाँ अर्थात् परमार्थपथ में पुण्य द्वारा अर्जित लोक समाप्त हो जाते हैं। जो परमात्मतत्व को विना जाने यहाँ से जाते हैं वे सभी कामनाओं को प्राप्त करते हैं। परन्तु किन्हीं भी लोकों में उनका स्वेच्छाचरण नहीं होता और जो परमात्मा को जानकर इस संसार से जाते हैं वे सभी अभीष्ट कामनायें प्राप्त करते हैं और उनका सभी लोकों में स्वेच्छाचरण होता है।।श्री।।६।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर अष्टम अध्याय के प्रथम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु।।

।। द्वितीय खण्ड ।।

संगति– अब दहरनामक हृदयकमल की ब्रह्म उपासना का फल कहते हैं–

स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन संपन्नो महीयते।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यदि वह दहरोपासक पितृलोक की कामना करता है, तो सभी अर्यमादि पितृगण उसकी सेवा में लग जाते हैं और वह अपने सङ्कल्प से ही पितृलोक में पूजित होता है।।श्री।।१।।

अथ यदि मातृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य मातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन मातृलोकेन संपन्नो महीयते।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यदि वह मातृलोक की कामना करता है तब उसके संकल्प से अदिति आदि मातायें उपस्थित हो जाती हैं, और वह अपने संकल्प से ही मातृलोक में पूजा पाता है।।श्री।।२।।

अथ यदि भ्रातृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य भ्रातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन भ्रातृलोकेन संपन्नो महीयते।।३।।

अथ यदि स्वसृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य स्वसारः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्वसृलोकेन संपन्नो महीयते।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो भ्रातृलोक और स्वसृलोक की कामना करता है, उसके संकल्प से भ्रातृगण और भगिनीगण उपस्थित हो जाते हैं, व उन्हीं के लोक में पूजा प्राप्त करता है।।श्री।।३,४।।

अथ यदि सखिलोककामो भवति संकल्पादेवास्य सखायः समुत्तिष्ठन्ति तेन सखिलोकेन संपन्नो महीयते।।५।।

अथ यदि गन्धमाल्यलोककामो भवति संकल्पादेवास्य गन्धमाल्ये समुत्तिष्ठतस्तेन गन्धमाल्यलोकेन संपन्नो महीयते।।६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यदि वह ब्रह्मोपासक मित्रों की तथा सुगन्ध पदार्थ एवं मालाओं की कामना करता है, तो उसके संकल्प से ही सखा एवं गन्धमाल्य स्वयं उपस्थित हो जाते हैं और वह सखिलोक एवं गन्धमाल्य लोक में समर्चित होता है।।श्री।।५,६।।

अथ यद्यन्नपानलोककामो भवति संकल्पादेवास्यान्नपाने समुत्तिष्ठतस्तेनान्नपानलोकेन संपन्नो महीयते।।७।।

अथ यदि गीतवादित्रलोककामो भवति संकल्पादेवास्य गीतवादित्रे समुत्तिष्ठतस्तेन गीतवादित्रलोकेन संपन्नो महीयते।।८।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यदि वह अन्न एवं गीतबादित की कामना करता है, तब उसके संकल्प से अन्न एवं गीत वहाँ उपस्थित हो जाते हैं और वह इन दोनों लोकों में पूजित होता है।।श्री।।७,८।।

अथ यदि स्त्रीलोककामो भवति संकल्पादेवास्य स्त्रियः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्त्रीलोकेन संपन्नो महीयते।।९।।

यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन संपन्नो महीयते ।।१०।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यदि वह स्त्रियों एवं जनपदों की कामना करता है, उसके संकल्पसे ही वे वहाँ उपस्थित हो जाते हैं और वह उन्हीं के लोक में महिमामण्डित हो जाता है ।।श्री।।

अर्थात् ब्रह्मोपासक जीवन्मुक्त महापुरुष सभी कामनाओं का सेवन करता हुआ भी उनमें आसक्त नहीं होता ।।श्री।।९,१०।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर अष्टम अध्याय के द्वितीय खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। तृतीय खण्ड ।।

संगति– इस खण्ड में अनृत से पिहित सत्य की उपासना का वर्णन करते हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि– ज्योतिर्मय ब्रह्म को असत्य से ढका हुआ क्यों कहा गया। इस अनृतपिधान की क्या आवश्यकता थी ? ।।श्री।।

उत्तर– श्रुति का यह वाक्य आलंकारिक है। इसका तात्पर्य कुछ और ही है। **प्रश्न–** वह कौन सा तात्पर्य है ? **उत्तर–** सुनो ! भगवती श्रुति यह कहना चाहती है कि जैसे दूध को सुरक्षित रखने के लिए कोई न कोई विजातीय ढक्कन आवश्यक होता है क्योंकि समान जाति वाले दूध से दूध को नहीं ढंका जा सकता है उसी प्रकार सत्य को आवृत करने के लिए विजातीय असत्य की आवश्यकता होती है। क्योंकि असत्य को छोड़कर ही सत्य जाना जा सकता है। अतः सत्यरूप परमात्मा असत्य नाशवान् संसार से ढके हैं, असत्य कामनाओं ने उन्हें ढक रखा है। अतः नाशवान् संसार तथा क्षणभंगुर कामनाओं को छोड़कर ही जीव सत्यस्वरूप परमात्मा श्रीराम को प्राप्त कर सकता है। यही इस खण्ड का हृदय है ।।श्री।।

त इमे सत्याः कामा अनृतापिधानास्तेषाँ सत्यानाँ सतामनृतमपिधानं यो यो ह्यस्येतः प्रैति न तमिह दर्शनाय लभते ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– वे ये सत्यपरमात्मा सम्बन्धी जो कामनाएँ

हैं असत्य ही उनका आवरण है। चूँकि असत्य इनका आवरण है इसीलिए जो भी महात्माओं के बीच से यह संसार छोड़कर ब्रह्मलोक के लिए प्रस्थान करता है वह प्रथम परमात्मा का दर्शन नहीं कर पाता क्योंकि असत्य संसार और क्षणभंगुर कामनायें उसमें बाधक बन जाती है।।श्री।।१।।

व्याख्या– जो सन्तों के लिए हितकर हो उसे सत्य कहते हें। भगवान् को प्राप्त करने की इच्छा को ही यहाँ सत्यकाम से कहा गया है। परन्तु उस भगवत्प्राप्ति की इच्छा को असत्य कामनायें ढक लेती है इसीलिए उन्हें अनृतापिधाना कहा जाता है। अनृत का अर्थ असत्य होता है तथा ढक्कन को संस्कृत भाषा में अपिधान कहते हैं। 'अनृतं पिधानं येषां' अर्थात् असत्य ही आवरण है जिसका ऐसी कामनाओं के आधार पर यद्यपि साधक में शरीरत्याग के पश्चात् भगवत्साक्षात्कार की पात्रता आ जाती है। किन्तु असत्य उस पात्रता को ढक देता है। इसलिए भगवत्साक्षात्कार के समय उनसे अतिरिक्त और कोई कामना नहीं करनी चाहिए। जैसे महाराज मनु केवल भगवान् के दर्शनों की कामना करते हुए तेईस हजार वर्षों पर्यन्त तपस्या करते रहे।।श्री।।

उर अभिलाषा निरन्तर होई। देखी नयन परम प्रभु सोई।।

(मानस १/१४४/३)

इसीलिए ईशा० के पन्द्रहवें मन्त्र में भगवती श्रुति ने प्रार्थना पूर्वक आज्ञा दी है कि– हे सूर्य अर्थात् सर्वप्रेरक परमात्मा हिरण्यमयपात्ररूप सांसारिक चकाचौंध से सत्यस्वरूप परमात्मा का मुख ढका हुआ है, सत्यधर्म वाले परमेश्वर के साक्षात्कार के लिए इस असत्य आवरण को आप हटा लो। इसका तात्पर्य यही है कि भगवत्प्राप्ति में संसार की कामनायें बाधक होती हैं। वहाँ तो गोस्वामी जी चातक जैसा व्रत कर लेना चाहिए।।श्री।।

एक भरोसो एक बल एक आस विस्वास।
एक राम घनश्याम हित चातक तुलसीदास।।श्री।।१।।

संगति– अब दृष्टान्त को उद्घृत कर रहे हैं।।श्री।।

अथ ये चास्येह जीवा ये च प्रेता यच्चान्यदिच्छन्न लभते सर्वं तदत्र

गत्वा विन्दतेऽत्र ह्यस्यैते सत्याः कामा अनृतापिधानास्तद्यथाहि हिरण्य-निधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दत्यनृतेन हि प्रत्यूढाः ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर इस दहरविद्या के जानने वाले ब्रह्मवेत्ता के इस लोक में जो जीवित सम्बन्धी हैं और जो ब्रह्मवेत्ता के सम्बन्धी मर चुके हैं जिनको भी वह यहाँ प्राप्त करने की इच्छा करता है उन सबको दहर के भीतर प्राप्त कर लेता है क्योंकि उसके सभी सत्यरूप भगवत् सम्बन्धी मनोरथ असत्य क्षणभङ्गुर कामनाओं से ढके होते हैं। सांसारिक कामनाओं से ढँकी होने के कारण भगवत् सम्बन्धी प्राप्त इच्छायें उसी प्रकार प्रभावी नहीं हो पातीं जैसे घने कोहरे और बदलों से ढके सूर्यनारायण। जिस प्रकार क्षेत्र को न जानने वाले लोग उसी के भीतर गड़े हुए सोने के भण्डार को नहीं जान पाते इधर-उधर चक्कर लगाते रहते हैं उसी प्रकार असत्य, नाशवती सांसारिक इच्छाओं से ढके हुए सामान्य लोग भी रातदिन संसार के वन में भटकते रहते हैं और ब्रह्मलोक को नहीं प्राप्त कर पाते। जैसा कि कबीरदास भी कहते हैं–

कस्तूरी कुण्डल बसे मृग ढूढ़े वनमाँहि।
ऐसे घट-घट राम हैं दुनिया देखत नाहि ।।श्री।।२।।

संगति– अब फलश्रुति कहते हैं।।श्री।।

स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तँ हृदयमिति तस्माद्धृ-दयमहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– वह यह आत्मा दूर नहीं हमारे हृदय में ही है इसीलिए उसकी हृद्य यह निरुक्ति कही गयी है। हृदिअयं हृदयम्। यहाँ आर्षत्वात् अकार का लोप मानना पड़ेगा अथवा 'हृदः अयं' इस विग्रह में षष्ठ्यन्त हृद् शब्द से सम्बन्ध अर्थ में शाखादित्वात् 'य' प्रत्यय करके भी हृदयशब्द बनाया जा सकता है। इसीलिए 'हृदि हृदय में अयं यह आत्मा' इस प्रकार हृदयं यह समुदाय जहाँ उपस्थित हो उस अन्तःकरण को हृदय कहते हैं। यहाँ आत्मा शब्द परमात्मा के अर्थ में है। वह सबके हृदय में विराजमान रहते हैं। इसीलिए गीता (१८/६१) में भगवान् ने हृदय में ही ईश्वर का निवास बताया है। 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे अर्जुन

तिष्ठति।' इस प्रकार जो जानता है वह प्रतिदिन स्वर्ग को प्राप्त करता है। यहाँ स्वर्गशब्द साकेतलोक के अर्थ में प्रयुक्त है। 'स्व: स्वर्गलोके गीयते इति स्वर्ग:' अर्थात् स्व:शब्द के वाच्य स्वर्गलोक में जिसका गान किया जाता है। 'अहरह:' का तात्पर्य है कि इस प्रकार परमात्मा का हृदय में निवास जानने वाला व्यक्ति किसी भी दिन किसी भी क्षण ब्रह्मलोक को प्राप्त कर सकता है। उसके लिए अयन, पक्ष, दिन, रात, ऋतु, महीने आदि बाधक नहीं होते।।श्री।।३।।

संगति– अब ब्रह्मवेत्ता की गति का निरूपण करते हैं।।श्री।।

अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर जो यह हृदिस्थ परमात्मा को जानने वाला ब्रह्मवेत्ता होता है वह पूर्णत: प्रसन्न हो जाता है और उसे परमात्मा का पूर्ण अनुग्रह प्राप्त हो जाता है। वह इस शरीर से पूर्णरूपेण उठकर अर्थात् शरीर और उसके सम्बन्धियों को पूर्णतया विस्मरण करके अपने वास्तविक स्वरूप से परमात्मा का नित्य परिकर बनकर परमज्योतिस्वरूप साकेताधिपति श्रीराम का सामीप्य प्राप्त करके दास्यभावरूप अपने सहज स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। यही शरीर, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि के धर्मों से ऊपर उठकर अणुभाव को प्राप्त हुआ विशुद्ध जीवात्मा बन जाता है। इस प्रकार श्रुति ने प्रापक अर्थात् जीवात्मा का स्वरूप कहा। उस जीवात्मा का प्राप्य यह परमात्मतत्व भी अमृत अर्थात् मृत भिन्न तथा अभय है। यही ब्रह्म है, इसी ब्रह्म का नाम सत्य है।।श्री।।

व्याख्या– यह श्रुति बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें बहुत ही स्पष्ट शब्दों में जीवात्मा और परमात्मा का स्वरूपगत भेद, सामीप्यमुक्ति तथा उपास्य-उपासक के बीच समुपस्थित वैधर्म्य-साधर्म्य और उपास्य के नाम का निरूपण किया गया है। 'सम्प्रसाद:' प्राचीन आचार्यों की दृष्टि से सम्-प्र पूर्वक सद्लृ धातु से बाहुलकविधि द्वारा घञ् प्रत्यय करके कर्त्ता में सम्प्रसाद शब्द बनाया जाता है। इसका अर्थ है पूर्णतया प्रसन्न होने वाला। सम्प्रसीदति इति सम्प्रसाद:। परन्तु इस व्युत्पत्ति में कर्त्ता में घञ् प्रत्यय करने के लिए बाहुलक का आश्रय लेना पड़ेगा। अतएव यहाँ भाव में घञ् प्रत्यय के

प्रसाद शब्द की निष्पत्ति करके पुन: सम् उपसर्ग के साथ बहुब्रीहि समास करना चाहिए। इस कल्प में सम्प्रसाद शब्द का सम्यक् कृपाप्रसाद से युक्त अर्थ होगा। 'सम्यक् प्रसाद: यस्मिन् स सम्प्रसाद:' जिसे ईश्वर का कृपाप्रसाद प्राप्त है वही भगवदीय जवीात्मा यहाँ सम्प्रसाद शब्द से कहा गया है। वह यहाँ से महाप्रयाण करते समय सब कुछ छोड़ जाता है। सामान्य जीवात्मा मन सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को नहीं छोड़ता। जैसा कि गीता (१५/७,८,९) में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा भी है कि– 'हे अर्जुन! जीव संज्ञक मेरा ही सनातन अंश प्रकृति में स्थित पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को खींचता है। यह समर्थ जीवात्मा जो शरीर प्राप्त करता है और जिसे छोड़ता है वहाँ-वहाँ मन सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को उसी प्रकार ग्रहण करके जाता है जैसे स्थान से गन्ध को लेकर वायु। फिर श्रवण, नेत्र, चर्मेन्द्रिय, रसना और घ्राण तथा मन को माध्यम बनाकर विषयों का सेवन करता है'। परन्तु परमेश्वर शरणागत जीवात्मा मन सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को छोड़कर अकेले ही परमात्मा के पास जाता है। 'समुत्थाय' शब्द का यही अर्थ समझना चाहिए। 'उपसम्पद्य' शब्द यहाँ समीप जाने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अर्थात् यह जीवात्मा परमज्योति:स्वरूप साकेताधिपति भगवान् श्री सीताराम के समीप जाता है। इसी श्रुतिखण्ड से सामीप्यमुक्ति प्रमाणित होती है। जैसा कि मानस में श्रीराम जी कहते हैं–

जा मज्जन ते बिनहि प्रयासा। मम समीप नर पावहि बासा।।

(मानस ७/४/६)

यह जीवात्मा भगवान् की सामीप्य मुक्ति प्राप्त करके फिर अपने रूप से निष्पन्न होता है। भगवत्कैंकर्य ही जीवात्मा का सहज स्वरूप है। जैसा कि मानस में भगवान् श्रीराम माँ सबरी से कहते हैं–

मम दर्शन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज स्वरूपा।।

(मानस ३/३६/९)

फिर यह विशुद्ध जीवात्माभाव को प्राप्त हो जाता है। ऐसा श्रुति ने कहा। यहाँ उवाच शब्द का प्रयोग करके श्रुति ने जीवात्मविषयक व्याख्यान समाप्ति का संकेत दिया है। अब ब्रह्म के सम्बन्ध में कहती हैं 'एतदमृतम्' अर्थात् जीवात्मा मरणधर्मा है क्योंकि वह मरणशील शरीर को प्राप्त करता है परन्तु परमात्मा अमृत हैं, उन्हें मरणस्वभाव वाला शरीर कभी नहीं प्राप्त होता। जीवात्मा शरीरावच्छिन्न होने से सभय अर्थात् मृत्यु

से डरता है। परन्तु परमात्मा सदैव अभय रहता है। क्योंकि उन्हें द्वितीय का अभिनिवेश नहीं होता। परमात्मा के समान कोई दूसरा हो ही नहीं सकता। जीवात्मा अणु अर्थात् बहुत छोटा है और परमात्मा बहुत बड़े हैं इसीलिए उन्हें ब्रह्म कहते हैं और सत्य ही उनका नाम है। क्योंकि वे सन्तों के लिए हितकर हैं ।।श्री।।४।।

संकेत– अब भगवती श्रुति सत्यशब्द की निरुक्ति कह रही है। यहाँ सत् और इयं इन दो शब्दों से प्रसोदरादित्वात् इकार का लोप करके 'भ' संज्ञा के बल पर जस्त्व न करके सत्यशब्द सिद्ध किया जाता है। क्योंकि सत् देवता स्त्रीलिङ्ग है इसलिए इयं यह स्त्रीलिंग वाला विशेषण भी उसके अनुरूप दिया गया। इन तीन अक्षरों से कैसे-कैसे सत्य बनता है? इस पर श्रुति कहती है ।।श्री।।

तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि सतीयमिति तद्यत्सत्तदमृतमथ यत्ति तन्मर्त्यमथ यद्यं तेनोभे यच्छति यदनेनोभे यच्छति तस्माद्य-महरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– निश्चय ही स, ति, यं, ये ही सत्य के तीन अक्षर हैं। इनमें सत् अमृत देता है, इ मृत्यु देता है और यं निष्काम साधकों को अमृत और सकाम साधकों को मृत्यु देता है। इस प्रकार सत्य अर्थात् परमात्मा से सकाम साधकों को मृत्यु और निष्काम साधकों को अमृत प्राप्त होता है। इस प्रकार जो जानता है वह प्रतिदिन साकेतलोक को प्राप्त करता है अर्थात् निरन्तर भगवान् का आनन्द लेता है ।।श्री।।५।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर अष्टम अध्याय के तृतीय खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। चतुर्थ खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब चतुर्थ खण्ड में भगवती श्रुति परमात्मा को सेतुरूप में प्रस्तुत करती हैं। सेतु व्यक्ति को जल से पार करता है। दोनों छोरों को जोड़ता है। व्यक्ति को जल में डूबने नहीं देता। इसी प्रकार भगवान् भी साधक को संसारसागर से पार करते हैं। उसे भवनिधि में डूबने नहीं देते। जीव को ब्रह्मसुख का अनुभव कराते हैं और उसे

भवप्रवाह में बहने नहीं देते। इसलिए मानसकार ने भगवान् के नाम, रूप तथा चरित्र को सेतु कहा और भगवान् राम को श्रुतिसेतु का पालक भी कहा है। यथा–

नाथ नाम तव सेतु नर चढ़ भव सागर तरहिं।
अतिनागर भव सागर सेतू त्रातु सदा दिनकर कुल केतू।।
करत चरित नर अनुहरत संसृति सागर सेतु।।
(मानस- ६सो०२) (मा० ३,११,१४) (मा० २,८७) (मा० २,१२६)

अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय नैतँ सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतँ सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्तेऽपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब भगवती श्रुति ब्रह्म और ब्रह्मलोक की एकता का निरूपण करती हुई कहती हैं– जो यह हृदयकमल में उपासित होने वाला परमात्म तत्व है वही इन सम्पूर्ण लोकों का समन्वय करने वाला, इनके पारस्परिक कलहरूप संभेद को दूर करने के लिए विशिष्टधारणक्रिया सम्बन्ध सेतु है। इसे दिनरात नहीं लांघ पाते। इसे वृद्धावस्था, मृत्यु और शोक नहीं अभिभूत कर पाते। इसे पुण्य और पाप नहीं प्रभावित कर पाते। सभी पाप और पापी इसके पास से ही लौट जाते हैं। इस परमात्मा ने सभी पापों को नष्ट किया है और यही ब्रह्मलोक है। अर्थात् परमात्मा और उनके धाम में कोई अन्तर नहीं है।।श्री।।

व्याख्या– 'सिनाति कूलंद्वयं बध्नाति इति सेतुः।' जो दोनों किनारों को बाँध देता है उसे सेतु कहते हैं। परमात्मा संसारसागर के सेतु हैं और उनकी धारण क्रिया विशिष्ट है इसीलिए उन्हें विघृति कहा जाता है। अपहतपाप्मा कहने का अभिप्राय यह है कि परमात्मा के द्वारा ही भक्त के पापों का अपहनन होता है। और वे ही ब्रह्मलोक हैं क्योंकि भगवान् किसी विजातीय आधार में नहीं रह सकते। लोकों में सम्भेद न हो अर्थात् जगत् मर्यादाहीन होकर तितर-वितर न हो जाय उसको धारण करने के लिए भगवान् सेतु की भूमिका निभाते हैं।।श्री।।१।।

संगति– अब ब्रह्मरूप सेतु के तरण का फल कह रहे हैं।।श्री।।

तस्माद्वा एतँ सेतुं तीर्त्वाऽन्धः सन्ननन्धो भवति विद्धः सन्नविद्धो

भवत्युपतापी सन्ननुपतापी भवति तस्माद्वा एतँ सेतुं तीर्त्वापि नक्तमहरे-वाभिनिष्पद्यते सकृद्विभातो ह्येवैष ब्रह्मलोकः ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसलिए इस सेतुरूप परमात्मा को जो भक्त प्रेम से वश में करके उसे पार करता है अर्थात् परमेश्वर की मर्यादा के अनुसार संसारयात्रा सम्पन्न करता है वह अपने प्रारब्ध से अन्धा होता हुआ भी सेतु परमात्मा की कृपा से अनन्ध अर्थात् दिव्य दृष्टिमान हो जाता है। वह सेतुतरण के पहले वाणादि शास्त्रों से विद्ध होता हुआ भी सेतुतरण के पश्चात् अविद्ध हो जाता है। अर्थात् उसके सारे घाव भर जाते हैं। पहले ताप से पीड़ित होकर भी सेतुतरण के पश्चात् सभी उपतापों से मुक्त हो जाता है। इसलिए इस सेतु को पार करके साधक अज्ञान की रात्रि को प्रकाशमय दिन में परिवर्तित कर लेता है। उसके लिए ब्रह्मलोक निरन्तर प्रकाशमान रहता है ।।श्री।।१।।

व्याख्या– भगवान् की कृपा से अन्धा भी दृष्टिवान् हो जाता है। जैसा कि सूरसागर के प्रथमपद में महात्मा सूरदास जी कहते हैं–

चरण कमल वन्दौ हरिराई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै अंधे को सब कुछ दरसाई।
बहिरो सुनै मूक पुनि बोलै रंक चलै सिर छत्र धराई।
सूरदास स्वामी करुणामय बारबार बन्दौ तेहि पाई।।

(सूरसागर–१/१)

विद्ध भी अविद्ध हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि उसके पूर्वजीवन में शस्त्रादि से घाव भी लग गये हों तो वे इस सेतु की कृपा से भर जाते हैं। जैसा कि महाभारत में भीष्म के लिए कहा गया है। वैशम्पायन जनमेजय से कहते हैं– हे राजन्! व्यासादि महर्षियों के साथ उन महात्माओं के बीच एक आश्चर्य घटना हुई। मनस्वी शान्तनुकुमार भीष्म अपने जिस अंग से अपनी चेतना हटाते थे उनका वह अंग घावों से मुक्त हो रहा था।।श्री।।२।। *(म०भा०अ०प०१६८/३/४)*

संगति– अब परिशेषफल का निर्देश कहते हैं।।श्री।।

तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषाँ सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसलिए जो लोग इस ब्रह्मलोक को ब्रह्मचर्य

के द्वारा प्राप्त करते हैं यह ब्रह्मलोक उनका हो जाता है अर्थात् उनसे इनका सम्बन्ध बन जाता है और अन्य सभी लोकों में इनका स्वेच्छाचार होता है अर्थात् अपनी इच्छा से अन्य लोकों में विचरण करके ब्रह्मलोक में ही निवास करते हैं ।।श्री।।३।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर अष्टम अध्याय के चतुर्थ खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। पंचम खण्ड ।।

संगति– अब यज्ञ में ब्रह्मचर्य भावना का निरूपण करते हैं ।।श्री।।

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दतेऽथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्टात्मान-मनुविन्दते ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर जिसे लोग यज्ञ कहते हैं वह ब्रह्मचर्य ही है क्योंकि यज्ञशब्द को विपरीत करके ज्ञय: कहा जाता है। अर्थात् जो ज्ञाता है वही यज्ञ है। साधक ब्रह्मचर्य से ही सब कुछ जानता है। इसी प्रकार जो यज्ञ के द्वारा इष्ट अर्थात् पूजित होता है वह भी ब्रह्मचर्य ही है। कयोंकि साधक ब्रह्मचर्य के द्वारा ही परमात्मा की पूजा करके उन्हें प्राप्त करता है। यहाँ ब्रह्मचर्यशब्द ब्रह्मप्राप्तिनिमित्तक आचरण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसी को पुराणों में भागवत्धर्म कहा गया है। जो भगवान् की प्राप्ति में सहायक होते हैं ।।श्री।।१।।

संगति– अब सत्रायणमौन और ब्रह्मचर्यत्व का वर्णन करते हैं ।।श्री।।

अथ यत्सत्रायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव सत आत्मनस्त्राणं विन्दतेऽथ यन्मौनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येवात्मानमनुविद्य मनुते ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो सत्रायण है वह भी ब्रह्मचर्य है क्योंकि सत्रायणशब्द तीन शब्दों को मिलाकर बनता है। सत् + त्रा + अयन। अर्थात् जिसके द्वारा सत् जीवात्मा का विकारों से त्राण अर्थात् रक्षण होता है उसे सत्रायण कहते हैं। अर्थात् सत् के त्राण का प्रापक ही सत्रायण है। वह ब्रह्मचर्य से ही सम्भव है। इसी प्रकार मौन भी ब्रह्मचर्य है क्योंकि मुनि के

भाव और कर्म को मौन कहते हैं। वह ब्रह्मचर्य से ही सम्भव है। ब्रह्मचर्य से ही साधक मनन करके परमात्मा को प्राप्त करता है ॥श्री॥२॥

संगति– अब और भी ब्रह्मचर्य भावना का निदर्शन करते हैं ॥श्री॥

अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तदेष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दतेऽथ यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्तदरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि तदैरंमदीयँ सरस्तदश्वत्थः सोमसवनस्तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितँ हिरण्मयम् ॥३॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर जिसे लोक अनाशकायन कहते हैं वह ब्रह्मचर्य ही है। कयोंकि अनाशक अर्थात् अविनाशी परमात्मा का अयन ही अनाशकायन है। ब्रह्मचर्य से ही साधक अविनाशी परमात्मा को प्राप्त करता है। इसी प्रकार जिसे अरण्यायन कहते हैं वह भी ब्रह्मचर्य ही है क्योंकि मर्त्यलोक से संख्याक्रम से तीसरी द्यौः नामक पुरी हैं वहाँ अरः ण्यः नामक दो समुद्र हैं वहाँ ऐर और मदीय ये दो अन्नपान के दो सरोवर हैं। अश्वत्थ एक पीपल का वृक्ष है जिससे अमृत टपकता रहता है उसमें अपराजिता नामक एक पुरी है और वहाँ परमात्मा के द्वारा निर्मित सुवर्णमय कोष भी है ॥श्री॥३॥

संगति– अब फलश्रुति का शेष कहते हैं ॥श्री॥

तद्य एवैतावरं च ण्यं चार्णवौ ब्रह्मलोके ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषाँ सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥४॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार जो एकपत्नीव्रत करते हुए परकीय नारी के प्रति आठों प्रकार के मिथुन कर्मों को त्यागकर अर और ण्य इन दोनों महासागरों को प्राप्त कर लेते हैं उनके लिए ब्रह्मलोक अर्थात् साकेतलोक सुरक्षित हो जाता है और वे अन्य लोकों में भी अपनी इच्छा से गमन कर सकते हैं ॥श्री॥४॥

॥ छान्दोग्योपनिषद् पर अष्टम अध्याय के पञ्चम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ॥

॥ श्रीराघवः शन्तनोतु ॥

।। षष्ठ खण्ड ।।

संगति– अब नाडी के माध्यम से ब्रह्मोपासना कहते हैं।।श्री।।

अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येत्यसौ वा आदित्यः पिङ्गल एष शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहितः ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर ये हृदय में स्थित नाड़ियों में पिङ्गल अर्थात् लाल-पीत रंग वाले, श्वेतवर्ण वाले, नीलवर्ण विशिष्ट पीले एवं लाल वर्ण वाले सूक्ष्म अणु जीवात्मा के ही सम्बन्ध से स्थित हैं। यहाँ सर्वत्र सम्बन्ध में षष्ठी है। यह सूर्यनारायण ही पिंगल वर्ण के हैं। अर्थात् उदित होते समय लाल और पीले वर्ण से मिश्रित हो जाते हैं। यही शुक्ल, नीले, पीले तथा लाल वर्ण भी दिखते हैं।।श्री।।१।।

संगति– इस सिद्धान्त को दृष्टान्त से स्पष्ट कर रहे हैं।।श्री।।

तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमं चामुं चैवमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमं चामुं चामुष्मादादित्यात्प्र-तायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जिस प्रकार एक विशाल महापथ राजमार्ग दो छोटे-छोटे मार्गों को व्याप्त अर्थात् सम्बद्ध करके जाता है, उसी प्रकार सूर्य नारायण की किरणें इस लोक तथा परलोक को एवं जीव तथा आदित्य को सम्बद्ध किये हुए गतिशील रहती हैं। वे ही सूर्य की किरणें सूर्य नारायण से जब स्थित होकर निकलती हैं तब जीव के हृदय की नाड़ियों से जुड़ जाती हैं और जब नाड़ियों से विस्तारपूर्वक बाहर आती है तब सूर्य मण्डल में प्रवृष्ट हो जाती है और ये ही जीवात्मा को नाडी के माध्यम से सूर्य तक पहुँचातीं हैं। जहाँ से सकाम व्यक्ति तो लौट आता है किन्तु निष्काम ज्ञानी व्यक्ति सूर्यमण्डल का भेदन करके ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेता है।।श्री।।२।।

संगति– अब ज्ञानी की गति का वर्णन करते हैं।।श्री।।

तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति तन्न कश्चन पाप्मा स्पृशति तेजसा हि तदा संपन्नो भवति ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– उनमें से जब जिस अवस्था में यह ज्ञानी जीवात्मा परमात्मा की स्नेह समाधि में सोता है वह समस्त अर्थात् पूर्णकाम हो जाता है। वह सम्प्रसन्न यानी भगवत्सुख से पूर्ण सुखी तथा निर्विकार हो जाता है और वह जब अन्तर नाडियों से सम्बद्ध होता है तब वह दिव्य तेज से युक्त हो जाता है और उस परमात्मलोकगामी को कोई भी भगवत् प्राप्ति में बाधक पाप स्पर्श भी नहीं कर पाता ।।श्री।।३।।

संगति– अब मरणदशा का वर्णन करते हैं ।।श्री।।

अथ यत्रैतदबलिमानं नीतो भवति तमभित आसीना आहुर्जानासि मां जानासि मामिति स यावदस्माच्छरीरादनुत्क्रान्तो भवति तावज्जानाति ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर जब यह शरीरधर्मी जीवात्मा अबलिमा अर्थात् निर्बलता को प्राप्त हो जाता है और उसके सभी अंगों का बल समाप्त हो जाता है। वह शक्तिहीन होकर मरणासन्न दशा में पहुँच जाता है तब उसके समीप बैठे हुए उसके परिवार के लोग पूँछते हैं कि– मुझे पहचानते हो, मुझे जान रहे हो। जीवात्मा जब तक इस शरीर से निकल नही जाता तब तक इस शरीर के सम्बन्धियों को जानता पहचानता है। शरीर छोड़ते ही यह शरीर के सम्बन्धियों को भूल जाता है ।।श्री।।४।।

अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते स ओमिति वा होद्वा मीयते स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छत्येतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम् ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर यह जीवात्मा जब इस शरीर को छोड़कर परलोक यात्रा के लिए प्रस्तुत होता है तब यह इन्हीं सूर्यकिरणों द्वारा सूर्यमण्डल तक पहुँचाया जाता है और वह ओम इस प्रकार उच्चस्वर से उच्चारण करता है। जितने समय में मन अपने गन्तव्य स्थान तक जाता है उतने ही वेग से जीवात्मा सूर्यमण्डल को प्राप्त कर लेता है। यही सूर्यमण्डल इह लोक और परलोक का द्वार है। यही ब्रह्मज्ञानियों का

प्रपदन अर्थात् ब्रह्मलोक का प्रापक है। 'प्रपद्यते अनेन इति प्रपदनम्' अर्थात् जिसके द्वारा जीव परमेश्वर की शरणागति लेकर ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है। यही अज्ञानियों के लिए निरोध अर्थात् यही अज्ञानियों को ब्रह्मलोक जाने से रोकता है ।।श्री।।५।।

संगति– अब प्रकरण का उपसंहार करते हैं ।।श्री।।

तदेष श्लोकः–

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति ।।६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस पर यह श्लोक कहा जाता है– यद्यपि इस श्रुति की पहले व्याख्या की जा चुकी है तथापि यहाँ फिर व्याख्या की जा रही है। हृदय से सम्बन्ध रखने वाली एक सौ एक नाड़ियाँ होती हैं। उनमें से एक अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी सिर से आगे निकली हुई है। उसी सुषुम्ना नाड़ी से ब्रह्मरंध्र भेदकर ऊर्ध्वगमन करता हुआ साधक अमृतत्व अर्थात् परमात्मा के नित्यकिंकरभाव को प्राप्त कर लेता है। इससे अतिरिक्त अन्य नाड़ियाँ संसार की समस्त योनियों में भ्रमण करने में निमित्त बन जाती हैं ।।श्री।।६।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर अष्टम अध्याय के षष्ठ खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। सप्तम खण्ड ।।

सम्बन्ध भाष्य– अब यहाँ से बारहवें खण्ड पर्यन्त छः खण्डों में इन्द्रविरोचनप्रजापतिसंवाद के माध्यम से एक आख्यायिका का प्रस्तावन किया जा रहा है। जिसमें चार सिद्धान्तों के माध्यम से आत्मतत्व की मीमांसा की गयी है। यहाँ यह ध्यान रहे कि श्रुतियों में प्रायः आत्मशब्द से जीवात्मा और परमात्मा का ग्रहण किया गया है। सामान्यरूप से श्रेयकोटि में दोनों का ग्रहण होते हुए भी मुख्यतः परमात्मा को ही परमार्थरूप से ही ज्ञेय माना जाता है। जीवात्मा परमात्मा का ज्ञाता है। क्योंकि ज्ञेय ज्ञातृसापेक्ष होता है और इन्हीं तीनों से कर्म की प्रेरणा कही गयी है। 'ज्ञानं ज्ञेयः परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना' (गीता १८/१८)। हाँ स्वयं को भी देह, इन्द्रिय,

मन, बुद्धि से परे तथा नित्यपरमात्मकिंकररूप में यदि निश्चित करना हो तो गौड़रूप से जीवात्मा स्वयं को भी ज्ञेय मान सकता है। परन्तु परमार्थरूप में जीवात्मा के लिए परमात्मा ही ज्ञेय है। अत: संहिताश्रुति भी मुख्यरूपेण परमात्मा में ही ज्ञेयत्व का विधान करती है। 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति' (शु०य०वे० ३१/१६) श्रीमद् भगवद्गीता भी स्वयं परमात्मा को ही ज्ञेय कहती है। 'ज्ञेयं यत् तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते' (गीता १३/१२)। इसीलिए ब्रह्मसूत्र (१/२/११) में भी 'आत्मानौ' कहकर जीवात्मा और परमात्मा का स्वरूपत: भेद कहते हुए भगवान् बादरायण वेदव्यास जी इन दोनों को हृदयरूप गुफा का निवासी बताते हुए स्पष्ट निर्देश करते हुए स्पष्टत: कहते हैं कि 'जीवात्मा और परमात्मा का स्वरूपत: भेद हो ही नहीं सकता।' 'गुहांप्रविष्टावात्मानौ तथाहि दर्शयति' (ब्रह्मसूत्र १/२/११)। इन सब विषयों का प्रस्तुत आख्यायिका से ठीक-ठीक स्पष्टीकरण हो जायेगा ।।श्री।।

संगति– इन्द्र देवताओं के राजा हैं जो दैवीसम्पत्ति के उपासक तथा सुविख्यात बलवीर्य सम्पन्न हैं। उधर विरोचन परमभागवत् श्रीप्रह्लाद के पुत्र तथा आसुरीसम्पत्ति के उपासक एवं परमप्रतापी दैत्यराज हैं। यद्यपि दोनों का स्वाभाविक नित्यवैर है फिर भी आत्मजिज्ञासा के सन्दर्भ में दोनों एकमत होकर प्रजापति कश्यप के पास आते हैं और ब्रह्मचर्य विधि से गुरूपसत्ति स्वीकारते हैं। इसी प्रसंग में भगवती श्रुति आख्यायिका का अवतरण कर रही हैं ।।श्री।।

य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वा ँ् श्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजनातीति ह प्रजापतिरुवाच ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– प्रजापति कश्यप ने इन्द्र एवं विरोचन से कहा– जिस आत्मदेव ने अपने शरणागतों के समस्त पापों को नष्ट किया है, जिनके समीप आते-आते ही समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं, जो जरा अर्थात् बुढ़ापा से रहित हैं, जो मृत्यु से अतीत तथा इष्टजनवियोगरूप शोक से वर्जित हैं, जिनको भोजन करने की इच्छा नहीं होती, जिन्हें कभी प्यास नहीं लगती, जिनकी कामनाएँ तथा जिनके संकल्प यथार्थ तथा संतों के हितैषी होते हैं, ऐसे परिपूर्णतम परमात्मा को अपने हृदयकमल

में ही ढूँढ़ना चाहिए और उनको ही विवेचनापूर्वक जानने की इच्छा करनी चाहिए। जो पूर्वोक्त आठ गुणों से युक्त परमात्मा की उपासना करके उन्हें अपने विज्ञान का विषय बनाता है वह सम्पूर्ण लोकों और सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर लेता है ।।श्री।।

व्याख्या– यहाँ पर अपहतपाप्मत्वादि जो आठ गुण कहे गये हैं। वे परमात्मा के लिए नित्यसिद्ध हैं और वे ही भगवत्कृपा से मुक्त और नित्य जीवात्माओं में आविर्भूत हो जाते हैं। सार्वकालिक नहीं रहते। यही दोनों का अन्तर है। परमात्मा का ज्ञान अखण्ड होने के कारण कभी भी माया से अभिभूत नहीं होता। परन्तु जीवात्मा का ज्ञान सावधिक और सीमित होने से माया के द्वारा ढक दिया जाता है। यथा– 'आवृतं ज्ञानमेतेन' (गीता ३/३९)। 'अज्ञानेनामृतंज्ञानं' (गीता ५/१५)। उसी परमात्मतत्व के अन्वेषण का श्रुति ने विधान किया है। 'अन्वेष्टव्य:' शब्द में तव्यप्रत्यय कर्म में हुआ है। जो कर्त्ता से सापेक्ष हैं। यदि परमात्मा अन्वेष्टव्य है तो उससे विजातीय जीवात्मा को ही उसका अन्वेषक होना चाहिए। यहाँ जीवात्मा का विजातीयत्व यही है कि वह भगवत्सेवकत्वावच्छिन्न अणु है ।।श्री।।१।।

संगति– अब इन्द्र और विरोचन की गुरुशरणागति की अवतारणा करते हैं ।।श्री।।

तद्धोभये देवासुरा अनुबुबुधिरे ते होचुर्हन्त नमात्मानमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामानितीन्द्रो हैव देवानामभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणां तौ हासंविदानावेव समित्पाणी प्रजापतिसकाशमाजग्मतुः ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार प्रजापति कश्यप द्वारा कहे हुए आत्मा के आठों लक्षणों को देवताओं और असुरों ने परम्परा से जाना और उन्होंने मंत्रणा की कि हम लोग भी उस परमतत्व का अन्वेषण करें। इसे जानकर हम सभी लोकों और सभी कामनाओं को प्राप्त कर सकें। क्योंकि आत्मतत्व को जानकर ही साधक सभी लोकों और कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। ऐसा निश्चय करके देवताओं में श्रेष्ठ इन्द्र तथा असुरों में श्रेष्ठ विरोचन परमतत्व की खोज में निकल पड़े और भ्रमण करते-करते ब्रह्मतत्व को न जानते हुए दोनों ही प्रजापति कश्यप के पास आये ।।श्री।।

व्याख्या– 'देवासुरा: देवाश्च असुराश्च। इस प्रकार विग्रह करके पुन: 'येषाच्च विरोध: शाश्वतिक:' सूत्र के आधार पर देवता और असुरों में शाश्वतिक विरोध होने पर एकवद्भाव तथा नपुंसकलिङ्ग करके देवासुरं शब्द का क्यों नहीं प्रयोग हुआ ? ।।श्री।।

उत्तर– ब्रह्मविद्या के महात्म्य से इस प्रसंग में देवताओं और असुरों का शाश्वतिकविरोध समाप्त हो चुका था तभी वे दोनों ब्रह्म के विषय में विचार करने लगे थे। इसीलिए यहाँ इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हुई और इनका निर्विरोधत्व सिद्ध करने के लिए श्रुति ने एकवद्भाव और नपुंसकलिंग का उच्चारण नहीं किया ।।श्री।।२।।

संगति– अब दोनों की गुरूपसत्ति का प्रकार कह रहे हैं ।।श्री।।

तौ ह द्वात्रिंशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतुस्तौ ह प्रजापतिरुवाच किमिच्छन्ताववास्तमिति तौ होचतुर्य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्यु-र्विशोकऽविजिघत्सोऽपिपास: सत्यकाम: सत्यसंकल्प: सोऽन्वेष्टव्य: स विजि-ज्ञासितव्य: स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति भगवतो वचो वेदयन्ते तमिच्छन्ताववास्तमिति ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार ब्रह्मजिज्ञासा करते हुए वे दोनों इन्द्र तथा विरोचन प्रजापति कश्यप के आश्रम में तीस वर्ष ब्रह्मचर्य पूर्वक गुरुकुल की परम्परा से निवास किये। तब प्रजापति कश्यप ने प्रश्न किया कि आप दोनों ने किस इच्छा से तीस वर्ष पर्यन्त मेरे यहाँ ब्रह्मचर्य पूर्वक निवास किया ? तब इन्द्र और विरोचन ने प्रार्थना करते हुए कहा– 'भगवन् ! आपने जो आत्मा का निर्वचन करते हुए कहा है कि– जो यह पापरहित, वृद्धावस्था ही मृत्यु से परे, शोक से अतीत, भूख और प्यास से रहित, सत्यकामना और सत्यसंकल्पों वाला यह आत्मतत्व है इसका अन्वेषण करना चाएिह और इसकी विशेष जिज्ञासा करनी चाहिए। जो इसे जानकर आत्मतत्व को विज्ञान का विषय बनाता है वह सभी लोकों और सभी कामनाओं को प्राप्त कर लेता है।' आपका यह कथन बहुत से ब्रह्मवादी परस्पर विचारकोटि के साथ कहा करते हैं। हम दोनों भी उसी ब्रह्म की जिज्ञासा के साथ आप श्री के यहाँ तीस वर्ष की कठोर ब्रह्मसाधना करके जिज्ञासुभाव से उपस्थित हैं ।।श्री।।३।।

संगति– अब शिष्य की योग्यता के अनुसार प्रजापति कश्यप आत्मतत्व का वर्णन करते हैं।।श्री।।

तौ ह प्रजापतिरुवाच य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेत्यथ योऽयं भगवोऽप्सु परिख्यायते यश्चायमादर्शे कतम एष इत्येष उ एवैषु सर्वेष्वेतेषु परिख्यायत इति होवाच ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर प्रजापति कश्यप ने इन्द्र तथा विरोचन से कहा– 'योगियों द्वारा नेत्र में जो यह पुरुष दिखता है वही आत्मा है अर्थात् वही परमात्मतत्व हैं। प्रजापति ने फिर कहा कि जो पुरुष दक्षिणनेत्र में दिखता है यही अमृत अर्थात् मरण से वर्जित है। इसकी कभी मृत्यु नहीं होती। यह अभय है, इसको किसी से डर नहीं लगता। यह ब्रह्म है अर्थात् यह सबसे बड़ा है। इस उत्तर को अर्धसत्य के रूप में स्वीकारते हुए भी इन्द्र और विरोचन ने अपना एक पक्ष रखते हुए कहा– 'भगवन्! आपका पक्ष तो ठीक है किन्तु जो पुरुष जल में प्रतिबिम्बित होता हैं और जो दर्पण में प्रतिबिम्ब के माध्यम से दिखता है, इन तीनों में से कौन आत्मतत्व है ? नेत्र में दिखने वाला, जल में भाषित होने वाला अथवा दर्पण में प्रतिबिम्बित होने वाला ? तब प्रजापति ने कहा कि ''यही दक्षिण नेत्र में दृश्यमान परमात्मतत्व ही सभी पदार्थों में प्रतिबिम्बित होता रहता है। अर्थात् परमात्मतत्व बिम्ब ही है और जो भी प्रकाशित हो रहा है वह उसकी प्रतिछाया है। इन दोनों बिम्ब-प्रतिबिम्बों का अनुभव करने वाला जीवात्मतत्व तो प्रत्यक्ष ही है। क्योंकि श्रुति ने दर्शन और प्रतिख्यान इन दोनों के कर्म के रूप में परमात्मतत्व को ही प्रस्तुत किया है और कर्म विना कर्त्ता के अनुपपन्न है। इस कर्म से कर्त्तारूप जीवात्मा का स्वयं आक्षेप सिद्ध है। इसीलिए ब्रह्मसूत्र में भी 'कर्मकतृव्यदेशात्' कहकर भगवान् वेदव्यास ने भी जीवात्मा और परमात्मा के बीच स्वरूपत: भेद सिद्ध किया। क्योंकि एक ही व्यक्ति एक ही काल में एक ही क्रिया का कर्त्ता और कर्म नहीं बन सकता। जैसे– गमन क्रिया के प्रति एक ही काल में श्रीराम को कर्त्ता और कर्म नहीं बनाया जा सकता।।श्री।।४।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर अष्टम अध्याय के सप्तम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। अष्टम खण्ड ।।

संगति– इस प्रकार जब प्रजापति ने देखा कि इन्द्र और विरोचन कोई पूर्वपक्ष नहीं कर रहे हैं और उन्होंने असत् और अशास्त्रीय सिद्धान्त स्वीकार कर लिया है अर्थात् प्रतिबिम्ब को ही परमात्मातत्व मान बैठे हैं तब प्रजापति कश्यप ने कहा–

उदशराव आत्मानमवेक्ष्य यदात्मनो न विजानीथस्तन्मे प्रब्रूतमिति तौ होदशरावेऽवेक्षांचक्राते तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथेति तौ होचतुः सर्वमेवेदमावां भगव आत्मानं पश्याव आलोमभ्य आनखेभ्यः प्रति-रूपमिति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– प्रजापति ने कहा– 'तुम दोनों जल से भरे हुए पात्र में स्वयं को देखकर यदि आत्मतत्व को न जान सको तो मुझे बताना।' अर्थात् जैसे जल से भरे पात्र में भासित होने वाला प्रतिबिम्ब बिम्ब से भिन्न होता है उसी प्रकार प्रतिछाया आत्मतत्व नहीं हो सकती। प्रजापति के निर्देशानुसार इन्द्र और विरोचन ने जल से परिपूर्ण पात्र में अपने प्रतिबिम्ब को देखा और प्रजापति के पास उपस्थित हुए। प्रजापति ने पूँछा– तुमने क्या देखा ? उन्होंने कहा– भगवन् ! इस जलपात्र में हम दोनों ने नखशिख तक अपने को देखा और स्वयं को नख आदि अवयवों एवं रोमावलि से युक्त पाया।।श्री।।

व्याख्या– संस्कृत में पात्र को शराव कहा जाता है। उदक अर्थात् जल के शराव को उदशराव कहते हैं। यहाँ 'उदकस्योदः संज्ञायां' पाणिनिसूत्र से उदक् शब्द को उद् आदेश हुआ है।।श्री।।१।।

संगति– प्रजापति का अभिप्राय यह है कि जो इन्होंने जल से भरे पात्र में छायापुरुष का दर्शन किया है यदि उसमें आत्मबुद्धि कर ली है तो यह इनका अविवेक ही कहा जायेगा। क्योंकि छायापुरुष में अपहतपाप्मत्वादि आत्मा के आठों लक्षण नहीं संगत हो सकेंगे। क्योंकि प्रतिबिम्ब किसी का पाप नहीं नष्ट कर सकता और न ही परछाईं स्वयं ही किसी को जरा, मरण और शोक से रहित कर सकती है और न ही उसमें भूख, प्यास की सम्भावना तथा उनके अभाव की कल्पना हो सकती हैं क्योंकि उसमें कोई अवयव होता ही नहीं। इसलिए इन्द्रिय, मन, बुद्धि उसमें सम्भव ही नहीं है। इसलिए प्रतिछाया न कोई कामना कर सकती है न कोई संकल्प।

इसलिए अब प्रजापति उन दोनों को अलंकार धारण करके जलपात्र में स्वयं को देखने का आग्रह करते हैं। जिससे इन्हें यह ज्ञान हो जाय कि– जलपात्र में प्रथम देखे हुए अपने स्वरूप के प्रतिबिम्ब में तथा अभी देखे जाने वाले अपने प्रतिबिम्ब में एक अन्तर दिखाई पड़ेगा अलंकृत और अनलंकृत का। अतः परिवर्तित होने के कारण छायापुरुष आत्मतत्व नहीं हो सकता। आत्मतत्व में कोई परिवर्तन नहीं होता। कदाचित् इन्द्र और विरोचन इस संकेत से ही आत्मतत्व के संबंध में जान लें। अतः आगे कहते हैं–

तौ ह प्रजापतिरुवाच साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षेथामिति तौ ह साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वो-दशरावोऽवेक्षाचक्राते तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथेति ॥२॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– तब प्रजापति ने इन्द्र और विरोचन से कहा– तुम दोनों सुन्दर अलंकारों से सज-धज कर सुन्दर वस्त्र धारण करके स्नानादि साधनों से परिष्कृत होकर एक बार फिर जल भरे पात्र में स्वयं को देखो। इन्द्र और विरोचन ने दिव्य अलंकार धारण करके सुन्दर वस्त्रों से सजधजकर नख, श्मश्रु, केश आदि कटाकर, अंगराग आदि लेपों से परिष्कृत होकर जल भरे पात्र में स्वयं को देखा और प्रजापति के पास उपस्थित हुए। प्रजापति ने पूँछा– अभी तुमने जलपात्र में क्या देखा? अर्थात् पूर्व की अपेक्षा अभी देखे हुए अपने स्वरूप में तुम्हें कुछ अन्तर लगा कि नहीं। क्योंकि जब तुमने जलपात्र में स्वयं को पहले देखा होगा तब तुम्हें तुम्हारा प्रतिबिम्ब अलंकार से शून्य वस्त्ररहित अतिसामान्य दिखा होगा और इस बार कुछ परिवर्तनों के साथ अलंकृत, सुन्दरवस्त्रविभूषित तथा परिष्कृत दिखा होगा। इसका निष्कर्ष यह है कि छायापुरुष में परिवर्तन होते रहते हैं और आत्मतत्व सदैव एकरस रहता है। अतः छायापुरुष में आत्मबुद्धि नहीं करनी चाहिए ॥श्री॥२॥

संगति– अब इन्द्र और विरोचन का उत्तर कहते हैं ॥श्री॥

तौ होचतुर्यथैवेदमावां भगवः साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ च एवमेवेमौ भगवः साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतावित्येष आत्मेति होवाचैतद-मृतमभयमेतद्ब्रह्मेति ह शान्तहृदयौ प्रवव्रजतुः ॥३॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– प्रजापति से इन्द्र और विरोचन ने कहा–

भगवन्! जिस प्रकार हम दोनों सुन्दर अलंकारों से सजे थे, सुन्दर वस्त्र पहने हुए थे तथा नख केश आदि का परिष्कार किया था, उसी प्रकार हम दोनों ने जलपात्र में प्रतिबिम्ब को भी अलंकृत वस्त्रों से विभूषित एवं परिष्कृत देखा। प्रजापति ने कहा– यही आत्मा है, यही अमृत है और यही अभय है। इतना सुनकर दोनों शान्त हृदय से वहाँ से लौट गये। अर्थात् उनकी जिज्ञासा शान्त हो गयी।।श्री।।

व्याख्या– अब यहाँ प्रश्न उठता है कि– क्या प्रजापति ने असत्य भाषण किया? क्योंकि छायापुरुष में आत्मा के पूर्वोक्त आठों लक्षण नहीं घटते। अथवा क्या प्रजापति जैसे महान् ब्रह्मवेत्ता सिद्धान्तविरुद्ध कुछ कह सकते हैं? यदि नहीं तो इन्द्र और विरोचन की जिज्ञासा की समाप्ति पर प्रजापति ने कोई प्रतिक्रिया क्यों नहीं की? इसका उत्तर यह है कि– न ही प्रजापति ने असत्य भाषण किया और न ही सिद्धान्त का अपलाप। 'एष आत्मा एतदमृतमभयं' वाक्यखण्ड का इन्द्र और विरोचन अर्थ ही नहीं समझ पाये। 'एतद्' शब्द सर्वनाम है और सर्वनाम बुद्धिस्थधर्म का परामर्शक होता है। प्रजापति का तात्पर्य यह है कि जैसे एक ही पुरुष अलंकारादि से रहित होकर भिन्नरूप से दिखता है और अलंकारादि धारण करने पर भिन्न रूप में, उसी प्रकार एक ही आत्मतत्व कौमारादि अवस्थाओं के तारतम्य से भिन्न-भिन्न रूपों में दिखता है और परमात्मतत्त्व भी कच्छप, मत्स्य, वाराहादि अवतारों के तारतम्य से भिन्न-भिन्न रूपों में भासित होता है। परन्तु है वह एक ही। जैसा कि मानस के षष्ठसोपान में रावणवध के पश्चात् देवता स्तुति करते हुए कहते हैं–

मीन कमठ सूकर नर हरी। वामन परसु राम वपुधरी।।
जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो। नाना तनु धरि तुमहि नसायो।।

(मानस ६/१०९/७,८)

यहाँ दुर्भाग्य यही था कि आत्मा के अवच्छेदक शरीर की अवस्था सम्बन्धी परिवर्तनसिद्धान्त को इन्द्र और विरोचन समझ नहीं पाये। उन्होंने इस दृष्टान्त को देह की दृष्टि से समझा और देह को ही आत्मा मान लिया। स्मृति के अनुसार विना पूँछे किसी से कुछ नहीं कहना चाहिए। इसीलिए इन्द्र और विरोचन के चुप रह जाने पर प्रजापति ने कुछ भी नहीं कहा।।श्री।।३।।

संगति– अब भगवती श्रुति प्रजापति, देवता तथा विरोचन के विपरीत ज्ञान का वर्णन करती हैं।।श्री।।

तौ हान्वीक्ष्य प्रजापतिरुवाचानुपलभ्यात्मानमनुविद्य व्रजतो यतर एतदुपनिषदो भविष्यन्ति देवा वासुरा वा ते पराभविष्यन्तीति सह शान्तहृदय एव विरोचनोऽसुराञ्जगाम तेभ्यो हैतामुपनिषदं प्रोवाचात्मैवेह महय्य आत्मा परिचर्य आत्मानमेवेह महयन्नात्मानं परिचरन्नुभौ लोकाववाप्नोतीमं चामुं चेति ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर इन्द्र और विरोचन को दूर जाते हुए देखकर खिन्न मन से प्रजापति कश्यप ने कहा– 'तुम दोनों अपहतपाप्मत्वादिलक्षण आत्मतत्व को विना प्राप्त किये ही और उसका साक्षात्कार किये विना ही रिक्तहस्त जा रहे हो। इसी सिद्धान्त को उपनिषद् मान लेने पर देवताओं तथा दैत्यों इन दोनों का पराभव सम्भव है। इन्द्र ने कोई प्रतिक्रिया नहीं की अर्थात् उन्होंने तो प्रजापति की शरणागति का निर्णय ले ही लिया। परन्तु विरोचन ने आसुरी स्वभाव के कारण देह को ही आत्मा मान लिया और असुरों में यही प्रचार किया कि शरीर ही पूजनीय है, शरीर ही वन्दनीय है, शरीर की ही पूजा करो। इसकी पूजा करके साधक सभी लोकों और सभी कामनाओं को प्रापत कर लेता है ।।श्री।।४।।

संगति– अब असत् ज्ञान का परिणाम कहते हैं ।।श्री।।

तस्मादप्यद्येहाददानमश्रद्दधानमयजमानमाहुरासुरो बतेत्यसुराणाँ ह्येषोपनिषत्प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेनालंकारेणेति सँस्कुर्वन्त्येतेन ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्ते ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसीलिए इस विपरीत ज्ञान के कारण जो दान नहीं देता, जो शास्त्र में आस्था नहीं रखता तथा जो यज्ञ नहीं करता उसको आज भी इस लोक में आसुर अर्थात् देहाभिमानी शरीरवादी असुर ही मानते हैं। यह असुरों की ही उपनिषद् हैं। इसलिए असुर लोग इस मरणधर्मा जीवात्मा के शरीर को ही वस्त्र, अलंकार एवं भिक्षा से सजाते हैं और इसी से अपने शरीर के पोषण से ही वे 'उस लोक अर्थात् परलोक को जीत लेंगे' ऐसा मानते हैं ।।श्री।।५।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर अष्टम अध्याय के अष्टम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। नवम खण्ड ।।

संगति– अब इन्द्र की ब्रह्मविचारणा का वर्णन करते हैं।।श्री।।

अथ हेन्द्रोऽप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श यथैव खल्वयमस्मिञ्छरीरे साध्वलंकृते साध्वलंकृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– ठीक इसके विपरीत सात्विक बुद्धि वाले इन्द्र यद्यपि विरोचन के साथ ही लौटे थे परन्तु देवताओं के पास न पहुँचकर मार्ग के मध्य में ही उन्होंने देहात्मवादी सिद्धान्त में भय का दर्शन किया। अर्थात् जब उन्होंने विरोचन की भाँति प्रतिबिम्ब के आधार पर देह को ही आत्मतत्व के रूप में निश्चित करना चाहा तब उन्हें बहुत डर लगा। इन्द्र ने विचार किया कि जैसे बिम्ब के पूर्णरूप से सजधज जाने पर प्रतिबिम्ब भी पूर्णरूप से अलंकृत दिखता है और जैसे शरीर के सुन्दर वस्त्रों के सज्जित होने पर प्रतिबिम्ब भी सुवसन अर्थात् सुन्दर वस्त्रों के सज्जित दिखता है तथा जिस प्रकार स्नानादि द्वारा शरीर के परिष्कृत किये जाने पर यह प्रतिबिम्ब भी परिष्कृत हुआ दिखता है उसी प्रकार इस शरीर के अन्धे होने पर यह जीवात्मा भी अन्धा होगा और इसके नाक-कान कट जाने पर यह जीवात्मा नकटा और कनकटा दिखेगा और शरीर के हाथ पैर कट जाने पर जीवात्मा भी लंगड़ा, लूला दिखेगा और शरीर के नष्ट होने पर जीवात्मा का भी नाश हो जायेगा। जबकि ऐसा नहीं होता क्योंकि आत्मतत्व जन्म-मृत्यु से रहित होता है उसका आविर्भाव या तिरोभाव नहीं होता। वह अजन्मा है, जीवात्मा ध्वंशरहित, नित्य तथा शाश्वत अर्थात् सर्वकाल में वर्तमान एवं पुराण अर्थात् पुरातन है। वह शरीर की विकृतियों से विकृत नहीं होता। इसलिए जीवात्मा और परमात्मा में बिम्बप्रतिबिम्बभाव बन नहीं सकता। जीवात्मा शेष तथा परमात्मा शेषी है। जीवात्मा दास और परमात्मा उसके स्वामी हैं। इस प्रकार विचार करके इन्द्र प्रजापति के पास फिर से लौट आये। प्रजापति ने पूँछा– इन्द्र! तुम विरोचन की भाँति शान्तहृदय से क्यों लौट गये थे? इन्द्र ने कहा– भगवन्! मुझे देह या छायापुरुष में आत्मदर्शन करने से भय उत्पन्न हुआ। क्योंकि देह की भाँति छायापुरुष भी सुस्थिर नहीं है और देह के दोष भी छायापुरुष में दिखते हैं।।श्री।।१।।

संगति– अब इन्द्र की पुनः गुरूपसत्ति का वर्णन करते हैं।।श्री।।

स समित्पाणिः पुनरेयाय तँ ह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्त-हृदयः प्राव्रजीः सार्धं विरोचनेन किमिच्छन् पुनरागम इति स होवाच यथैव खल्वयं भगवोऽस्मिञ्छरीरे साध्वलंकृते साध्वलंकृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इन्द्र ने मन में विचार किया कि इस सिद्धान्त में कोई फल नहीं देख रहा हूँ। अर्थात् देह तथा प्रतिबिम्ब को आत्मतत्व मानना पूर्णरूप से अशास्त्रीय तथा भ्रमपूर्ण है। क्योंकि हे भगवन्! जैसे शरीर के अलंकृत होने पर जीवात्मा अलंकृत दिखता है, जैसे शरीर के वस्त्र पहन लेने पर जीवात्मा सुन्दर वस्त्रों से आवृत होता है तथा जैसे शरीर के परिष्कृत होने पर यह जीवात्मा परिष्कृत दिखता है उसी प्रकार इस शरीर के अन्ध होने पर अन्धा, नाक-कान कट जाने पर स्राम तथा हाथ पैर के न रहने पर यह लगड़ा-लूला दिखेगा और शरीर के नष्ट होते ही नष्ट हो जायेगा। जबकि आत्मा के यह गुण अशास्त्रीय हैं।

बन्दउ बाल रूप सोई रामू। सब सिधि जपत सुलभ जिस नामू।।

यही परमात्मा का वास्तविक स्वरूप है। इसलिए विरोचन द्वारा निश्चित किये हुए इस सिद्धान्त में कोई फल नहीं देख रहा हूँ, अतः मैं आपके श्रीचरणों में फिर आया हूँ। यह कहकर देवराज इन्द्र ने पुनः आत्मतत्व की जिज्ञासा के लिए सद्गुरु के रूप में प्रजापति का वरण किया।।श्री।।२।।

संगति– अब इन्द्र से प्रजापति ने कहा–

एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि वसापराणि द्वात्रिंशतं वर्षाणीति स हापराणि द्वात्रिंशतं वर्षाण्युवास तस्मै होवाच ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे इन्द्र! यह पक्ष ऐसा ही है। अर्थात् देह अथवा छायापुरुष आत्मतत्व नहीं है। तुम बत्तीस वर्ष पर्यन्त और ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए मेरे आश्रम में निवास करो फिर मैं इस ब्रह्म के सम्बन्ध में तुम्हारे लिए अनुकूलता से व्याख्यान करूँगा। इन्द्र ने बत्तीस

वर्ष पर्यन्त फिर ब्रह्मचर्य पूर्वक गुरुकुल में निवास किया। इसके अनन्तर प्रजापति ने इन्द्र को उपदेश देते हुए कहा ।।श्री।।२।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर अष्टम अध्याय के नवम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। दशम खण्ड ।।

संगति– अब प्रजापति इन्द्र को स्वप्न पुरुष का उपदेश देते हैं ।।श्री।।

य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतदब्रह्मेति स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज स हाप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श तद्यद्यपीदँ शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति यदि स्राममस्रामो नैवेषोऽस्य दोषेण दुष्यति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– प्रजापति ने कहा– हे इन्द्र! जो पुरुष स्वप्न में महिमावान होकर विराजता है अर्थात् जो जाग्रत के प्रपञ्चों से लिप्त नहीं होता वही आत्मतत्व है वही अमृत है, वही अभय है और वही ब्रह्म है। इस प्रकार जानकर इन्द्र का हृदय शान्त हो गया। अर्थात् अब उनमें कोई जिज्ञासा नहीं रही। वे अपने को ब्रह्मवेत्ता मानकर प्रकृष्ट बुद्धि से देवताओं के पास चल पड़े। परन्तु मार्ग के मध्य में ही इस सिद्धान्त में भी भय का दर्शन हुआ। इन्द्र ने सोचा यह स्वप्नपुरुष जलपात्र के छायापुरुष से कुछ विलक्षण अवश्य है। क्योंकि यह शरीर के अन्धे होने पर अन्धा नहीं होता और शरीर के अंगों के कटने पर भी यह नहीं काटा जा सकता। इससे सिद्ध हो जाता है कि यह स्वप्नपुरुष जाग्रत के दोषों से दूषित नहीं होता। अतः पूर्व की अपेक्षा इसमें कुछ विशेषता है। किन्तु स्वप्नपुरुष आत्मतत्व नहीं है ।।श्री।।१।।

संगति– इससे क्या आपत्ति आयी? इस पर कहते हैं अर्थात् यदि स्वप्नपुरुष जाग्रत के दोषों से लिप्त नहीं होता तो फिर उसे आत्मा क्यों न मान लिया जाय? इस रहस्य जिज्ञासा का उद्घाटन करते हैं ।।श्री।।

न वधेनास्य हन्यते नास्य स्राम्येण स्रामो घ्नन्ति त्वेवैनं विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इन्द्र ने विचार किया कि– जाग्रतपुरुष

की अपेक्षा स्वप्नपुरुष में विलक्षणता तो है क्योंकि यह भी जाग्रतपुरुष के मारे जाने पर स्वप्नपुरुष नहीं मरता, जागृतपुरुष के अंगभंग होने पर भी स्वप्नपुरुष का अंगभंग नहीं होता फिर भी स्वप्न में लोग इसको भी मारते ही हैं और कुछ इसे बचाते हैं इसलिए यह अप्रिय का भी अनुभव करता है और इसीलिए स्वप्नपुरुष रोता भी है, अत एव यह आत्मतत्व नहीं हो सकता क्योंकि स्वप्नपुरुष में अपहतपाप्मत्वादि लक्षण नहीं घट पाते ।।श्री।।२।।

संगति– अब इन्द्र की पुनर्ब्रह्मजिज्ञासा का वर्णन करते हुए उनके द्वारा पुन: प्रजापति की शरणागति का वर्णन करते हैं ।।श्री।।

समित्पाणि: पुनरेयाय तँ ह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदय: प्राव्राजी: किमिच्छन् पुनरागम इति स होवाच तद्यद्यपीदं भगव: शरीरमन्धं भगवत्यनन्ध: स भवति यदि स्राममस्रामो नैवेषोऽस्य दोषेण दुष्यति ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अनन्तर हाथ में समिधा लेकर इन्द्र प्रजा पति के पास फिर आये। प्रजापति ने कहा– इन्द्र! अभी-अभी तुम अपनी जिज्ञासा शान्त कर जा चुके थे फिर कौन सी इच्छा करके लौट आये? इन्द्र ने कहा– भगवन्! आपने जिस स्वप्नपुरुष में आत्मबुद्धि का उपदेश किया वह यद्यपि जाग्रत के दोषों से लिप्त नहीं होता, उसके मारे जाने पर नहीं मरता, उसकी विकलांगता में विकलांग नहीं होता फिर भी अपहतपाप्मत्वादि लक्षण के घटित न होने से यह आत्मा नहीं हो सकता ।।श्री।।३।।

संगति– अब अनुवाद का शेष अंश और प्रजापति का उददेश कहते हैं।

न वधेनास्य हन्यते नास्य स्राम्येण स्रामो ध्नन्ति त्वेवैनं विच्छा-दयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव नाहमत्र भोग्यं पाश्यामीत्येवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि वसाऽपराणि द्वात्रिंशतं वर्षाणीति स हाऽपराणि द्वात्रिंशतं वर्षाण्युवास तस्मै होवाच ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे महाराज! यद्यपि स्वप्नपुरुष जागृत पुरुष का वध होने पर भी नहीं मारा जाता और जागृतपुरुष के विकलांग होने पर भी वह विकलांग नहीं होता फिर भी उसे मारते हैं उसे बचाते भी हैं और उसे अप्रिय का ज्ञान भी होता है। इसलिये इसमें मैं कल्याणात्मक फल नहीं देख रहा हूँ। प्रजापति ने कहा– इन्द्र! यह पक्ष भी इसी प्रकार का है अर्थात् स्वप्नपुरुष भी छायापुरुष की भाँति आत्मतत्व नहीं है, क्योंकि

इसमें पहले कहे हुए आत्मा के कोई भी लक्षण नहीं घटते इसलिये तुम फिर बत्तीस वर्ष पर्यन्त मेरे आश्रम में निवास करो पश्चात् मैं तुम्हें आत्मतत्व का उपदेश दूँगा। इन्द्र ने वैसा ही किया और बत्तीस वर्षों के पश्चात् इन्द्र प्रजापति के पास आये तब प्रजापति ने इन्द्र से कहा।।श्री।।४।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर अष्टम अध्याय के दशम खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। एकादश खण्ड ।।

संगति– अब प्रजापति इन्द्र को सुषुप्तिकोष का वर्णन करते हैं।।श्री।।

तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज स हाप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श नाह खल्वयमेवँ संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– प्रजापति ने इन्द्र से कहा ? हे इन्द्र देव! जिस अवस्था में यह पुरुष पूर्णरूप से सो जाता है, अपने सभी व्यापार समाप्त कर देता है और पूर्णरूपेण प्रसन्न हो जाता है, तथा स्वप्न भी नहीं देखता तथा 'मैं यह हूँ' इतना भी नहीं जान पाता वही सुषुप्तिपुरुष ही आत्मतत्व है। यह सुनकर शान्तहृदय से अपनी जिज्ञासा समाप्त करके इन्द्रदेव प्रजापति के पास से लौटे, परन्तु देवताओं के पास न पहुँचकर मध्य मार्ग में ही चिन्तन करके इन्द्रदेव ने सुषुप्तिपुरुष के आत्मत्व के सम्बन्ध में भय का अनुभव किया। इन्द्र सोचने लगे– अरे यह सुषुप्तिपुरुष अपने को भी नहीं जान पाता कि 'मैं यह हूँ'। इसी स्वरूपविस्मरण के कारण यह विनाश को प्राप्त हो जाता है। जबकि आत्मतत्व नित्य अविनाशी है। इसलिए यह भी भरणधर्म के बचने के कारण आत्मा नहीं है। अतः प्रजापति के इस पक्ष में भी मैं कोई कल्याणरूप फल नहीं देख रहा हूँ' ।।श्री।।१।।

संगति– इसलिए इन्द्र फिर प्रजापति के शरण में आते हैं।।श्री।।

स समित्पाणिः पुनरेयाय तँ ह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्त-हृदयः प्राव्राजीः किमिच्छन्पुनरागम इति स होवाच नाहं खल्वयं भगव

एवँ संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाश-मेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब इन्द्र हाथ में समिधा लेकर जिज्ञासा भाव से प्रजापति के पास फिर आये। प्रजापति ने इन्द्र से पूछा– देवराज! अभी तो तुम अपनी जिज्ञासा शान्त करके जा चुके थे फिर क्यों लौट आये? इन्द्रदेव ने कहा– भगवन्! आपने जिस सुषुप्तिपुरुष को आत्मा कहा वहाँ भी मुझे सन्देह हैं। क्योंकि वह न तो अपने को जानता है और न ही इन प्राणियों को, यहाँ तक कि 'मैं यह हूँ' इतना भी नहीं जान पाता इसीलिए यह विनाश को प्राप्त होता है। जबकि आत्मतत्व को शास्त्र अविनाशी कहते हैं। अतएव सुषुप्तिपुरुष को आत्मतत्व कैसे माना जाय ।।श्री।।२।।

संगति– अब भगवती श्रुति इन्द्र के फिर ब्रह्मचर्य पूर्वक निवास एवं प्रजापति के उपदेश का वर्णन करती है।।श्री।।

एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्माद्वसापराणि पञ्च वर्षाणीति सहाऽपराणि पञ्च वर्षाण्युवास तान्येकशतँ संपेदुरेतत्तद्यदाहुरेकशतँ ह वै वर्षाणि मघवान्प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास तस्मै होवाच ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब प्रजापति ने कहा– हे मघवन्! यह पक्ष भी इसी प्रकार का है। अर्थात् अब तक मैंने तुम्हें शाखाचन्द्रन्याय से क्षायापुरुष, स्वप्नपुरुष तथा सुषुप्तिपुरुष के उपदेश से आत्मतत्व की पूर्व भूमिका का वर्णन किया। अब इससे अतिरिक्त तुम्हारे लिए कोई प्रतिबंधक तत्व नहीं रहा। क्योंकि ९६ (छियानबे) वर्षों के ब्रह्मचर्यवास से तुम वेद के कर्मकाण्ड सम्बन्धी ८०००० मन्त्र तथा उपासन काण्ड के १६००० (सोलह हजार) मन्त्रों के रहस्यज्ञान के साथ, यज्ञोपवीत के ९६ चतुरङ्गुल (चाऊ) का भी रहस्य समझ लिया है। इसलिए पञ्चभूतों के शुद्धि हेतु तुम फिर ५ वर्ष ब्रह्मचर्य निवास करो। अनन्तर मत में मैं तुम्हें [illegible] [illegible] से आत्मतत्व का उपदेश दूँगा। इन्द्र ने वैसा ही किया। [illegible] ३ [illegible] ३२-३२ (बत्तीस-बत्तीस) वर्षों के ब्रह्मचर्य तथा अनितम [illegible] ५ [illegible] [illegible] के ब्रह्मचर्य से इन्द्र का ब्रह्मचर्य काल कुल १०१ (एक सौ एक) वर्षों का

हुआ। इसी को लोग कहते हैं कि इन्द्र ने १०१ वर्ष तक प्रजापति कश्यप के चरणों में ब्रह्मचर्य पूर्वक निवास किया। फिर प्रजापति ने इन्द्र के प्रति ब्रह्म का उपदेश दिया ।।श्री।।३।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर अष्टम अध्याय के एकादश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। द्वादश खण्ड ।।

संगति– अब इन्द्र की ब्रह्म विचारणा का वर्णन करते हैं ।।श्री।।

मघवन्मर्त्यं वा इदँ शरीरमात्तं मृत्युना तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानमात्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– प्रजापति ने इन्द्र से कहा– हे मघवन्! मरणधर्म वाला यह शरीर ही मृत्यु और यम के द्वारा ग्रहण किया जाता है। अर्थात् शरीर का ही मरण होता है। जो स्वशरीर अर्थात् देहभावापन्न होता है, वह प्रिय तथा अप्रिय से भी युक्त होता है। उसी को प्रतिकूल और अनुकूल की अनुभूति होती है, जो सशरीर है अर्थात् जिसके पास शरीर होता है उसी के प्रिय और अप्रिय की हानि होती है। यह आत्मा अशरीर अर्थात् देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि से भिन्न है। यह अमृत अर्थात् मरणधर्म से दूर है। इसको प्रिय तथा अप्रिय छू भी नहीं सकते, अभी तक आत्मतत्व के संबन्धों में जो पक्ष कहे गये थे वे सब देहाभावापन्न के थे और आत्मा इन सबसे विलक्षण विशुद्ध चेतनघन तथा परमेश्वर का नित्य किंकर है ।।श्री।।१।।

संगति– अब शरीर भिन्न वस्तुओं का दृष्टान्त कह रहे हैं ।।श्री।।

अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत्स्तनयित्नुरशरीराण्येतानि तद्यथैतान्यमुष्मादाकाशात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जैसे वायु, बादल, बिजली और मेघगर्जन ये सब अशरीर होते हैं। इनके पास कोई शरीर नहीं होता और जिस प्रकार ये इस आकाश में उठकर परमज्योति परमात्मा को प्राप्त कर अपने

ही रूप से निष्पन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार यह जीवात्मा भी देहभाव से ऊपर उठकर अपने ही नित्यकिंकरस्वरूप से परमज्योतिरूप परमात्मा को प्राप्त कर लेता है अर्थात् शरीरभाव से रहित तथा परमेश्वर का सनातन अंश नित्य चेतन गमनशील अणु ही आत्मतत्व है ।।श्री।।२।।

संगति– अब दृष्टान्त का उपसंहार कर रहे हैं ।।श्री।।

एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्येति जक्षन्क्रीडन्रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसी प्रकार यह जीवात्मा सम्प्रसाद् अर्थात् भगवान् का पूर्ण कृपाप्रसाद प्राप्त करके पूर्णरूपेण प्रसन्न होकर इस शरीर से ऊपर उठकर भगवद्भजनबल से शरीर और उसके सभी संबन्धों को भूलकर परमज्योतिस्वरूप परमात्मा श्रीराम के समीप जाकर सामीप्यमुक्ति प्राप्त कर नित्यभगवत्किंकररूप अपने सहजस्वरूप से युक्त हो जाता है। वह उत्तम पुरुष हो जाता है। वह परमात्मा के नित्य साकेतलोक को प्राप्त कर लेता है और उसका भोगमात्र परमात्मा से सामने हो जाता है वह परमात्मा के ही समान दिव्य भोगों को भोगता है। मुक्त जीवात्मा दिव्यभोगोपयोगी अलौकिक शरीर प्राप्त करके दान देता हुआ, विहार करता हुआ स्त्रियों और विमानों के साथ रमण करता हुआ भी जन्ममरण के कारणभूत शरीर का कभी स्मरण नहीं करता यह स्वयं को भगवान् के सेवकरूप में अनुभव करता है। जिस प्रकार भगवदीय भोगों के लिए वह आचरणों में युक्त होता है, उसी प्रकार इस शरीर में प्राण आदि उपकरणों को स्वीकार लेता है। जैसे वानर अपने को दास ही समझते हैं। 'दासोऽहं कोशलेन्द्रस्य' वाल्मीकिरामायण के सुन्दरकाण्ड में रावण से हनुमान् जी स्पष्ट कहते हैं कि वे **श्रीराम के** दास हैं ।।श्री।।३।।

रामदासस्य दूतस्य वानरस्य विशेषतः

(वा०रा० ३८/५/५२)

संगति– अब आत्मा के सिद्धान्तसंकल्प का वर्णन करते हैं ।।श्री।।

अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणमथ यो वेदेदमभिव्याहराणीति स आत्माभिव्याहाराय वागथ यो वेदेदं शृणवानीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम् ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर इस महाकाश परमात्मा को प्राप्त करके यह चाक्षुषपुरुष जब दर्शन की इच्छा करता है तब उसे नेत्र मिल जाते है। जब वह संकल्प करता है कि 'मैं भगवत् प्रसादरूप तुलसी तथा माला की सुगन्ध लूँ' तब उसे दिव्य नासिका मिल जाती है। जब उसे इच्छा होती है कि 'मैं भगवद् गुण गण गाउँ' तब उसे बोलने के लिए वाणी मिल जाती है। जब वह महात्मा संकल्प करता है कि 'अब मैं भगवदीय का श्रवण करूँ' तब उस महात्मा को श्रवणेन्द्रि भी प्राप्त हो जाती है अथवा इनका संकल्प करते ही यह आत्मा ही चक्षु, प्राण, वाक् तथा श्रवणेन्द्रिय से युक्त होकर तन्मय हो जाता है।।श्री।।३।।

संगति– अब मन का संकल्प कहते हैं।।श्री।।

अथ यो वेददं मन्वानीति स आत्मा मनोऽस्य दैवं चक्षुः स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते ।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके अनन्तर जब यह आत्मा संकल्प करता है कि 'मैं मनन करूँ' तब वह मनोमय हो जाता है और नेत्र ही उसका देवता बनता है। इस प्रकार वह जीवात्मा नेत्र और मन से युक्त होकर सभी कामनाओं का द्रष्टा हो जाता है। तात्पर्य यह है कि– 'जीवात्मा शरीरसम्पन्न तब होता है जब सांसारिक संकल्प करता है और जब वह भगवदीय विषयों का संकल्प करता है' अर्थात् जब उसे इच्छा होती है कि 'वह भगवान् के रूप का दर्शन करे, भगवान् की प्रसाद माला घ्राण करे, परमेश्वर के गुण गण गाये और प्रभु के प्रसाद का स्वाद ले, परमात्मकथा का श्रवण करे और परमात्मा के नाम रूप लीला धाम का मनन करे'। इसी समय इस जीवात्मा को दिव्य पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं दिव्य मन प्राप्त हो जाता है और जब वह कोई संकल्प ही नहीं करता तब उसे भगवत्सेवा के लिए उपयोगी आप्राकृतशरीर प्राप्त हो जाता है।।श्री।।४।।

संगति– अब प्रकरण को समाप्त करते हैं।।श्री।।

य एते ब्रह्मलोके तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषाँ सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्य-स्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच ।।६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– ब्रह्मलोक में जो देवता विराजते हैं वे भी इस आत्मतत्व की उपासना करते हैं। उस आत्मदेव के द्वारा स्वयं ही सभी लोक प्राप्त कर लिये जाते हैं और उसे अनायास सभी कामनायें प्राप्त हो जाती हैं। जो इस आत्मा की उपासना करके उसे भगवान् के नित्यकिंकररूप में विचारपूर्वक जान लेता है वह सभी लोकों तथा सभी कामनाओं को प्राप्त कर लेता है, यही बात प्रजापति ने इन्द्र से कही।।श्री।।६।।

व्याख्या– यहाँ यह ध्यान देना चाहिये कि– इन्द्र ने प्रजापति के चरणों में बैठकर चार बार आत्मतत्व के सम्बन्धमें श्रवण किया। उनमें तीन बार के प्रजापति द्वारा कहे हुए तीनों पक्षों में इन्द्र को भय की अनुभूति हुई और चतुर्थपक्ष के श्रवण में अर्थात् अन्तिम उपदेश में इन्द्र निर्भय हो गये। क्योंकि तीनों बार प्रजापति ने इन्द्र को शरीरावच्छिन्न आत्मतत्व का ही श्रवण कराया था। अर्थात् बत्तीस-बत्तीस वर्ष के तीन ब्रह्मचर्य व्रतों से जब प्रजापति ने इन्द्र के मलविक्षेप और आवरण का नाश करवा दिया और तीनों आत्मतत्व के उदेशों में क्रमशः जाग्रत, स्वप्न सुषुप्ति अवस्थाओं से अवच्छिन्न आत्मतत्व में इन्द्र ने भी भय की अनुभूति कर ली फिर प्रजापति ने पञ्चवर्षीय ब्रह्मचर्य वास से इन्द्र की पाञ्चभौतिक शरीर की शुद्धि करके उन्हें तीनों अवस्थाओं से अतीत निरवच्छिन्न शरीरधर्मवर्जित अमृतआत्मतत्व का उपदेश किया। यहाँ यह भी ध्यान रहे कि यह प्रकरण छठे मन्वन्तरीय इन्द्र से सम्बद्ध है उन्हीं के कारण भगवान् ने वामनावतार लिया था। अहल्या की घटना का सप्तम अर्थात् वर्तमान मन्वन्तरीय इन्द्र से सम्बद्ध है। इस इन्द्र का तो ब्रह्मविद्या से कोई लेना देना ही नहीं। प्रजापति ने चतुर्थ बार तीनों अवस्थाओं से परे, पाञ्चभौतिक शरीर से दूर, उस विशुद्धआत्मतत्व का वर्णन किया जिसको परमेश्वर की नित्य सेवा के लिए उपयोगी दिव्यशरीर प्रभु की कृपा से ही प्राप्त है। जो लोग तीनों अवस्थाओं से अवछिन्न चैतन्य को जीवात्मा तथा तुरीय चैतन्य को परमात्मा मानते हैं और यह कहने का साहस करते हैं कि– जीवात्मा के पास चतुर्थ अवस्था होती ही नहीं, उनका यह कथन अनर्गल

और अशास्त्रीय है। वस्तुत: जबतक जीवात्मा का तीनो अवस्थाओं से संबंध रहता है तभी तक वह माया के पराधीन हुआ संसारी बना रहता है और जड़-चेतनात्मक ग्रन्थि से बँधा रहता है। परन्तु जब भगवत्कृपा से जीवात्मा जाग्रतस्वप्नसुषुप्ति से मुक्त हो जाता है और उसकी चिदचिदात्मक-ग्रन्थि टूट जाती है। तब वह पूर्णत: प्रसन्न होकर इस क्षणभंगुर शरीर और इसके संबंध से ऊपर उठकर परमज्योतिस्वरूप परमात्मा श्रीराम के पास जाकर अपने सहज स्वरूप से युक्त हो जाता है अर्थात् परमात्मा को प्राप्त करके भी जीवात्मा नित्य किंकर रूप अपना सहज स्वरूप नहीं छोड़ता। यह वाद छ०उ० (८/१२/३) में भलीभाँति भगवदीय श्रुति के द्वारा समझायी गई है। वहाँ जीवात्मा के लिए कर्त्ता और परमात्मा के लिए कर्म का प्रयोग हुआ है। श्रुति ने स्पष्ट कहा है कि– सम्प्रसाद: परमज्योति: उपसम्पद्य स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यते। अर्थात् पूर्ण प्रसन्न यह जीवात्मा पाञ्चभौतिक शरीर से उठकर पहले तो परमज्योतिस्वरूप परमात्मा के पास जाता है। फिर परमेश्वर की ही आज्ञा से उन्हीं के सेवा के अनुरूप अपना अभीष्ट चतुर्भुजरूप प्राप्त कर लेता है।।श्री।।

यहाँ सुधीजन स्वयं विचार करे कि उपसंपद्यशब्द में क्त्वा प्रत्यय को ल्यप हुआ है। क्त्वा प्रत्यय तब होता है जब दो धातुओं का एक ही कर्त्ता हो और उनमें जो धातु पूर्वकाल की सूचना दे रही हो। 'समान कर्तृकयो: पूर्वकाले' यह पाणिनसूत्र ही इसका प्रमाण है। यहाँ उपसंपद्य तथा अभिपद्यते इन दो धातुओं का सम्प्रसादरूप एक ही कर्ता है। उसमें उपसंपद्य इस पूर्व कालिक धातु से भी क्त्वा प्रत्यय का विधान हुआ है। इसीलिए जटायु ने गीध शरीरत्याग कर चतुर्भुजरूप प्राप्त करके भी अपना जीवभाव नहीं छोड़ा। कयोंकि भगवान् का नित्यदास्य जीव का सहज स्वरूप हैं। जो जीवात्मा को भगवान् के दर्शन से ही प्राप्त होता है। जैसा कि मानस में प्रभु श्रीराम शबरी से कहते हैं–

मम दर्शन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज स्वरूपा।।

(मानस३/३६/१०)

और यही बात छान्दोग्योपनिषद (८/१२/३) में भी कही गई है कि जीवात्मा पहले परमात्मा के समीप सम्पन्न होता है फिर उनकी आज्ञा से ही स्वरूप से निष्पन्न होता है। देखिये मानस के जटायु प्रसंग में।।श्री।।

गीध देह तजि धरि हरि रूपा। भूषन बहु पट पीत अनूपा।।
श्याम गात विशाल भुजचारी। अस्तुति करत नयन भरि वारी।।

(मानस ३/३२/१, २)

'सः उत्तमः पुरुषः' छान्दोग्य (८/१२/३) का तात्पर्य यह है कि जीवात्मा कभी परमात्मा नहीं बनता परन्तु मुक्त होकर वह परमात्मा के समान भोग अवश्य भोगता है। भगवान् वेदव्यास भी ब्रह्मसूत्र में कहते हैं– 'भोगमात्र साम्यलिङ्गाच्च' (ब्रह्मसूत्र ४/४/२१)। जीवात्मा भोगों में परमात्मा की समानता करके भी परमात्मा के समान सृष्टि की रचना नहीं कर सकता। अतः भगवान् व्यास कहते है– जगद्व्यापारवर्ज प्रकरणादशन्नर्निहित्वाच्च ।।श्री।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर अष्टम अध्याय के द्वादश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। **श्रीराघवः शन्तनोतु** ।।

।। त्रयोदश खण्ड ।।

संगति– अब मन्त्र के आम्नाय के वर्णन करते हैं।।श्री।।

श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्येऽश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धू वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामीत्यभिसंभवामीति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जीवात्मा कहता है कि– मैं श्याम सगुण परमात्मा से निर्गुण परमात्मा को प्राप्त हो रहा हूँ और फिर सबल निर्गुण परमात्मा की कृपा से श्यामस्वरूप सगुण परमात्मा की शरण में जाता हूँ। जिस प्रकार घोड़ा अपने रोंये झाड़ देता है उसी प्रकार अपने पापों को यही छोड़कर राहु से मुक्त हुए चन्द्र की भाँति इस क्षणभंगुर शरीर के संबंधों से मुक्त होकर मैं कृतार्थ हुआ। जीवात्मा अब ब्रह्मलोक को प्राप्त कर, अब ब्रह्म लोक को प्राप्त कर रहा हूँ।।श्री।।१।।

व्याख्या– इस मन्त्र में श्रुति ने स्पष्ट ही जीवात्मा और परमात्मा के बीच स्वरूपगत भेद की व्यवस्था की। यहाँ श्यामपद से सगुण और सबल पद से निर्गुण ब्रह्म का संकेत है।।श्री।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर अष्टम अध्याय के त्रयोदश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

।। **श्रीराघवः शन्तनोतु** ।।

।। चर्तुदश खण्ड ।।

संगति– अब आत्मानुभव का वर्णन करते हैं ।।श्री।।

आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतँ स आत्मा प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशां यशोऽहमनुप्रापत्सि स हाहं यशसां यशः श्वेतमदत्कमदत्कँ श्वेतं लिन्दुमाभिगां लिन्दुमाभिगाम् ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– व्याकृत नामरूप का निर्वहण करने वाला जो आकाशरूप परमात्मतत्व है। वही परब्रह्म है। नाम और रूप के मध्यवर्ती जीवात्मतत्व मैं हूँ। मैं ही आत्मा हूँ मैं प्रजापति परमात्मा के सभागृह को प्राप्त कर चुका हूँ। मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य का यश हूँ मैं यश का भी यश हूँ। अब मैं अपने कर्मवश सांसारिक माता के दन्तहीन गर्भाशय को नहीं प्राप्त होऊँगा। मैं सदैव परमात्मा का नित्यकिंकर बनकर सेवा करूँगा ।।श्री।।१।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर अष्टम अध्याय के चर्तुदश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। पञ्चदश खण्ड ।।

संगति– अब फलश्रुति का वर्णन करते हैं ।।श्री।।

तद्धैतद्ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्य आचार्य-कुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठा-प्याहिंसन्त्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोम-भिसंपद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार इस ब्रह्मविद्या को ब्रह्मा ने प्रजापति कश्यप से कहा, कश्यप ने वैवश्वतमनु से और वैवश्वतमनु ने प्रजाओं को उपदेश दिया। आचार्यकुल के चरणों में विधिवद् वेद का अध्ययन करके दिव्य दक्षिणा देकर समावर्तन संस्कार से आचार्य की आज्ञा

से परिवार में लौटकर पवित्र देश में स्वशाखाप्राप्त वेद का अध्ययन करते हुए अपने सम्पर्क में आने वाले लोगों को धार्मिक बनाता हुआ, यज्ञों के अतिरिक्त किसी भी प्रकार का हिंसा व्यापार न करता हुआ अथवा स्वपत्नी के अतिरिक्त किसी भी स्त्री से राग न करता हुआ, जीवन पर्यन्त पञ्चयज्ञ बलिवैश्वदेव का आचरण करता हुआ, ब्राह्मणशरीर त्यागकर ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेता है और वह फिर कभी इस संसार में नहीं लौटता, कभी नही लौटता ।।श्री।।१।।

यहि भाँति सीता राम की पद् पद्मम रज शिर पर धरी।
सादर विशिष्टाद्वैत श्रुति सिद्धान्त चारु सुधा भरी।।
राघवकृपावरभाष्य रामनन्दमत शुचि निर्झरी।
श्रीरामभद्राचार्य राष्ट्रगिरा ललित व्याख्या करी।।

।। छान्दोग्योपनिषद् पर अष्टम अध्याय के पञ्चदश खण्ड का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण ।।

इति श्री चित्रकूट तुलसी पीठाधीश्वर जगदगुरु रामानन्दाचार्य स्वामि रामभद्राचार्य कृतौ हिन्दी श्रीराघवकृपाभाष्यम् छान्दोग्योपनिषदि सम्पूर्णम् ।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

●

।। श्रीः ।।

ध्रुवमिदं, विश्वस्य विश्वेऽपि विचरकाश्चामनन्ति यज्जीवेनात्यन्तिकं सुखं नोपलब्धुं शक्यते केवलैः सांसारिकैर्भोगैः। तत्कृते तु तैः जगन्नियन्तुः परमात्मनः शरणमेवाङ्गीकरणीयम्। अनादिकालादेव सर्गेऽस्मिन् ब्रह्मजिज्ञासासमाधानपराः विचाराः प्रचलन्ति। विषयेऽस्मिन् सर्वे दार्शनिकाः सहमता यद्वेदैरेवास्य गूढरहस्यात्मकस्य परब्रह्मणः प्रतिपादनं सम्भवम्।

परब्रह्मणो निश्वासभूता अनन्तज्ञानराशिस्वरूपाः वेदाः ज्ञानकर्मोपासनाख्येषुत्रिषु काण्डेषु विस्कृताः सन्ति। एषां ज्ञानकाण्डाख्य उपनिषद्भागे वेदान्तापरनामधेया ब्रह्मविद्या वैशद्येन विर्वेचिता व्याख्याता चास्ति। आसामुपनिषदां सम्यग्ज्ञानेनैव ब्रह्मज्ञानं तेन च भवदुःखनिवृत्तिरित्युपनिषदां सर्वातिशायिमहत्वं राद्धान्तयन्ति मनीषिणः। आसु प्रश्नोत्तरात्मकातिरमणीयसुमम्यसरलशैल्या जीवात्मपरमात्मनोर्जगतश्च विस्तृतं व्याख्यानं कृतमस्ति। अनेकैर्महर्षिभिरनेकैः प्रकारैरुद्भावितानां ब्रह्मविषयकप्रश्नानां समाधानानि ब्रह्मवेतृणां याज्ञवल्क्यादिमहर्षीणां मुखेभ्य उपस्थापयन्त्युपनिषदः। भगवता वेदव्यासेन ब्रह्मसूत्रेषु भगवता श्रीकृष्णेन च श्रीगीतायामासामेव सारतत्वं प्रतिपादितम्।

भारतीयदर्शनानामाधारभूता इमे त्रयो ग्रन्थाः विभिन्नसम्प्रदायप्रवर्तकैराचरयैर्व्यख्याताः। एष्वद्वैतवादिन आद्यशङ्कराचार्याः प्रमुखा, अन्ये च द्वैतशुद्धाद्वैतद्वैताद्वैतशिवाद्वैतदिवादिनो विद्वांसः स्वस्वमतानुसारमुपनिषदः व्याख्यापयांबभूवुः।

अथ साम्प्रतिकभारतीयदार्शनिकमूर्धन्यैर्वेदवेदाङ्गपारङ्गतैर्धर्मध्वजधारिधौरेयैः श्रीरामानन्दाचार्यैः श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामभद्राचार्यमहाराजैर्विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तमनुसृत्य कृतामिदमुपनिषदां **''श्रीराघवकृपाभाष्यम्''** सर्वत्रैवाभिनवविचारैर्व्युत्पत्तिभिश्चालङ्कृतं विभाति। भाष्येऽस्मिन्नाचार्यचरणैः शब्दव्युत्पत्तिचातुरीचमत्कारेण सर्वोपनिषदां प्रतिपाद्यः भगवान् श्रीराम एवेति सिद्धान्तितम्। मध्ये मध्ये गोस्वामिश्रीतुलसीदासग्रन्थेभ्यः ससंस्कृतरूपान्तरमुदाहृता अंशविशेषासुवर्णे सुरभिमातन्वन्ति। श्रीराघवपदपद्ममधुकराः भक्ता अत्रामन्दानन्दमाप्नुयुरिति भगवन्तं श्रीराघवं निवेदयति।

डॉ. शिवरामशर्मा
वाराणसी